# संवर्ग 1 स्वास्थ्य, स्वास्थ्य शिक्षा और जीवन विज्ञान

# इकाई–1 स्वास्थ्य की अवधारणा, स्वास्थ्य के अवयव– शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य

**संरचना**


1.0 प्रस्तावना

1.1 उद्देश्य

1.2 स्वास्थ्य की अवधारणाएं

- 1.2.1 जैव–चिकित्सकीय अवधारणा
- 1.2.2 पारिस्थितिकीय अवधारणा
- 1.2.3 मनोसामाजिक अवधारणा
- 1.2.4 समग्र अवधारणा

1.3 स्वास्थ्य की परिभाषाएं

1.4 स्वास्थ्य दर्शन

1.5 स्वास्थ्य के आयाम

- 1.5.1 शारीरिक आयाम
- 1.5.2 मानसिक आयाम
- 1.5.3 सामाजिक आयाम
- 1.5.4 आध्यात्मिक आयाम
- 1.5.5 भावनात्मक आयाम
- 1.5.6 व्यावसायिक आयाम
- 1.5.7 अन्य आयाम

1.6 स्वास्थ्य के निर्धारक कारक

- 1.6.1 आनुवांशिकता
- 1.6.2 पर्यावरण
- 1.6.3 जीवन शैली
- 1.6.4 सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियां
  - 1.6.4.1 आर्थिक स्तर
  - 1.6.4.2 शिक्षा
  - 1.6.4.3 व्यवसाय
  - 1.6.4.4 राजनैतिक तंत्र
  - 1.6.4.5 स्वास्थ्य सेवाएं
  - 1.6.4.6 अन्य कारक

1.7 शारीरिक स्वास्थ्य की देखभाल

- 1.7.1 त्वचा की देखभाल
- 1.7.2 बालों की देखभाल
- 1.7.3 दांतों की देखभाल


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.7.4 आंखों की देखभाल
1.7.5 कानों की देखभाल
1.7.6 हाथ-पैरों की देखभाल
1.7.7 अन्य अंगों की देखभाल
1.7.8 नींद एवं विश्राम
1.7.9 मनोरंजन
1.7.10 पोषण और मल निष्कासन
1.8 मानसिक स्वास्थ्य और उसकी देखभाल
1.8.1 मानसिक स्वास्थ्य के सहयोगी घटक
1.8.1.1 शारीरिक स्वास्थ्य
1.8.1.2 मूलभूत आवश्यकताएं
1.8.1.3 आदतें
1.8.2 मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति के लक्षण
1.8.3 मानसिक स्वास्थ्य और संघटित व्यक्तित्व
1.9 प्रश्नावली

## 1.0 प्रस्तावना

स्वास्थ्य अनन्त काल से सभी संस्कृतियों का अभिन्न अंग माना जाता रहा है। बदलते समय एवं परिवर्तनशील संस्कृतियों तथा सभ्यताओं में स्वास्थ्य का स्वरूप भले ही अलग-अलग रहा हो परन्तु इसका वर्णन एवं इसके प्रति सभी संस्कृतियों का आकर्षण सदैव बना रहा है। राजा हो या रंक, गरीब हो या अमीर, स्त्री हो या पुरुष बूढ़ा हो या जवान हर कोई स्वस्थ रहने की कामना करता है। वे, जो स्वास्थ्य के महत्त्व को समझते हैं, इसको प्राप्त करने के लिए तो प्रयत्नशील रहते ही हैं, वे भी, जो इसकी उपयोगिता और महत्व से पूरी तरह परिचित नहीं हैं, इसकी आकांक्षा और अभिलाषा करते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आता है कि स्वास्थ्य कहते किसे हैं? सामान्यतया बीमारियों की अनुपस्थिति या रोग न पाये जाने की स्थिति को ही स्वास्थ्य माना जाता रहा है। कई प्राचीन संस्कृतियों में स्वास्थ्य और समरसता को समतुल्य माना जाता रहा है। समरसता (हार्मनी) को स्वयं के, समाज के, ईश्वर के और सृष्टि के अविभाज्य संतुलित अंग के रूप में जाना जाता था। इसी आधार पर प्राचीन भारतीय एवं ग्रीक विचारकों ने यह अवधारणा व्यक्त की कि जब भी शारीरिक समरसता में कोई असंतुलन उत्पन्न होता है तो वह किसी रोग के रूप में प्रकट होता है और स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है।

जब भी हमारे स्वास्थ्य में कोई गिरावट आती है तो हम उसके निदान और चिकित्सा में प्रयत्नशील होते हैं। उस समय हमें हमारे स्वास्थ्य की चिंता नहीं रहती बल्कि हमारा सारा ध्यान मात्र बीमारी को दूर करने में लग जाता है। वर्तमान चिकित्सा पद्धतियां इस काम में हमारी मदद करती हैं क्योंकि इन चिकित्सा पद्धतियों (Modern therapy systems) का सम्बन्ध स्वास्थ्य से नहीं बल्कि रोग से होता है। इन चिकित्सा पद्धतियों के सिद्धान्त में स्वास्थ्य के उन्नयन के स्थान पर रोगों को दूर करने की मान्यता दी गई है। यही कारण है कि हम स्वास्थ्य की अवधारणा से आज भी अनभिज्ञ और अन्जान हैं। हम यह तो जानने लगे हैं कि अमुक बीमारी अमुक कारण से होती है परन्तु यह नहीं जानते कि वे कौन-कौन से कारक हैं जिनसे हमारा स्वास्थ्य अच्छा बनता है। रोगों की पहचान उनकी तीव्रता आदि मापने के लिए हजारों की संख्या में उपकरण और परीक्षण उपलब्ध हैं परन्तु स्वास्थ्य का स्तर नापने के पैमाने और विधियों की संख्या आज भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नगण्य है। अत: इस क्षेत्र में विकास करने की महती आवश्यकता है जिसके परिणाम स्वरूप हम यह जान सकें कि स्वास्थ्य के उत्तरोत्तर उन्नयन की दिशा में हम किस प्रकार आगे बढ़ सकते हैं।

वस्तुस्थिति का आकलन करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वास्थ्य के बारे में मात्र हमारी अज्ञानता ही इसकी उपेक्षा का कारण नहीं है। वास्तविक जीवन में जितना महत्त्व हम धन, अधिकार, मान-प्रतिष्ठा आदि को देते है उसका शतांष भी स्वास्थ्य को नहीं देते। यह स्थिति तो वैयक्तिक जीवन में बहुधा देखी जा सकती है जब तक स्वास्थ्य में घातक स्तर तक गिरावट नहीं आ जाती तब तक व्यक्ति इसकी परवाह नहीं करता। यही नहीं यदि सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी देखें तो पायेंगे कि स्वास्थ्य को न्यूनतम महत्त्व दिया गया है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जब राष्ट्रों के एक समूह की घोषणा का मसौदा तैयार किया गया था तो उसमें स्वास्थ्य का उल्लेख तक नहीं था, स्वास्थ्य शब्द बाद में जोड़ा गया। इसी प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जब संयुक्त राष्ट्रसंघ का घोषणापत्र तैयार किया गया, उसमें भी स्वास्थ्य का उल्लेख नहीं था, बाद में तदर्थ रूप से जोड़ा गया। सेन-फ्रांसिस्को में 1945 में आयोजित संयुक्त राष्ट्रसंघ के कान्फ्रेंस में भी स्वास्थ्य शब्द पर नितान्त उपेक्षित चर्चा हुई थी।

बदलती परिस्थितियों और नवीन परिवेश में जागृति आई है और पिछले दो दशकों में स्वास्थ्य के प्रति लोगों में उल्लेखनीय जागरूकता आई है। अब तो स्वास्थ्य को मूलभूत मानवाधिकार के रूप में प्रस्तुत किये जाने का प्रयास किया जा रहा है। दुनिया भर में स्वास्थ्य को सामाजिक आवश्यकता बताते हुए इस बात पर बल दिया जा रहा है कि लम्बी उम्र से ज्यादा आवश्यक है उम्र की गुणवत्ता अर्थात् स्वस्थ जीवन। 1977 में विश्व स्वास्थ्य सभा द्वारा यह निर्णय लिया गया था कि आने वाले समय में सभी देशों की सरकारों तथा विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के द्वारा यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि हर किसी को सामाजिक और आर्थिक रूप से उपयोगी जीवन के साथ स्वस्थ जीवन जीने का मौका मिल सके। संयुक्त राष्ट्रसंघ के 1979 के प्रस्ताव में यह स्वीकार किया गया कि स्वास्थ्य भी सामाजिक-आर्थिक विकास का एक अनिवार्य घटक है। इस प्रस्ताव से जहाँ स्वास्थ्य को चारों तरफ से महत्त्व मिलने लगा वहीं सामाजिक विकास के एक नये युग का सूत्रपात हुआ।

## 1.1 उद्देश्य

-स्वास्थ्य की मूल अवधारणा को समझ सकेंगे।

-स्वास्थ्य के विभिन्न आयामों एवं इसे प्रभावित करने वाले कारकों के बारे में जान सकेंगे।

-शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को अच्छा बनाने की विधियां सीख कर उन्हें व्यवहार में ला सकेंगे।

## 1.2 स्वास्थ्य की अवधारणाएं

स्वास्थ्य को पूर्ण रूप से समझने के लिए हमें इसके विभिन्न क्षेत्रों से जुड़ी अवधारणाओं को समझना पड़ेगा। ऐसा इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में इसे न केवल अलग-अलग रूप से परिभाषित किया गया है बल्कि उन सभी क्षेत्रों में इसके सिद्धान्त भी अलग-अलग हैं। नई शोध उपलब्धियों के आधार पर भी स्वास्थ्य की व्याख्याओं में लगातार सार्थक परिवर्तन होता रहा है और नई विचारधाराएं सामने आती रही हैं। एक व्यक्तिगत समस्या से लेकर सारी दुनिया के मानवीय एवं सामाजिक लक्ष्य के रूप में स्वास्थ्य को देखा गया है और अब तो इसको मानव जीवन की गुणवत्ता का आधार माना जाने लगा है। सामाजिक जीवन के कुछ प्रमुख क्षेत्र जिनके अंतर्गत स्वास्थ्य की व्याख्या को समझना उपयोगी होगा, निम्नलिखित हैं-

1. जैव-चिकित्सकीय अवधारणा, 2. पारिस्थितिकीय अवधारणा,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3. मनोसामाजिक अवधारणा एवं 4. समग्र-स्वास्थ्य अवधारणा।

## 1.2.1 जैव चिकित्सकीय अवधारणा

परम्परागत मतानुसार रोग न होने की अवस्था को स्वास्थ्य कहा जाता रहा है और कोई रोग नहीं होता तब व्यक्ति को स्वस्थ कहा जाता है। इस अवधारणा या विचारधारा को "जैव-चिकित्सकीय अवधारणा" के नाम से जाना जाता है। इसी अवधारणा के आधार पर "रोगों के रोगाणु सिद्धान्त" का विकास हुआ जो बीसवी सदी में चिकित्सा विज्ञान के प्रयोगों में छाया रहा। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार शरीर एक मशीन के रूप में काम करता है। इस मशीन में जब कोई खराबी आती है तो वह बीमारी या रोग के रूप में सामने आती है तब चिकित्सक का दायित्व उस खराबी की मरम्मत करना होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के दृष्टिकोण से स्वास्थ्य का संम्बन्ध और लक्ष्य कतिपय औषधियों तक ही सीमित है। इसमें स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले पर्यावरणीय, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक कारकों को न तो कोई महत्त्व दिया गया और न ही उनके योगदान की व्याख्या की गई। इसका परिणाम यह हुआ कि चिकित्सा विज्ञान की विलक्षण सफलता के बाद भी अनेक बीमारियों का सफल निदान संभव नहीं हो सका। उदाहरणार्थ कुपोषण, नशे की लत, मानसिक रोग, पर्यावरण-प्रदूषण, जनसंख्या में विस्फोटक वृद्धि आदि समस्याओं को दूर करने वाला कोई उपाय चिकित्सा विज्ञान नहीं दे सका। इसीलिए चिकित्सा विज्ञान के विकास के बावजूद स्वास्थ्य को अपेक्षित महत्त्व नहीं मिल सका।

## 1.2.2 पारिस्थितिकीय अवधारणा

चिकित्सा विज्ञान की कमियों और उसकी असफलताओं ने दूसरी अन्य अवधारणाओं को जन्म दिया। पारिस्थितिकीविदों ने एक ऐसी आकर्षक परिकल्पना प्रस्तुत की, जिसके अनुसार स्वास्थ्य मानव और उसके पर्यावरण के बीच एक शक्तिशाली संतुलन की अवस्था है और बीमारी उसमें असंतुलन का परिणाम। प्रसिद्ध पर्यावरणविद् ड्यूबोस के अनुसार स्वास्थ्य वह अवस्था है जिसमें असुविधा तथा दर्द आदि अत्यन्त न्यून होते हैं तथा पर्यावरण के साथ सतत् सामंजस्य बना रहता है जिसके परिणामस्वरूप सभी शारीरिक एवं मानसिक क्रियाएं उच्चतम स्तर पर चलती रहती हैं मानव की पारिस्थितिकीय एवं सांस्कृतिक संतुलन की क्षमता में परिवर्तन न केवल रोगों की उत्पत्ति का कारण बनता है बल्कि इससे खाद्य पदार्थों की उपलब्धता और जनसंख्या विस्फोट पर भी असर पड़ता है। जो अन्ततोगत्वा स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। पारिस्थितिकीय अवधारणा के द्वारा दो मुद्दे प्रमुखता से उठाये जाते हैं- 1. अपूर्ण मानव, 2. अपूर्ण पर्यावरण। अपूर्ण मानव से अर्थ होता है- मानव का असंतुलित व्यवहार जबकि अपूर्ण पर्यावरण से आशय है पर्यावरण के अनिवार्य घटकों का असंतुलन। इन दोनों के बीच सर्वाधिक नुकसान स्वास्थ्य को ही होता है। विगत अध्ययनों से यह निश्कर्ष निकलता है कि प्राकृतिक पर्यावरण के प्रति मानव का सामंजस्यपूर्ण और संतुलित व्यवहार अच्छे स्वास्थ्य और लम्बी उम्र को जन्म देता है, भले ही आधुनिक चिकित्सा सुविधाओं का अभाव क्यों न हो। व्यक्ति और पर्यावरण के बीच आवश्यक तत्त्वों का लेन-देन अनवरत चलता रहता है। व्यक्ति का निर्माण भी उन्हीं तत्त्वों से होता है जो पर्यावरण के भी घटक हैं। जिस रूप में और जिस अनुपात में जन्म के समय ये घटक शरीर में पाये जाते हैं, वही अनुपात किसी न किसी रूप में वृद्धि के साथ परिवर्तित होते हुए भी बना रहता है और काम में पर्यावरण से भरपूर मदद मिलती है। यदि लेन-देन का यह क्रम निर्बाध चलता रहे और दोनों अपने मूल संतुलित अवस्था में बने रहें तो स्वास्थ्य उत्तम बना रहेगा।

## 1.2.3 मनोसामाजिक अवधारणा

सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में समकालीन शोध और विकास के परिणाम स्वरूप यह बात सामने आती है कि स्वास्थ्य का दायरा केवल जैव-चिकित्सा तक ही सीमित नहीं है बल्कि इस पर सामाजिक, मनोवैज्ञानिक,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक कारकों का गहन प्रभाव पड़ता है। किसी समाज विशेष के प्रचलित कायदे कानून व्यक्ति के स्वास्थ्य को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। मनोवैज्ञानिक स्थितियां और सोच उसकी दैनिक चर्या पर प्रभाव डालती है। सांस्कृतिक रीति-रिवाज व्यक्ति कि घसी-पिटी लीक पर चलने को को विवश करते हैं। आर्थिक कारणों से व्यक्ति चाहते हुए भी स्वस्थ रहने के लिए न्यूनतम आवश्यक सुविधाएं नहीं जुटा पाता। राजनैतिक कारणों से राजकीय सुविधाएं जन-सामान्य तक नहीं पहुंच पाती। अत: जब हम समाज विशेष के स्वास्थ्य स्तर का आकलन करें तो हमें इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखना पड़ेगा। यहां एक और बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि स्वास्थ्य जैविक और सामाजिक कारकों से समान रूप से प्रभावित होता है अत: इनमें से किसी को भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

### 1.2.4 समग्र अवधारणा

उपरोक्त वर्णित तीनों अवधारणाओं को एक साथ मिला दें तो स्वास्थ्य की समग्र अवधारणा सामने आती है। इसके अन्तर्गत सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं पर्यावरणीय कारकों को न केवल मान्यता दी जाती है बल्कि उनके प्रभावों को पूरी तरह से रेखंकित भी किया जाता है और यह कहा जाता है कि समग्र स्वास्थ्य की अवधारणा इन सभी कारकों को एक साथ समाहित करके ही प्राप्त की जा सकती है। यह ऐसी बहुआयामी प्रक्रिया है जिसमें सभी कारकों को साथ लेकर व्यक्ति के सम्पूर्ण स्वास्थ्य को पर्यावरण के संदर्भ में देखा जाता है और फिर उसक उच्चतम स्तर को प्राप्त करने की दिशा में सार्थक प्रयास किया जाता है। यह अवधारणा उस प्राचीन भारतीय मान्यता से मेल खाती है जिसमें कहा गया है कि स्वस्थ मन, स्वस्थ शरीर, स्वस्थ परिवार और स्वस्थ वातावरण में ही रह सकता है। समग्र अवधारणा के अनुसार समाज के सभी घटक, जैसे- कृषि, पशुपालन, भोजन, उद्योग, शिक्षा, आवास, सामाजिक और सार्वजनिक कार्य, संचार आदि, स्वास्थ्य को किसी न किसी रूप में प्रभावित करते हैं परन्तु इन सभी का लक्ष्य होता है अच्छे स्वास्थ्य की सुरक्षा एवं संवर्धन।

## 1.3 स्वास्थ्य की परिभाषाएं

स्वास्थ्य का अर्थ तो प्राय: सभी लोग समझते हैं परन्तु उसे जब परिभाषित करने का अवसर आता है तो कठिन लगता है। यही कारण है कि अलग-अलग वैज्ञानिकों, विचारकों एवं संस्थाओं ने समय-समय पर स्वास्थ्य की अलग-अलग परिभाषाऐं दी हैं। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाऐं इस प्रकार हैं-

1. शरीर, मन और चेतना की ओजस्वी अवस्था जिसमें समस्त शारीरिक बीमारी और दर्द के अभाव की स्थिति हो, को स्वास्थ्य कहते हैं। - बेब्सटर

2. शरीर और मन की तेजपूर्ण स्थिति; ऐसी अवस्था जिसमें समस्त शारीरिक और मानसिक कार्य समय से और पूरी क्षमता से सम्पादित हो रहे हों, ऐसी अवस्था को स्वास्थ्य कहते हैं। -आक्सफोर्ड इंगलिश कोष

3. किसी आनुवांशिक और पर्यावरणीय स्थिति में मनुष्य की जीवनचर्या का ऐसा गुणवत्तापूर्ण स्तर जिसमें उसके द्वारा सारे कार्य यथोचित समय और सुचारू रूप से सम्पादित किये जा रहे हों, स्वास्थ्य कहलाता है।-विश्व स्वास्थ्य संगठन (रिर्पोट नं.-137), 1957

4. जीवन का ऐसा उपक्रम जो व्यक्ति को प्रतिकूल परिस्थितियों और अपूर्ण विश्व में सुखपूर्वक जीवन जीने का मार्ग प्रशस्त करता है, स्वास्थ्य कहलाता है -ड्यूबोस, आर, 1968

5. शरीर की रचना और क्रिया की ऐसी सापेक्ष साम्यावस्था जो किसी भी प्रतिकूल स्थिति में शरीर को सफलतापूर्वक संतुलित एवं जीवन्त रखती है, स्वास्थ्य कहलाती है। स्वास्थ्य शरीर के आन्तरिक अवयवों और इन्हें आहत करने वाले कारकों के बीच निष्क्रिय प्रक्रिया न होकर इन दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित करने की सक्रिय प्रक्रिया है। -पर्किन्स

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 1948 में अपने संविधान की प्रस्तावना में स्वास्थ्य की जो परिभाषा दी वही सर्वमान्य है। वह परिभाषा इस प्रकार है- "स्वास्थ्य पूर्ण शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक संतुलन की अवस्था

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है, केवल रोग या अपंगता का अभाव नहीं।" अभी हाल के कुछ वर्षों में इस परिभाषा को थोड़ा सा संशोधित करके इसको व्यापक रूप दिया गया है और शारीरिक, मानसिक और सामाजिक संतुलन के साथ आर्थिक एवं सामाजिक रूप से उपयोगी जीवन को स्वास्थ्य कहा गया है।

कुछ लोगों ने विश्व स्वास्थ्य संगठन की परिभाषा की यह कहकर आलेचना की कि यह व्यावहारिक न होकर मात्र आदर्शवादी है। उनके अनुसार स्वास्थ्य कोई अवस्था नहीं है बल्कि यह तो सतत् परिवर्तनशील परिस्थितियों के साथ तालमेल बिठाने की कला और क्षमता है। स्वास्थ्य के चलते ही व्यक्ति अच्छे ढंग से जीवन का आनन्द ले सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि विश्व स्वास्थ्य संगठन की परिभाषा में कही गई बातें कुछ लोगों पर तो लागू हो सकती हैं परन्तु हर परिस्थिति में सभी लोगों और सभी समुदायों पर लागू हों, यह सम्भव नहीं लगता। कुछ लोग इस परिभाषा को अप्रासंगिक भी मानते हैं क्योंकि शायद ही कोई ऐसा होगा जो इसकी बातों पर खरा उतर पायेगा अर्थात् कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं होगा जो पूरी तरह से जैविक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक क्रिया-कलापों के दृष्टिकोण से पूर्ण हो। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि हम इस परिभाषा को पूरी तरह स्वीकार कर लेवें तो पायेंगे कि हममें से कोई भी स्वस्थ नहीं है, बल्कि सभी बीमार हैं। इन सारी आलोचनाओं के बाद भी विश्व स्वास्थ्य संगठन के द्वारा दी गई स्वास्थ्य की परिभाषा ही अपेक्षाकृत उचित एवं मान्य है। स्वास्थ्य का लक्ष्य हासिल करने की दिशा में इसी परिभाषा को आधार बनाये जाने की स्वीकृति मिली है।

## 1.4 स्वास्थ्य दर्शन (Philosophy of Health)

हाल के वर्षों में स्वास्थ्य दर्शन को नये रूप में मान्यता दी गई है। इसके महत्त्वपूर्ण बिन्दु इस प्रकार हैं–

1. स्वास्थ्य विकास की प्रक्रिया का अभिन्न अंग है।
2. स्वास्थ्य सार्थक एवं गुणवत्तापूर्ण जीवन का केन्द्र बिन्दु है।
3. स्वास्थ्य व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व की सामूहिक जिम्मेदारी है।
4. स्वास्थ्य की अभिरक्षा एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक विनिवेश है।
5. स्वास्थ्य उपयोगी जीवन की पहचान है।
6. स्वास्थ्य एक मूलभूत मानवाधिकार है।
7. स्वास्थ्य की अवधारणा सम्प्रदाय या जाति-धर्म विहीन है।
8. स्वास्थ्य सारे विश्व का लक्ष्य है।

स्वास्थ्य के उपरोक्त बिन्दुओं को जब समग्र रूप से देखा जाता है तो वही स्वास्थ्य दर्शन बन जाता है। किसी भी दर्शन की सार्थकता उसके सिद्धान्तों के व्यावहारिक कसौटी पर खरा उतरने पर स्वयं सिद्ध होती हैं। स्वास्थ्य दर्शन में वर्णित सभी बिन्दु (सिद्धान्त) न केवल व्यक्ति विशेष के लिए उपयोगी है बल्कि समूची मानवता के विकास के आधार हैं।

## 1.5 स्वास्थ्य के आयाम

स्वास्थ्य के अनेक आयाम बताये गये हैं। इनमें से तीन प्रमुख आयाम सर्व सम्मत हैं- शारीरिक, मानसिक और सामाजिक। अनेक वैज्ञानिकों, विचारकों एवं दार्शनिकों ने कई आयामों का उल्लेख किया है, उदाहरणार्थ - आध्यात्मिक, भावनात्मक, वोकेशनल और राजनैतिक। आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अनुसार शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं भावनात्मक आयामों में सर्वाधिक प्रभावकारी भावनात्मक आयाम है। इसके कारण व्यक्ति के स्वास्थ्य और व्यक्तित्व में आमूलचूल परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। ये सारे आयाम वैसे तो स्वतंत्र रूप से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

काम करते हुए एक दूसरे को प्रभावित करते हैं परन्तु हर एक की अपनी विशेषताएं हैं इसलिए इन्हें अलग-अलग समझना आवश्यक है।

## 1.5.1 शारीरिक (भौतिक) आयाम (Physical Dimension)

शरीर के आवश्यकतानुरूप संतुलित ढंग से काम करने को शारीरिक स्वास्थ्य कहा जाता है। जैविक दृष्टिकोण से देखा जाए तो शरीर की प्रत्येक इकाई (कोशिका), प्रत्येक अंग और प्रत्येक तंत्र पूरी क्षमता से काम करते हुए एक दूसरे के काम में परस्पर सहयोग करते हों तथा पूरे शरीर को साम्यावस्था की स्थिति में रखने में सहायक हों ऐसी स्थिति को ही शारीरिक स्वास्थ्य का नाम दिया जाता है। किसी व्यक्ति के अच्छे शारीरिक स्वास्थ्य को स्वच्छ त्वचा, चमकदार आंखे, काले-काले बाल, हृष्टपुष्ट शरीर, लयबद्ध श्वास, समुचित रूप से भूख-प्यास का लगना, गहरी नींद आना, शौच आदि क्रियाओं का समय पर होना तथा लयबद्ध शारीरिक गतिविधयों के रूप में देखा जा सकता है। शरीर के सारे अंग समुचित अनुपात में विकसित हों तथा सामान्य रूप से काम करते हों; सारी इन्द्रियां ठीक ढंग से काम करती हों; उम्र के अनुरूप रक्तचाप और नाड़ीदर सामान्य हों ये सारे गुण अच्छे शारीरिक स्वास्थ्य के द्योतक हैं।

## 1.5.2 मानसिक आयाम (Mental Dimension)

किसी प्रकार की मानसिक बीमारी का न होना मात्र मानसिक स्वास्थ्य का द्योतक नहीं है। परिस्थितियों के अनुरूप प्रतिक्रिया करना तथा उनसे सामंजस्य बिठाते हुए सार्थक एवं उद्देश्यपूर्ण, विवेकपूर्ण व्यवहार करना अच्छे मानसिक स्वास्थ्य का परिचायक है। मानसिक स्वास्थ्य की नवीनतम् परिभाषा के अनुसार-''व्यक्ति और उसके चारों तरफ फैले पर्यावरण एवं विश्व के बीच संतुलन, स्वयं और दूसरों के बीच सौहार्द एवं सद्भाव का होना, स्वयं की वास्तविकता तथा दूसरों एवं पर्यावरण के बीच सहअस्तित्व की भावना'' ही मानसिक स्वाथ्य कहलाता है।

कुछ दशकों पूर्व शरीर और मन को स्वतंत्र अस्तित्व के रूप में मान्यता मिली थी, जो एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते थे। परन्तु आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार शरीर और मन एक दूसरे को पूरी तरह प्रभावित करते हैं। नवीनतम् अनुसंधानों के परिणामों से यह स्पष्ट हो गया है कि मनोवैज्ञानिक कारण केवल मानसिक रोगों को बल्कि अनेक ऐसी दूसरी बीमारियों को भी जन्म देते हैं जो शारीरिक रोगों की श्रेणी में आती हैं, जैसे उच्च रक्तचाप, पेप्टिक अल्सर और ब्रोन्कियल अस्थमा, यही नहीं कई ऐसी मानसिक बीमारियां पहचान में आई हैं जिनका सम्बन्ध मन से होता है परन्तु उनका उद्गम शारीरिक, जैविक क्रियाओं में असंतुलन के कारण होता है। उदाहरण के लिए उदासी और विभ्रम। इससे यह स्पष्ट होता है कि मानसिक स्वास्थ्य के लिए व्यावहारिक, मनोवैज्ञानिक एवं जैविक क्रियाओं में संतुलन होना अनिवार्य है। केवल मानसिक संतुलन मात्र से मानसिक स्वास्थ्य को सुदृढ़ रखना सम्भव नहीं है।

स्वास्थ्य को अक्षुण्ण बनाये रखने में महत्वपूर्ण होते हुए भी मानसिक स्वास्थ्य के वैज्ञानिक आधार स्पष्ट नहीं हैं। शायद इसीलिए मानसिक स्वास्थ्य के आकलन हेतु यांत्रिकीय प्रविधियां विकसित नहीं हो सकी। कुछ मनोवैज्ञानिक प्रश्नावलीयों, परीक्षणों एवं यंत्रों के द्वारा ही मानसिक स्वास्थ्य के स्तर का आकलन किया जाता है।

## 1.5.3 सामाजिक आयाम (Social Dimension)

सामाजिक स्वास्थ्य का सीधा-सा अर्थ है व्यक्ति के स्वयं के अन्दर, उसके एवं समाज के सदस्यों के बीच तथा समूची मानवता एवं स्वयं के बीच सौहार्द एवं अखंडता की भावना एवं उसके प्रति कटिबद्धता की इच्छा। दूसरे शब्दों में व्यक्ति की उसके एवं उसके समाज के अन्य सदस्यों के बीच परस्पर सम्बन्धों की सीमा एवं गुणवत्ता को सामाजिक स्वास्थ्य कहा जा सकता है। किसी व्यक्ति की सामाजिक कार्यों के प्रति रूचि एवं क्षमता तथा समाज के प्रति उसके समर्पण भरे दृष्टिकोण को उस व्यक्ति के सामाजिक स्वास्थ्य के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

रूप में देखा जाना चाहिए। व्यक्ति परिवार की इकाई है, समाज परिवारों से बनता है, अत: व्यक्ति का वैयक्तिक योगदान ही सामाजिक स्वास्थ्य का द्योतक है।

## 1.5.4 आध्यात्मिक आयाम (Spiritual Dimension)

जीवन दो प्रकार का होता है—निरूद्देश्य और सोद्देश्य। हम कौन हैं? कहां से आये हैं? कहां जायेंगे और हमारे जीवन का अर्थ और उद्देश्य क्या है? इन सभी अनुत्तरित प्रश्नों के सम्भावित उत्तर की तलाश के साथ जीना सोद्देश्य कहलाता है और यही स्वास्थ्य के आध्यात्मिक आयाम का पहला सोपान है। सोद्देश्य जीवन जीने वाले व्यक्ति की सारी गतिविधियां उसके व्यवहार एवं दिनचर्या को संतुलित बनाती हैं। इस मार्ग पर चलने के लिए जीवन का कोई भी कार्यक्षेत्र वर्जित नहीं है। अन्तर इतना होता है कि ऐसा व्यक्ति सदैव 'कुछ' इस प्रकार सोचता है, व्यवहार करता है जो उसकी शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं को प्रतिक्रियाओं के सतही स्तर से ऊपर उठाती है और वह स्वत: ही सामान्य से विशिष्ट बन जाता है। इस प्रकार की जीवनशैली में, शारीरिक-मानसिक अखंडता, नैतिकता, जीवनमूल्यों की अनुपालना एवं कुछ अति-विशेष कर गुजरने की अभिलाषा को विशेष स्थान दिया जाता है। इनके समावेश से ही व्यक्ति का जीवन और उसका स्वास्थ्य उच्च स्तरीय हो जाता है।

## 1.5.5 भावनात्मक आयाम (Emotional Dimension)

स्वास्थ्य के भावनात्मक आयाम का सम्बन्ध "अनुभव" (feel) करने से है। मानसिक आयाम के अन्तर्गत जहाँ हम जीवन और स्वास्थ्य से जुड़े विभिन्न कारकों के बारे में 'जानने' (Knowledge) और "बोध" (Cognition) करने की प्रक्रिया की चर्चा करते हैं वहीं इस जानकारी और बोध को जब अपने मन के स्तर पर लाकर उसे अनुभव करते हैं, परस्पर सम्बन्धों के आधार पर उसकी मन ही मन व्याख्या करते हैं, तथा काल्पनिक रूप से किसी परिणाम तक पहुंचने की स्थिति में आ जाते हैं तब वह भावनात्मक स्वास्थ्य की श्रेणी में आ जाता है। विज्ञान की एक विशेष शाखा मनोजीवविज्ञान (Psychobiology) के अंतर्गत वैज्ञानिकों ने इसका बहुत विस्तृत विश्लेषण करने का प्रयत्न किया है। घटना या जानकारी को मन के स्तर पर लाकर जब हम किसी परिणाम की कल्पना कर लेते हैं अथवा अपने अनुसार उसका निष्कर्ष निकाल लेते हैं, चाहे वह निष्कर्ष निषेधात्मक हो या विधेयात्मक, तब वह हमारे स्वास्थ्य को बुरी तरह प्रभावित करता है। प्राय: इसका परिणाम उत्तेजना और तनाव के रूप में सामने आता है।

## 1.5.6 व्यावसायिक आयाम (Vocational Dimension)

प्रत्येक मानव अपने जीवन में कोई न कोई कर्मक्षेत्र अपनाता है। उसके लिए वही कर्मक्षेत्र उसकी आजीविका का साधन बन जाता है तथा जीवन एक अविभाज्य अंग। उस कर्मक्षेत्र को ही व्यवसाय की संज्ञा दी जाती है। व्यावसायिक प्रतिबद्धता उसके स्वास्थ्य के साथ जुड़ जाती है तथा वह उसके स्वास्थ्य को प्रभावित करती है। व्यवसाय की प्रकृति, उसके परिणाम, उसमें आने वाली कठिनाइयां, समाज के विभिन्न वर्गों में उस व्यवसाय की मान्यता और प्रतिष्ठा के अनुरूप ही व्यक्ति की निजी उपलब्धियों एवं मान-प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है। उसी के अनुरूप वह अपने को श्रेष्ठ या हीन समझता है अथवा उसका आत्मविश्वास और स्वाभिमान घटता बढ़ता है। इन सब परिवर्तनों का सीधा सम्बन्ध व्यक्ति के स्वास्थ्य से सिद्ध है संतुष्ट एवं सामाजिक रूप से स्थापित एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति का स्वास्थ्य निश्चित ही अच्छा होता है।

## 1.5.7 अन्य आयाम (Other Dimensions)

कुछ अन्य अपेक्षाकृत कम प्रभावशाली आयामों को भी सूचीबद्ध किया गया है-

1. दार्शनिक आयाम (Philosophical Dimension),
2. सांस्कृतिक आयाम (Cultural Dimension),
3. सामाजिक-आर्थिक आयाम ((Socioeconomic Dimension),



Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. पर्यावरणीय आयाम (Environmental Dimension ),
5. शैक्षिक आयाम (Educational Dimension),
6. पोषक आयाम (Nutritional Dimension),
7. नैदानिक आयाम (Curative Dimension), एवं
8. रोकथाम आयाम (Preventive Dimension)।

उपरोक्त सभी आयाम किसी न किसी तरह मनुष्य के स्वास्थ्य के साथ जुड़े हुए हैं और इनमें घटित परिवर्तन स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सारे आयाम चिकित्सा प्रकृति के हों। उदाहरण के लिए सांस्कृतिक, शैक्षिक एवं सामाजिक। सामूहिक रूप से सारे आयाम व्यक्ति के स्वास्थ्य को उस स्तर तक पहुंचाते हैं जहाँ वह एक स्वस्थ एवं स्व तथा समाजोपयोगी जीवन जीता है। इनमें किसी प्रकार का असंतुलन या कमी स्वास्थ्य की कमी का कारण बनते हैं जो जीवन को कठिनाईयों से भर देते हैं।

**बोध प्रश्न 1:**

1. समग्र स्वास्थ्य से आपका क्या आशय है?
2. स्वास्थ्य की परिभाषाएं लिखें?
3. स्वास्थ्य के आयामों का वर्णन करें?

## 1.6 स्वास्थ्य के निर्धारक कारक (Determinants of Health)

व्यक्ति का स्वास्थ्य अनेक कारकों पर निर्भर करता है। ये सारे कारक आंतरिक-वैयक्तिक हो सकते हैं और बाह्य रूप में उस समाज तथा वातावरण में भी हो सकते हैं जिसमें व्यक्ति रह रहा होता है। मूल रूप से व्यक्ति के स्वास्थ्य में खराबी दो ही कारणों से होती है। एक वे कारण जो उसके जन्म से जुड़े हैं अर्थात् आनुवांशिक (Hereditary), दूसरे वे कारण जिनका सम्बन्ध उस वातावरण से होता है जिसमें वह रह रहा हो। किसी रोग की तीव्रता इन दोनों कारणों के आपसी तालमेल के अभाव पर निर्भर करती है। कई बार इनके परस्पर समन्वय से स्वास्थ्य की स्थिति में सकारात्मक और गुणात्मक सुधार भी देखने को मिलता है। इसका तात्पर्य है कि स्वास्थ्य आंतरिक और बाह्य कारणों की परस्पर संतुलित या असंतुलित क्रियाओं पर निर्भर करता है। इन दोनों समूहों के कारकों की संख्या अनेक है परन्तु इनमें से कुछ निम्नांकित महत्त्वपूर्ण कारकों का वर्णन प्रासंगिक होगा-

1. आनुवांशिकता,
2. पर्यावरण,
3. जीवनशैली,
4. सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियां,
5. स्वास्थ्य सेवाएं एवं
6. अन्य।

### 1.6.1 आनुवांशिकता (Heredity)

मनुष्य की जैविक संरचना के आधार पर यह स्पष्ट है कि उसके अन्दर जो भी गुण पाये जाते हैं उनका निर्धारण जन्म के समय उसके गुणसूत्रों (Chromosomes) पर स्थित 'जीन्स' (Genes) के द्वारा होता है। एक बार निर्धारण हो जाने के बाद जीन्स को बदला नहीं जा सकता। जिसका अर्थ हुआ कि गुण सूत्र समूहों को भी नहीं बदला जा सकता। प्रत्येक मानव कोशिका में 23 जोड़े (कुल 46) गुणसूत्र होते हैं जिनके ऊपर जीन्स स्थित होते हैं। गर्भाधान के समय 23 गुणसूत्र पिता से और 23 माता से आते हैं दोनों का संयोग होता है। इस क्रम में जीन्स की पुनर्व्यवस्था की प्रक्रिया होती है। इसी समय जीन्स का क्रम बदलता है जिसके परिणाम स्वरूप कई बार इस प्रकार के गुण उत्पन्न हो जाते हैं जो आनुवांशिक रोगों के रूप में हमारे सामने आते हैं। इस प्रकार के रोग जीवनभर के लिए स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं और व्यक्ति सामान्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जीवन जीने में कठिनाई झेलने को विवश हो जाता है। ऐसे रोग लाईलाज होते हैं। थैलेसीमिया और कतिपय मधुमेह इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

## 1.6.2 पर्यावरण (Environment)

मनुष्य के जीवन से जुड़े पर्यावरण को दो भागों में बांटा जा सकता है- 1. आंतरिक पर्यावरण, 2. बाह्य पर्यावरण। आंतरिक पर्यावरण का सम्बन्ध शरीर की प्रत्येक कोशिका, प्रत्येक अंग, प्रत्येक तंत्र तथा इनके सहअस्तित्व के अतिरिक्त इनके द्वारा की जाने वाली यांत्रिक एवं जैव-रासायनिक क्रियाओं के बीच संतुलन और साम्यावस्था (Homestasis) से है। इन सारी रचनाओं के द्वारा की जाने वाली विविध क्रियाएं ही व्यक्ति के स्वास्थ्य का निर्धारण करती हैं। बाह्य वातावरण, जिसे Macroenvironment भी कहते हैं, उन सभी बाह्य वस्तुओं, परिस्थितियों से होता है जो जन्मोपरान्त साथ लग जाती हैं अथवा प्राणी जिनसे सदा घिरा होता है। बाह्य पर्यावरण को भौतिक, जैविक एवं मनोसामाजिक श्रेणी में विभक्त किया जा सकता है। सर्दी, गर्मी, नमी, बरसात, जल, वायु और मौसम सम्बन्धी बातें भौतिक श्रेणी में आती हैं। इनमें प्रतिकूल परिवर्तन से स्वास्थ्य प्रभावित होता है। मनुष्य के अलावा उसके सहजीवी अन्य प्राणियों (जन्तु, पेड़-पौधे आदि) के साथ होने वाली परस्पर क्रियाएं भी स्वास्थ्य के ऊपर प्रभाव डालती हैं। इन प्राणियों के कारण मनुष्य की अपनी जैविक एवं जैव-रासायनिक क्रियाएं प्रभावित होती हैं जिसके कारण स्वास्थ्य पर भी असर पड़ता है।

आवास, रहन-सहन का वातावरण, जल-विद्युत आपूर्ति, मनोसामाजिक तनाव, पारिवारिक परिस्थितियां एवं समाज के साथ सम्बन्ध, आर्थिक सहयोग आदि बातें स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाली मनोसामाजिक श्रेणी में आती हैं। इन तीनों ही वर्गों के पर्यावरणीय कारक आपस में इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि इन्हें एकदूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता। जब भी हम पर्यावरणीय कारक की बात करेंगे तो इनको एक साथ लेकर आकलन करना ही उचित होगा। सीधे अर्थों में जब व्यक्ति का पर्यावरण अनुकूल होता है तो वह अपनी सारी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का भरपूर उपयोग करता है जिसके परिणाम स्वरूप उसका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य भी उत्तम रहता है। सम्भवत: इसीलिए पारिवारिक एवं पर्यावरणीय परिस्थितियों में गुणात्मक सुधार लाना सारी दुनिया का लक्ष्य हो गया है।

## 1.6.3 जीवनशैली (Life Style)

सामाजिक मूल्यों एवं परम्पराओं के निर्वहन, दिनचर्या एवं आचरण को सामूहिक रूप से जीवनशैली कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत सांस्कृतिक एवं व्यावहारिक तौर-तरीकों के साथ व्यक्ति विशेष की व्यक्तिगत आदतें भी शामिल होती हैं, जैसे- धूम्रपान, मदिरापान आदि। जीवनशैली की बहुतायात बातें व्यक्ति माता-पिता, श्रेष्ठ एवं आदरणीय जनों, मित्रों, प्रचार माध्यमों तथा स्कूल-कालेज के सहपाठियों से सीखता है खाने-पीने का तौर-तरीका, उठना-बैठना, लोगों के साथ मेल-जोल का तरीका, खाने-पीने का और सोने-जागने का समय कुछ ऐसी सामान्य-सी बातें हैं जो देखने-सुनने में तो बड़ी साधारण-सी लगती हैं परन्तु इनका समूचे परिवार एवं समाज के साथ-साथ वैयक्तिक स्वास्थ्य पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। वैज्ञानिक शोध के आंकड़ों से यह पता चलता है कि जीवनशैली और स्वास्थ्य के बीच निश्चित ही एक सम्बन्ध है। विकसित और विकासशील देशों में आधुनिक यंत्रवत जीवनशैली के कारण विभिन्न प्रकार की बीमारियां (हृदयरोग, मोटापा, फेफड़ों का कैंसर, नशे की लत) पनप रही हैं। जीवनशैली के कतिपय परिवर्तन स्वास्थ्य संवर्धन में सहायक भी सिद्ध होते हैं। उदाहरण के लिए पोषण युक्त भोजन का तरीका अपनाना, पर्याप्त नींद लेना, व्यायाम और यौगिक क्रियाओं को दैनिक चर्या में शामिल करने आदि से स्वास्थ्य बेहतर होता है। सर्वोत्तम स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए स्वास्थ्यवर्धक जीवनशैली अपनाने के अलावा कोई विकल्प नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

## 1.6.4 सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियां (Socioeconomic Conditions)

यह एक निर्विवाद सत्य है कि स्थान विशेष की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां वहाँ के निवासी व्यक्तियों के स्वास्थ्य को प्रभावित करती ही हैं। दुनिया भर के देशों का सर्वेक्षण करने से यह तथ्य उभर कर सामने आता है कि उनके नागरिकों का स्वास्थ्य स्तर उनके सामाजिक-आर्थिक विकास के अनुरूप बदलता है। सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के अन्तर्गत प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय, शिक्षा, पोषण, रोजगार के अवसर, रहन-सहन तथा राजनैतिक तंत्र जैसे कारकों का आकलन किया जाना चाहिए। इनमें से आर्थिक स्तर, शिक्षा तथा राजनैतिक व्यवस्था सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

### 1.6.4.1 आर्थिक स्तर

किसी भी देश या समुदाय के आर्थिक स्तर का आकलन और विश्लेषण करने के दृष्टिकोण से प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की गणना सर्वोत्तम पैमाना हो सकता है। आंकड़ों से यह स्पष्ट होता है कि आर्थिक स्तर में सुधार से मृत्युदर घटती है, औसत आयु बढ़ती है तथा जीवन की गुणवत्ता में सुधार होता है (तालिका नं 1)। आर्थिक स्तर किसी देश की क्रय-विक्रय शक्ति, नागरिकों के जीवन स्तर एवं जीवन की गुणवत्ता, परिवार के परिमाण, रोगों की उत्पत्ति तथा उसके प्रति जन-सामान्य की प्रतिक्रिया आदि का निर्धारण करता है। इसके साथ स्वास्थ्य संवर्धन के प्रति जागरूकता भी आर्थिक स्तर के साथ घटती-बढ़ती है। अत: यह कहा जा सकता है कि आर्थिक स्तर स्वास्थ्य का दर्पण होता है।

ऊंचे आर्थिक स्तर का परिणाम सदैव अच्छा ही हो यह आवश्यक नहीं है। आर्थिक रूप से सम्पन्न देशों में भी हृदय रोग, मधुमेह, मोटापा जैसी गम्भीर बीमारियां बहुतायत में पायी जाने लगी हैं।

**तालिका-1 चुने हुए स्वास्थ्य एवं सामाजिक संकेतक, 1995**

| क्र. सं. | विषय | अल्प विकसित देश | विकासशील देश | विकसित देश |
|---|---|---|---|---|
| 1. | जन्म के समय जीवन की आशा (वर्षों में) | 50.6 | 62.4 | 74.5 |
| 2. | मृत्यु दर (प्रति एक हजार जन्म दर) | 119 | 62.4 | 14 |
| 3. | 1-2 वर्ष की उम्र में मृत्यु दर (प्रति 1000) | 33.4 | 20 | 2.4 |
| 4. | चिकित्सक-जनसंख्या अनुपात (प्रति 1000) | 1.6 | 4.7 | 25.1 |
| 5. | परिचारिका-जनसंख्या अनुपात (प्रति 1000) | 2 | 7.5 | 51.6 |
| 6. | प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय आय (यू.एस. डालर में, 1993) | 213 | 520 | 16,000 |
| 7. | प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय स्वास्थ्य व्यय (यू.एस. डालर में, 1991) | 5 | 20 | 2000 |
| 8. | वयस्क साक्षरता दर (%) | 40 | 65 | 97 |

### 1.6.4.2 शिक्षा (Education)

शिक्षा का स्तर भी जन साधारण के स्वास्थ्य स्तर को प्रभावित करता है। विशेषकर महिला शिक्षा का सामाजिक एवं वैयक्तिक स्वास्थ्य को उठाने में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। गरीबी, कुपोषण, बीमारी, शिशु

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मृत्युदर जैसी स्वास्थ्य सम्बन्धी कठिनाइयों का ग्राफ जन निरक्षरता के ग्राफ के साथ चलता है। केवल शिक्षा के द्वारा ही स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता बढ़ाई जा सकती है तभी उपरोक्त तमाम कठिनाइयों से मुक्ति मिल सकती है और जन साधारण के स्वास्थ्य को बनाये रखने में सहायता मिलती है।

### 1.6.4.3 व्यवसाय (Occupation)

अपनी पसन्द के व्यवसाय में कार्यरत व्यक्ति अपने व्यवसाय के कार्यों से संतुष्ट व्यक्ति सदैव प्रसन्नचित्त और स्वस्थ रहता है जबकि बेरोजगारी और भविष्य के प्रति चिंतित व्यक्ति उदासीन और रुग्ण हो जाता है। बेरोजगारी और व्यावसायियक कार्यों के प्रति उदासीनता व्यक्ति में हीन भावना पैदा करती है। और यदि ऐसी स्थिति बनी रहे तो सामाजिक अपमान और आर्थिक कष्टों के कारण विविध प्रकार की मनोवैज्ञानिक व्याधियां घेर लेती हैं और स्वास्थ्य को अपूरणीय क्षति होती है।

### 1.6.4.4 राजनैतिक तंत्र (Political System)

राजनैतिक व्यवस्था भी स्वास्थ्य को प्रभावित करती है। स्वास्थ्य सेवाओं का राजनीतिकरण होने के कारण वे सेवाएं जन सामान्य तक पहुंच ही नहीं पाती। बहुदलीय राजनीतिक प्रणाली में दल (पार्टी) का अपना एजेंडा होता है और अपना निहितार्थ। उसके चलते गैर तकनीकी स्वास्थ्य सुविधाओं की नीतियों एवं निर्णयों का क्रियान्वय नहीं हो पाता और जन साधारण राजकीय सुविधाओं से वंचित रह जाता है। राजनैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत संसाधनों के आबंटन, जनाशक्ति के उपयोग की नीति तथा उपयोगी तकनीक के चुनाव के द्वारा ही स्वास्थ्य का स्तर उठाया जा सकता है।

### 1.6.4.5 स्वास्थ्य सेवाएं (Health Services)

स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण सेवाओं के अन्तर्गत व्यक्ति एवं समुदाय के रोगों की चिकित्सा, रोगों की रोकथाम एवं स्वास्थ्य संवर्धन के विविध कार्यक्रम चलाये जाते हैं। इनका उद्देश्य होता है जन साधारण के स्वास्थ्य स्तर में सुधार लाना। बच्चों में टीकाकरण से कई सम्भावित बीमारियों से उन्हें बचाया जा सकता है। स्वच्छ जल उपलब्ध कराकर अनेक उन रोगों की महामारी को रोका जा सकता है जो जल के अन्दर निवास करने वाले कीटाणुओं से फैलती हैं. गर्भवती स्त्रियों की देखभाल की सेवाओं से जच्चा-बच्चा मृत्यु दर कम की जा सकती है। देश और समाज में सबसे निचले और दलित तबके तब उपरोक्त सेवाओं को उपलब्ध कराने से राष्ट्रीय जीवन में स्वास्थ्य स्तर उठता है। लगभग सभी राज्यों में 'प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं' के अन्तर्गत अच्छे स्वास्थ्य के लक्ष्य को पाने का प्रयास किया जाता है।

### 1.6.4.6 अन्य कारक (Other Factors)

उपरोक्त कारकों के अतिरिक्त कुछ अन्य कारक भी हैं जो जनस्वास्थ्य को परोक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। कृषि एवं खाद्यान्न, उद्योग, सामाजिक कल्याण कार्यक्रम, ग्रामीण विकास, जनसंख्या एवं सामान्य सामाजिक वातावरण जैसे अन्य कारक हैं जो जनसाधारण के स्वास्थ्य स्तर पर असर डालते हैं । इन सभी कारकों को ध्यान में रखकर ही स्वास्थ्य सेवाओं सम्बन्धी नीतियों का निर्धारण एवं क्रियान्वयन किया जाना चाहिए तभी सामाजिक स्वास्थ्य का स्तर ऊपर उठाने में सहायता मिलेगी।

## 1.7 शारीरिक स्वास्थ्य की देखभाल

शारीरिक स्वास्थ्य सम्पूर्ण स्वास्थ्य का महत्त्वपूर्ण घटक है। इसमें शरीर के विभिन्न अंगों की समुचित देखभाल करना तथा वे सारे आवश्यक उपाय करना जिनके फलस्वरूप वे अंग आवश्यकतानुसार कार्य करते रहें। इसके अन्तर्गत निम्नांकित अंगों एवं तंत्रों के रख-रखाव पर विशेष ध्यान दिया जाता है—

1. त्वचा, 2. बाल, 3. दांत, 4. आंखें, 5. कान,
6. नाक, 7. हाथ-पैर और उनके नाखून, 8. पाचन तंत्र,
9. श्वसन तंत्र, 10. रक्त परिवहन तंत्र एवं 11. उत्सर्जन तंत्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इन अंगों की मूलभूत संरचना एवं मुख्य कार्यों का अध्ययन करके यथावश्यक उपाय करना चाहिए जिससे उनके कार्यों में संतुलन बना रहे।

## 1.7.1 त्वचा की देखभाल

त्वचा बाह्य त्वचा (Epidermis) और अन्त: त्वचा (Dermis) दो स्तरों की बनी होती है। इनके बीच में स्वेद एवं तैल ग्रंथियां पाई जाती हैं। त्वचा शरीर को सुरक्षा प्रदान करती है यह (Temperature regulation) में सहायक होती है। यह उत्सर्जी अंग के रूप में भी काम करती है।

त्वचा की देखभाल के लिए निम्नांकित उपाय अवश्य करने चाहिए-

1. नियमित स्नान, शीतल जल स्नान, गरम जल स्नान, भाप स्नान एवं तैल स्नान;
2. संतुलित आहार;
3. मच्छरदानी का प्रयोग;
4. सुरक्षा प्रदान करने वाले यथासंभव सूती वस्त्रों का प्रयोग एवं
5. श्रृंगार प्रसाधनों का सीमित प्रयोग।

## 1.7.2 बालों की देखभाल

बालों की स्थिति कुछ सीमा तक पोषक स्तर और शरीर के सामान्य स्वास्थ्य का स्तर दर्शाती है। पतले, विरल एवं आसानी से उखड़ने वाले बाल निम्न पोषण स्तर के सूचक हैं। यदि बाल टूटते हैं तो इसका कारण बालों के काण्डों (Shaft) को पर्याप्त पोषण का अभाव है। आघात और पोषण की कमी से ही असमय बाल सफेद हो जाते हैं। बालों की देखभाल के लिए उन्हें नियमित साबुन और शैम्पू (जो मानक रसायनों से निर्मित हों) से धोना चाहिए। शिरोवल्क की मालिश एक और उपयोगी प्रयोग है। यह एक प्रकार का प्रच्छन्न प्रयोग है। यह रक्त संचार में वृद्धि कर बालों को अधिक पोषण उपलब्ध कराता है। सप्ताह में एक बार नारियल या बादाम का तेल लगाना चाहिए। साथ ही शिरोवल्क की अंगुलियों और अंगूठे के सिरे से अच्छी तरह मालिश करनी चाहिए। शिरोवल्क की स्वच्छता से बालों के नीचे त्वचा के संक्रमण से बचा जा सकता है।

## 1.7.3 दांतों की देखभाल

दातों की देखभाल के लिए निम्नलिखित उपाय करने चाहिए—

**1. दातों में ब्रश करना**– दिन में दो बार भोजनोपरान्त मुलायम ब्रश से दातों को साफ करना चाहिए जिससे दांतों के बीच भोजनकण न रहने पायें तथा दांतों के ऊपर किसी प्रकार की पपड़ी न जमने पाये। नीम की दातून भी इस कार्य के लिए उपयोगी है। ब्रश करते समय ब्रश को ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर हलके हाथों से घुमाना चाहिए। ब्रश करने के बाद गुनगुने पानी से कुल्ला करना चाहिए तथा जीभ को जीभी से साफ कर लेना चाहिए। ब्रश करने के लिए किसी अच्छी गुणवत्ता वाले दंतमंजन का भी उपयोग किया जा सकता है यद्यपि यह अनिवार्य नहीं है। ब्रश करने के बाद हल्के हाथों से मसूड़ों की मालिश भी करनी चाहिए।

**2. फ्लोराइड का प्रयोग**– जहाँ पानी में फ्लोराइड की मात्रा 0.5 मि.ग्रा. प्रति लीटर से कम है वहाँ दन्तक्षरण बहुत अधिक होता है ऐसे स्थानों पर रहने वाले लोगों को फ्लोराइड युक्त दंतमंजन अवश्य प्रयोग में लाना चाहिए। परन्तु जहाँ पानी में फ्लोराइड प्रचुर मात्रा में पाया जाता है वहाँ फ्लोराइड युक्त दंतमंजन का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।

**3. दांतों का नियमित परीक्षण**– दांत सम्बन्धी रोग आगे चलकर अनेक जटिल रोगों का कारण बन जाते हैं इसलिए प्रारंभिक अवस्था में ही इनके निदान के लिए वर्ष में दो बार दांतों का परीक्षण अवश्य कराना चाहिए।

**4. आहार**– शक्कर, जलेबी, पेस्ट्री, केक, चाकलेट ओर बिस्कुट जैसे दांतों में चिपकने वाले पदार्थों

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Lalitpur

को खाने से दांतों में सड़न पैदा होती है अत: इनके सेवन से बचना चाहिए। यदि खायें भी तो तत्काल बाद कुल्ला करके दांतों को अच्छी तरह साफ करना चाहिए।

5. **नकली दांतों की देखभाल**– भोजन के तुरन्त बाद दन्तावली को निकाल कर साफ करना चाहिए। रात को दन्तावली निकाल कर खाने का सोडा मिले स्वच्छ जल में रखना चाहिए। दन्तावली निकालने के बाद गुनगुने पानी से कुल्ला करना चाहिए।

## 1.7.4 आँखों की देखभाल

आंखों की देखभाल के लिए निम्नांकित तरीके अपनाये जाने चाहिए–

1. **नेत्र संक्रमण की रोकथाम**– नेत्र एक कोमल एवं संवेदी अंग है। इसमें किसी प्रकार के निस्सरण (Dischange), लालिमा या दर्द होने पर तत्काल उपचार करना चाहिए अन्यथा नेत्रश्लेष्माशोथ नामक बीमारी होने की सम्भावना होती है। जब तक नेत्र पूरी तरह सामान्य न हो जाए तब तक उपचार करते रहना चाहिए एवं स्वास्थ्य शिक्षा के द्वारा स्वच्छ वस्त्रों का प्रयोग, मक्खियों की रोकथाम एवं स्वास्थ्य से जुड़ी अच्छी आदतों का प्रतिपादन भी करना चाहिए।

2. **चोट या घाव**– काम करते समय, खेलते समय या पटाखों आदि से नेत्रों में चोट लग जाती है। इन सबका विशेष ध्यान रखते हुए ऐसी किसी भी दुर्घटना की स्थिति में तत्काल नेत्र विशेषज्ञ से सम्पर्क करना चाहिए। आंखों में कोयले के कण, धूलकण एवं किरच आदि घाव बना देते हैं। इनके आंख में पड़ जाने पर तत्काल ठंडे और साफ पानी से धोकर इन्हें बाहर निकाल देना चाहिए। आंखों को मलना कदापि नहीं चाहिए।

3. **नेत्रों पर तनाव**– पढ़ने-लिखने या नेत्रों की मदद से कोई बारीक तकनीकी काम करने से आंखों पर तनाव पड़ता है। पर्याप्त प्रकाश न होने, गलत कोण से प्रकाश पड़ने, चलती गाड़ी में पढ़ने या सोकर पढ़ने से आंखों पर प्रतिकूल तनाव पड़ता है। सदैव बैठकर पढ़ना चाहिए। पुस्तक की नेत्रों से दूरी लगभग डेढ़ फुट और पुस्तक का कोण 40 से 70 अंश होना चाहिए। चलते वाहन में पढ़ना नहीं चाहिए। नजदीक से काम करने और पढ़ते समय बीच-बीच में आंखों को विश्राम देना चाहिए। नेत्रों को तेज चकाचौंध वाले प्रकाश से बचाना चाहिए। दिन में तीन बार आंखों को ठंडे जल से सौ बार छींटे मार कर धोना चाहिए।

4. **पौष्टिक भोजन**– नेत्रों की कई बीमारियां कुपोषण के कारण उत्पन्न होती हैं। इसलिए भोजन में हरी पत्तेदार सब्जियां, ताजे फल, दूध और मक्खन को शामिल करना चाहिए। भोजन में उन खाद्य पदार्थों को शामिल करना आवश्यक होता है जिनसे पर्याप्त मात्रा में विटामिन 'ए' मिलता हो।

5. **भेंगापन**–तिरछी आंखे या भेंगापन होने पर बचपन में ही चिकित्सक से परामर्श कर इलाज करना चाहिए। इससे भेंगापन दूर होने की पूरी सम्भावना रहती है। बड़े होने पर फिर यह ठीक नहीं होता।

6. **नियमित स्वच्छता एवं परीक्षण**– आंखों की स्वच्छता पर बार-बार ध्यान देना चाहिए। नेत्रों के आस-पास के मार्ग को स्वच्छ शीतल जल एवं अच्छी किस्म के साबुन से धोते रहना चाहिए। रात में सोते समय आंखों को अवश्य धोना चाहिए। ध्यान रहे कि नेत्रों एवं चेहरे की सफाई आदि के लिए अलग-अलग लोगों को अलग-अलग तौलिया ही प्रयोग में लेना चाहिए। प्रतिदिन प्रात: काल नेत्रों को मालिश देने वाली यौगिक क्रियाऐं अवश्य करनी चाहिए। संयोगवश पानी आने, मल आने, नेत्रों एवं पलकों के दु:खने, पलकों में सूजन, दृष्टि धुंधली होने एवं सिरदर्द होने पर तत्काल नेत्र विशेषज्ञ से सम्पर्क करना चाहिए। इसमें विलम्ब घातक हो सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

**7. हानिकारक आदतें न पालें**- आंखों में काजल, सुरमा एवं किसी प्रकार का तैलीय पदार्थ कदापि न डालें। अज्ञानता एवं आमतौर पर दुहरायी जाने वाली आदतें आंखों को गहरा आघात पहुंचाती है।

## 1.7.5 कानों की देखभाल

कानों की नियमित सफाई आवश्यक है परन्तु सफाई के इस क्रम में यह ध्यान रहे कि कान के पर्दों पर चोट या घाव न होने पाये। कर्णमल को सावधानी से बाहर निकालना चाहिए। कर्णमल कान के परदे की धूल तथा बाह्य पदार्थों से रक्षा करता है पर अधिक मोटी परत जम जाने पर इसको ऊपर स निकालना आवश्यक हो जाता है। यदि कर्णमल कड़ा हो जाता है तो निकालने के पहले एक सप्ताह तक दिन में दो बार जैतून का तेल या ग्लिसरीन की चार बूंदें डालते रहने से यह मुलायम हो जाता है और फिर आसानी से निकल आता है। नहाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि कान में पानी न जाये। अत्यन्त ककर्श तथा तीव्र ध्वनि से बचना चाहिए। कान में कभी भी ऊंगली या लकड़ी नहीं डालनी चाहिए।

## 1.7.6 हाथ-पैरों की देखभाल

हाथ-पैरों की सफाई के क्रम में उनके नाखूनों की सफाई पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। नियमित समय से नाखूनों को काटते रहना चाहिए। नाखूनों के द्वारा ही अन्यान्य कृमि शरीर के अन्दर पहुंचते हैं इसलिए इनको सप्ताह में एक बार कीटनाशक घोल की मदद से भी साफ कर लेना चाहिए। पैरों को सही स्थिति में रखना चाहिए। चलने एवं बैठने के समय पैरों की स्थिति पर पूरा ध्यान रखना चाहिए। गलत ढंग से पैरों को मोड़कर बैठने की आदत से इनकी पेशियों एवं अस्थियों के रक्त प्रवाह पर असर पड़ता है। अधिक देर तक नंगे पैर चलना अस्वास्थ्यकर होता है। पैर में पहने जाने वाले जूते चौड़े पंजे वाले होने चाहिए तथा बहुत कसे नहीं होने चाहिए। प्रतिदिन धुले हुऐ मोजे ही इस्तेमाल करने चाहिए।

## 1.7.7 अन्य अंगों की देखभाल

शिखा से लेकर पैर के अंगूठे तक के सभी अंग महत्त्वपूर्ण हैं और उपयोगी हैं इसलिए सभी की देखभाल पर समुचित ध्यान दिया जाना अपेक्षित है। कांधा, बांह, उदर, कमर, पीठ एवं जननांगों पर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाना चाहिए। इसके लिए सफाई, समय-समय पर मालिश एवं किसी तरह की अप्रत्याशित परिवर्तन होने पर तुरन्त चिकित्सक से सम्पर्क करना चाहिए। स्त्रियों को अपने स्तनों एवं योनिमार्ग का विशेष ध्यान रखना चाहिए। स्तन कैंसर के प्रति जागरूक रहना चाहिए तथा बराबर स्तनों की स्वयं ही जांच करनी चाहिए। योनिमार्ग से ही प्राय: वाइरल संक्रमण होने की सम्भावना रहती है इसलिए योनिमार्ग की सफाई पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। रजोधर्म एक स्वस्थ स्त्री की सामान्य शारीरिक क्रिया है। यह किसी तरह से अनिष्टकारी न होकर नारीत्व की अभिव्यक्ति है। इस अवधि में स्वच्छ सेनिटरी नैपकिन का प्रयोग किया जाना चाहिए। नहाना, बाल धोना एवं अन्य सामान्य कार्यों में कोई बाधा नहीं मानना चाहिए। रजोधर्म की अवधि में संभोग के बारे में स्वस्थ दम्पत्ति को चिकित्सकीय आधार पर कोई मनाही नहीं होती। केवल स्वयं की रुचि ही एक मात्र वर्जना है।

## 1.7.8 नींद एवं विश्राम

नींद और जागृति अवस्था मनुष्य के दैनिक जीवन की समचक्रीय अवस्थाएं हैं। जितना आवश्यक जागना है उतना ही आवश्यक है सोना। स्वास्थ संवर्धन के लिए विश्राम एवं नींद अति आवश्यक हैं। लगातार काम करते-करते शरीर के अवयव थक जाते हैं तब नींद आती है। इससे सारे अंगों को विश्राम मिलता है और कुछ समय नींद लेने के बाद वे तरोताजा हो जाते हैं और पुन: स्फूर्ति के साथ काम के लिए तैयार हो जाते हैं। एक वयस्क एवं स्वस्थ व्यक्ति के लिए 5-6 घंटे की नींद आवश्यक होती है। शिशु को 12-15 घंटे एवं स्कूली बच्चों को 8-9 घंटे की नींद लेनी चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सोने ओर सोकर उठने का समय निश्चित होना चाहिए। सोने के लिए समतल एवं कड़ा विस्तर होना चाहिए। तकिया बिल्कुल नहीं लगाना सर्वोत्तम है पर यदि लगाना ही हो तो मुलायम और बहुत पतला होना चाहिए। कमरा अंधेरा और हवादार होना चाहिए। मुंह ढक कर कदापि नहीं सोना चाहिए। सोते समय करमे में लैम्प, मोमबत्ती अथवा सिगड़ी जलती हालत में नहीं छोड़नी चाहिए।

### 1.7.9 मनोरंजन

मनोरंजन का तात्पर्य होता है अपने आप को काम से अलग करके विश्राम करते हुए मन को बहलाना। मनोरंजन से शारीरिक एवं मानसिक थकान कम होती है और मन को स्फूर्ति मिलती है। मनोरंजन सक्रिय भी हो सकता है और निष्क्रिय भी। शारीरिक व्यायाम करना सक्रिय मनोरंजन की श्रेणी में आता है। रेडियो सुनना निष्क्रिय मनोरंजन कहलाता है। मनोरंजन एकांगी और समूह में दोनों तरह से किया जा सकता है। काम की व्यस्तता से समय निकाल कर सुरूचिपूर्ण मनोरंजन अवश्य करना चाहिए। इससे शरीर और मन दोनों स्वस्थ रहते हैं। परन्तु ध्यान रहे मनोरंजन केवल मनोरंजन के लिए ही होना चाहिए, वह लत का रूप नहीं लेना चाहिए।

### 1.7.10 पोषण और मल निष्कासन

अच्छे स्वास्थ्य का आधार सही पोषण है। कुपोषण अनेकानेक बीमारियों का कारण बनता है। हमारे दैनिक आहार में प्रचुर मात्रा में यथावश्यक कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, वसा, खनिज लवण, विटामिन और चोकर तथा जल का सम्मिश्रण होना चाहिए। इसे ही संतुलित आहार की संज्ञा दी जाती है। संतुलित आहार के बारे में आप पूर्वार्द्ध में विस्तार से अध्यन कर चुके हैं। सही पोषण संतुलित आहार से ही मिलता है और संतुलित आहार शरीर को सामान्य और विशेष कार्यों को सम्पादित करने के लिए ऊजा प्रदान करने के साथ रोग-प्रतिरोध क्षमता को बनाये रखता है जिससे हमारा स्वास्थ्य अच्छा बना रहता है।

आहार से मिले पोषक तत्त्वों और ऑक्सीजन की मदद से शरीर की सभी इकाई कोशिकाओं में चयापचय की क्रिया होती है जिसके फलस्वरूप अनेक अपशिष्ट एवं त्याज्य रासायनिक पदार्थों का उत्पादन होता है। इन्हें शरीर से बाहर निकालना आवश्यक होता है। मल निष्कासन के लिए निम्नांकित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है-

1. आहार में रूक्षांश वाले (Roughage) खाद्य पदार्थ अवश्य शामिल करने चाहिए। इससे मल निष्कासन में सुविधा होती है और नियमितता आती है।
2. पर्याप्त मात्रा में तरल पदार्थ और पानी ग्रहण करना चाहिए।
3. यौगिक क्रियाओं और उदर से सम्बन्धित आसनों का नियमित अभ्यास करना चाहिए।
4. दिन में दो बार निश्चित समय पर शौच जाने की आदत डालना चाहिए।

## 1.8 मानसिक स्वास्थ्य और उसकी देखभाल

किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसके भावनात्मक व्यवहार के संतुलित विकास का वह स्तर जो उसके अन्य सहजीवी एवं सहकर्मी व्यक्तियों के साथ सहअस्तित्व एवं सौहार्दपूर्ण व्यवहार को दर्शाता है, मानसिक स्वास्थ्य कहलाता है। मानसिक स्वास्थ्य का सम्बन्ध केवल दो मनुष्यों के बीच स्थापित व्यवहार से न होकर व्यक्ति विशेष का समुदाय से, समाज से एवं उस संस्था से जहाँ वह कार्यरत है से होता है क्योंकि वह समुदाय, समाज एवं संस्थाएं ही उसकी जीवन शैली, कार्यप्रणाली, सुविधा-असुविधा, आर्थिक स्तर, स्थायित्व एवं सुरक्षा का निर्धारण करती हैं।

1950 में विश्व स्वास्थ्य संगठन की कमेटी ने मानसिक स्वस्थ्य की तमाम परिभाषाओं की समीक्षा कर यह बताया कि इस पर जैविक और सामाजिक दोनों प्रकार के कारकों (Factor) का गहरा असर पड़ता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है। मानसिक स्वास्थ्य का स्तर स्थायी न रहकर अनवरत परिवर्तनशील रहता है। यह परिवर्तन अन्य प्राणियों के सहवास की बदलती परिस्थितियों तथा पर्यावरण के परिवर्तन के सापेक्ष होता है। मानसिक स्वास्थ्य में होने वाले परिवर्तन यह तय करते हैं कि वह व्यक्ति अपने सहवासी प्राणियों के साथ किस स्तर तक सहअस्तित्व का व्यवहार कर पायेगा, बदलती परिस्थितियों में किस स्तर तक अपना सामंजस्य बिठा पायेगा और किस स्तर तक समाज को रचनात्मक योगदान दे सकेगा।

## 1.8.1 मानसिक स्वास्थ्य के सहयोगी घटक

वैसे तो मानसिक स्वास्थ्य की नींव बाल्यकाल में ही पड़ जाती है परन्तु वृद्धि एवं विकास के काल में अनेक अन्य घटक हैं जो इसके स्तर को प्रभावित करते हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण घटक इस प्रकार हैं-

### 1.8.1.1 शारीरिक स्वास्थ्य

कहावत है कि अच्छे और स्वस्थ शरीर में ही अच्छे और स्वस्थ मन का निवास होता है। शरीर की सभी प्रणालियां, सभी तंत्र एवं सभी जैविक एवं जैव-रासायनिक क्रियाएं पर्याप्त मात्रा में निर्धारित गति से चलती रहें तो व्यक्ति शरीर स्वस्थ रहेगा।

इनमें से किसी के रुग्ण होने पर मन भी दु:खी और रुग्ण हो जाता है। इसलिए यह निर्विवाद सत्य है कि अच्छा शारीरिक स्वास्थ्य अच्छे मानसिक स्वास्थ्य का प्रथम सोपान है।

### 1.8.1.2 मूलभूत आवश्यकताऐं

कतिपय मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति संभव नहीं होती। इनमें शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आवश्यकताएं प्रमुख हैं।

**(क) शारीरिक आवश्यकताएं**- रोटी, कपड़ा, मकान, नींद, मनोरंजन आदि शारीरिक आवश्यकताओं की श्रेणी में आते हैं।

**(ख) मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएं**- स्वतंत्रता, स्नेह-प्याह-दुलार, यश, उपलब्धि, प्रशंसा आदि मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की आपूर्ति भी आवश्यक है।

**(ग) सामाजिक आवश्यताएं**- मान-मर्यादा, सामाजिक प्रशंसा, पुरस्कार जैसी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति से भी स्वास्थ्य संवर्धन में सहायता मिलती है।

### 1.8.1.3 आदतें

हर व्यक्ति की कुछ न कुछ विशेष आदतें बन जाती हैं। इनमें से कुछ अच्छी (लाभप्रद) होती हैं और कुछ बुरी (हानिकारक)। काम करते रहने की धुन, अध्ययन, समय पर विश्राम और नींद आदि अच्छी आदतें है जो मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखने में सहायक होती हैं। इनके अतिरिक्त घर और बाहर अपनी भावनाओं पर नियंत्रण रखना, हर परिस्थिति में समभाव में रहना, दूसरों के कार्यों की सराहना करना एवं उनका सम्मान करना, अपने आत्मविश्वास को बनाये रखना तथा लक्ष्य निर्धारित करके चलन-ये ऐसी आदतें है जिनसे हमारा मानसिक स्वास्थ्य सुदृढ़ रहता है।

## 1.8.2 मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति के लक्षण

जो व्यक्ति मानसिक रूप से स्वस्थ होता है उसकी कतिपय विशेषताएं निम्न हैं-

1. स्वयं से सदा संतुष्ट रहता है।
2. वह स्वयं न तो अपनी निन्दा करता है, न प्रशंसा और न ही अपने ऊपर तरस खाता है।
3. वह सदा दुविधा से मुक्त प्रफुल्लित रहता है।
4. वह सदा व्यवस्थित रहकर व्यवस्थित रूप से काम करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. वह अपनी आलोचनाओं से विचलित नही होता, न ही क्रोधित होता है। उन पर गंभीरता से विचार करता है और मूल्यांकन करके तत्सम्बन्धी उपाय करता है।
6. वह दूसरों की इज्जत करता है, दूसरों की भावनाओं और आवश्यकताओं की कद्र करते हुए मानवीय व्यवहार करता है।
7. वह धैर्यपूर्वक परिस्थितियों का सामना करता है और उनको बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से हल करने का उपाय करता है।
8. वह सुख-दुख, अनुकूल-प्रतिकुल दोनों परिस्थितियों में समान व्यवहार करता है और आत्मसंयम बनाये रखता है।

**बोध प्रश्न :**

1. शारीरिक स्वास्थ्य की देखभाल कैसे की जाती है?
2. मानसिक स्वास्थ्य के सहयोगी घटकों के बारे में बताएं?

### 1.8.3 मानसिक स्वास्थ्य और संघटित व्यक्तित्व

मानव व्यक्तित्व के प्रमुख चार आयाम हैं—शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं भावानात्मक। शारीरिक आयाम का सम्बन्ध शारीरिक संगठन से हैं, जैसे—लम्बाई, ऊंचाई, वजन, रूप-रंग आदि। मानसिक आयाम व्यक्ति की सोचने-समझने और विचार-मंथन करने की क्षमता से सम्बन्धित है। बौद्धिक आयाम का तात्पर्य व्यक्ति की बुद्धि की तीव्रता और क्षमता से है। भावनात्मक आयाम का सम्बन्ध प्रतिकूल तथा तनाव की परिस्थिति में उसकी भावनात्मक स्थिरता से हैं। आचार्य महाप्रज्ञ की दृष्टि में व्यक्तित्व के उपरोक्त चार आयामों में सर्वाधिक महत्त्व भावनात्मक आयाम का है। इसके संतुलन और असंतुलन पर ही व्यक्ति का व्यवहार निर्भर करता है। मानसिक स्वास्थ्य का संतुलन व्यक्ति के भावनात्मक आयाम को नियंत्रित करता है और व्यक्तित्व में समग्रता आती है तथा चहुमुंखी विकास होता है इसलिए कहा जाता है कि मानसिक स्वास्थ्य का संवर्धन संगठित व्यक्तित्व के विकास में सहायक होता है।

## 1.9 अभ्यासार्थ नमूने प्रश्न

**I. निबंधात्मक प्रश्न**

1. स्वास्थ्य की परिभाषा देते हुए इसके विभिन्न आयामों का वर्णन कीजिए।
2. शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

**II. लघुत्तरात्मक प्रश्न** (एक पृष्ठ में उत्तर दीजिए)

1. स्वास्थ्य के निर्धारक कारक कौन-से है?
2. मानसिक स्वास्थ्य के सहयोगी घटकों का विवरण दीजिए।

**III. वस्तुनिष्ठ प्रश्न** (एक शब्द या एक वाक्य में उत्तर दीजिए)

1. नींद से क्या प्राप्त होता है?
2. जीवन दो प्रकार का होता है- सौद्देश्य और.....।
3. विकसित देशों में वयस्क साक्षरता दर कितनी है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई–2 : पर्यावरण और स्वास्थ्य

**संरचना**


2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 पर्यावरण

2.2.1 पर्यावरण क्या है?

2.2.2 पर्यावरण के घटक

2.2.2.1 वायुमण्डल

2.2.2.2 स्थलमण्डल

2.2.2.3 जलमण्डल

2.3 पारिस्थितिकी

2.3.1 पारिस्थितिकी का परिचय

2.3.2 पारिस्थितिकी का अर्थ

2.3.3 पारिस्थितिकी की परिभाषा

2.3.4 पारिस्थितिकी विज्ञान और मानव स्वास्थ्य

2.4 पारिस्थितिकी तंत्र

2.4.1 पारिस्थितिकी तंत्र के प्रकार

2.4.2 पारिस्थितिकी तंत्र में मानव

2.5 जीवन दृष्टि और पर्यावरण

2.6 पर्यावरण प्रदूषण और स्वास्थ्य

2.6.1 जल प्रदूषण

2.6.1.1 जल स्रोत

2.6.1.2 जल प्रदूषण की व्याख्या

2.6.1.3 जल प्रदूषण के स्रोत

2.6.1.4 जल प्रदूषण का मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव

2.6.2 वायु प्रदूषण

2.6.2.1 भूमिका

2.6.2.2 वायु प्रदूषण का स्वरूप

2.6.2.3 वायु प्रदूषण के स्रोत

2.6.2.4 वायु प्रदूषण का मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव

2.6.2.5 ग्रीन हाऊस प्रभाव

2.6.2.6 ओजोन परत में छिद्र

2.6.3 भू–प्रदूषण

2.6.3.1 भू–प्रदूषण का मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव

2.6.4 ध्वनि प्रदूषण

2.6.4.1 ध्वनि प्रदूषण का मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव

2.7 प्रश्नावली


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 2.0 प्रस्तावना

मानव अनन्त काल से अपने पर्यावरण से प्रभावित होता आया है। यदि पर्यावरण संतुलित है, वायु शुद्ध है, शोर नही है, प्रचुर मात्रा में सर्दी, गर्मी, वर्षा एवं नमी मिलती रहती है तो मानव का स्वास्थ्य भी अच्छा बना रहता है। इसके विपरीत यदि पीने के पानी में अशुद्धियां हैं, चारों तरफ की हवा में जहरीली गैसें, जैसे कार्बन-डाई-ऑक्साइड, सल्फर-डाई-ऑक्साइड मिली हुई हैं तो मानव के स्वास्थ्य पर सर्वथा प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि हमारे स्वास्थ्य और पर्यावरण के बीच ऐसा सम्बंध है जो युगो से चला आ रहा है और युगों तक चलता रहेगा। यदि हमें स्वस्थ रहना है तो हमें हमारे पर्यावरण को ठीक रखना ही पड़ेगा। इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है।

भारतीय संस्कृति में यत्र-तत्र-सर्वत्र पर्यावरण के संरक्षण और प्रकृति की महत्ता का विभिन्न रूपों में वर्णन किया गया है। सांस्कृतिक व्यक्ति प्रकृति को आत्मीयता और अंतरंगता से देखेगा और उसका रस ग्रहण करना चाहेगा: प्रकृति से खिलवाड़ करना या उसका शोषण करना उसे कभी रास नहीं आयेगा। गायत्री मंत्र में ''ॐ भूभुर्व: स्व:'' में इच्छा प्रकट की गई है, एक आत्म निवेदन है, एक सच्ची लालसा है—''जो सूर्य पृथ्वी, भुव और स्वर्ग, तीनों लोकों को प्रकाशमान करता है, वह मेरी बुद्धि को भी दिव्य और प्रखर करे।'' सूर्य के तेज को बुद्धि के तेज से जोड़ने की कामना, प्रकृति के तत्त्व को संस्कृति से जोड़ने की कामना ही तो है।

वामन पुराण में तो प्रात:काल उठते ही पांचों तत्त्वों का स्मरण करने की परम्परा पर जोर दिया गया है—''पृथ्वी अपनी सुगंध, जल अपने बहाव, अग्नि अपने तेज, अंतरिक्ष (आकाश) अपनी ध्वनि और वायु अपने स्पर्श गुण के साथ प्रात:काल को अपना आशीर्वाद दे यही हमारी कामना है।'' (वामन पुराण 14.26)

सूर्य और पंच तत्त्वों की आराधना की तरह ही पृथ्वी से आत्मीय लगाव की बात अथर्ववेद में भी कही गई है—''जिस धरती पर वृक्ष, वनस्पति एवं औषधियां हैं, जहाँ स्थिर और चंचल सबका निवास है उस विश्वंभरा धरती (मातृभूमि) के प्रति हम कृतज्ञ हैं और हम उसकी स्वतंत्रता की प्राण पण से रक्षा करेंगे।''(अथर्ववेद 12.1.31)

जैन धर्म के उत्त. सू. 21/6 में प्रकृति की रमणीयता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि शरद ऋतु का कमल जिस प्रकार जल में निर्लिप्त रहा है उसी प्रकार ममता भाव से मुक्त रह कर, प्रमाद रहित भावों से प्रकृति की सुरक्षा करने का संकल्प होना चाहिए।

इन सभी जीवन्त उद्धरणों के इतर अपनी लिप्सा के कारण मनुष्य जब प्रकृति और पर्यावरण का विनाश करता है तो उसका परिणाम भयावह होता है। हम सभी इस बात से भलीभांति परिचित हैं कि वनस्पति जगत और जन्तुजगत दोनों का समाज कल्याण से सीधा सम्बन्ध होता है। पर्यावरणीय प्रदूषण के फलस्वरूप अनेक दु:साध्य रोग उत्पन्न होते हैं। इस विपदा के समय औषधिगुण वाली वनस्पतियां एवं जन्तुनिर्मित रसायन मनुष्य को इन रोगों से छुटकारा दिलाता है।

प्रसिद्ध इतिहासविद राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार— ''प्राचीन भारतीय शिक्षा में शिक्षाशास्त्र के सिद्धान्त के तौर पर सभी अनुदेशों को व्यावहारिक रूप दिया गया था। .....पौधों के जीवन का सीधे ज्ञान प्राप्त करना चिकित्सा का अनिवार्य भाग था, जातक (क्रमांक 123) में हमें फिर यह पता लगता है कि प्रकृति अध्ययन पर स्वस्थ जिज्ञासा, अवलोकन और जांच की भावना जगाने के लिए जोर दिया जाता था, जो कि बौद्धिक संस्कृति के आवश्यक सहायक थे।''

विभिन्न धर्मों में भी पर्यावरण के महत्त्व को स्वीकारा गया है। हिन्दू धर्म में ''तदनुभूति'' तथा ''सभी जीवित वस्तुओं के प्रति अनुकम्पा'' दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दू धर्म में नदी, तालाब अनेक प्रकार के पेड़-पौधों, जैसे— बरगद, पीपल, आम, तुलसी एवं वायु तथा अग्नि आदि को महत्त्व दिया गया है। जैन धर्म में अहिंसा का विशेष महत्त्व है। इसे तो जीवन में पालनीय महाव्रत के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके अन्तर्गत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समस्त प्राणी मात्र— पेड़-पौधों एवं जन्तु सभी के प्रति आदरभाव की बात कही गई है। पर्यावरण के प्रति यह दृष्टिकोण सर्वथा आदरणीय एवं अनुकरणीय है। बौद्ध धर्म में जीवों के प्रति आदरभाव रखने की प्रेरणा दी गई है साथ ही किसी भी रूप में प्रकृति को नष्ट करने की वर्जना की गई है। इस्लाम तथा ईसाई धर्म में पर्यावरण के प्रति दृष्टिकोण स्वामी का न होकर उसके संरक्षक का होना स्वीकार किया गया है तथा यह कहा गया है कि सहबंधुओं एवं पर्यावरण के सभी घटकों की सुरक्षा करके ही मनुष्य सुरक्षित एवं स्वस्थ रह सकता है।

इन सभी महत्त्वपूर्ण बातों को दृष्टिगत करते हुए यह नितांत आवश्यक प्रतीत होता है कि हम पर्यावरण और स्वास्थ्य की अवधारणाओं एवं इनके अन्तर्सम्बन्धों का विस्तृत अध्ययन करें तथा इनसे सम्बंधित सिद्धान्तों को आत्मसात कर स्वस्थ समाज संरचना के जीवन विज्ञान के उद्देश्यों को पूरा करने में अपना बहुमूल्य योगदान दें।

## 2.1 उद्देश्य

—पर्यावरण और उसके घटकों के बारे में जान सकेंगे।

—पर्यावरण और मानव स्वास्थ्य के अन्तर्सम्बंधों की व्याख्या करने में सक्षम होंगे।

—पर्यावरण को स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से संरक्षित करने में अपना योगदान देने की प्रेरणा पायेंगे।

## 2.2 पर्यावरण

### 2.2.1 पर्यावरण क्या है?

'पर्यावरण' दो शब्दों से मिलकर बना है—'परि' एवं 'आवरण'। 'परि' का अर्थ है चारों तरफ तथा 'आवरण' का अर्थ घेरे हुए है। इस प्रकार पर्यावरण का अर्थ उन सबसे है जो कि किसी वस्तु विशेष को चारों ओर से घेरे हुए हो। इसके अनुसार मानव के पर्यावरण में उसके चारों ओर वायु, जल, सूर्य, नमी, वन, वनस्पतियां, जीव-जन्तु सभी शामिल हैं। ये सब उसको प्रतिक्षण किसी न किसी रूप में प्रभावित करते हैं। मानव आज जैसा भी है उसमें उसके पर्यावरण का विशेष योगदान है।

कोई भी जीव सर्वथा एकल जीवन व्यतीत नहीं करता है। पृथ्वी पर विविध जीवन इतनी अधिक संख्या में हैं कि किसी भी स्थान पर निवास करने वाले किसी भी जीव का दूसरे अनेक जीवों के साथ रहना एक अनिवार्यता होती है। इस प्रकार के सहवासों का जीव के अस्तित्व के प्रकार की दशा एवं दिशा पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से भौतिक पर्यावरण का भी बहुत महत्त्व होता है, क्योंकि जीव की अधिकांश ऊर्जा अपने पर्यावरण की भौतिक स्थितियों के प्रति अनुकूलित होने में ही व्यय होती रहती है। इस प्रकार पर्यावरण तथा जीव एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। यही बात मनुष्य के लिए भी लागु होती है। मानव सहित समस्त प्राणी अपने भोजन के लिए पादपों पर निर्भर करते हैं और अनेक पादप भी प्राणियों पर निर्भर करते हैं। फिर पादप अपने विकास, वृद्धि एवं फलने-फूलने के लिए प्रकाश, नमी, जल एवं मृदा पर निर्भर रहते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि मानव दूसरे जीव-जन्तु तथा सभी भौतिक प्रभाव एक-दूसरे को येन-केन-प्रकारेण प्रभावित करते ही रहते हैं। इनके निरन्तर चलते आ रहे शाश्वत सम्बंधों का परिणाम ही जीवन और संसार है।

पारिभाषिक रूप में पर्यावरण शब्द जीवों की विविध अनुक्रियाओं को प्रभावित करने वाली समस्त भौतिक (Physical) तथा जैविक (Biotic) परिस्थितियों का योग है।

**डगलस एवं हार्लैंड के अनुसार**—"पर्यावरण या वातावरण वह शब्द है जो समस्त बाह्य शक्तियों, प्रभावों और परिस्थितियों का सामूहिक रूप से वर्णन करता है जो जीवित प्राणियों के जीवन, स्वभाव, व्यवहार, अभिवृद्धि, विकास और प्रौढ़ता पर प्रभाव डालता है।" इसका अर्थ तो यही हुआ कि हमारे चारों ओर जो कुछ भी उपस्थित है वह पर्यावरण का ही अंश है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पर्यावरण को हम जीवमंडल (Biosphere) भी कह सकते हैं। इसका पुनर्विश्लेषण करने से यह बात पता लगती है कि जीवमंडल एक रचना न होकर जलमंडल (Hydrosphere), स्थल मंडल (Lithosphere) तथा वायुमंडल (Atmosphere) का मिला-जुला रूप है। जीव मंडल के इन विभिन्न घटकों के बारे में हैस (1951) नामक पर्यावरणविद् ने कहा था कि ''यद्यपि वायु में अनेक प्रकार के प्राणि तथा पादप पाये जाते हैं तथापि वायुमंडल के कोई निश्चित अभिलक्षण नहीं होते, जलमंडल में समुद्रीय तथा अलवणजलीय दो जीवचक्र होते हैं और स्थलमंडल में केवल भूमि का समावेश होता है। कुल मिलाकार कहा जा सकता है कि पर्यावरण एक ऐसी अमूर्त्त चीज है जो कि स्थायी नहीं है, समय के साथ अनेक घटकों से प्रभावित होकर परिवर्तित होती रहती है। यदि यह सत्य है कि मानव पर्यावरण के परिवर्तन से प्रभावित होता है तो वहीं यह भी कटु सत्य है कि पर्यावरण को मानव ही सर्वाधिक प्रभावित करता है।

## 2.2.2 पर्यावरण के घटक

### 2.2.2.1 वायुमंडल (Atmosphere)

वायु पृथ्वी को चारों ओर से घेरे रहती है। इस सर्वत्र फैले हुए आवरण को वायुमंडल कहा जाता है। पर्यावरण का यह सबसे तीव्र परिवर्तनशील घटक है। इसमें मौसम के अनुसार परिवर्तन होते हैं तथा समुद्रतल से ऊंचाई घटने-बढ़ने के साथ इसके कतिपय विशिष्ट गुणों में परिवर्तन आ जाता है। समुद्र के तल पर वायुमंडल की वायु में पाई जाने वाली गैसों का विश्लेषण करने से पता चलता है कि इसमें नाइट्रोजन गैस 78.9% तथा ऑक्सीजन लगभग 21% होती है। जैसे-जैसे समुद्र तल से ऊपर जायें तो वायु में ऑक्सीजन की मात्रा का प्रतिशत घटता जाता है। इसी प्रकार पृथ्वीतल से ऊंचाई बढ़ने के साथ वायु का घनत्व भी कम होता जाता है। पृथ्वी तल से 32 किलोमीटर की ऊंचाई के बीच वायु के कुल भार का 99% होता है। वैज्ञानिकों ने वायुमंडल को इसके विशेष गुणों के आधार पर चार स्तरों में विभाजित किया है—

(क) ट्रोपोस्फेयर (Troposphere)— पृथ्वी तल से 12 कि.मी. ऊपर तक।

(ख) स्ट्रेटोस्फेयर (Stratosphere)— 12 से 50 कि.मी. तक

(ग) मेसोस्फेयर (Mesosphere)— 50 से 85 कि.मी. तक

(घ) थर्मोस्फेयर (Thermosphere)— 85 कि.मी. से ऊपर (500 कि.मी. तक)

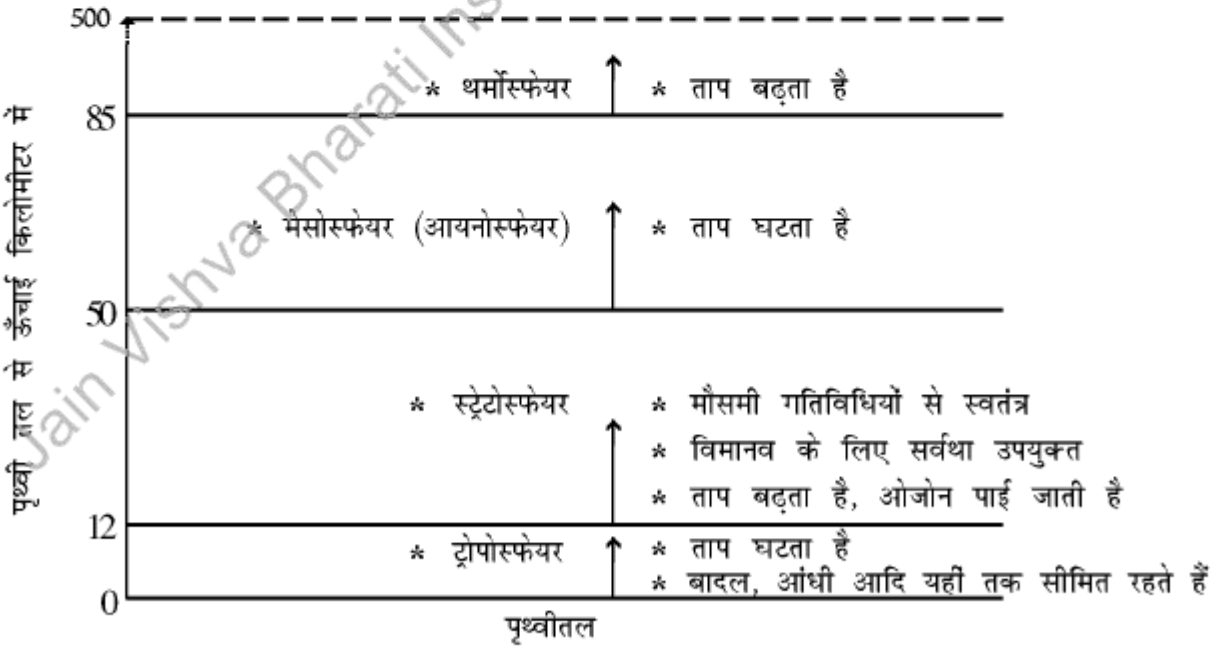


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पृथ्वी तल से लगे हुए पहले स्तर ट्रोपोस्फेयर जो पृथ्वी तल से 12 कि.मी. की ऊंचाई तक होता है, में ऊंचाई बढ़ने के साथ-साथ तापमान लगभग 60°c की दर से घटता है। बादल, आंधी आदि गति- विधियां इसी स्तर तक सीमित रहती हैं। इसके अगले स्तर स्ट्रेटोस्फेयर में बादल आदि से सम्बंधित कोई मौसमी गतिविधि नहीं होती इसीलिए इस स्तर को विमानन के लिए सर्वाधिक सुरक्षित माना जाता है। इस स्तर में ऊंचाई बढ़ने के साथ तापमान में वृद्धि होती जाती है। इसी स्तर में पाई जाने वाली ओजोन गैस हानिकारक पराबैंगनी किरणों (Ultraviolet rays) को अवशोषित कर उसके कुप्रभावों से हमारी रक्षा करतो है। इसके ऊपर मेसोस्फेयर नामक स्तर होता है, जिसे आयनोस्फेयर के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि इसमें विद्युत आवेशित कण पाये जाते हैं जो विद्युत चुम्बकीय तरंगों को परावर्तित कर देते हैं जिसके फलस्वरूप रेडियो तरंगों का सम्प्रेषण सम्भव हो पाता है। इस स्तर में जैसे-जैसे हम ऊपर की ओर जाते हैं, तापमान घटता जाता है। सर्वोपरि स्तर, जिसे थर्मोस्फेयर कहते हैं, की ऊंचाई लगभग 500 किलोमीटर तक होती है। मेसोस्फेयर के विपरीत जब हम इस स्तर में ऊपर की ओर जाते हैं तो पराबैंगनी किरणों के अवशोषण के कारण इसका ताप बढ़ता है।

### 2.2.2.2 स्थलमंडल (Lithosphere)

स्थलमंडल पृथ्वी पर स्थित चट्टानों से निर्मित ठोस भाग है। इसमें मुरमुरी मिट्टी, अध:स्तर (Subsoil), चट्टानें, कायान्तरित चट्टानें, प्राक्षेपिक चट्टानें पाई जाती हैं। इसकी मोटाई लगभग 60 किलोमीटर होती है। महासागर और समुद्र, पृथ्वी का लगभग 71 प्रतिशत हिस्सा घेरे हुए हैं। पृथ्वी का केवल 29 प्रतिशत भाग ही ऐसा है जो बिखरे हुए द्वीपों की धरती या स्थल हैं और प्रत्येक स्थलीय जन्तु या वनस्पति धरती पर पाई जाने वाली मिट्टी पर ही निर्भर करते है।

### 2.2.2.3 जलमंडल (Hydrosphere)

जैवमंडल का जलीय भाग जलमंडल कहलाता है। इसमें पृथ्वी सतह पर पाई जाने वाली नदियां, तालाब, झरने, समुद्र तथा अन्य सभी जल स्रोतों का समावेश है। पृथ्वी की सतह का 71 प्रतिशत हिस्सा जल से ढका हुआ है। अप्रत्यक्ष जल पहाड़ों पर बर्फ के रूप में एवं भू-गर्भ (Undugnound) जल के रूप में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त वायुमंडल में जलवाष्प तथा जन्तुओं एवं प्राणियो के अन्दर भी पर्याप्त मात्रा में जल पाया जाता है। पृथ्वी का जल एक चक्रीयप्रवाह में ही रहता है। पृथ्वी से वाष्पीकृत होकर जलवाष्प के रूप में ऊपर ऊंचाई पर चला जाता है। वहाँ ठंडा होकर पुन: जल के रूप में पृथ्वी पर बरसता है। इसे जलचक्र (Water cycle or Hydrological cycle) कहते हैं। जल का पुनर्चक्रीकरण ताप ऊर्जा तथा प्राणियों की चयापचय क्रियाओं पर निर्भर करता है।

## 2.3 पारिस्थितिकी (Ecology)

### 2.3.1 पारिस्थितिकी का परिचय

प्रकृति का प्रत्येक कार्य व्यवस्थित एवं स्वचालित है। उसमें कहीं भी कोई दोष नहीं है। जीव के शरीर की रचना उसकी अपनी विशेषताओं तथा पर्यावरण के अनुसार इतनी संतुलित है कि कहीं कोई कमी दिखाई नहीं देती। मानव भी इसी प्रकृति का एक हिस्सा है। अपने पूर्वाग्रह और अहंकार तथा भोग-विलास के साधन जुटाने के खातिर वह स्वयं को प्रकृति का अंग न मानकर उसका अधिष्ठाता मानने लग गया है। उसकी यह भूल उसके अपने स्वास्थ्य के लिए तबाही का कारण बन रही है। इन परिस्थितियों में यह आवश्यक हो गया है कि प्रकृति के साथ उसके कार्य-सम्बंधों की व्याख्या की जाए और इस बात का विश्लेषण किया जाए कि वे कौन-से कारण हैं जो मानव को प्रकृति से दूर ले जा रहे हैं। इस क्रम में पारिस्थितिकी का अध्ययन पहला सोपान सिद्ध हो सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 2.3.2 पारिस्थितिकी का अर्थ

पारिस्थितिकी अंग्रेजी भाषा के **इकोलोजी** शब्द का हिन्दी पर्याय है। **इकोलोजी** लैटिन भाषा के मूल शब्दों इकोस (Oikos) तथा लोगास (Logos) की संधि से बना है। इकोस का अर्थ होता है घर और लोगास का अर्थ होता है ज्ञान। इस प्रकार इकोलोजी का शाब्दिक अर्थ जीवों के गृह जीवन का ज्ञान प्राप्त करना बनता है। जीवों का घर उनका पर्यावरण होता है। जीव किस प्रकार अपने भौतिक पर्यावरण में क्रियाशील रहता है। इसी का अध्ययन पारिस्थितिकी में किया जाता है। इस प्रकार पारिस्थितिकी को पर्यावरण विज्ञान के तुल्य भी माना जाता है। इन दोनों में कई सैद्धान्तिक विरोध होते हुए भी इनका स्वरूप लगभग एक जैसा होता है।

## 2.3.3 पारिस्थितिकी की परिभाषा

पारिस्थितिकी को परिभाषित करते हुए जर्मन जीव विज्ञानी अर्नस्ट टैक्ल ने कहा है, ''पारिस्थितिकी का सम्बन्ध केवल पर्यावरण से नहीं है बल्कि पर्यावरण में जीव के उन समस्त जटिल पारस्परिक सम्बंधों से है जिसे डार्विन ने जीवन के लिए संघर्ष का नाम दिया है।'' समय-समय पर पारिस्थितिकी को अलग-अलग पर्यावरणवेत्ताओं ने परिभाषित किया है। उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएं इस प्रकार हैं—

1. जीवों अथवा जीव समूहों के अपने पर्यावरण से सम्बंधों का अध्ययन ही पारिस्थितिकी है।
2. ''पारिस्थितिकी जीवों तथा उनके पर्यावरण के परस्पर सम्बंधों का विज्ञान है''—फिलिप हेण्डलर (1970)
3. ''पारिस्थितिकी समस्त जीवों के समस्त पर्यावरणों के साथ समस्त सम्बंधों के अध्ययन का विज्ञान है''—टेलर (1936)
4. ''जीवित वस्तुओं के परस्पर अन्त:जातीय (intraspecific) तथा अन्तर्जातीय (interspecific) सम्बंधों तथा उनके भौतिक पर्यावरण के साथ सम्बंधों का अध्ययन ही पारिस्थितिकी कहलाता है।''
5. ''पेड़-पौधों तथा जंतुओं के अपने चारों ओर के पर्यावरण के साथ सम्बंधों का अध्ययन ही पारिस्थितिकी है।''
6. ''प्रकृति की संरचना तथा कार्यों का अध्ययन ही पारिस्थितिकी विज्ञान है''—ओडम
7. ''जीवित तंत्रों तथा पर्यावरण के बीच के सम्बंधों का अध्ययन पारिस्थितिकी विज्ञान है'' —टुर्क एवं विट्स (1972)
8. जीवों तथा उनके पर्यावरण के बीच सम्बंधों की समग्रता (Totality) या प्रतिमान (Pattern) ही पारिस्थितिकी है।
9. ''पारिस्थितिकी कुछ और नहीं बल्कि पर्यावरण जीवशास्त्र है, जिसमें पर्यावरण तथा जीवों के सम्बंधों की व्याख्या की जाती है।''

सरलतम शब्दों में ''पारिस्थितिकी वह अधिगम क्षेत्र है जिसमें जीव तथा उसके पर्यावरण के बीच होने वाली पारस्परिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।''

## 2.3.4 पारिस्थितिकी विज्ञान और मानव स्वास्थ्य

मानव का जितना सम्बंध उसके अपने शरीर से है, उतना ही उसके पर्यावरण एवं अन्य सहवासी जीव-जंतुओं से है। अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए वह वायु और भोजन पर्यावरण एवं अन्य प्राणियों से लेता है। उनका उपयोग करके, चयापचय की क्रिया के द्वारा शरीर के अन्दर भांति-भांति के रसायनिक पदार्थों का निर्माण करता है जिनकी आपसी क्रियाओं से शरीर की यांत्रिक और रासायनिक क्रियाओं का संचालन होता है। इन क्रियाओं के फलस्वरूप जो त्याज्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं उन्हें पुन: पर्यावरण में लौटा दिया जाता है। इन समस्त क्रियाओं पर पर्यावरण के घटक ताप, प्रकाश, ऊष्मा, आर्द्रता आदि का प्रभाव तो पड़ता ही है दूसरे अन्य जीव-जंतु भी प्रत्यक्ष

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और अप्रत्यक्ष रूप से अपना प्रभाव डालते हैं। स्वास्थ्य को अच्छा बनाये रखने के लिए उपरोक्त क्रियाओं एवं उसे प्रभावित करने वाले कारकों का संतुलित योगदान आवश्यक है। इससे यह परिणाम निकलता है कि पारिस्थितिकीय संतुलन ही मानव स्वास्थ्य का मूल मंत्र है। स्वास्थ्य के विस्तृत अध्ययन के लिए पारिस्थितिकी के संदर्भ बिन्दुओं का निर्धारण करना आवश्यक जान पड़ता है। कुछ महत्त्वपूर्ण पारिस्थितिकीय संतुलन के वे बिन्दु जो स्वास्थ्य की देखभाल के लिए आवश्यक हैं, इस प्रकार हो सकते हैं—

1. जीवों की विविधता, सहवासिता का स्वरूप एवं उनके विकास के क्रम की जानकारी।
2. जीवों के बीच चलने वाली खाद्य श्रृंखला एवं उसमें पैदा होने वाली रूकावटों की निश्चित जानकारी।
3. ऊर्जा के स्रोत, उसका रूपान्तरण एवं पर्यावरण में उसके विसरण की प्रक्रिया
4. पर्यावरणीय अनुकूलन सम्बंधी परिवर्तनों का विस्तृत विवरण।
5. स्थान विशेष के पारिस्थितिकीय-प्रारूप (Ecotype) का अध्ययन एवं जानकारी।
6. स्थान विशेष की जीव धारण क्षमता को प्रभावित करने वाले कारकों एवं कारणों का अध्ययन।

इन बिंदुओं को आधार मानकर जब हम पर्यावरण के एवं सहवासी प्राणियों के प्रति उदार एवं मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाएंगे और उसी के अनुरूप अपनी जीवनशैली का निर्धारण करेंगे तो निश्चित रूप से हमारे स्वास्थ्य का संरक्षण एवं संवर्धन हो सकेगा।

## 2.4 पारिस्थितिकी तंत्र (Ecosystem)

पारिस्थितिकी तंत्र जीवों के समुदाय (Community) और उनके भौतिक पर्यावरण की एक कार्यकारी इकाई है। पारिस्थितिकी तंत्र में परस्पर क्रिया करने वाले अजैविक (Abiotic) घटक (जैसे— सौर ऊर्जा, जल, हवा, मृदा आदि) और जैविक (Biotic) घटक (पेड़-पौधे एवं प्राणी) शामिल हैं। जैविक एवं अजैविक घटकों के बीच पदार्थ और ऊर्जा प्रवाह के माध्यम से परस्पर क्रिया होती रहती है और उसके माध्यम से दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। यह बात मानव स्वास्थ्य के संदर्भ में भी यथावत लागू होती है। जब तक दोनों के बीच क्रिया एवं ऊर्जा का प्रवाह निर्धारित मात्रा एवं गति से होता है, मानव सहित प्राणीमात्र का स्वास्थ्य ठीक रहता है। एक भौतिक क्षेत्र में सभी पारिस्थितिकी तंत्र मिलकर एक बड़ी इकाई बनाते हैं जिसे बायोम (Biome) कहा जाता है। विश्व के सभी बायोम मिलकर एक वहनीय (Sustainable) इकाई बनाते हैं जिसे जीवमंडल (Biosphere) कहते हैं।

पारिस्थितिकी तंत्र (Ecosystem) शब्द का उपयोग सर्वप्रथम ए.जी. टांस्ले ने 1935 में किया। उनके अनुसार यह एक अमूर्त्त जटिल धारणा है। इस तंत्र में प्राणी अपने पर्यावरण से पदार्थ तथा ऊर्जा ग्रहण करके अपने आकार में वृद्धि करते हैं तथा कार्बनिक पदार्थों का निर्माण करते हैं। आगे चलकर ये कार्बनिक पदार्थ खण्डित हो जाते हैं और अपने अवयवों में विभक्त हो जाते हैं। इस प्रकार प्रकृति में विभिन्न पदार्थों जैसे— कार्बन, ऑक्सीजन, जल आदि का चक्र चलता रहता है। मानव को अपने स्वास्थ्य-साधन का अंश इसी चक्र से लेना होता है। लेन-देन का चक्र जब तक संतुलित रहता है स्वास्थ्य बना रहता है अन्यथा स्वास्थ्य सम्बंधी कठिनाइयां सामने आ जाती हैं।

### 2.4.1 पारिस्थितिकी तंत्र के प्रकार

पारिस्थितिकी तंत्र दो प्रकार के होते हैं—

1. स्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र (Terrestrial Ecosystem)
2. जलीय पारिस्थितिकी तंत्र (Aquatic Ecosystem)

स्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

1. घास के मैदान (Grassland) 2. वन (Forests) 3. रेगिस्तान (Desert) 4. टुंड्रा (Tundra)

जलीय पारिस्थितिकी तंत्र जल में लवण की सांद्रता के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. स्वच्छ जल (Fresh Water) — नदी, झील एवं पोखर जल।
2. मध्यम लवण सान्द्रता वाले जल स्रोत — नदी के मुहाने, खाड़ी।
3. समुद्री जल — अधिक लवण वाले जल।

पारिस्थितिकी तंत्र को निम्न प्रकार भी वर्गीकृत किया जा सकता है—

## 2.4.2 परिस्थितिकी तंत्र में मानव

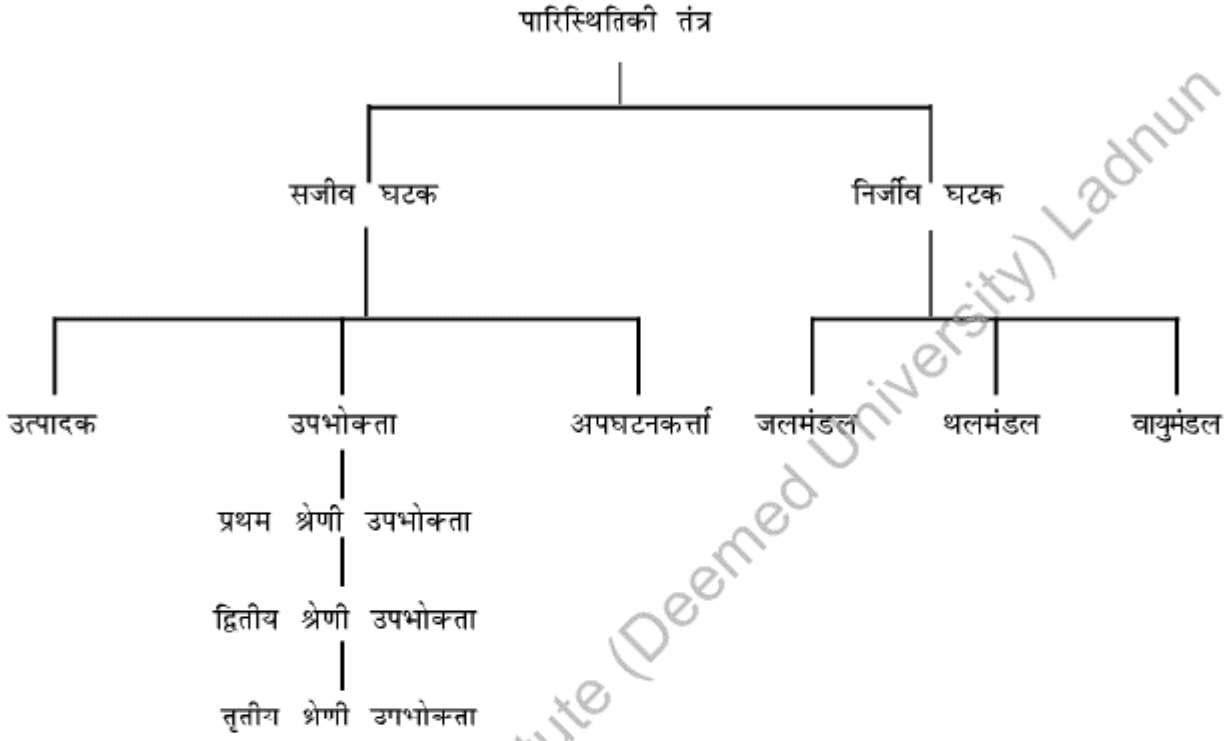


आधुनिक मानव ने संसार के समस्त पारिस्थितिकी तंत्रों और प्राकृतिक संतुलन को वैज्ञानिक चमत्कारों से प्रभावित किया है। मानव अपनी वैज्ञानिक उपलब्धियों पर इतराते हुए पारिस्थितिकी तंत्र का स्वघोषित स्वामी होने का भ्रम पाले हुए है जब कि वास्तविकता यह है कि पारिस्थितिकी का यह एक जैविक घटक मात्र है। वह अपनी हठधर्मिता के कारण जैसे चाहता है वैसे भौतिक पदार्थों तथा जीव-जंतुओं का अपने स्वार्थ के लिए उपयोग करता है। अपने आपको प्रकृति से अलग करके आत्मनिर्भर बनाने के प्रयास में पर्यावरण को ही अपने अनुकूल बनाने का प्रयास कर रहा है। इसके चलते उसने भू-मण्डल के प्रत्येक कोने में रहने वाले प्राकृतिक समुदायों को नष्ट किया है और उनके स्थान पर कृत्रिम समुदायों का विकास कर रहा है। अपनी आवश्यकताओं की आपूर्त्ति एवं भोग विलास के साधनों को इकट्ठा करने के क्रम में वृक्षों की अंधाधुंध कटाई शुरू कर दी जिससे वन क्षेत्र नष्ट होते चले गये। घास के हरे-भरे मैदान समाप्त होकर मरूस्थल में परिवर्तित हो गये। दूसरी ओर मानव ने नेहरों का जाल बिछाकर सूखे मरूस्थल को हरा-भरा कर दिया। अतिवृष्टि वाले क्षेत्रों से जल अल्प वर्षा वाले क्षेत्रों में पहुंचाया और प्राकृतिक संतुलन को नष्ट कर दिया। इसके साथ ही विकास को गति प्रदान करने के अभियान के तहत बिना सोचे समझे हानिकारक कीटनाशकों, रसायनों एवं रेडियोधर्मी पदार्थों का उपयोग किया जिससे प्राकृतिक संतुलन ही नहीं बिगड़ा बल्कि वातावरण भी प्रदूषित हो गया। अब इस प्रदूषित वातावरण में स्वयं मानव की उपस्थिति उसके अस्तित्व एवं स्वास्थ्य को गम्भीर खतरा उत्पन्न हो गया है। बढ़ती

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जनसंख्या ने आग में घी का काम किया है। अत: यह कहा जा सकता है कि मानव के कारण ही पारिस्थितिकी-तंत्र सर्वाधिक प्रभावित हुआ है।

मानव द्वारा औद्योगिक विकास एवं शहरीकरण के प्रयत्नों के फलस्वरूप वनों तथा वनस्पति क्षेत्रों की संख्या में निरन्तर कमी आई है। उद्योगों से प्राकृतिक जल-स्रोतों में प्रदूषण बढ़ा है। साथ ही मशीनों और वाहनों से वायुप्रदूषण व ध्वनि-प्रदूषण बढ़ा है।

इन गम्भीर परिस्थितियों को देखकर अब यह अपरिहार्य हो गया है कि हम सभी पारिस्थितिकी तंत्र को संतुलित बनाने के लिए कुछ ठोस पहल करें अन्यथा भविष्य की परिस्थितियां अत्यन्त विस्फोटक होंगी। इससे सम्बंधित विस्तृत जानकारी के लिए पाठ संख्या 5 को देखें।

---

**बोध प्रश्न 1:**

---

1. पर्यावरण से आप क्या समझते है?
2. पारिस्थितिकी तंत्र को विस्तार से समझाएं?

## 2.5 जीवन दृष्टि और पर्यावरण

मानव जीवन का उद्‌गम, निर्विवाद रूप से प्रकृति की गोद से ही है। इस जीवन को गतिमान रखने के लिए जीवन और प्रकृति के बीच तालमेल न केवल आवश्यक है बल्कि वांछित भी है। वैसे तो जीवन के कई आदर्श है परन्तु सबसे प्राथमिक लेकिन सबसे महत्वपूर्ण है उन तत्वों की सुरक्षा एवं संरक्षा जिनसे मिलकर जीवन का निर्माण होता है।हम सबको इस एक आधारभूत तथ्य का ज्ञान अवश्य होना चाहिए कि जीव-जन्तुओं की शरीर रचना का पदार्थ चित्रण इस धरती पर एक अति कोमल पारिस्थितिक-तन्त्र से संचालित होता है। परन्तु पारिस्थितिक असंतुलन आज एक अति भयावह स्थिति में पहुंच चुका है। असीमित वेग से हो रहे प्रौद्यौगिकीय विकास के कारण महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधनों के ऊपर जो संकट व्याप्त है, दूर-दूर तक उसका समाधान नजर नहीं आता। विचार करें तो पायेंगे कि हम पहले कैसे जीते थे और आज हम अपने लिए ही किस प्रकार की अवांछित समस्याएं खड़ी करके जीवन को संकट में डाल रहे है? कितना अच्छा होता यदि हम प्रौद्योगिकी में विकास एवं पर्यावरणीय क्रियाशीलता के पूर्व अति दृढ़ता एवं सूक्ष्मता से मूल्यांकन करते कि हमारे लिए क्या हितकर है और क्या विनाशकारी? यह इसलिए भी वांछित है क्योंकि इस धरती पर रहने वाले समस्त प्राणियों पर इस अंधाधुंध विकास का कुप्रभाव पड़ता दिख रहा है।

जीवनदायिनी पृथ्वी की उत्पत्ति और जीवन के प्राणतत्व के उद्‌भव से लेकर आज के तथाकथित विकसित समाज तक केवल उपयोग एवं उपभोग का क्रम चल रहा है। संरक्षण की बात कोई नहीं सोच रहा है। हम प्रकृति के अभिन्न अंग है और अपनी प्रत्येक आवश्यकता के लिए उसी पर निर्भर है। प्रकृति वसुन्धरा का मूर्तरूप है जिसमें वनस्पति, जीव-जन्तु, जलस्रोत और वायुमण्डल का एक सन्तुलित चक्र निश्चित नियमों के अधीन परस्पर सम्बन्धित रहकर स्वस्थ पर्यावरण का निर्माण करते है। इस सु-सन्तुलित चक्र में मानव भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका से जुड़ा है। मानव उत्पत्ति, क्रियाशीलता एवं विकास स्वस्थ पर्यावरण की देन है। मानव जल, थल, वायु, आकाश और अन्य तमाम अजैविक-जैविक पदार्थो की तात्कालिक सहायता से पृथक रहकर अपना जीवन व्यतीत नहीं कर सकता है। परन्तु मनुष्य ने अपने बुद्धिबल और विवेक के बल पर अन्त तकनीक का प्रयोग करके प्रकृति के खजाने को खोलकर उसके प्राकृतिक भण्डारों का दोहन कर उन्हें समाप्ति के कगार पर खड़ा कर दिया है। यूँ कहें तो अनुचित नहीं होगा कि विवेकहीन, भविष्य के खतरों से अन्जान, लालची और केवल भौतिक सुखों की खोज में भटकता हुआ मनुष्य अपनी उपभोग प्रवृत्ति से अपने ही पर्यावरण को विकृत कर रहा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पर्यावरण की समस्या का आलम यह है कि आज जीवन दायिनी वायु तक विषैली हो चली है। प्रदूषण के कारण अनेक छोटे-छोटे जीवन (कीट-पतंगें) विलुप्त होने के कगार पर हैं। जलचर मर रहे हैं। उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों के सघन वन नष्ट होते जा रहे है। अकेले हमारे देश में ही प्रतिवर्ष 13 लाख हेक्टेअर वन समाप्त हो रहे है। पेट्रोलियम ईधन के अन्धाधुन्ध इस्तेमाल से वायुमण्डल में कार्बनडाईआक्साइड और अन्य हानिकारक गैसों की मात्रा निर्धारित मापदण्ड से कई गुना अधिक हो रही है जिसके कारण पृथ्वी का तापमान विस्तार हो रहा है। अब जिस तेजी से धरती का तापमान बढ़ रहा है उसमें मात्र 50 वर्षो में इतनी बढ़ोत्तरी हो जाने की संभावना है कि जीवन यापन असहय हो जायेगा।बहुत स्पष्ट है कि आज समूचा विश्व पर्यावरणीय संकट के दौर से गुजरने वाला है। यदि समय रहते हालात को संभाला न गया तो धरती माँ, जो आज हमारी जीवन-दायिनी है, कल अवश्यमेव हमें काल के गर्त में डुबो देगी।

प्रकृति ने जीवन सुरक्षा हेतु विविध उपाय किये है। धरती से 15 से 40 कि.मी. ऊपर वायुमण्डल में आजोन अणुओं की एक पहली परत, पहली चादर है जिसे ओजोन परत के नाम से जाना जाता है। इसी चादर ने हमारी समूची पृथ्वी को आवरण प्रदान किया है। जब सूर्य की दहकती हुयी शक्तिशाली किरणें इस परत में से होकर गुजरती है तो ओजोन अणु रोशनी के तमाम नुकसान पहुँचाने वाले पराबैगनी विकिरणें को धरती पर पहुँचने से पहले ही सोख लेते है। अगर यह पराबैगनी विकिरण धरती पर पहुँच जाए तो मनुष्यों, पशुओं, पेड़-पौधों सहित सभी प्रकार के जीवन को घातक स्तर का नुकसान होगा। बढ़ते हुए गैसीय प्रभाव से आज यह परत आघातित होने लगी है और यदि पर्यावरण प्रदूषण का यही क्रम रहा तो सर्वजीवन विनाश का दिन ज्यादा दूर नहीं रहेगा। यह तो एक बानगी है ऐसे अनेक सुरक्षा कवच प्रकृति ने हमें प्रदान किये है।

जीवन के विविध रूप इस धरा पर पाये जाते है। भिन्न-2 प्रकार के जीव-जन्तु, कीट-पतंगे और पेड़-पौधे संसार में सब जगह और सब प्रकार के स्थानों पर पाये जाते है। ऊँचे पहाड़ की चोटियों पर जिनका अधिकांश भाग वर्ष भर बर्फ से ढक रहता है, नदियों में, तालाबों में, मरुस्थलों की शुष्क रेतीली भूमि में तथा शुष्क शैलों पर भी ये सब पाये जाते है। वास्तव में पृथ्वी पर शायद ही कोई स्थान होगा जहाँ किसी प्रकार के पेड़-पौधे, जीव-जन्तु न मिलते हों पृथ्वी पर जीवों तथा पौधों का वितरण यादृच्छिक नहीं होता है। विभिन्न प्रकार की जातियों में पाये जाने वाले अन्तर मुख्यत: परिस्थितियों के अन्तर के कारण होते है। परिस्थिति से अभिप्राय है ऐसे सभी बाहरी कारक जो प्राणी-जीवन को किसी न किसी प्रकार प्रभावित करते है। प्राणियों की विविध क्रियाओं उन का अनेकानेक परिस्थितियों पर प्रभाव और फिर उन परिस्थितियों का जीवों की विविध क्रियाओं पर प्रभाव- यह सब एक दूसरे से जुड़े-गुथे होते है। प्राकृतिक परिस्थितियाँ तथा अन्य जीव-जन्तुओं की क्रियाएं (मनुष्य को छोड़कर) एक समगति से चलती देखी जाती है, चक्रीय होती है, इनमें सन्तुलन-असन्तुलन के बीच भी सामन्जस्य होता है। इनके बीच यदि कोई नकारात्मक उद्दीपन उत्पन्न करने वाला कारक है तो वह है मनुष्य। मनुष्य ही 'अनुकूलन' के सिद्धान्त को तोड़ता है, अपने उपभोग के लिए, अपनी सुविधा के लिए। इसका परिणाम होता है परिस्थितिकीय असन्तुलन। जिसका दृष्टान्त हम यत्र-तत्र-सर्वत्र देख सकते है। इस पारिस्थितिकीय असन्तुलन ने समूची मानवजाति के लिए घोर संकट की स्थिति पैदा कर दी है।

जीवन शैली और पर्यावरण का सम्बन्ध भी संतुलित जीवन का महत्त्वपूर्ण पहलू है। आज के तथाकथित प्रगतिशील वर्ग (जिसमें उच्च मध्यम एवं निम्न मध्यमवर्ग भी शामिल है)की जीवन शैली और नगरीय सभ्यता के विकास ने हमें प्रकृति से दूर कर दिया है। हम आधुनिकता के मोह में प्रकृति को अपने कमरों में आबद्ध करने पर तुले हुये है। हमारी चिन्तन की दिशा और दशा दोनों ही भौतिक सुख की ओर घूम चुकी है। किसी भी स्थिति में हम अधिकाधिक सुख-साधन जुटाने के लिए तत्पर रहते है। स्वस्थ जीवन के लिए जिस न्यूनतम स्तर की जीवन शैली और दैनिक जीवन के सिद्धान्तो की अनुपालना की जरूरत होती है हम उनका भी पालन नहीं करते। परिणाम

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्राकृतिक संसाधनों का अनुचित दोहन और प्राकृतिक रूप में शारीरिक-मानसिक-भावनात्मक स्तर की दैनिक आवश्यकताओं की आपूर्ति का सर्वथा अभाव। हमने अहिंसा और अपरिग्रह के सार्वकालिक सिद्धान्तों को छोड़ दिया है और प्रकृति प्रतिउत्तर में हमारे सामने विलक्षण ढंग से संकट खड़ा करती जा रही है। आज का मानव तन से रुग्ण है क्योंकि उसे शुद्ध वायु नहीं मिलती, क्योंकि हरे-भरे वृक्ष कटते जा रहे है। मौसम अप्रत्याशित रूप से अनिश्चित व्यवहार कर रहा है, ताजे फलों एवं सब्जियों तथा अनाज में प्रदूषण का प्रभाव है। मन से रुग्ण है क्योंकि मन व्यथित एवं अतिचंचल है ध्यान-योग के अभ्यास के अभाव में। भावनात्मक स्तर की स्थिति तो सर्वथा दयनीय है। व्यक्ति की संवेदनशीलता न्यूनतम स्तर तक पहुँच चुकी है। खान-पान, रहन-सहन, जीवन शैली और पर्यावरण की क्षुब्धता ने व्यक्ति की शारीरिक क्रियाओं को इस रुप में प्रभावित किया है कि भावनात्मक स्तर का निर्माण करने वाले आन्तरिक रसायन प्रदूषित हो चुके है। जैसा अन्न, जैसी जीवन शैली वैसे रसायन, जैसे रसायन वैसे भाव, जैसे भाव वैसे ही व्यवहार। समस्या के मूल में दो बाते है- पर्यावरण और आहार। अपनी तात्कालिक और भौतिक सुखों की चाहत में मनुष्य ने पर्यावरण को नष्ट किया है फलस्वरूप पर्यावरण और पर्यावरण के घटकों ने आहार को प्रदूषित किया। प्रदूषित आहार से जीवन का संचालन दुरुह बनता जा रहा है।

आज पर्यावरण को लेकर जो संकट सम्पूर्ण मानवजाति पर मंडरा रहा है इसका एक ही समाधान है, वह है पर्यावरण के प्रति हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन करने का । परन्तु उससे पहले अपने जीवन के दृष्टिकोण और उद्देश्यों पर विचार करना होगा। जीवन शैली में बदलाव करना होगा। जीवन की प्राथमिकताओं का पुर्नधारण करना होगा। पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता का दृढ़ निश्चय करना इस दिशा में आगे बढ़ने का पहला कदम होना चाहिए। प्राकृतिक शक्तिओं के अनुरूप हमारी दिनचर्या का निर्धारण किया जाना चाहिए। प्रकृति के सभी घटकों-जैविक अजैविक के प्रति हमारा व्यवहार साहचर्य और सामन्जस्य का होना चाहिए। आहार, विहार और व्यवहार के प्रति हमारी सतत् जागरुकता होनी चाहिए। जीवन मूल्यों के प्रति हमारा दृष्टिकोण दृढ़ होना चाहिए। यदि हम इन नियमों का पालन करने में सफल होंगे तो प्राकृतिक संतुलन स्वयं ही स्थापित हो जायेगा। प्राकृतिक संतुलन स्थापित होने की स्थिति में हमें शुद्ध आहार मिलेगा, शुद्ध वायु मिलेगी, शुद्ध वातावरण मिलेगा, हमारी शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक शक्तियों का विकास होगा। परन्तु इन सब के लिए हमें हमारे जीवन के उद्देश्यों, दृष्टिकोण और प्राथमिकताओं तथा पर्यावरण के प्रति हमारे व्यवहार को बदलना ही होगा।

## 2.6 पर्यावरण प्रदूषण और स्वास्थ्य

पर्यावरण के विभिन्न अवयवों का शुद्ध अवस्था में उपयोग ही श्रेयस्कर होता है परन्तु किसी पदार्थ को पूरी तरह शुद्ध अवस्था में पाना कठिन है। जिस हवा में हम सांस लेते हैं, जो जल हम पीते हैं तथा जो भोजन हम करते हैं उसमें कुछ न कुछ अशुद्धि अवश्य होती है। पानी में कुछ ठोस धूल कण, कुछ घुले हुए लवण तथा कुछ जीवाणु भी होते हैं। हवा में कार्बन-मोनो-ऑक्साइड, सल्फर-डाई-ऑक्साइड तथा बारीक धूलकण मिले हुए होते हैं। यही बात मिट्टी एवं खाद्य पदार्थों के बारे में भी कही जा सकती है। किसी एक पदार्थ (यौगिक) में किसी अन्य पदार्थ/पदार्थों के अंश मिले होने को ही प्रदूषण कहते हैं। यह एक तुलनात्मक शब्द है। जब मिलावट का स्तर सामान्य से इतना अधिक हो जाता है कि उस पदार्थ का उपयोग हानिकारक हो जाता है। तो हम उसे प्रदूषित कहते हैं। हम जिस पर्यावरण के अन्दर रह रहे हैं उसमें पाये जाने वाले पदार्थ यदि प्रदूषित होते हैं तो उसका हमारे स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। कई बार तो यह घातक भी हो जाता है। अत: पदार्थों के प्रदूषण एवं उनसे होने वाली स्वास्थ्य सम्बंधी हानियों के बारे में सामान्य जानकारी अपेक्षित है। पर्यावरण के जिन घटक तत्त्वों के प्रदूषण का हमारे स्वास्थ्य पर सर्वाधिक प्रतिकूल असर पड़ता है, वे हैं—

1. जल प्रदूषण,
2. वायु प्रदूषण,
3. मृदा प्रदूषण,
4. ध्वनि प्रदूषण तथा
5. रेडियोधर्मी प्रदूषण।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 2.6.1 जल प्रदूषण

जीवन होगा तभी स्वास्थ्य का प्रसंग आयेगा। जल के बिना जीवन संभव नही है। सभी प्रकार के जीवन के लिए जल अति आवश्यक है। स्वयं हमारे शरीर का दो तिहाई भाग जल ही है। हमारे शरीर की विविध यांत्रिक एवं जैव-रासायनिक क्रियाओं में जल महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जल स्वयं एक पोषक तत्त्व होने के साथ शरीर के लिए आवश्यक अन्य पोषक तत्त्वों के वहन का कार्य भी सम्पादित करता है। मानव शरीर में पाये जाने वाले रक्त का 55% अंश जल होने से यह रक्त परिसंचरण द्वारा पोषक तत्त्वों को विभिन्न ऊतकों एवं अंगों, यहां तक कि प्रत्येक कोशिका तक पहुंचाता है। यही रक्त चयापचय की क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न त्याज्य पदार्थों के निष्कासन मे भी अग्रणी भूमिका निभाता है। शारीरिक प्रक्रियाओं के अतिरिक्त भी जीवन की मूलभूत क्रियाकलापों में भी जल की आवश्यकता होती है। खाना पकाने, घर की साफ-सफाई, उद्योग, सिंचाई, विद्युत उत्पादन, कल-कारखानों आदि के लिए पानी अपरिहार्य होता है।

### 2.6.1.1. जल स्रोत

सामान्य रूप से देखा जाए तो संसार के पर्यावरण में पानी का मुख्य स्रोत बरसात है। बरसात के बाद जो पानी जलाशयों में एकत्र होता है वह धीरे-धीरे वाष्पीकृत होकर वायुमंडल में ऊपर पहुंचता है और बादलों का रूप ले लेता है। वायुमंडल में घटित उष्मीय परिवर्तनों के फलस्वरूप वर्षा के रूप में पुन: नीचे आता है। वर्षा के उपरान्त पृथ्वी पर जल दो प्रकार से उपलब्ध होता है—1. धरातल स्रोत, 2. भूमिगत स्रोत। धरातल पर पाया जाने वाला पानी मानव के उपयोग के लिए सर्वाधिक सुलभ होता है। यह निम्न रूपों में मिलता है—

1. नदियां, 2. झीलें, 3. तालाब, 4. झरने तथा 5. कुण्डिकाएं।

### 2.6.1.2 जल प्रदूषण की व्याख्या

जल प्रदूषण की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है—

1. जल की गुणात्मक क्षमता में परिवर्तन कर उसे अनुपयोगी बनाने वाले बाह्य पदार्थों की मिलावट को जल प्रदूषण कहा जाता है।

2. कार्बनिक और अकार्बनिक पदार्थों को जल में मिलाने के परिणाम स्वरूप जल की भौतिक और रासायनिक विशेषताओं में ह्रास को जल प्रदूषण कहते हैं।

3. मानव के भोगवादी कृत्यों के कारण जल की वास्तविक उपयोगिता में कमी को जल प्रदूषण कहा जा सकता है।

4. जल में किसी भी ऐसे ठोस, तरल पदार्थों की मौजूदगी को जल प्रदूषण कहते हैं जो उसके रासायनिक एवं भौतिक गुणों को इस रूप में प्रभावित करे कि उस जल के लवण से स्वास्थ्य के लिए गम्भीर खतरा उत्पन्न हो।

प्रदूषण उत्पन्न करने वाले पदार्थों की मात्रा एवं उनके प्रकार के आधार पर जल प्रदूषण को चार वर्गों में विभक्त किया गया है—

1. भौतिक प्रदूषण, 2. रासायनिक प्रदूषण, 3. शरीर-क्रियात्मक प्रदूषण तथा 4. जैव प्रदूषण।

भौतिक प्रदूषण से जल के भौतिक गुणों, जैसे— गंध, रंग, स्वाद आदि गुणों में बदलाव आ जाता है। रासायनिक प्रदूषण शुद्ध जल में औद्योगिक एवं अन्य स्रोतों से मिलने वाले रसायनों के कारण उत्पन्न होता है। इससे जल की रासायनिक गुणवत्ता में हानि होती है। मानव के शरीर के विभिन्न अंगों एवं शरीर के कार्यों पर पड़ने वाले नकारात्मक प्रभावों का कारण जब जल होता है तो उस जल के प्रदूषण को शरीर क्रियात्मक प्रदूषण कहा जाता है। जल में विभिन्न प्रकार के रोगाणुओं, जीवाणुओं एवं परजीवी जंतुओं के प्रवेश को जैव-जल-प्रदूषण कहते हैं। वह जल मानव उपभोग के लिए, उसके स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त विषाक्त एवं घातक हो जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 2.6.1.3 जल प्रदूषण के स्रोत

जल प्रदूषण दो कारणों से होता है। पहला कारण है प्राकृतिक एवं दूसरा कारण है मानवीय कार्यकलापों के द्वारा होने वाला प्रदूषण।

### 2.6.1.3.1 प्राकृतिक जल प्रदूषण

भू-क्षरण, खनिज पदार्थों, पेड़-पौधों के वानस्पतिक भागों एवं प्राणियों के अपशिष्ट के मिलने से धीरे-धीरे होते रहने वाला प्रदूषण प्राकृतिक जल प्रदूषण की श्रेणी में आता है। वर्षा से जो जल प्राप्त होता है उसमें भी वायुमंडल में फैले त्रसरेणु, कार्बन के कण, धूल मिट्टी के कण तथा अनेक गैसों का मिश्रण पाया जाता है। यह प्रदूषण इतनी मन्द गति से होता है कि उसके कोई गम्भीर परिणाम सामने आते नहीं दिखते परन्तु उन परिस्थितियों में जब पानी की कमी हो जाती है और प्राकृतिक जलाशयों का जल सूखकर बहुत थोड़ा रह जाता है तब यह मन्द गति से होने वाला अल्प प्रदूषण ही खतरनाक सिद्ध होता है।

प्राकृतिक जल स्रोतों जैसे कुओं, तालाबों, नदीयों तथा झरनों का जल जिस स्थान पर पाया जाता है वहाँ की मिट्टी में यदि खनिज पदार्थों की मात्रा अधिक होती है तो उनके अंश भी जल में मिल जाते हैं। जब इन खनिज पदार्थों की मात्रा सामान्य से बहुत अधिक हो जाती है तो वह मानव स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव डालते हैं।

### 2.6.1.3.2 मानवकृत जल प्रदूषण

वैसे तो मानव सभ्यता का विकास ही प्राकृतिक जल स्रोतों की गोद में हुआ है परन्तु अपनी भोगवादी प्रवृत्ति के कारण मनुष्य ने उन जल स्रोतों को ही नष्ट करने का काम किया है। शहरीकरण, औद्योगीकरण एवं आधुनिकीकरण के नाम पर जिन प्राकृतिक सम्पदाओं का महाविनाश मानव ने किया जल भी उसमें से एक है। मानव की विभिन्न गतिविधियों के फलस्वरूप निम्नांकित अपशिष्ट पदार्थों के मिलने से जल प्रदूषण उत्पन्न होता है—

1. घरेलू अपशिष्ट (Domestic effluent),
2. मलजल (Sewage),
3. औद्योगिक अपशिष्ट (Industrial effluent),
4. कृषि कार्यों से बना अपशिष्ट (Agricultural effluent),
5. तापीय प्रदूषण (Thermal pollution),
6. तैल-प्रदूषण (Oil pollution) तथा
7. रेडियो-धर्मी अपशिष्ट (Radioactive Material's wastes)।

## 2.6.1.4 जल प्रदूषण का मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव

जल मानव जीवन की विविध गतिविधियों के लिए आवश्यक पदार्थ है। वह जीवन चलाने के लिए जल पर निर्भर रहता है। यदि जल प्रदूषित होता है तो मानव का स्वास्थ्य भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार विकासशील देशों में होने वाली कुल मृत्यु की 75 प्रतिशत मृत्यु के मूल में जल प्रदूषण ही होता है। पेट के रोगों में से 80 प्रतिशत रोग प्रदूषित जल के कारण ही होते हैं। एक अनुमान के अनुसार लगभग 65 प्रतिशत रोग प्रदूषित जल के कारण उत्पन्न होते हैं। सारिणी (1) में जल प्रदूषण से पैदा होने वाले प्रमुख रोगों का विवरण दिया गया है। प्रदूषित जल के द्वारा मानव स्वास्थ्य तीन प्रकार से प्रभावित होता है—

1. पेय जल के द्वारा,
2. जल के सम्पर्क में आने से एवं
3. जल में घुले हुए एवं मिले हुए रासायनिक पदार्थों द्वारा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 2.6.1.4.1 दूषित पेयजल का प्रभाव

जो जल पीया जाता है यदि वह प्रदूषित हो तो उससे अनेक प्रकार के जल वाहित रोग (Water born Disdeases) होने की सम्भावना रहती है क्योंकि प्रदूषित जल में अनेक प्रकार के सूक्ष्म जीव (Microorganisms) बैक्टीरिया और वाइरस पलते हैं। यही रोगजनक सूक्ष्मजीव रोगों के वाहक होते हैं।

कुछ रोगजनक सूक्ष्मजीव तथा उनके द्वारा उत्पन्न होने वाले रोगों का विवरण सरिणी (2) में देखा जा सकता है।

**सारिणी (1) जल प्रदूषण से उत्पन्न होने वाले रोग**

| क्र.सं. | जल प्रदूषण के कारक रासायनिक पदार्थ | सम्भावित रोग एवं विकार |
|---|---|---|
| 1. | मलजल में मिले हुए कार्बनिक एवं अकार्बनिक पदार्थ | पाचन तंत्र के रोग |
| 2. | कैल्शियम एवं मैग्नीशियम सल्फेट | आंतों में जलन एवं ऐंठन |
| 3. | सोडियम एवं पौटेशियम | जहरीला प्रभाव |
| 4. | फ्लोराइड | दांतों का रोग |
| 5. | सल्फाइड | श्वास के रोग |
| 6. | क्लोराइड | गुर्दों के रोग |
| 7. | अमोनिया | श्वास के रोग |
| 8. | यूरिया | पाचन तंत्र के रोग |
| 9. | क्लोरीन | श्वास के रोग |
| 10. | फीनोल | श्वास के रोग |
| 11. | तेल तथा चिकनाई (ग्रीस) | पाचन तंत्र के रोग |
| 12. | सायनाइड | जहरीला प्रभाव |
| 13. | पारा | गुर्दों, हृदय एवं तंत्रिका तंत्र के रोग |
| 14. | जस्ता | गुर्दों के रोग |
| 15. | क्रोमियम | आंतों के घाव (अल्सर) |
| 16. | सीसा | गुर्दों के एवं हृदय रोग तथा जोड़ों का दर्द |
| 17. | रंग तथा रंग युक्त रंजक | चर्मरोग, अनिद्रा तथा सिरदर्द |
| 18. | टेनिल | चर्मरोग |
| 19. | कीटनाशक पदार्थ | चर्म रोग, सिरदर्द, अनिद्रा एवं फेफड़ों तथा गुर्दे के रोग |

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सारिणी (2) जल के द्वारा फैलने वाले सूक्ष्म जीवाणु एवं उनसे उत्पन्न होने वाले रोग

| क्र.सं. | जीवाणु एवं परजीवी का नाम | उनसे फैलने वाले सम्भावित रोग |
|---|---|---|
| 1. | वायरस | वाइरल हैपेटाइटिस (पीलिया), पोलियो |
| 2. | बैक्टीरिया | हैजा, टाइफाइड, पैराटाइफाइड, पेचिस (डिसेन्ट्री),गैस्ट्रोएंट्राइटिस, डायरिया |
| 3. | प्रोटोजोआ | अमीबिक अतिसार, जिआरडिआसिस, थ्रंबोइसिस |
| 4. | हेल्मिंथिक (कृमि) | राउंडवर्म, हुकवर्म, थ्रेडवर्म (सभी पेट के अन्दर पाये जाने वाले कीड़ों से संबंधित रोग), नारूरोग |
| 5. | स्नेल | सिस्टोसामियासिस |

### 2.6.1.4.2 प्रदूषित जल के सम्पर्क से होने वाली स्वास्थ्य हानियां

नदी-तालाब जैसे प्राकृतिक जल स्रोतों में अनेक प्रकार के परजीवी होते हैं। नहाने, धोने तथा अन्य कार्यवश जब मनुष्य इन जल स्रोतों के सम्पर्क में आता है ये परजीवी चर्म को भेदकर शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं तथा अनेक रोगों का कारण बनते हैं। नारू (Schistosamiasis), एनकायलोस्टोमिथेसिस (Ankylostomiasis), स्ट्रान्जिलोइडियासिस (Strongloidiasis), लेप्टोस्पाइरोसिस (Leptospirosis) आदि इसी प्रकार फैलने वाले रोगों के उदाहरण हैं।

### 2.6.1.4.3 प्रदूषित जल में उपस्थित रासायनिक पदार्थों से होने वाले स्वास्थ्य सम्बंधी कुप्रभाव

अनेक प्रकार के रासायनिक पदार्थ अपद्रव्यों के रूप में प्राकृतिक रूप से ही जल में विद्यमान रहते हैं परन्तु जब इनकी मात्रा सामान्य से अत्यधिक हो जाती है तब ये शारीरिक स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए फ्लोराइड दांतों के लिए आवश्यक होता है परन्तु जल में जब फ्लोराइड की मात्रा मानक 1 मि.ग्रा./लीटर से अधिक हो जाती है तब दांतों में खुरदरापन और गड्ढे पड़ जाते हैं। दांतों में पीलापन आ जाता है। इसी प्रकार भूमिगत जल में पाये जाने वाले फेरस बाई कार्बोनेट के रूप में उपस्थित लौह से बदहजमी तथा कोष्ठबद्धता की बीमारी हो जाती है।

कृषि कार्यों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुए नाइट्रेट्स पेय जल द्वारा शरीर में पहुंचकर नाइट्राइट्स में परिवर्तित होते हैं और लाल रक्त कणिकाओं के अन्दर पाये जाने वाले हीमोग्लोबिन के साथ संयुक्त होकर ऑक्सीजन क्षमता में कमी लाते हैं। इस प्रकार की रक्त विषाक्तता से छोटे बच्चों की मृत्यु तक हो जाती है। इसी प्रकार कीटनाशक दवाईयों में पाये जाने वाले डी.डी.टी., पारा, सीसा, आर्सेनिक इत्यादि भोजन श्रृंखला के माध्यम से शरीर के अन्दर पहुंचते हैं और संचयी प्रभाव (इकट्ठा होना) के कारण अत्यधिक सान्द्रता के स्तर तक पहुंच जाते हैं। इन रासायनिक पदार्थों की बढ़ती सान्द्रता से कोष्ठबद्धता, उदरशूल, वृक्कशोथ (Nephritis), मणिबन्धपात (Wrist drop), पादपात (Foot drop) इत्यादि रोगों के उत्पन्न होने की पूरी सम्भावना रहती है।

## 2.6.2 वायु प्रदूषण

### 2.6.2.1 भूमिका

शुद्ध जल के समान शुद्ध वायु भी जीवन तथा स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। सामान्यतया वायु में नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, कार्बन-डाइ-ऑक्साइड, नियोन, आर्गन आदि गैसें होती हैं। समुद्र तल पर पाई जाने वाली वायु, जिसे हम शुद्ध वायु कह सकते हैं, में पांच प्रमुख गैसों का अनुपात आयतन के अनुसार निम्न प्रकार होता है-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

| गैसें | आयतन (प्रतिशत) |
|---|---|
| नाइट्रोजन | 78.084 |
| ऑक्सीजन | 20.956 |
| कार्बन-डाई-ऑक्साइड | 0.934 |
| आर्गन | 0.931 |
| नियोन | 0.002 |

इन गैसों के अतिरिक्त जलवाष्प भी वायु में पायी जाती है। समुद्र तल से ऊपर की ओर जाने पर इन गैसों का अनुपात बदलता है।

जीवन के लिए सभी जीवित प्राणियों में श्वसन क्रिया होती है और श्वास के लिए पौधे तथा जन्तु दोनों ही वायुमण्डल से ऑक्सीजन ग्रहण करते हैं तथा कार्बन-डाई-ऑक्साइड निष्कासित करते हैं। हरित पदार्थ (Chlorophyl) वाले पौधे प्रकाश संश्लेषण की क्रिया हेतु कार्बन-डाई-ऑक्साइड भी ग्रहण करते हैं तथा ऑक्सीजन निकालते हैं। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप वायुमण्डल में ऑक्सीजन तथा कार्बन-डाई-ऑक्साइड का एक संतुलन-सा स्थापित रहता है। इस प्रकार हरे पौधे पारिस्थितिकी संतुलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

अन्य जीवों के समान मनुष्य को श्वसन हेतु ऑक्सीजन आवश्यक होती है जिसे वह वायुमंडल की वायु से प्राप्त करता है। एक सामान्य कद-काठी का स्वस्थ व्यक्ति सामान्यतया और 21000 से 22000 बार श्वास लेता है औसतन लगभग 20 किलोग्राम वायु अपने अन्दर ग्रहण करता है। मनुष्य द्वारा उपयोग की जाने वाली वायु की कुल मात्रा उसके द्वारा ग्रहण किये जाने वाले भोजन-पानी की मात्रा से कहीं अधिक होती है। इस तथ्य से मानव जीवन में शुद्ध वायु का महत्त्व स्वयं ही रेखांकित हो जाता है। परन्तु आधुनिकीकरण, शहरीकरण एवं औद्योगिकीकरण की अन्धी दौड़ में तथा अपनी सुख-सुविधा जुटाने के लोभ में मनुष्य इस जीवन दायिनी वायु की शुद्धता को नष्ट करने में लगा है जिसका दुष्परिणाम स्वास्थ्य की बर्बादी के रूप में हम सबके सामने है।

## 2.6.2.2 वायु प्रदूषण का स्वरूप

वायु के भौतिक, रासायनिक या जैविक गुणों में कोई भी अवांछित परिवर्तन, जिसके द्वारा स्वयं मनुष्य के जीवन या अन्य जीवों और जैविक परिस्थितियों को हानि पहुंचे, वायु प्रदूषण कहलाता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने वायु प्रदूषण को इस प्रकार परिभाषित किया है— वायु प्रदूषण उन परिस्थितियों तक सीमित रहता है, जहाँ बाहरी परिवेशी वायुमंडल में दूषित पदार्थों की सान्द्रता मनुष्य तथा पर्यावरण को हानि पहुंचाने की सीमा तक बढ़ जाती है।

वायु प्रदूषण निम्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है—

**1. वायुविलय (Aerosol)**—अति सूक्ष्म आकार के ठोस तथा गैस के अणुओं के माध्यम में विक्षेपण से उत्पन्न बादल वायु विलय कहलाता है, जैसे—धुआं, कुहासा।

**2. धूलि (Dust)**—कोलाइडी (Colloidal) आकार से बड़े कुछ ठोस कण वायु में निलम्बित रहते हैं इन्हें धूलि के नाम से जाना जाता है। समय के साथ ये कण गुरुत्वाकर्षण बल के कारण नीचे बैठ जाते हैं।

**3. फ्लाई ऐश**—विभिन्न प्रकार के ईंधन के जलने से जो राख के कण उत्पन्न होते हैं वे वायु के साथ मिलकर फ्लाई ऐश का निर्माण करते हैं।

**4. जहरीली गैसों का मिश्रण**—कतिपय अनुपयोगी एवं विषैली गैसों का अनुपात जब वायु में अधिक हो जाता है तो वह स्वास्थ्य के लिए सर्वथा घातक सिद्ध होता है।

**5. धुआं**—ईंधनों के दहन से उत्पन्न वायु विरल कार्बन कण धुंए का निर्माण करते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 2.6.2.3 वायु प्रदूषण के स्रोत

सामान्यतया वायु प्रदूषण मानवकृत गतिविधियों के कारण ही होता है परन्तु कुछ प्रदूषण प्राकृतिक कारणों से भी होता है। इस प्रकार वायु प्रदूषण के प्राकृतिक एवं मानवीय दोनों ही स्रोत होते हैं।

**(अ) प्राकृतिक स्रोत**—ज्वालामुखियों के फटने से निकली राख, आंधी-तूफान में उड़ती धूल, जंगलों में आग लगने से उत्पन्न धुएं एवं प्राकृतिक दलदल से बनी मीथेन गैस जैसे कारणों से वायु प्रदुषण होने की सम्भावना होती है।

**(ब) मानवीय स्रोत**—वायु प्रदूषण का मुख्य कारण मानवकृत कार्यों से उत्पन्न विभिन्न विषैली गैसों एवं अन्य पदर्थों के कणों का वातावरण में मिलना होता है। इनमें मुख्य रूप से कार्बन-डाई-ऑक्साइड, मोनो-ऑक्साइड, सल्फर-डाई-ऑक्साइड, क्लोरीन, नाइट्रोजन के ऑक्साइड, अमोनिया, एल्डीहाइड्स, वेरीलियम, सीसा, आर्सेनिक, कैडमियम, एस्बेस्टस, बेन्जीपाइरिन, हाइड्रोकार्बन तथा रेडियोएक्टिव पदार्थ आते हैं। साधारणत: उद्योगों को ही मुख्य वायु प्रदूषक माना जाता है क्योंकि सर्वाधिक वायु प्रदूषण औद्योगिक कल-कारखानों के माध्यम से ही होता है। इसके अतिरिक्त ईंधन के प्रज्ज्वलन तथा कृषि कार्यों (कीटनाशकों के छिड़काव आदि) से भी वायु प्रदूषण होता है। शहरी इलाकों में वायु प्रदूषण का कारण अनियंत्रित वाहन चालन भी है।

## 2.6.2.4 वायु प्रदूषण का मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव

वायु प्रदूषण का सर्वाधिक कुप्रभाव मानव श्वसन तंत्र पर पड़ता है। दमा (Asthma), श्वसनी शोथ (Bronchitis), गले में जलन एवं दर्द, निमोनिया जैसे श्वसन रोग वायु प्रदूषण के ही प्रतिफल हैं। यदि प्रदूषित वायु के क्षेत्र में अधिक समय तक रहने की विवशता हो जाये तो फेफड़ों के कैंसर होने की पूरी सम्भावना रहती है।

### श्वसन तंत्र

मानव श्वसन तंत्र का मुख्य कार्य शरीर की कोशिकाओं में चयापचय की क्रिया के परिणाम स्वरूप उत्पन्न कार्बन-डाई-ऑक्साइड को बाहर निकालना तथा वायु से ऑक्सीजन प्राप्त करना होता है। नासागुहा (Nasal Cavity) और श्वासनली से होती वायु दोनों फुफ्फुसों में पहुंचती है (चित्र सं. 1), फुफ्फुसों की दीवार में रक्त कोशिकाओं (Blood capillaries) का जाल बिछा होता है जिसमें अनवरत रक्त प्रवाहित होता रहता है। रक्त में लाल रक्त कणिकाएं पाई जाती हैं जिनके अन्दर हीमोग्लोबिन नामक रासायनिक पदार्थ पाया जाता है जो ऑक्सीजन वाहक (Oxygen carrier) का काम करता है।

श्वास लेने के पश्चात् जब वायु फेफड़ों में भर जाती है तब गैसों के विनिमय (Gaseous-Exchange) की क्रिया होती है। इसके अन्तर्गत विसरण (Diffusion) द्वारा ऑक्सीजन रक्त में प्रवेश करती है तथा कार्बन-डाई-ऑक्साइड रक्त से निकलकर बाहर फेफड़ों के अन्दर मौजूद वायु में मिल जाती है जो प्रश्वास के द्वारा फेफड़ों से बाहर निकाल दी जाती है। रक्त में प्रवेश करने के पश्चात् ऑक्सीजन हीमोग्लोबिन के साथ संयोग करके ऑक्सी-हीमोग्लोबिन (Oxyhaemoglobin) नामक यौगिक बनाती है जो आगे रक्त परिवहन के द्वारा शरीर की सभी कोशिकाओं को ऑक्सीजन पहुंचाता है।

ऑक्सीजन की भांति कार्बन-मोनो-ऑक्साइड हीमोग्लोबिन से संयोग कर कार्बोक्सीहीमोग्लोबिन बनाता है जो ऑक्सीजन परिवहन में व्यवधान उत्पन्न करता है। अधिक मात्रा में अधिक समय तक ऑक्सीजन की भयानक कमी से दम घुटने लगता है। मस्तिष्क एवं हृदय की क्रियाशीलता कम होने लगती है और अधिक समय तक यही स्थिति बनी रहने पर मृत्यु तक हो जाती है। फेफड़ो के अन्दर पाये जाने वाले अनगिनत वायु कूपिकाकोशों (Alveolar Sacs) की भित्तियां ही वायुविनिमय के लिए पर्याप्त पृष्ठीय क्षेत्रफल (Area) उपलब्ध कराते हैं। बड़े आकार के धूल कणों के कारण भित्तियों के छिद्र बन्द हो जाते हैं और गैस विनिमय में व्यवधान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आता है। नासागुहा, श्वासनली तथा श्वसनी एवं श्वसनिकाओं (Bronchi and Bronchioles) के आंतरिक स्तर का निर्माण करने वाली कोशिकाएं रोमयुक्त होती हैं तथा इनमें श्लेष्मा कोशिकाएं (Mucous cells) भी पायी जाती हैं। धूल तथा अन्य पदार्थों के बड़े कण इन रोमाभ कोशिकाओं के कारण फेफड़ों में जाने से रोक दिये जाते हैं परन्तु जब वायु प्रदूषण के कारण इन बड़े कणों की संख्या अधिक हो जाती है तो ये श्वसनिकाओं से नीचे उतर कर फेफड़ों में चले जाते हैं तब इनका बाहर निकल पाना सम्भव नहीं होता। ये कण गैस विनिमय में बाधा उत्पन्न तो करते ही हैं साथ-साथ फेफड़ों की रक्त कोशिकाओं में घाव उत्पन्न कर रक्त में प्रवेश कर जाते हैं और श्वसनी शोथ, बिसिनोसिस, गले का दर्द, निमोनिया और फेफड़ों के कैन्सर जैसे गम्भीर रोग उत्पन्न करते हैं। श्वासनली और श्वसनिकाओं में इन प्रदूषकों के जमा होने से दमा जैसी बीमारी होने की पूरी सम्भावना रहती है।

इसके अतिरिक्त वाहनों से निकले धुएं में उपस्थित सीसा हमारे खाद्य पदार्थों एवं जल के साथ मिलकर शरीर में प्रवेश करता है तथा यकृत (Lever) एवं आहारनाल (Digestive canal) के ऊतकों को क्षति पहुंचाता है। वायु में व्याप्त बेन्जोपाइरिन नामक बहुकेन्द्रीय हाइड्रोकार्बन से फेफड़ों का कैंसर, तथा सल्फरडाईआक्साइड एवं नाइट्रोजन-डाई-ऑक्साइड से कैंसर, हृदयरोग, मधुमेह तथा एम्फीसेमा जैसे रोग होते हैं।

वायु प्रदूषण के प्रमुख प्रदूषक, उनके स्रोत एवं उनसे उत्पन्न होने वाले सम्भावित रोगों की संक्षिप्त जानकारी सारिणी (3) में दी जा रही है।

**सारिणी 3 : प्रमुख वायु प्रदूषक उनके स्रोत एवं प्रभाव**

| प्रदूषक | स्रोत | प्रभाव |
|---|---|---|
| कार्बन-डाई-ऑक्साइड | प्रज्ज्वलन क्रियाएं एवं मोटर गाड़ियां | पृथ्वी के तापमान में वृद्धि तथा गैस का जहरीला प्रभाव |
| कार्बन-मोनो-ऑक्साइड | अपूर्ण दहन की क्रियाएं, पेट्रोल का प्रज्ज्वलन | शरीर में ऑक्सीजन की कमी से होने वाले घातक रोग |
| सल्फर-डाई-ऑक्साइड | डीजल एवं कोयले से चलने वाली मोटर गाड़ियों, कारखानों, तेलशोधक इकाइयों से निकलने वाला धुआं | श्वास के अनेक खतरनाक रोग, कफयुक्त खांसी |
| नाइट्रोजन के ऑक्साइड | ऊर्जा संयंत्रों एवं वाहनों में प्रयुक्त ईंधन के प्रज्जवलन तथा जंगल की आग | श्वास के रोग, सिरदर्द, आंखों एवं त्वचा में जलन |
| अन्य पदार्थों के ठोस कण | भारी उद्योगों, कल-कारखाने, सीमेंट के कारखाने, ताप विद्युतघर तथा कोयला एवं पत्थर की खदानें | शरीर के आंतरिक अंगों पर विषैला प्रभाव, श्वसन सम्बंधी रोग एवं त्वचा पर जहरीला असर |

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 2.6.2.5 ग्रीन हाऊस प्रभाव

''ग्रीन हाउस प्रभाव'' का प्रयोग पृथ्वी के तापमान के सम्बंध में किया जाता है। एक अनुमान के अनुसार पिछले 50 वर्षों में पृथ्वी के तापमान, जो लगभग 15°C रहता है, में 1°C की बढ़ोत्तरी हो गई है। वैज्ञानिकों का यह अभिमत है कि वायुमंडल में गैसीय प्रदूषण के कारण वायु में कार्बन-डाई-ऑक्साइड की मात्रा अत्यधिक होने के कारण ही पृथ्वी के तापमान में यह वृद्धि हुई है। यदि कार्बन-डाई-ऑक्साइड की मात्रा दुगुनी हो जायेगी तो पृथ्वी के तापमान में 5°C की बढ़ोत्तरी होने की सम्भावना है। यदि तापमान में मात्र 3.6°C वृद्धि होती है तो आर्कटिक तथा अंटाकर्टिक के विशाल हिम भण्डारो के पिघलने से समुद्र के जल स्तर में 12 से.मी. से 1.5 मीटर तक की वृद्धि होगी। वैज्ञानिकों ने अनुमान किया है कि आगमी 50 वर्षों में यदि प्रदूषण की यही स्थिति रही तो ग्रीन हाउस के प्रभाव के चलते तापमान में लगभग 4.5°C की वृद्धि हो जायेगी। ध्रुवों पर तो तापमान में लगभग 9°C वृद्धि होने की सम्भावना है। यह स्थिति भयावह होगी क्योंकि इससे समुद्र का जल स्तर इतना बढ़ेगा कि समुद्र के किनारे बसे शहर और गांव पानी में डूब जायंगे। ग्लास्गो, फ्लोरिडा, टोकियो, स्टाकहोम, कोपेनहेगन तथा कोलकाता जैसे नगरों के समुद्र में डूब जाने की सम्भावना है।

### 2.6.2.6 ओजोन परत में छिद्र

वायुमंडल के स्ट्रेटोस्फेयर स्तर में पाई जाने वाली ओजोन गैस का आवरण सूर्य के प्रकाश से आने वाली पराबैंगनी किरणों को सोख लेता है जिससे वे पृथ्वी तक नहीं पहुंच पाती। पराबैंगनी किरणों के प्रभाव से त्वचा की स्तरीय कोशिकाएं नष्ट होती हैं तथा त्वचा के स्तरों में पाई जाने वाली सूक्ष्म रक्त केशिकाएं फूल जाती हैं तथा बाद में वे भी नष्ट होने लगती हैं जिससे त्वचा में जलन और घाव हो जाते हैं। आंखों में सूजन और जलन होती है तथा घाव हो जाते हैं। प्राणियों की प्रजनन क्षमता में ह्रास होता है तथा प्रजनन कोशिकाओं के विभाजन के दौरान होने वाले गुणसूत्रों की पुनर्व्यवस्था के समय कुछ जीन में परिवर्तन होता है जिससे संततियों में कई रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जंतुओं एवं मनुष्यों की रोग प्रतिरोधक्षमता कम हो जाती है।

ओजोन परत में छिद्र होने के कारणों का पता लगाने के प्रयास में वैज्ञानिकों ने पाया कि वायुमंडल में सी. एफ.सी. तथा हैलोन गैस की उपस्थिति के कारण ही यह छिद्र उत्पन्न होता है। वैज्ञानिकों का यह मत है कि क्लोरोफ्लोरोकार्बन गैस का, हैलोन गैस का ओजोन परत को नष्ट करने में 90 प्रतिशत योगदान है। नाइट्रिक ऑक्साइड तथा क्लोरीन ऑक्साइड गैसें भी काफी हद तक ओजोन परत में छिद्र के लिए जिम्मेदार हैं। यह गैसें वायुप्रदूषण के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती हैं।

## 2.6.3 भू-प्रदूषण

मिट्टी की प्राकृतिक गुणवत्ता एवं उपयोगिता को नष्ट करने वाले किन्हीं अवांछित भौतिक एवं रासायनिक परिवर्तनों को भू-प्रदूषण कहते हैं। भू-प्रदूषण मिट्टी में भिन्न-भिन्न प्रकार के ठोस एवं तरल अपशिष्ट एवं विषैले पदार्थों के मिलने से उत्पन्न होता है। भू-प्रदूषण मुख्यतया निम्नलिखित कारणों से होता है—

1. घरेलू अपशिष्ट (Domestic Wastes) पदार्थों से,
2. नगरपालिका अपशिष्ट (Municipal wastes) पदार्थों से,
3. औद्योगिक अपशिष्ट (Industrial Wastes) पदार्थों से एवं
4. कृषि अपशिष्ट (Agricultural Wastes) पदार्थों से।

घरेलू अपशिष्ट पदार्थों में सूखा कचरा, रसोई का गीला जूठन जिसमें सब्जियों व फलों के छिलके, सड़े-गले फल एवं सब्जियां, चाय की पत्ती आदि शामिल होते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नगरपालिका अपशिष्ट में घरों से निकला कूड़ा-कचरा, मल-मूत्र, सब्जी मार्केट से निकली सड़ी-गली सब्जियां एवं फलों का कचरा, लघु औद्योगिक इकाइयों का कचरा, सड़कों एवं नालियों का कचरा एवं अन्य सार्वजनिक इकाइयों से निकला कचरा शामिल होता है।

औद्योगिक अपशिष्ट में जैव अपघटनशील रासायनिक पदार्थ तथा कई ज्वलनशील, जहरीले दुर्गंधयुक्त एवं अक्रियाशील रासायनिक पदार्थ शामिल होते हैं।

कृषि अपशिष्ट पदार्थों में जो कीटनाशी उदर विष, स्पर्श विष एवं विषैली गैस के रूप में प्रयोग किये जाते हैं उनके शेषांश आते हैं। ये कीटनाशी पदार्थ हानिकारक कीटों को नष्ट करने के साथ मृदा को भी विषाक्त बनाते हैं और मृदा प्रदूषण का कारण बनते हैं।

---

**बोध प्रश्न 2:**

---

1. रेडियोधर्मी प्रदूषण क्या है?
2. जल प्रदूषण से होने वाले रोगों के बारे में बताएं?

### 2.6.3.1 भू-प्रदूषण का मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव

भू-प्रदूषण से जहाँ एक ओर शस्य-स्यामला धरती अस्वच्छ होती है वहीं दुर्गंध भी फैलती है। कूड़े-कचरे के कारण मच्छर-मक्खी एवं चूहों का प्रकोप बढ़ता है तथा इसी गंदगी में अनेक प्रकार के भयानक रोग फैलाने वाले कीटाणु भी पलते हैं। पेचिश, आंतों में सूजन, कालरा, मोतीझरा, नेत्ररोग एवं विविध प्रकार के संक्रमण के रोगाणु भी इसी कचरे पर पलकर मानव स्वास्थ्य को असीमित नुकसान पहुंचाते हैं।

मलमूत्र का समुचित निस्तारण न होने से मृदा प्रदूषण होता है जिससे सारा वातावरण दूषित होने लगता है और टाइफायड, आंत्रशोथ, पेचिश, हैजा, यकृतशोथ और पोलियो जैसी घातक बीमारियों की पूरी आशंका रहती है।

घर के बाहर गंदगी के ढेर से ही प्लेग की महामारी का अंदेशा रहता है तथा मिट्टी के ढेर में पानी इकट्ठा होने से मच्छर पनपते हैं जो मलेरिया को फैलाने में सहायक होते हैं।

कहीं-कहीं खेती के कार्यों में मल-जल के द्वारा सिंचाई की जाती है, जिसके कारण मृदा के अणुओं का संयुगमन होता है तथा मृदा के छिद्रों की संख्या लगातार घटती जाती है। धीरे-धीरे एक ऐसी अवस्था आती है जब मृदा पूर्णरूप से रुद्ध (Cog) हो जाती है तब वायु मृदा के छिद्रों से परिसंचित (Circulate) नहीं हो पाती। ऐसी मिट्टी को रोगी भूमि की संज्ञा देते हैं। यही नहीं मलजल के ठोस कणों के अंश सब्जियों एवं अनाज तथा फलों के अन्दर भी संचारित होते हैं जिनके सेवन से स्वास्थ्य पर प्रतिकूल असर पड़ता है।

## 2.6.4 ध्वनि प्रदूषण (शोर) (Noise Pollution)

नदियों के जल की कलकल, समन्दर की लयबद्ध गरजना तथा आसमान में बादलों की गड़गड़ाहट कोरी कल्पना नहीं है वरन् प्राकृतिक सच्चाई है। मानव की विविध गतिविधियों से भी ध्वनि उत्पन्न होती है। सुख और दु:ख के अवसरों पर ध्वनि करके, यातायात के द्रुतगामी साधनों से तथा सामाजिक समारोहों के अवसर पर ध्वनि विस्तारक यंत्रों से उत्पन्न अनावश्यक ध्वनि शोर का रूप ले लेती है। प्रचलित परिभाषा के अनुसार शोर एक अवांछित ध्वनि है। कानों को अप्रिय लगने वाली किसी भी ध्वनि को शोर कहा जा सकता है।

मानव के कान 20 कंपन प्रतिसैकण्ड से लेकर 20000 कंपन प्रति सैकण्ड वाली ध्वनि को ही सुन सकता है। ध्वनि की तीव्रता को 'डेसीबल' नामक इकाई में नापा जाता है। डेसीबल अनुपात स्केल पर आधारित है, अर्थात्

ध्वनि तीव्रता, डेसीबल में = $10 \log (I/Io)$

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

यहां पर Io उस ध्वनि की तीव्रता है जिसके अनुपात में दूसरी तीव्रता (I) नापी जाती है। अनुपात के कारण डेसीबल में थोड़ा-सा परिवर्तन ध्वनि के अनुभव में अधिक परिवर्तन लाता है। कुछ सामान्य अवसरों पर होने वाली ध्वनि की डेसीबल में माप सारिणी (4) में दिखाई गयी है—

**सारिणी (4) सामान्य ध्वनि स्तर (डेसीबल में)**

| | |
|---|---|
| दिल की धड़कन | 13 डेसीबल |
| फुसफुसाहट | 20 डेसीबल |
| टाइप करना | 40 डेसीबल |
| सड़क पर यातायात का शोर | 40-70 डेसीबल |
| भौंकना | 66 डेसीबल |
| कार-ट्रक की आवाज | 80 डेसीबल |
| जेट वायुयान के भीतर | 85 डेसीबल |
| फैक्ट्री का शोर | 90-140 डेसीबल |
| हार्न से 8 मीटर दूर | 100 डेसीबल |
| वायुयान से 10 मीटर दूर | 130 डेसीबल |

स्रोत—पर्यावरण शिक्षा—डॉ. ए.बी. सक्सेना, आर्य बुक डिपो, दिल्ली (1998)

### 2.6.4.1 ध्वनि प्रदूषण का मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव

सामान्यतया यह माना जाता है कि 80 डेसीबल से कम शोर मनुष्य में किसी प्रकार की स्थायी हानि नहीं पैदा करता है। यद्यपि नींद की कमी, स्वभाव में रूखापन, चिड़चिड़ापन और बार-बार क्रोध आना तथा सिरदर्द की शिकायतें आती हैं। ध्वनि का स्तर जब 80 डेसीबल से ऊपर होता है तथा 100 डेसीबल के आसपास पहुंचता है तो स्वास्थ्य सम्बंधी अनेक जटिलताएं उत्पन्न होती हैं। इससे सुनने की क्षमता में कमी, उच्च रक्तचाप, हृदय रोग, पाचन तंत्र के रोग, स्नायु रोग तथा कभी-कभी गर्भपात होना शामिल है। अत्यधिक तीव्रता (100 डेसीबल से ऊपर) वाले शोर में रहने वाले मनुष्यों की रक्त धमनियां सिकुड़ जाती हैं तथा रक्त प्रवाह अवरुद्ध होने लगता है जिससे दिल का दौरा (Heart Attack) पड़ने की पूरी सम्भावना हो जाती है।

## 2.7 अभ्यासार्थ नमूने प्रश्न

**I निबंधात्मक प्रश्न**

1. पारिस्थितिकी एवं पारिस्थितिकी तंत्र की व्याख्या कीजिए।
2. पर्यावरण प्रदूषण के विभिन्न रूपों तथा उनका स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव बताइये।

**II लघुत्तरात्मक प्रश्न** (150 शब्दों में उत्तर दीजिए)

1. जल प्रदूषण का मानव स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है?
2. पर्यावरण से आप क्या समझते हैं?

**III वस्तुनिष्ठ प्रश्न** (एक शब्द में उत्तर दीजिए)

1. स्ट्रेटोस्फेयर पर्यावरण का कौन-सा स्तर है?
2. पिछले पचास वर्षों में पृथ्वी के तापमान में कितनी वृद्धि हुई है?
3. वायु में ऑक्सीजन गैस की मात्रा.....प्रतिशत होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई–3 : स्वास्थ्य शिक्षा एवं सामुदायिक स्वास्थ्य परिचर्या

## संरचना


3.0 प्रस्तावना

3.1 उद्देश्य

3.2 स्वास्थ्य शिक्षा

- 3.2.1 स्वास्थ्य शिक्षा की परिभाषा
- 3.2.2 स्वास्थ्य शिक्षा के उद्देश्य
- 3.2.3 स्वास्थ्य संवर्धन की प्रक्रिया
  - 3.2.3.1 नियंत्रक कानून की मदद से
  - 3.2.3.2 सेवा कार्यों से
  - 3.2.3.3 शैक्षिक माध्यम से
- 3.2.4 स्वास्थ्य शिक्षा से क्या मिल सकेगा?

3.3 स्वास्थ्य शिक्षा के कार्यक्षेत्र

- 3.3.1 शरीर रचना एवं शारीरिक क्रिया विज्ञान
- 3.3.2 पोषण
- 3.3.3 स्वच्छता एवं सफाई
- 3.3.4 मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य तथा परिवार कल्याण
- 3.3.5 रोग प्रतिरोधक क्षमता का विकास
- 3.3.6 दुर्घटनाओं से बचाव एवं सावधानियां
- 3.3.7 जन-स्वास्थ्य सेवाओं का उपयोग

3.4 स्वास्थ्य शिक्षा के सिद्धान्त

- 3.4.1 रूचि
- 3.4.2 सहभागिता
- 3.4.3 बौद्धिक स्तर
- 3.4.4 सम्प्रेषण
- 3.4.5 अभिप्रेरणा
- 3.4.6 पुनरावृत्ति
- 3.4.7 काम करके सीखना
- 3.4.8 अच्छे मानवीय सम्बधं
- 3.4.9 नेतृत्व

3.5 स्वास्थ्य शिक्षा में सम्प्रेषण

- 3.5.1 सम्प्रेषण की विधियां
  - 3.5.1.1 एक तरफा सम्प्रेषण


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.5.1.2 दो तरफा सम्प्रेषण
3.5.1.3 मौखिक सम्प्रेषण
3.5.1.4 गैर सम्प्रेषण
3.6 स्वास्थ्य शिक्षा की प्रक्रिया
3.6.1 वैयक्तिक स्तर पर स्वास्थ्य शिक्षा
3.6.2 समूह के स्तर पर स्वास्थ्य शिक्षा
3.6.3 जन साधारण के स्तर पर स्वास्थ्य शिक्षा
3.7 सामुदायिक स्वास्थ्य परिचर्या
3.7.1 सामुदायिक स्वास्थ्य परिचर्या के सिद्धांत
3.7.1.1 अभिज्ञान
3.7.1.2 आकलन
3.7.1.3 हस्तक्षेप
3.7.1.4 मूल्यांकन
3.7.1.5 संगठन
3.8 प्रश्नावली
3.9 संदर्भ ग्रंथ

## 3.0 प्रस्तावना

जन स्वास्थ्य (Public Health) सामुदायिक प्रयासों की ऐसी कला एवं विज्ञान की शाखा है जो अन्यान्य बीमारियों को रोकने, दीर्घायु बनाने, स्वास्थ्य संवर्धन एवं क्षमताओं की अभिवृद्धि में सहायक होती है। प्राचीनकाल में जन स्वास्थ्य का सम्बन्ध कानून की मदद से पर्यावरण को स्वच्छ बनाना और संक्रामक बीमारियों को दूर करना मात्र था। समय के साथ इस बात की जरूरत महसूस हुई कि लोग स्वास्थ्य संरक्षण एवं संवर्धन के प्रति जागरूक बने और अपने दायित्व को समझें। इस बात की भी आवश्यकता महसूस हुई कि जन जागरण के इस क्रम में इस बात का भी निष्कर्ष निकाला जाय कि जनस्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कारक (Factors) कौन-से हैं। स्वास्थ्य शिक्षा वास्तव में मानव के समग्र व्यवहार को समझने का एक माध्यम है। विगत एक अर्धशताब्दी में विकसित और विकासशील दोनों देशों में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि जन सामान्य के स्वास्थ्य के संवर्धन और रोगों के रोकथाम के लिए पुरजोर प्रयास किया जाना चाहिए। इस रूझान का एक महत्त्वपूर्ण कारण है लोगों को इस बात का पूरा आभास हो जाना कि बीमारियों की उत्पत्ति के और स्वास्थ्य के संवर्धन दोनों के पीछे मूलत: मनुष्य का अपना दृष्टिकोण ही जिम्मेदार है। जन स्वास्थ्य शिक्षा कोई अलग कार्ययोजना न होकर हमारे उन सामूहिक प्रयासों एवं कार्यक्रमों का एक अंग है जिसके अन्तर्गत हम स्वास्थ्य सम्बंधी अपने दृष्टिकोण को अमल में लाते हैं।

## 3.1 उद्देश्य

—स्वास्थ्य शिक्षा की मूल अवधारणा को समझ सकेंगे।

—स्वास्थ्य शिक्षा के विभिन्न कार्य क्षेत्रों को जान सकेंगे।

—स्वास्थ्य शिक्षा की विधि एवं उसमें आने वाली कठिनाइयों के निराकरण की जानकारी मिल सकेगी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

—सामुदायिक स्वास्थ्य संवर्धन की प्रेरणा दे सकेंगे एवं स्वयं को उसमें नियोजित करने में सहायता मिलेगी।

## 3.2 स्वास्थ्य शिक्षा

### 3.2.1 स्वास्थ्य शिक्षा की परिभाषा

स्वास्थ्य शिक्षा निश्चित लक्ष्यों को लेकर सावधानी पूर्वक पूरी क्षमता से चलाई गई ऐसी प्रक्रिया है जिससे समाज का बड़ा वर्ग लाभान्वित होता है। स्वास्थ्य शिक्षा का कार्यक्षेत्र सदैव विस्तृत होता है इसमें व्यक्ति विशेष के स्वास्थ्य संवर्धन को तो ध्यान में रखा ही जाता है परन्तु लक्ष्य सदैव पूरे समाज और समुदाय का स्वास्थ्य संवर्धन होता है। व्यक्तिशः लोगों की आवश्यकताऐं और कठिनाइयाँ अलग-अलग होती हैं इसलिए जब स्वास्थ्य संवर्धन का संदर्भ आता है तो एक ही समय में एक ही समुदाय के अलग-अलग वर्गो की स्वास्थ्य सम्बंधी आवश्यकताऐं भी अलग-अलग होती हैं। स्वास्थ्य शिक्षा के किसी कार्यक्रम में इन भिन्न आवश्यकताओं को ध्यान में रखा जाता है। कुछ लोग स्वास्थ्य शिक्षा को प्रचार भी मानते हैं। कुछ लोगों का ऐसा मानना है कि स्वास्थ्य शिक्षा स्वास्थ्य विशेषज्ञों से अन्जान और कम पढ़े-लिखे जन समुदाय तक स्वास्थ्य की बारीकियों को पहुंचाने का दूसरा नाम है। कुछ लोग इसे सर्वांगीण स्वास्थ्य और सामान्य स्वास्थ्य के बीच की कड़ी के रूप में देखते हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन की विशेषज्ञ कमेटी ने 1954 में स्वास्थ्य शिक्षा को इस प्रकार परिभाषित किया—

''किसी अन्य शिक्षा की विद्या की तरह स्वास्थ्य शिक्षा का सम्बंध जन साधारण के ज्ञान, अनुभव और व्यवहार में परिवर्तन से होता है। इसकी क्रियात्मक प्रक्रिया के अन्तर्गत उन स्वास्थ्य तकनीकों पर सर्वाधिक ध्यान दिया जाता है जो सर्वांगीण और पूर्ण स्वास्थ्य की अवस्था अर्जित करने के लिए आवश्यक होती हैं।''

अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य शिक्षा यूनियन (1988) के अनुसार—''स्वास्थ्य शिक्षा योजनाबद्ध सामाजिक कार्यों एवं अनुभवों का ऐसा समेकित रूप है जिसके परिणाम स्वरूप जन साधारण को उन स्वास्थ्य निर्धारकों, स्वास्थ्य व्यवहार एवं सामाजिक परिस्थितियों पर नियंत्रण पाने में सहायता मिलती है जो स्वास्थ्य के स्तरों को प्रभावित करते हैं।''

विश्व स्वास्थ्य संगठन की परिभाषा के अनुसार ज्ञान, दृष्टिकोण और व्यवहार स्वास्थ्य शिक्षा के महत्त्वपूर्ण अवयव हैं। स्वास्थ्य शिक्षा व्यक्ति, परिवार और समुदाय के व्यवहार में शिक्षा के माध्यम से इन सभी अवयवों में उल्लेखनीय परिवर्तन लाती है। वैसे तो यह एक तथ्य है कि शिक्षा की कोई भी विधा हो, वह वैज्ञानिक सिद्धांतों एवं तात्कालिक परिस्थितियों के आकलन पर आधारित होनी चाहिए। शिक्षा का लक्ष्य भी ऐसा होना चाहिए जो उपलब्ध स्रोतों का उपयोग करके सम्बंधित जन समुदाय की क्षमताओं को क्रियान्वयन के स्तर तक ला सके। ऐसा तभी सम्भव हो सकेगा जब जन समुदाय के दृष्टिकोण, रूढ़ियों, विश्वास, मूल्यों, आवश्यकताओं और संसाधनों का अध्ययन करके निश्चित नीति निर्धारित की जाय। स्वास्थ्य शिक्षा के संदर्भ में भी यही बात लागू होती है। इन विशेष बातों का ध्यान रखकर यदि स्वास्थ्य शिक्षा का कार्यक्रम चलाया जाय तो निश्चित ही हमें वैयक्तिक, पारिवारिक और सामुदायिक स्वास्थ्य संवर्धन में उल्लेखनीय सफलता मिलेगी।

ए. आर. सोमर्स (1977) ने स्वास्थ्य शिक्षा की एक सर्व स्वीकार्य परिभाषा दी जो इस प्रकार है—

''स्वास्थ्य शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो जन साधारण को स्वस्थ जीवन शैली अपनाने और उस पर नियंत्रित चलने की सूचना, प्रेरणा एवं सहायता उपलब्ध कराती है, इस लक्ष्य को पाने के लिए सामयिक एवं आवश्यक पर्यावरणीय परिवर्तनों की हिमायत करती है तथा प्रशिक्षण एवं शोध के लिए विविध कार्यक्रम प्रस्तुत करती है।''

### 3.2.2 स्वास्थ्य शिक्षा के उद्देश्य

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने स्वास्थ्य शिक्षा के तीन महत्त्वपूर्ण उद्देश्य निर्धारित किये हैं जो इस प्रकार हैं—

1. यह सुनिश्चित करना कि जन समुदाय स्वास्थ्य को अचल और बहुमूल्य सम्पत्ति के रूप में स्वीकार कर उसकी सुरक्षा एवं संरक्षा करे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University).com

2. जन समुदाय को ज्ञान, कौशल और उन प्रवृत्तियों के बारे में प्रशिक्षित करना जिसके फलस्वरूप वे अपने स्वयं के प्रयासों से अपने स्वास्थ्य की सुरक्षा कर सकें।

3. उपलब्ध राजकीय स्वास्थ्य सेवाओं के विकास एवं उनके समुचित प्रयोग के प्रति प्रेरित एवं प्रोत्साहित करना एवं उसमें सक्रिय योगदान देना।

सामान्य तौर पर देखा जाये तो स्वास्थ्य शिक्षा के तीन और उद्देश्य निर्धारित किये जाते हैं—

**प्रथम**— स्वास्थ्य से जुड़ी विभिन्न मान्यताओं, भ्रान्तियों, संदेहों, अज्ञान को दूर करने के लिए जन चेतना जागृत करने हेतु सूचनाऐं उपलब्ध कराना।

**द्वितीय**— जन साधारण को अपने स्वयं के प्रयासों और कार्यों से स्वास्थ्य संवर्धन में सहायता करना।

**तृतीय**— स्वास्थ्य सेवाओं के प्रति जागरूक कर जन साधारण की अपने ही स्वास्थ्य के प्रति निष्क्रियता को समाप्त कर उन्हें सक्रिय बनाना।

हर समाज की अपनी स्थानीय मान्यताएं और भ्रान्तियां होती हैं, रस्म-रिवाज होते हैं, जिनके कारण लोग अपने स्वास्थ्य को गौण कर देते हैं। उन भ्रान्तियों एवं मान्यताओं के कारण कई बार तो गम्भीर स्वास्थ्य समस्याओं का सामना करना पड़ता है। स्वास्थ्य शिक्षा के अन्तर्गत उनका खंडन कर सच्चाई सामने लाई जाती है। यह भी देखा जाता है कि सक्षम और समर्थ होते हुए भी लोग किन्हीं अज्ञात कारणों एवं प्रमादवश स्वास्थ्य के प्रति लापरवाही बरतते हैं और उन सामान्य सावधानियों का पालन नहीं करते। स्वास्थ्य शिक्षा के द्वारा ऐसे व्यक्तियों को विवेकसम्मत निर्णय लेने और उचित प्रभावी कार्यों के द्वारा उन निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए प्रेरित किया जाता है। इसके अन्तर्गत लोगों को अपनी आदतें बदलने, आचरण में आवश्यक सुधार लाने और समायोजित कदम उठाने के लिए दृढ़ इच्छा शक्ति का विकास करने की अभिप्रेरणा देना शामिल होता है। किसी भी देश की सरकार अपने नागरिकों के कल्याण के लिए समय-समय पर स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण योजनाऐं चलाती है। हमारे देश की सरकार राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम, राष्ट्रीय परिवार नियोजन कार्यक्रम, पोलियो उन्मूलन कार्यक्रम जैसे जन कल्याण के कार्यक्रम चला रही है इन कार्यक्रमों की सफलता सामुदायिक सहयोग और सहभागिता पर निर्भर करता है अतः समाज एवं समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति का सक्रिय सहयोग अपेक्षित है। स्वास्थ्य शिक्षा के अन्तर्गत इन सभी बातों पर विशेष बल दिया जाता है।

## 3.2.3 स्वास्थ्य सम्वर्धन की सार्वजनिक प्रक्रिया के प्रारूप

जन स्वास्थ्य संवर्धन की प्रक्रिया को निम्नांकित तीन प्रारुपों में लागू किया जा सकता है—

### 3.2.3.1 नियंत्रक कानून की मदद से

सरकारी स्तर पर कानून बनाकर स्वास्थ्य सम्बंधी नीतियों को लागू किया जाय। इस विधि से स्वास्थ्य कार्यक्रम को सफल बनाने में कतिपय अपरिहार्य कठिनाइयां आती हैं। प्रथम तो इसके लिए बहुत लम्बे चौड़े तंत्र की आवश्यकता होती है। दूसरी बात कि यदि लोग इन कानूनों के बारे में अच्छी तरह न जानते हो या फिर उनका हृदय से सक्रिय समर्थन न मिले तो इन्हें लागू करना अत्यन्त दुरूह होता है। उदाहरण के लिए सरकार ने धूम्रपान के लिए यह कानून बना रखा है कि सार्वजनिक स्थानों पर, वाहनों आदि में धूम्रपान वर्जित है परन्तु इस कानून के प्रति लोगों का उपेक्षा भाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

### 3.2.3.2 सेवा कार्यों से

इसके अन्तर्गत लोगों को प्रशासकीय या राजकीय स्तर पर स्वास्थ्य संवर्धन के लिए विशेष सुविधाऐं इस आशा के साथ निःशुल्क उपलब्ध करायी जाती है कि लोग उनका सदुपयोग कर अपने स्वास्थ्य के स्तर में सुधार लायेगें। परन्तु ऐसा देखा गया है कि यदि वह सुविधा उनकी अपनी समझ और सुविधा के अनुरूप नहीं है तो निःशुल्क और सर्वउपलब्ध होते हुए भी स्वीकार्य नहीं होती।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 3.2.3.3 शैक्षिक माध्यम से

स्वास्थ्य के स्तर में सुधार और स्वास्थ्य की नीतियों को क्रियान्वयन के स्तर तक पहुंचाने में शिक्षा का माध्यम सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। इसके अन्तर्गत जन साधारण को अभिप्रेरित करना, विविध निर्णयों से अवगत कराना और हर तरह के निर्णयों के गुण-दोष तथा लाभ से अवगत कराना होता है। शैक्षिक माध्यम से स्वास्थ्य सुधार की प्रक्रिया धीमी अवश्य होती है परन्तु इसके परिणाम स्थायी और सतत् होते हैं। यहां तक देखा गया है कि कई प्रकार के स्वास्थ्य सम्बंधी विषयों की समस्याओं का समाधान केवल शैक्षिक माध्यम से ही किया जा सकता है। उदाहरणार्थ पोषण, शिशु और बच्चों की देखभाल, वैयक्ति स्वच्छता, परिवार नियोजन, टीकाकरण, मलेरिया और एड्स जैसी घातक बीमारियों के बारे में सभी भ्रान्तियों एवं इससे जुड़ी समस्याओं का निराकरण शिक्षा के द्वारा ही किया जा सकता है।

## 3.2.4 स्वास्थ्य शिक्षा से क्या मिल सकेगा?

समाज के हर वर्ग के लोगों का स्वास्थ्य स्तर सुधारने एवं जन साधारण को स्वास्थ्य के बारे में जागरूक बनाने की दिशा में किये जा रहे किसी भी कार्यक्रम में स्वास्थ्य शिक्षा की भूमिका अहम होती है। इससे निम्नलिखित उपलब्धियां हो सकती हैं—

**1. स्वास्थ्य सम्बंधी अच्छी आदतों का विकास**— स्वास्थ्य से सम्बन्धित आदतों का विकास करने में मदद मिलती है जैसे सामान्य स्वच्छता, स्वच्छ पीने का जल ग्रहण करना, वैयक्तिक स्वच्छता, मां का स्तनपान, शिशुओं का स्वस्थ विकास और स्वस्थ व्यवहार।

**2. रोगों की रोकथाम के उपाय**— उन उपायों को अपनाने की प्रेरणा मिलती है जिनसे रोगों की रोकथाम संभव है जैसे रोग प्रतिरोधात्मक टीकाकरण, रोगों की प्रारम्भिक और नियमित जांच, मातृ-शिशु के स्वास्थ्य की देखभाल आदि।

**3. दवाओं का उचित प्रयोग**— सही समय पर सही मात्रा में दवाओं के सेवन का ज्ञान होता है जिससे रोगमुक्ति होती है तथा कई प्रकार के रोगों से मुक्ति के बाद (जैसे—टी.बी. और कुष्ठ रोग) पुनर्वास का मार्ग भी प्रशस्त होता है।

**4. शरीर में होने वाले रोगों की पहचान**— शरीर में रोगों के लक्षण प्रकट होने पर भी या तो जन साधारण को उसका ज्ञान नहीं होता अथवा उसके प्रति जागरूकता नहीं होती। स्वास्थ्य शिक्षा से हमें न केवल रोगों के प्रारम्भिक लक्षण के प्रति सजग रहने की प्रेरणा मिलतो है बल्कि उनके निदान के लिए उचित स्थान (अस्पताल और चिकित्सक) से सम्पर्क करने का ज्ञान होता है।

**5. सामुदायिक सहयोग**— स्वास्थ्य शिक्षा से प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं, जो राजकीय स्तर पर जन साधारण के लिए उपलब्ध कराई जाती हैं, के प्रति जागरूकता एवं जनसाधारण की सहयोग की भावना बढ़ाने में मदद मिलती है।

## 3.3 स्वास्थ्य शिक्षा के कार्य क्षेत्र

सामुदायिक स्वास्थ्य (जन साधारण का स्वास्थ्य) की परिकल्पना ही अधूरी मानी जायेगी यदि उसकी योजनाओं में से स्वास्थ्य शिक्षा के अंश को निकाल दिया जाय। इसलिए स्वास्थ्य शिक्षा को सामुदायिक स्वास्थ्य के आधार के रुप में मान्यता दी जाती है। स्वास्थ्य शिक्षा के माध्यम से ही समुदाय के विभिन्न स्तरों तक पहुंचा जा सकता है। जब हम समुदाय के विभिन्न स्तरों की बात करते हैं तो उन क्षेत्रों का विश्लेषण भी आवश्यक हो जाता है जिनमें स्वास्थ्य शिक्षा के कार्यक्रम लागू किये जा सकते हैं। इस दृष्टिकोण से स्वास्थ्य के निम्नलिखित क्षेत्र निर्धारित किये जा सकते हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. शरीर रचना एवं शारीरिक क्रिया विज्ञान (Human Anatomy & Physiology),
2. पोषण (Nutrition),
3. स्वच्छता एवं सफाई (Sanitation),
4. मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण (Mother & Child health care and family planning),
5. रोग प्रतिरोधात्मक क्षमता का विकास (Immunization),
6. दुर्घटनाओं से बचाव एवं सावधानियां (Preventive measures to avoid accidents) तथा
7. जन स्वास्थ्य सेवाओं का उपयोग (Use of Health Services)।

## 3.3.1 शरीर रचना एवं शारीरिक क्रिया विज्ञान

मानव शरीर की रचना बड़ी विलक्षण है प्रकृति ने शरीर की रचना में इतनी विशेषताऐं दी हैं कि इसे समझना बड़ा कठिन काम है और आश्चर्यजनक भी। काफी कुछ जानने के बाद भी बहुत कुछ जानने के लिए रह जाता है। स्वास्थ्य के बारे में जानने के लिए शरीर की मूलभूत रचना और इसके विभिन्न अंगों की क्रिया को जानना अनिवार्य होता है। स्वास्थ्य शिक्षा के अन्तर्गत शरीर की रचना एवं क्रिया की सामान्य जानकारी उपलब्ध कराई जाती है जिससे जन साधारण को यह समझने में सुविधा होती है कि किस प्रकार हमारा शरीर काम करता है, शरीर की आवश्यकताऐं क्या-क्या हैं? किन-किन कारणों से शरीर क्रियाओ पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और किस प्रकार शरीर क्रियाओं मे असन्तुलन उत्पन्न होता है? स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए कितने शारीरिक श्रम की और कितने आराम तथा नींद की जरूरत होती है? श्रम और आराम का सन्तुलन न होने पर किस प्रकार स्वास्थ्य पर प्रतिकूल असर पड़ता है? विभिन्न प्रकार के मादक द्रव्यो, बीड़ी, सिगरेट एवं शराब आदि का स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है? इनसे क्यों बचना चाहिए? यही नही प्रजनन क्रिया चक्र किस प्रकार चलता है? गर्भधारण से लेकर शिशु के जन्म तक की प्रत्येक घटना के बारे में उपयोगी जानकारी उपलब्ध कराना आवश्यक होता है। इन सारी बातों की जानकारी दी जाती है।

## 3.3.2 पोषण

स्वस्थ जीवन के लिए संतुलित आहार आवश्यक होता है। सन्तुलित आहार के अन्तर्गत आने वाले पोषक तत्त्वों [(nutrients) (कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन, वसा, खनिज लवण एवं विटामिन)] की सामान्य जानकारी उपलब्ध कराना अपेक्षित होता है। इन पोषक तत्वों के स्रोत क्या होते हैं? इनके कार्य क्या होते हैं? इनकी कमी होने पर जो कुपोषण की स्थिति बनती है उससे स्वास्थ्य को किस प्रकार नुकसान पहुंचता है? प्राय: इस प्रकार की आवश्यक जानकारियों से अनभिज्ञ होते हैं। स्वास्थ्य शिक्षा के अन्तर्गत पोषण विषय के बारे में भ्रान्तियां दूर करना, पोषक तत्त्वों की आवश्यकता, भोजन के पकाने एवं संग्रह करने की विधि तथा भोजन करने की विज्ञान सम्मत विधियों से अवगत कराया जाता है। भोजन से जुड़ी हुई गलत आदतों को बदलना अनिवार्य होता है, बिना उसके भोजन लाभकारी होने के बदले अलाभकारी हो जाता है। इसलिए कब खाना, कितना खाना, कैसे खाना इन आदतों के बारे में भी जन साधारण को शिक्षित और प्रेरित किया जाता है।

## 3.3.3 स्वच्छता एवं सफाई

स्वास्थ्य संवर्धन के विषय में कार्ययोजना बनाते समय स्वच्छता एवं सफाई पर हमें पूरा जोर देना चाहिए। स्वच्छता से आशय है उस व्यवस्था का जिसके अन्तर्गत समस्त जैविक एवं अजैविक घटकों को उनके मूल प्राकृतिक रुप में सुरक्षित रखने का प्रयास करते हैं। स्वच्छता के कार्य दो स्तर पर किये जा सकते हैं—

**वैयक्तिक स्तर**— व्यक्तिगत दैनिक क्रियाऐं (शौच आदि), स्नान, कपड़े पहनना, नाश्ता-भोजन, शरीर की सफाई, थूकना, खांसना, छींकना, सोने-बैठने के स्थान की देखभाल, कपड़ा-बिस्तर आदि की देखभाल ये सारे कार्य वैयक्तिक सफाई के अन्तर्गत आते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

**पर्यावरणीय स्तर**—शारीरिक स्वच्छता से हटकर अपने चारों और के परिवेश की सफाई का कार्य पर्यावरणीय स्तर की स्वच्छता कार्य के अन्तर्गत आता है। इसके भी दो पहलू हैं घरेलू और सामुदायिक। घरेलू स्वच्छता के अन्तर्गत घर की सफाई, प्रकाश, और संवातन की समुचित व्यवस्था, दीवार-फर्श आदि की सफाई, रसोई घर की स्वच्छता एवं बाहर से आने वाले कीट पंतगों तथा चूहों आदि का नियन्त्रण आदि शामिल होता है जबकि सामुदायिक स्वच्छता में सुरक्षित जल की उपादेयता, नगर नियोजन, अच्छे हवादार मकान, पानी के निकास की समुचित व्यवस्था, मल-मूत्र एवं कचरे के निष्कासन की उचित व्यवस्था करना आता है।

## 3.3.4 मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य तथा परिवार कल्याण

स्वस्थ बालक ही स्वस्थ समाज का निर्माता होता है। बालक का स्वास्थ्य तभी अच्छा रह सकता है जब उसके जन्म से पूर्व गर्भावस्था के समय उसकी समुचित देखभाल की जाय। गर्भवती मां की स्वास्थ्य सुरक्षा से अनेक प्रकार की भ्रान्तियां जुड़ी होती हैं। उसकी दैनिक चर्या से लेकर उसके खान-पान तक के लिए अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग मान्यताऐं जुड़ी होती है जिनके कारण प्रसव से पूर्व गर्भवती मां तो कष्ट में समय गुजारती ही है उसके पेट में पल रहा बच्चा जन्म लेने से पूर्व ही अनेक रोगों से ग्रस्त हो जाता है जिसका उपचार जीवन पर्यन्त सम्भव नहीं होता। स्वास्थ्य शिक्षा के द्वारा इन सभी भ्रान्तियों को दूर करने का प्रयास किया जाता है। गर्भावस्था के दौरान मां को सन्तुलित पौष्टिक आहार, टीके लगवाने के लाभ, प्रसव पूर्व एवं प्रसव के दौरान अपनायी जाने वाली सावधानियों, जन्म के बाद शिशु को स्तनपान, बच्चे को टीके लगवाने के लाभ आदि सभी बातों की जानकारी स्वास्थ्य शिक्षा के कार्यक्रमों में दी जाती है। बच्चों के जन्म में पर्याप्त अन्तर रखने के फायदों से मां को अवगत कराकर उन्हें परिवार नियोजन के लिए प्रेरित किया जाता है। इन सभी बातों के बारे में एक मां को शिक्षित करके अप्रत्यक्ष रुप से पूरे परिवार को शिक्षित कर दिया जाता है। इस प्रकार इसकी परिणति स्वस्थ समाज के रुप में सामने आती है।

## 3.3.5 रोग प्रतिरोधात्मक क्षमता का विकास

मानव जिस परिवेश में रहता है वहाँ लगातार इस बात की संभावनाऐं हैं कि वह विविध प्रकार के रोगाणुओं और जीवाणुओं के प्रभाव से संक्रमित होकर रोगग्रस्त हो जाय। अनेक संक्रामक रोग ऐसे हैं जो न केवल व्यक्ति विशेष के लिए बल्कि पूरे समुदाय के लिए घातक सिद्ध होते हैं। बैक्टीरिया और वाइरस से फैलने वाले कई रोग ऐसे हैं जो छूआछूत प्रकृति के तो नहीं हैं परन्तु उनका कुप्रभाव बड़े पैमाने पर होता है। स्वास्थ्य शिक्षा के अन्तर्गत सामान्य संक्रामक रोगों (जैसे—पोलियो, रोहिणी, टाइफाइड आदि) की प्रकृति, इनके उत्पन्न होने के कारण, इनसे होने वाले कुप्रभाव आदि के बारे में जानकारी दी जाती है तथा इन रोगों के विरूद्ध प्रतिरक्षण (Immunization) की प्रक्रिया एवं उससे लाभ की समुचित जानकारी उपलब्ध कराई जाती है। इस प्रकार के रोगों के उन्मूलन के लिए चलाये जा रहे कार्यक्रमों में भागीदारी के लिए लोगों को प्रेरित किया जाता है।

## 3.3.6 दुर्घटनाओं से बचाव एवं सावधानियां

काम के दौरान दुर्घटना होना एक सामान्य प्रक्रिया माना जाता है। परन्तु एक बात यह तय है कि दुर्घटनाऐं तभी होती हैं जब कहीं कोई लापरवाही या असावधानी बरती जाती है। घर से बाहर निकलने पर मार्ग में सड़क दुर्घटना, घर के अन्दर दुर्घटना (किचन आदि में) तथा किसी कार्य स्थल में दुर्घटना इन्हीं तीन स्थानों पर मुख्य रुप से दुर्घटनाऐं होती हैं। सड़क दुर्घटनाओं का मुख्य कारण अनियन्त्रित वाहन चालन, नशे की आदत, यातायात के नियमों का उल्लंघन तथा सड़कों पर बढ़ते वाहनों का दबाव है। घर के अन्दर विद्युतीय उपकरणों के अंधाधुंध दुरूपयोग एवं रसोई घर में खाना-पकाने की गैस से होने वाली दुर्घटना प्रमुख है। कल-कारखानों में तथा कार्यशालाओं में भी अनिवार्य नियमों की अवहेलना के फलस्वरूप दुर्घटनाऐं होती रहती हैं। स्वास्थ्य शिक्षा के द्वारा इन दुर्घटनाओं के पीछे होने वाली लापरवाही को दूर करने की शिक्षा दी जाती है। बिना किसी प्रधान विशेष के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

छोटी-छोटी बातें जो स्वास्थ्य शिक्षा के अन्तर्गत बताई जाती है का पालन कर बड़ी दुर्घटनाओं से बचाव करने में शत प्रतिशत सफलता मिल सकती है। दुघटनाओं को रोकने से न केवल आर्थिक क्षति को रोका जा सकता है बल्कि बड़े से बड़े पैमाने पर जन साधारण की स्वास्थ्य सुरक्षा का लक्ष्य प्राप्त होता है।

### 3.3.7 जन-स्वास्थ्य सेवाओं का उपयोग

राजकीय स्तर पर जन साधारण की स्वास्थ्य सुरक्षा एवं संरक्षा के लिए समय-समय पर योजनाऐं बनती रहती हैं देश के हर नागरिक का कर्तव्य होता है कि वह इन योजनाओं के प्रति जागरूक रहे ताकि इनसे लाभान्वित हो सके। स्वास्थ्य शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य इन सामुदायिक स्वास्थ्य सेवाओं का सर्वोत्तम एवं भरपूर उपयोग करने के लिए लोगों को शिक्षित करना भी है। हमारे देश के दूर-दराज के ग्रामीण क्षेत्रों के लोग अपनी अज्ञानता एवं उदासीनता के कारण उपलब्ध सामुदायिक स्वास्थ्य के लाभ से वंचित रह जाते हैं। मलेरिया उन्मूलन, पोलियो उन्मूलन, मातृ-शिशु स्वास्थ्य सेवाऐं, परिवार नियोजन के कार्यक्रम जैसी योजनाऐं सामुदायिक स्वास्थ्य के संरक्षण के लिए वरदान सिद्ध हो रही हैं। स्वास्थ्य शिक्षा के द्वारा आम जनता को उपरोक्त स्वास्थ्य सेवाओं के भरपूर लाभ उठाने के लिए प्रेरित एवं प्रशिक्षित किया जाता है।

## 3.4 स्वास्थ्य शिक्षा के सिद्धांत

स्वास्थ्य शिक्षा एक वस्तु या सौगात के रुप में एक व्यक्ति से दूसरे को नहीं दी जा सकती। इसके अन्तर्गत शिक्षण, सीखना, और अधिगम की प्रक्रिया शामिल की जानी चाहिए जिससे स्वस्थ जीवन जीने की लालसा लोगों के अन्त:स्थल तक प्रवेश कर जाय और लोग इसे हृदय से स्वीकारें, अपनाऐं। मनोवैज्ञानिकों ने सीखने और स्मृति की प्रक्रिया के विभिन्न पहलुओं पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर उसके आधार पर स्वास्थ्य शिक्षा को नई दिशा दी। उन्होंने कहा हर व्यक्ति कुछ न कुछ सीखता रहता है और सीखे हुए के आधार पर अपने आगामी जीवन-व्यवहार का निर्धारण करता है। सीखना और प्रशिक्षण देना दो तरफा प्रक्रियाऐं हैं जो अध्यापक और विद्यार्थी के बीच चलती हैं। कोई बात किसी को तब तक नहीं सिखाई जा सकती जब तक सीखने वाला सीखना न चाहे। सीखने और सिखाने का काम केवल स्कूल की कक्षाओं में ही नहीं चलता बल्कि समुदाय के स्तर पर भी खूब चलता है। स्वास्थ्य शिक्षा का कार्यक्रम उसमें से एक है। इसी आधार पर शिक्षाविदों ने स्वास्थ्य शिक्षा के निम्नाकिंत सिद्धांत बताये हैं—

1. रूचि (Interest),
2. सहभागिता (Participation),
3. बौद्धिक स्तर (Comprehension),
4. सम्प्रेषण (Communication),
5. अभिप्रेरणा (Motivation),
6. पुनरावृत्ति (Reinforcement),
7. काम करके सीखना (Learning by Doing),
8. अच्छे मानवीय सम्बन्ध (Good Human Relations),
9. नेतृत्व (Leadership)।

### 3.4.1 रूचि

मनोविज्ञान के सिद्धान्तानुसार लोग उन बातों को अनसुनी कर देते हैं जिनमें उनकी रुचि नहीं होती इसलिए कारगर एवं प्रभावी स्वास्थ्य शिक्षा के लिए इसे रुचिकर बनाना आवश्यक होता है। आम जनता की इस प्रकार के नारों में कोई दिलचस्पी नहीं रह गई है जैसे ''अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखें'' या ''स्वस्थ रहें'' इसलिए स्वास्थ्य शिक्षा कर्मियों का यह दायित्व बन गया है कि वे जन साधारण की स्वास्थ्य आवश्यकताओं का पता लगायें, फिर उसके आधार पर नीतियाँ और कार्यक्रम बनायें तभी स्वास्थ्य शिक्षा के कार्यक्रम सफलता प्राप्त कर सकेंगे।

### 3.4.2 सहभागिता

निष्क्रिय या तटस्थ रहकर सुनने और सीखने की बजाय सक्रिय रहकर करते हुए सीखने की प्रक्रिया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अधिक कारगर होती है। स्वास्थ्य शिक्षा के कार्यक्रम में सीखने वाले को सीखते हुए भी पूरी तरह सक्रिय भागीदारी का अवसर दिया जाता है। इसीलिए समूह चर्चा, विशेषज्ञ चर्चा और कार्यशाला जैसे कार्यक्रमों को स्वास्थ्य शिक्षा में प्रमुखता से स्थान दिया जाता है।

### 3.4.3 बौद्धिक स्तर

कोई भी शिक्षा तब तक कारगर नहीं होगी जब तक शिक्षा पाने वाले समूह के बौद्धिक स्तर की स्पष्ट जानकारी नहीं होगी। यह पता लगाना अनिवार्य है कि जिन्हें शिक्षा दी जाती है वे किस रुप में किस स्तर तक शिक्षण साम्रगी को ग्रहण करने में सक्षम हैं। जो कुछ उन्हें सिखाया जा रहा है यदि उनके मस्तिष्क तक नहीं पहुंच रहा है तो वह प्रयास निरर्थक जायेगा। इसलिए स्वास्थ्य शिक्षा के कार्यक्रम लागू करने के पूर्व जो लक्ष्य समूह (Target Group) हो उसके बौद्धिक स्तर की जानकारी प्राप्त कर ली जाती है।

### 3.4.4 सम्प्रेषण

शिक्षा कोई भी हो सम्प्रेषण उसकी प्रविधि के मूल में होता है। शिक्षा देने वाला शिक्षा पाने वाले से किस भाषा और माध्यम से सम्पर्क करे, यह अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। स्वास्थ्य शिक्षा के लक्ष्य समूह प्राय: वे लोग होते हैं जिनकी शिक्षा का स्तर या तो बहुत नीचे होता है या फिर मध्यम दर्जे का। इसलिए प्रशिक्षण देते समय भाषा-शैली पर विशेष ध्यान देना चाहिए। उन्हीं शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जिन्हें लोग आसानी से समझ सकें। ऐसा करने से जो कुछ उन्हें बताया जायेगा वे समझ सकेंगे और ग्रहण भी कर सकेंगे।

### 3.4.5 अभिप्रेरणा

प्रत्येक व्यक्ति में सीखने की आन्तरिक इच्छा होती है। किसी में यह इच्छा जागृत होती है और किसी में सुप्त पड़ी होती है। जिनमें सीखने की मूलभूत इच्छाऐं सुप्त होती हैं उन्हें प्रयास करके उद्दीप्त करना पड़ता है इस प्रयास को ही अभिप्रेरणा की संज्ञा दी जाती है। प्रेरणा भी दो प्रकार की होती है- मूलभूत या प्राथमिक (Primary) तथा अर्जित या द्वितीयक (Secondary) कामभावना, भूख, जीवन जीने की अभिलाषा आदि प्राथमिक प्रेरणाऐं हैं जबकि प्रशंसा, प्रतिस्पर्धा, पुरस्कार, दण्ड आदि द्वितीयक वर्ग की प्रेरणाऐं हैं। प्राथमिक प्रेरणाओं को जागृत करने के लिए अपेक्षाकृत हल्के प्रयास की जरूरत होती है। स्वास्थ्य शिक्षा के अन्तर्गत अर्जित प्रेरणा के द्वारा नये विचारों को प्रोत्साहित किया जाता है। प्रेरणा के साथ किसी न किसी प्रकार का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष पुरस्कार अथवा दण्ड भी जुड़ा होता है। इससे परिवर्तन की प्रक्रिया तेज और कारगर होती है। उदाहरण के लिए यदि किसी महिला से यह कहा जाता है कि उसे अपना वजन कम कर लेना चाहिए अन्यथा उसके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल असर पड़ेगा तो संभव है वह इस सुझाव पर ध्यान न दे परन्तु यदि उसे यह कहा जाय कि वह वजन कम करने से ज्यादा सुंदर दिखेगी और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जायेगी तो वह इस सलाह पर तत्काल अमल करेगी। स्वास्थ्य शिक्षा के अन्तर्गत इसी प्रकार की प्रेरणात्मक विधि का सहारा लिया जाता है।

### 3.4.6 पुनरावृत्ति

कोई बात जो सिखाई जाती है वह सीखने वाला समूह एक ही बार में पूरी तरह आत्मसात कर ले यह कोई जरूरी नहीं है इसलिए स्वास्थ्य शिक्षा में एक ही बात को अलग-अलग समय पर बार-बार दुहराने की प्रक्रिया अपनायी जाती है जिससे कि वह बात पक्की हो जाय। इसके परिणाम स्वरुप सीखने वालों को मदद मिलती है।

### 3.4.7 काम करके सीखना

कोई बात सुनकर सीखना, पढ़कर सीखना अपेक्षाकृत कठिन होता है। यदि उसे करते हुए सीखा जाय तो वह शीघ्रता से समझ में आ जाती है। एक चाइनीज कहावत है कि—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

''मै कुछ सुनता हूं भूल जाता हूं''
''मै कुछ देखता हूं याद करता हूं''
''मै कुछ करता हूं तो मै जानता हूं''

इसी को आधार मानकर स्वास्थ्य शिक्षा में प्रशिक्षण के समय उसमें पूरी तरह घुलमिल कर सीखने की क्रिया को वरीयता दी जाती है।

### 3.4.8 अच्छे मानवीय सम्बंध

एक स्वास्थ्य शिक्षक की सफलता का रहस्य उसके मधुर व्यवहार में होता है न कि उसकी तकनीकी योग्यता में। जन साधारण के दिलो-दिमाग में स्वास्थ्य सुरक्षा की बातों को बिठाना इस बात पर निर्भर करेगा कि स्वास्थ्य शिक्षक लोगों के साथ कितना आत्मीय सम्बन्ध बना पाता है। स्वास्थ्य शिक्षक को अत्यन्त विनम्र, संवेदनशील और धैर्यवान होना चाहिए। अपने व्यवहार से उसे लोगों को इस बात का विश्वास दिलाना पड़ेगा कि वह उनका सच्चा शुभचिंतक और मित्र है तभी वे उसकी बात को ध्यान पूर्वक सुनेंगे और उस पर अमल भी करेंगे।

### 3.4.9 नेतृत्व

मनोवैज्ञानिकों की यह मान्यता है कि हम उसी की बात को ज्यादा गौर से सुनते हैं सीखते हैं जिसके प्रति हमारे मन में श्रद्धा और सम्मान की भावना होती है। स्वास्थ्य शिक्षा के क्षेत्र में काम करते समय समुदाय के अगुआ, नेता, संस्था प्रधान अथवा दल के नेता से सम्पर्क करके ही कोई योजना लागू की जा सकती है क्योंकि ये नेता या अगुआ या प्रधान ही सामुदायिक परिवर्तन के एजेन्ट के रुप में स्थापित होते हैं। यदि किसी समुदाय विशेष का अगुआ स्वास्थ्य कार्यक्रमों के सम्भावित सकारात्मक परिणामों से सन्तुष्ट हो जाता है तो वह उसे लागू करने में पूरे समुदाय का सहयोग दिलाता है। ऐसी स्थिति में कार्यक्रम की सफलता निश्चित हो जाती है। अत: स्वास्थ्य शिक्षा के कार्यक्रम लागू करते समय नेतृत्व का सहयोग लेना आवश्यक माना गया है।

---

**बोध प्रश्न 1:**

---

1. स्वास्थ्य शिक्षा के उद्देश्य बताएं?
2. पोषण से क्या अभिप्राय है।
3. स्वास्थ्य शिक्षा के सिद्धांतों का वर्णन करें।

## 3.5 स्वास्थ्य शिक्षा में सम्प्रेषण

शिक्षा मूल रुप से सम्प्रेषण पर निर्भर करती है। स्वास्थ्य शिक्षक को इस बात का पूरा ज्ञान होना चाहिए कि उसे जिस समुदाय में और जिन लोगों के बीच काम करना है उन तक वह अपनी बात किस प्रकार पहुंचाये। सम्प्रेषण का उद्देश्य होता है सूचनाओं को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक और एक समूह से दूसरे समूह तक पहुंचाना, जिससे कि लोगों के व्यवहार में अपेक्षित परिवर्तन लाया जा सके। सम्प्रेषण प्रक्रिया के मुख्य घटक हैं—

1. सम्प्रेषक (Communicator), 2. संदेश या सूचना (Message or Information),
3. ग्राही समूह (Audience) तथा 4. सम्प्रेषण के माध्यम (Channels of Communication)।

### 3.5.1 सम्प्रेषण की विधियां

सम्प्रेषण एक कला है जो समस्त मानवीय सम्बन्धों के लिए अनिवार्य भी है। दूसरों को अपनी बात से प्रभावित करना, उन्हें अपने कार्यक्रम को स्वीकार करने के लिए सहमत करना हमारी सम्प्रेषण क्षमता पर निर्भर करता है। सम्प्रेषण की निम्न विधियां प्रयोग में लाई जा सकती हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 3.5.1.1 एकतरफा सम्प्रेषण (One-way Communication)

इसमें सूचनाओं का प्रवाह एक-तरफा होता है और उसकी दिशा होती है प्रेषक से प्राप्त कर्ता को। इसमें पुनर्निवेशन (Feedback) का प्रावधान नहीं होता। इसकी कमी यह है कि सीखने वाला कितना समझ पाया इस बात की स्पष्ट जानकारी नहीं होती।

### 3.5.1.2 दो-तरफा सम्प्रेषण (Two-way communication)

इसमें सीखने वाला संदेश सुनता है तथा उसे समझने एवं उसके प्रति पूरी तरह आश्वस्त होने के क्रम में वह सम्प्रेषक से प्रश्न पूछ सकता है तथा अपने सुझाव भी रख सकता है, अपनी राय जोड़ सकता है, आलोचना भी कर सकता है। इसे पुनर्निवेशन (Feedback) कहा जाता है। यह विधि एक-तरफा सम्प्रेषण की अपेक्षा अधिक सफल एवं प्रभावोत्पादक होती है।

### 3.5.1.3 मौखिक सम्प्रेषण (Verbal Communication)

सम्प्रेषण के मौखिक माध्यम में आमने-सामने भाषा का उपयोग करके सीखने वालों को अपनी बात कही जाती है।

### 3.5.1.4 गैर-मौखिक (Nonverbal Communication)

इसमें शब्दों के प्रयोग के अलावा शारीरिक हावभाव जैसे मुस्कराना, घूरना, शारीरिक भंगिमाऐं आदि के द्वारा अपनी बात श्रोताओं एवं दर्शकों तक पहुंचायी जाती है। मौन भी एक प्रकार का गैर-मौखिक सम्प्रेषण है। कई बार यह देखा गया है कि इसकी अभिव्यक्ति शब्दों से भी अधिक कारगर होती है।

## 3.6 स्वास्थ्य शिक्षा की प्रक्रिया

स्वास्थ्य शिक्षा निम्नांकित तीन प्रमुख स्तरों पर चलाई जानी चाहिए—

1. वैयक्तिक स्तर पर,
2. समूह के स्तर पर एवं
3. जन-साधारण के स्तर पर ।

### 3.6.1 वैयक्तिक स्तर पर स्वास्थ्य शिक्षा

स्वास्थ्य कर्मी, जो व्यक्तिगत रुप से रोगियों और उनके सगे-सम्बन्धियों के सम्पर्क में होते हैं, स्वास्थ्य संवर्धन की जानकारी उन्हें देते रहते हैं। रोगों के लक्षण, उनकी रोकथाम, उनसे बचाव, सुरक्षा के अन्य उपाय आदि के बारे में बताते रहते हैं। व्यक्तिगत स्वास्थ्य शिक्षा का सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि लोगों को स्वास्थ्य सम्बन्धी विविध विषयों पर जानकारी देने, उस पर बहस करने, उन्हें पूरी तरह आश्वस्त करने का पूरा अवसर मिलता है। स्वास्थ्य कर्मी तथा लोग दोनों ही अपने-अपने दायित्वों के निर्वाह में पूरी तरह एकमत एवं सन्तुष्ट होते हैं।

### 3.6.2 समूह के स्तर पर स्वास्थ्य शिक्षा

समूह के अन्तर्गत स्कूली बच्चे, एक ही प्रकार के रोगी, औद्योगिक जगत के कर्मचारी, गर्भवती माताऐं एवं प्रसूता माताऐं आदि आते हैं इनमें से प्रत्येक समूह के लिए उनसे सम्बन्धित विषय का चुनाव कर उन्हें एक साथ शिक्षित किया जाता है। समूह स्वास्थ्य शिक्षा के लिए विषय का सामयिक चयन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। समूह स्वास्थ्य शिक्षा के लिए निम्नांकित विधियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं—

1. एक-तरफा या उपदेशात्मक (Didactic) विधियां—

   (क) भाषण (Lecture),

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(ख) फिल्म (Film),

(ग) चार्ट (Chart),

(घ) प्रदर्श (Exhibits) एवं (ङ) फ्लेश कार्ड (Flash Cards)

2. दो-तरफा या सुकराती (Socratic) विधियां—

(क) समूह चर्चा (Group Discussion),

(ख) विशेष परिचर्चा (Pannel discussion),

(ग) संगोष्ठी (Symposium),

(घ) कार्यशाला (Workshop) एवं

(ङ) अभिनय (Play)।

### 3.6.3 जन साधारण के स्तर पर स्वास्थ्य शिक्षा

जन साधारण की स्वास्थ्य शिक्षा के लिए सम्प्रेषण के जन माध्यमों का उपयोग श्रेयस्कर होता है। ये माध्यम हैं—

1. पोस्टर,
2. स्वास्थ्य पत्रिकाऐं,
3. समाचार पत्र,
4. रेडियो और टी. वी.,
5. स्वास्थ्य प्रदर्शनी एवं
6. स्वास्थ्य संग्रहालय ।

पोस्टर जन साधारण का ध्यान आकृष्ट करने के लिए लगाये जाते हैं इसलिए इनमें कलात्मक रचना की आवश्यकता होती है। पोस्टर पर संदेश संक्षिप्त, सरल, सीधा, एक नजर में स्पष्ट और समझने में आसान होना चाहिए। अच्छी एवं विविध जानकारियों से भरपूर स्वास्थ्य पत्रिकाएं संप्रेषण का महत्त्वपूर्ण माध्यम हो सकती हैं। इसी प्रकार स्वास्थ्य सम्बन्धी पठनीय साम्रगी का सर्वाधिक व्यापक माध्यम समाचार पत्र होते हैं। रेडियो और टी.वी. सर्वत्र उपलब्ध माध्यम है। स्वास्थ्य प्रदर्शनी लगाकर लोगों को जागरूक बनाया जा सकता है। स्वास्थ्य संग्रहालय भी प्रेरणा के सशक्त माध्यम होते हैं।

## 3.7 सामुदायिक स्वास्थ्य चर्या (Community Health Nursing)

किसी समुदाय विशेष के सदस्यों के स्वास्थ्य का स्तर, उनके स्वास्थ्य स्तर को प्रभावित करने वाले कारकों एवं समस्याओं तथा समुदाय में उपलब्ध स्वास्थ्य सुविधाओं के द्वारा उनके स्वास्थ्य की देखभाल को सामुदायिक स्वास्थ्य चर्या के नाम से जाना जाता है।

स्वास्थ्य के उन्नयन (Promotion), रोगों की रोकथाम (Prevention) और उपचार (Cure) की समन्वित प्रक्रिया ही सामुदायिक स्वास्थ्य है। जन स्वास्थ्य की परम्परागत और महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारियों (जैसे पर्यावरण संरक्षण, संक्रामक रोगों का नियंत्रण) को भी अब सामुदायिक स्वास्थ्य की अवधारणा के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है।

वस्तुत: सामुदायिक स्वास्थ्य का सम्बन्ध एक छोटे जन समूह से होता है इसलिए इसके अन्तर्गत सामुदायिक निदान (Community Diagnosis) और सामुदायिक उपचार (Community Cure) पर बल दिया जाता है। इसका अर्थ यह है कि उस पूरे समुदाय को ही एक रोगी और पूरे समुदाय के स्वास्थ्य को एक इकाई स्वास्थ्य के रुप में देखा जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 3.7.1 सामुदायिक स्वास्थ्य परिचर्या के सिद्धांत

सामुदायिक स्वास्थ्य परिचर्या व्यवस्थित ढंग से एक सुनियोजित प्रक्रिया के अन्तर्गत चलाई जाती है। इस प्रक्रिया के बिन्दु निम्नलिखित हैं—

1. अभिज्ञान (Recognition),
2. आकलन (Assessment),
3. हस्तक्षेप (Intervention),
4. मूल्यांकन (Evaluation) एवं
5. संगठन (Organization)।

#### 3.7.1.1 अभिज्ञान

सामुदायिक स्वास्थ्य परिचर्या समुदाय के स्वास्थ्य के स्तर की जानकारी से प्रारम्भ होती है जो देखकर, समझकर और अनुमान करके प्राप्त की जाती है।

#### 3.7.1.2 आकलन

इसके अन्तर्गत स्वास्थ्य परिचर्या की प्रक्रिया की विभिन्न सम्भावित गतिविधियों एवं तकनीकों का निर्णय लिया जाता है।

#### 3.7.1.3 हस्तक्षेप

इस चरण में निर्धारित रणनीतियों की क्रियान्विति की जाती है। मुख्य रूप में इसमें प्रायोगिक कार्य शामिल होते हैं।

#### 3.7.1.4 मूल्यांकन

रणनीतियों के क्रियान्वयन के पश्चात् उसके परिणामों की जानकारी प्राप्त करना मूल्यांकन कहलाता है। प्राप्त परिणामों का विश्लेषण ही आगे की दिशा तय करता है।

---

**बोध प्रश्न 2:**

---

1. संप्रेषण की कौन-कौन सी विधियां हैं?
2. सामुदायिक स्वास्थ्य चर्या से आप क्या समझते है?

#### 3.7.1.5 संगठन

सामुदायिक स्वास्थ्य परिचर्या को बड़े पैमाने पर सफलतापूर्वक चलाने के लिए यदि संगठन बनाकर कार्य किया जाय तो अधिक सफलता मिलती है।

सामुदायिक स्वास्थ्य परिचर्या उपरोक्त सिद्धान्तों पर ही आधारित होती है परन्तु अधिक व्यापक संदर्भ में निम्नाकिंत बिन्दुओं का अनुसरण भी किया जा सकता है—

1. समुदाय के अगुआ एवं संस्थाओं के प्रधानों से मिलना और स्थानीय नेताओं की सहमति प्राप्त करना।

2. सामुदायिक स्वास्थ्य समस्याओं एवं स्वास्थ्य आवश्यकताओं की पहचान के लिए सर्वेक्षण, उपलब्ध रिकार्डों की छानबीन एवं पूछताछ का सहारा लेना।

3. स्वास्थ्य समस्याओं में प्राथमिकता निर्धारण के लिए समस्या उत्पत्ति की आवृत्ति, समस्या की गम्भीरता, समस्या की अत्यावश्यकता एवं उससे जुड़े वित्तीय संसाधनों आदि का सहयोग लेना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4. स्वास्थ्य समस्या की पहचान और प्राथमिकताओं के निर्धारण के पश्चात् संसाधनों की उपलब्धता को ध्यान में रखकर कार्य योजना बनाना।

5. तैयार की गई योजनाओं की क्रियान्विति।

6. समस्या का निवारण अथवा उसकी सफलता का निष्पक्ष आकलन।

## 3.8 अभ्यासार्थ नमूने प्रश्न

**I निबंधात्मक प्रश्न**

1. स्वास्थ्य शिक्षा के कार्यक्षेत्रों का वर्णन कीजिये।
2. स्वास्थ्य शिक्षा के सिद्धान्तों का विवरण दीजिए।

**II लघुत्तरात्मक प्रश्न** (10 शब्दों में उत्तर दीजिए)

1. स्वास्थ्य शिक्षा को परिभाषित कीजिए।
2. स्वास्थ्य शिक्षा की सम्प्रेषण विधियां बताइये।

**III वस्तुनिष्ठ प्रश्न** (एक शब्द या एक वाक्य में उत्तर दीजिए)

1. स्वास्थ्य शिक्षा कितने स्तरों पर चलाई जानी चाहिए?
2. सम्प्रेषण प्रक्रिया के कितने घटक होते हैं?

## 3.9 संदर्भ पुस्तकें


1. Park's Text book of Preventive and Social Medicine—K. Park
   M/s Banarasidas Bhanot Publishers, Jabalpur.
2. सामुदायिक स्वास्थ्य विज्ञान — जे. ई. पार्क एवं के. पार्क, मे. बनारसीदास भानोत (प्रकाशक), जबलपुर


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई–4 : जीवन विज्ञान और स्वास्थ्य सम्वर्द्धन

## संरचना


4.0 उद्देश्य
4.1 जीवन विज्ञान और स्वास्थ्य सम्वर्द्धन
4.2 स्वास्थ्य, शरीर संचालन एवं जीवन विज्ञान
4.3 प्रशिक्षण की प्रक्रिया
4.3.1 कायोत्सर्ग
4.3.1.1 बचाव का उपाय
4.4 प्रेक्षाध्यान
4.4.1 प्रेक्षाध्यान प्रशिक्षण की प्रक्रिया
4.4.1.1 उपसम्पदा की चर्या
4.4.1.2 प्रेक्षाध्यान के सहायक अंग
4.4.1.3 प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग
4.5 अणुव्रत जीवन शैली से स्वास्थ्य सम्वर्द्धन
4.5.1 अणुव्रत के निदेशक तत्त्व
4.5.2 अणुव्रत आचार संहिता
4.5.3 अणुव्रत एक सामाजिक व्यवस्था भी
4.6 अभ्यासार्थ नमूने प्रश्न
4.7 संदर्भ ग्रन्थ


## 4.0 उद्देश्य

1. स्वास्थ्य सम्वर्द्धन एवं जीवन विज्ञान के सम्बन्धों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
2. जीवन विज्ञान के द्वारा स्वास्थ्य सम्वर्द्धन की प्रक्रिया के अवयवों को समझ सकेंगे।
3. जीवन विज्ञान की प्रशिक्षण प्रक्रिया का प्रायोगिक प्रशिक्षण प्रदान करने में स्वयं को सक्षम बना सकेंगे।

## 4.1 जीवन विज्ञान और स्वास्थ्य सम्वर्द्धन

जीवन विज्ञान जीवन का विज्ञान है, जीवन को कैसे जिया जाए—इसकी शिक्षा है, जीवन को कैसे संवारा जाए— इसकी कला है। स्वास्थ्य जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करने की पहली सीढ़ी है इसलिए निश्चित रूप से स्वास्थ्य के प्रति जीवन विज्ञान शिक्षा का दृष्टिकोण सर्वथा सकारात्मक रहा है। इस शिक्षा में जितना ध्यान व्यक्ति के नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास पर दिया जाता है उतना ही व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं बौद्धिक स्वास्थ्य सम्वर्द्धन पर भी दिया जाता है। जीवन विज्ञान शिक्षा के द्वारा स्वास्थ्य सम्वर्द्धन के क्रम में मुख्य रूप से तीन प्रविधियों पर ध्यान दिया जाता है—

1. सैद्धान्तिक प्रशिक्षण,
2. प्रेक्षाध्यान के प्रयोग एवं
3. अणुव्रत आचार संहिता की अनुपालना ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सैद्धान्तिक प्रशिक्षण के अन्तर्गत सर्वप्रथम स्वास्थ्य की अवधारणा, स्वास्थ्य के अवयवों एवं स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों एवं अन्य परिस्थितियों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है। सतत् परिवर्तनशील परिस्थितियों में स्वास्थ्य का स्तर जिस रूप से बदलता है उसकी जानकारी आवश्यक होती है। शरीर की अपनी सीमाऐं और क्षमताएं हैं। परिवर्तनशील परिस्थितियों में जब शरीर स्वत: स्वास्थ्य को स्थिर नहीं रख पाता तो सहायक प्रविधियों की आवश्यकता होती है। प्रेक्षाध्यान के विभिन्न प्रयोग स्वास्थ्य को बनाये रखने में सहायक होते हैं इसलिए इस क्रम में उन सभी प्रयोगों के सैद्धान्तिक आधार तथा प्रायोगिक प्रविधि के प्रशिक्षण का प्रावधान किया जाता है। स्वास्थ्य की सुरक्षा-संरक्षा के लिए हमारी जीवनशैली का भी उतना ही महत्त्व है। अणुव्रत आचार संहिता ऐसी जीवनशैली के नियम हैं जो स्वास्थ्य की उच्चतम परिस्थितियां निर्मित करती हैं। सैद्धान्तिक प्रशिक्षण में उन नियमों की व्याख्या, उनके प्रभावों तथा उनसे स्वास्थ्य को होने वाले संभावित लाभों की जानकारी उपलब्ध कराई जाती है।

## 4.2 स्वास्थ्य, शरीर संचालन एवं जीवन विज्ञान

व्यक्ति का संचालन शारीरिक तंत्रों के द्वारा होता है। वैसे भी प्रत्येक कार्य की निष्पत्ति के लिए एक सशक्त तंत्र अपेक्षित होता है। प्रत्येक व्यक्ति के शरीर के कार्यसंचालन के लिए जो स्थायी तंत्र हैं उसमें चार तत्त्व काम कर रहे हैं—शरीर, श्वास, वाणी और मन। व्यक्ति के स्वास्थ्य संवर्द्धन के क्रम में ये चारों साधक भी होते हैं और बाधक भी बनते हैं। विकास के क्रम में हेतु भी बनते हैं और अवरोधक भी बनते हैं। यदि इन्हें शिक्षित कर लिया जाए तो ये साधक बन जाते हैं और यदि अशिक्षित रह जाएं तो बाधक की भूमिका निभाते हैं। अत: मूल प्रश्न है इन्हें प्रशिक्षित करने का, इन्हें अभ्यास तथा संरक्षण देने के उपक्रम का।

शरीर का नियंत्रक शारीरिक तंत्र है तंत्रिका तंत्र और उसके दो प्रमुख उपभाग हैं— मस्तिष्क एवं सुषुम्ना। ये दोनों तंत्र आपस में मिलकर दो ध्रुव बनाते हैं। ऊपर का ध्रुव है मस्तिष्क और नीचे का ध्रुव है रीढ़ की हड्डी के निचले छोर पर स्थित सुषुम्ना का अंतिम छोर। मस्तिष्क चेतना का विकिरण करता है और पृष्ठरज्जु (सुषुम्ना) का निचला हिस्सा शक्ति का विकिरण करता है। एक शक्ति के संग्रह का अमोघ साधन है, दूसरा चेतना के संग्रह का अमोघ साधन है। हमारे जीवन में चेतना और शक्ति दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं और इन दोनों को दोनों ध्रुव संभाले हुए हैं—मस्तिष्क के रूप में ज्ञानकेन्द्र और सुषुम्ना के रूप में शक्ति केन्द्र। इनका संतुलित विकास होता है तो हमारी प्रवृत्ति का संचालन बहुत सहजता एवं सरलता से होता है और स्वास्थ्य भी बना रहता है।

दूसरा तत्त्व है— श्वास। श्वास का मूल्यांकन आमतौर पर कम ही हो पाता है। शेष अन्य अंगों एवं शारीरिक अवयवों में प्राण का संचार करने का माध्यम श्वास ही होता है। श्वास का अस्तित्व जितना बाह्य जगत में है उतना ही अन्तर्जगत में भी है। व्यक्ति बाह्य जगत से, पर्यावरण से और दूसरे अन्य प्राणियों तथा वनस्पतियों से जुड़ा है। उसका एक हेतु श्वास भी है। श्वास अन्दर आता है, अन्दर से फिर बाहर निकलता है। देखने में यह एक छोटी-सी प्रक्रिया लगती है परन्तु है अत्यन्त महत्त्वपूर्ण। व्यक्ति के स्वास्थ्य को प्रभावित करने में इसकी भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। श्वास के साथ प्राणवायु अंदर जाती है और दूषित तत्त्व कार्बन-डाई-ऑक्साइड बाहर निकलती है। ऑक्सीजन प्राणवायु का ही दूसरा रूप है जिसके बिना कोई भी कोशिका काम नहीं कर सकती। कोशिकाओं को काम करने के लिए ऊर्जा की जरूरत होती है। यह ऊर्जा खाद्य पदार्थों के ऑक्सीकरण से उत्पन्न होती है। इस ऑक्सीकरण (जिसे सामान्य भाषा में प्रज्ज्वलन भी कहा जाता है) के लिए ऑक्सीजन का होना अनिवार्य होता है। शरीर का स्वास्थ्य इकाई कोशिकाओं की कार्यक्षमता पर निर्भर करता है। इस प्रकार श्वास प्रत्यक्ष रूप से हमारे स्वास्थ्य सम्वर्द्धन में सहायक होता है।

तीसरा तत्त्व है— वाणी। वाणी हमारी प्रवृत्ति का और सामाजिकता का मुख्य साधन है। सामाजिक जीवन वाणी के अभाव में चल ही नहीं सकता। एक व्यक्ति दूसरे से व्यावहारिक सम्बन्ध स्थापित करता है वाणी के द्वारा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

परस्पर का व्यवहार जीवन में अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों उत्पन्न कर सकता है। प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण शरीर में इस प्रकार के उत्तेजनात्मक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं जो स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं इसलिए वाणी का संयम और वाणी का प्रशिक्षण अपरिहार्य होता है।

चौथा तत्त्व है—मन। मन स्मृति, कल्पना और चिंतन का माध्यम बनता है। हमारी जीवन यात्रा इन तीनों के आधार पर चलती है। स्मृति के अभाव में स्वस्थ जीवन की यात्रा आगे नहीं बढ़ सकती। कल्पना के बिना विकास की योजना के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता और चिंतन के बिना योजनाओं की क्रियान्विति सम्भव नहीं होती। स्मृति, कल्पना एवं चिंतन को मूर्त्त रूप देने का सशक्तकर्त्ता मन ही तो है। इसके अलावा यह एक निर्विवाद सत्य है कि शरीर और मन व्यक्तित्व के दो अभिन्न अंग हैं। स्वास्थ्य को पाने के लिए मन का प्रशिक्षण नितान्त आवश्यक है क्योंकि मन के विचलित होने पर इसके उपरोक्त तीनों अवयव बिखर जाऐंगे और व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक दोनों रूपों में रुग्ण हो जायेगा।

ये चार तत्त्व—शरीर, श्वास, वाणी और मन हमारे प्रवृत्ति तंत्र के मजबूत पाये हैं। इन चारों के संतुलित रहे बिना हमारी प्रवृत्तियों का सम्यक संचालन नहीं हो सकता और इनके सम्यक संचालन के अभाव में स्वास्थ्य ठीक नहीं रह सकता। परन्तु ये कई बार बाधक भी बनते हैं। इस अवरोध की श्रृंखला में मन सबसे आगे होता है। एक काम करना है। अनावश्यक स्मृतियां बीच में आने लगती हैं, अज्ञात भय और अहित की आशंका से मन दिग्भ्रमित हो जाता है और मन में विचार उत्पन्न होने लगते हैं। जो काम पाँच मिनट में होने वाला है वह पचास मिनट में भी नहीं हो पाता। कई बार तो ऐसी स्थिति बनती है कि काम पूरा ही नहीं हो पाता। स्मृतियों का तार इस प्रकार उघड़ता है कि एक के बाद एक स्मृति चक्र चलने लगता है, वह अनंत बन जाता है और मूल बात वहीं की वहीं रह जाती है। स्मृति यदि हमारे कार्य में सहयोग देती है तो कई बार बाधा भी उत्पन्न करती है। कल्पना जहाँ रचनात्मक सहयोगी की भूमिका निभाती है वहीं व्यर्थ की कल्पना यथार्थ से परे ले जाकर अकर्मण्य और असफल बनाती है। चिंतन बहुत उपयोगी होता है तो बाधक भी बनता है। कई बार व्यक्ति इतना चिंतन करता है कि क्रियान्विति का सारा रस ही चिंतन के गर्त में चला जाता है। क्रियान्विति को कभी मौका ही नहीं मिलता। जब तक चिंतन टूटता नहीं क्रियान्विति हो नहीं पाती और बगैर क्रियान्विति के परिणाम आते नहीं, फिर वही निराशा, हताशा और तनाव। स्वास्थ्य संवर्द्धन के लिए इन्हें प्रशिक्षित करके सही दिशा देना अनिवार्य है।

वाणी की बाधा को सब लोग समझते हैं। थोड़ा-सा अप्रिय शब्द परम प्रिय मित्र या शुभचिंतक को सदा का शत्रु बना देता है। मन की सारी क्रिया वाणी पर निर्भर करती है। स्मृति, कल्पना, चिंतन सबके लिए भाषा की आवश्यकता होती ही है। इस प्रकार श्वास जहाँ सहायक की भूमिका निभाता है वहीं क्लेशकारी बाधक की भूमिका भी निभाता है। बहुत क्रोध, वासना, घृणा और ईर्ष्या के पीछे कहीं-न-कहीं असंयमित श्वास ही होता है। यदि श्वास सधा हुआ नहीं है तो वह इन वृत्तियों को पैदा करने में निमित्त बन जाता है। श्वास दो प्रकार का होता है—लंबा श्वास और छोटा श्वास। जो सहज श्वास है वह वास्तव में लंबा श्वास होना चाहिए। वस्तुतः सहज श्वास और लंबा श्वास पृथक नहीं है। कुछ लोग यह मानते हैं कि श्वास तो सहज होता है उसे लंबा किया जाता है, किन्तु जीवन विज्ञान का यह अभिमत है कि दीर्घ श्वास ही वास्तव में सहज श्वास हो सकता है। एक मिनट में जो 15-16 श्वास लिये जाते हैं, वह वास्तव में सहज श्वास नहीं है। श्वास की संख्या और कम होनी चाहिए। हमारी शारीरिक रचना के आधार पर एक मिनट में 7-8 से ज्यादा श्वास नहीं होने चाहिए। किन्तु 15-16 श्वास आते हैं। इसके पीछे हमारी शारीरिक संरचना के साथ हमारी मानसिक वृत्तियों का भी हाथ होता है। वृत्तियों से प्रभावित होकर ही श्वास छोटा होने लग जाता है। सूत्र इस प्रकार बनता है—उत्तेजना के क्षणों में श्वास छोटा होता है या जब श्वास छोटा होता है तब आदमी को उत्तेजना आती है। हमारा तंत्रिका तंत्र प्रवृत्ति के संचालन में सहायता करता है। उसी के अंतर्गत कार्यरत ज्ञानवाही एवं क्रियावाही तंत्रिकाऐं अपना-अपना काम ठीक ढंग से चला रही हैं तभी जीवनयात्रा सुचारू रूप से चल रही है। जब तंत्रिकाओं के काम में अवरोध या गड़बड़ी उत्पन्न होती है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तो समस्त जैविक क्रियाऐं अवरूद्ध होती हैं और शरीर के भीतर अनेक विकृतियां उत्पन्न होती हैं। इसलिए शरीर को निरोग और स्वस्थ रखने के लिए जीवन विज्ञान के अभिमत में शरीर, मन, वाणी और श्वास को प्रशिक्षित करना अत्यन्त अपरिहार्य है।

## 4.3 प्रशिक्षण की प्रक्रिया

जीवन विज्ञान के द्वारा स्वास्थ्य सम्वर्द्धन के उपाय की प्रक्रिया उपरोक्त सभी तत्त्वों के प्रशिक्षण से होकर गुजरती है। इस प्रशिक्षण प्रक्रिया के चार तत्त्व हैं— कायोत्सर्ग, प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा और जागरूकता।

### 4.3.1 कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग तनाव विसर्जन की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को सीखना स्वस्थ रहने के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बोधपाठ है। वर्तमान समय में हर दूसरा व्यक्ति तनाव से ग्रसित है। तनाव अपने आप में भले ही कोई रोग न हो परन्तु यह अनेक रोगों को जन्म देता है इसलिए तनाव को दूर करके स्वास्थ्य संवर्द्धन की सही दिशा प्राप्त की जा सकती है। कायोत्सर्ग दबाव या तनाव द्वारा उत्पन्न हानिकारक प्रभावों को निष्पन्न करने के लिए किया जाता है। तनाव की परिस्थितियाँ बनते ही मस्तिष्क, सुषुम्ना, स्वायत्तशाषी तंत्रिका तंत्र (अनुकम्पी और परानुकम्पी), अन्तःस्रावी ग्रंथि तंत्र के संयुक्त प्रयास से शरीर में निम्नांकित प्रतिकूल परिवर्तन होते हैं—

1. पाचन क्रिया मन्द पड़ जाती है।
2. लार ग्रंथियों का स्राव बन्द हो जाता है।
3. चयापचय की कतिपय क्रियाओं में मन्दी और तेजी आ जाती है।
4. श्वास गति तेज हो जाती है।
5. हृदय गति तेज हो जाती है तथा रक्तचाप बढ़ जाता है।
6. शरीर की पेशियों की फैलने-सिकुड़ने की गति में अप्रत्याशित तेजी आ जाती है।

इन परिवर्तनों के द्वारा शरीर में जैवविद्युतीय ऊर्जा एवं रासायनिक स्रावों के उत्पादन एवं संश्लेषण की गति अत्यन्त तीव्र हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप हम अपनी क्रियाओं की गति को आवश्यकता के अनुरूप तीव्र बना सकें। यदि ये परिवर्तन अवांछनीय होते हैं तो अतिरिक्त ऊर्जा और अतिरिक्त स्राव मांसपेशियों में तनाव के रूप में प्रतिबद्ध हो जाती हैं। इस प्रकार की शारीरिक स्थितियां लम्बे समय तक बनी रहें या उनका बार-बार पुनरावर्तन होता रहे तो गम्भीर गड़बड़ी पैदा होती है। उदाहरणार्थ यदि रक्तचाप लगातार ऊंचा रहे और रक्तवाहिकाओं की संकुचित स्थिति लगातार बनी रहे तो दिल का दौरा या रक्तापात (मस्तिष्क की रक्तवाहिनी का फट जाना) होने की पूरी सम्भावना रहती है। यदि आमाशय और अन्य पाचन अवयवों को मिलने वाली रक्त की मात्रा लगातार लम्बे समय तक क्षीण रहे तो पाचन क्रिया में गड़बड़ी पैदा हो जाती है। यदि श्वास लम्बे समय तक तेज चलता रहे तो उसका परिणाम श्वसनतंत्र की घातक बीमारियों के रूप मे सामने आता है। मांसपेशियों के तनावग्रस्त रहने से सिर, गर्दन, पीठ, कंधे में पीड़ा उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त निरन्तर तनाव से मानसिक अवसाद एवं अन्य अनेक मानसिक बीमारियों के उत्पन्न होने की पूरी सम्भावना रहती है।

### 4.3.2 बचाव का उपाय

आधुनिक औषधविज्ञान द्वारा प्रदत्त प्रशामक (ट्रेन्क्वीलाइजर्स) गोलियां केवल अस्थायी आराम का आभास कराती हैं, पर लम्बी अवधि में गोलियां स्वयं बीमारी से भी ज्यादा खतरनाक बन जाती हैं। तब प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या हमारी वर्तमान युगीन परिस्थितियां और वातावरण के कारण विनाश तक पहुंचना ही नियति है या ऐसा भी कोई रास्ता है जिसके माध्यम से हम अपने आपको कम से कम उस रूप में परिस्थिति के अनुकूल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बना सके, जिससे कि इस दैनिक तनाव के हानिकारक प्रभावों से अपने आपको बचा सकें। प्रकृति ने हमारे भीतर एक ऐसी सुरक्षात्मक प्रणाली दी है जिसे सक्रिय करके उस शारीरिक अवस्था का निर्माण किया जाता है जो ''लड़ो या मरो'' (Fight or Flight) प्रतिक्रिया से भिन्न होती है। नोबेल पुरस्कार विजेता डॉ. वाल्टर ने इसे ''टोपोट्रोफिक प्रतिक्रिया'' की प्रणाली की संज्ञा दी। इसे एक सुरक्षात्मक प्रणाली के रूप में निरूपित करते हुए डॉ. वाल्टर ने बताया कि इससे अधिक दबाव के द्वारा उत्पादित प्रतिक्रियात्मक प्रक्रिया की प्रतिरोधी क्रिया की जा सकती है। डॉ. हर्बर्ट बेन्सन ने इसे ही ''तनाव मुक्ति प्रक्रिया'' का नाम दिया। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको इसका प्रशिक्षण दे सकता है और स्वयं-सूचन (Autosuggestion) की तकनीक द्वारा अपनी आन्तरिक सुरक्षा प्रणाली को सक्रिय कर सकता है। अन्त:स्रावी ग्रंथियों के स्रावों को संतुलित बनाकर तंत्रिका तंत्र के कार्यों को व्यवस्थित करके अनुकम्पी एवं परानुकम्पी तंत्र के बीच संतुलन स्थापित कर तनाव को रोका जा सकता है। यही स्वयं सूचन ही कायोत्सर्ग का आधार है।

स्वास्थ्य सम्वर्द्धन के लिए कायोत्सर्ग के साथ-साथ उसके सहायक तत्त्वों का प्रशिक्षण भी अपरिहार्य होता है। इनमें कई शारीरिक प्रवृत्तियों एवं व्यायाम का अभ्यास आता है। इनके अभ्यास से मांसपेशियों में रक्त संचार सुचारू रूप से होने में सहायता मिलती है। हमारी लगभग सभी मांसपेशियों के समूह के अपने-अपने प्रतिद्वन्द्वी होते हैं। एक समूह जब शिथिल होता है तो दूसरा खिंच जाता है। यदि एक प्रकार के मांसपेशी समूह को लम्बे समय तक स्थिर-संकुचित (तनी हुई) अवस्था मे रखें तो रक्त-संचार अवरूद्ध होता है जिससे विभिन्न जैवरासायनिक क्रियाओं के फलस्वरूप शरीर मे पैदा होने वाले रसायन जैसे लेक्टिक अम्ल, पेशियो में जमा होने लगता है जिसके कारण पीड़ा, कड़ापन या थकान की अनुभूति होती है। अत: मांसपेशियो मे इन रसायनों के जमाव को रोकने के लिए उनमे रक्त का सुचारू प्रवाह होना नितान्त आवश्यक है।

मांसपेशियों के क्रमिक संकुचन एवं फैलने के लिए अपनाये गये लयबद्ध आसन आदि क्रियाओं से रक्त का संचार सुचारू बनता है तथा पीड़ा, थकान आदि में कमी होती है। इसलिए ही आसनों को मांसपेशियों को तनाव-मुक्त रखने की कुंजी कहा जा सकता है। हमारे शरीर की पेशियों को प्रतिक्षण पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण का प्रतिकार करना पड़ता है और बैठने-खड़े होने की गलत मुद्रा इस प्रतिकार को कठिनाइयों की ओर बढ़ाती है जिसके परिणाम स्वरूप उनमें सतत विकार आता जाता है इसलिए आसन और सही मुद्रा का अभ्यास अनिवार्य है।

## 4.4 प्रेक्षाध्यान

प्रेक्षाध्यान ध्यान की एक सरल और सुलभ प्रक्रिया है जिसका सरल अर्थ है— देखना। आत्मा के द्वारा आत्मा की संप्रेक्षा, मन के द्वारा मन की प्रेक्षा, स्थूल चेतना के द्वारा सूक्ष्म चेतना को देखने का प्रयास करना। ''देखना'' ही प्रेक्षाध्यान का मूल तत्त्व है।

स्वास्थ्य पाने की पहली सीढ़ी है चित्त की निर्मलता पाना। जब चित्त कषायों (क्रोध, अहंकार, लोभ आदि) से घिरा रहता है तो आत्मज्ञान की सलिला हृदय में प्रवाहित नहीं हो सकती और उसके बिना शरीर के अन्दर चलने वाली समस्त जैव-रासायनिक एवं यांत्रिक क्रियाऐं समुचित रूप में चल ही नहीं सकती और फिर उस दशा में स्वास्थ्य की कल्पना असम्भव के समान है।

विज्ञान की विविध पद्धतियों का लक्ष्य होता है सत्य को पाना पर वैज्ञानिक खोजों के विषय केवल पदार्थ हैं, परमाणु हैं। कहते हैं कि चेतना की स्वतंत्रता सत्ता की खोजबीन उसका विषय नहीं है। विज्ञान की खोज उपकरणों, यंत्रों और अन्य भौतिक साधनों के माध्यम से ही हो पाती है। शायद इसीलिए उसकी पहुंच पदार्थ तक ही सीमित रहती है, चेतना सत्ता तक उसकी पहुंच नहीं है। यही कारण है कि विज्ञान ने चैतन्य की स्वतंत्र सत्ता को अब तक स्वीकार नहीं किया है। आध्यात्मिक जगत में यह स्पष्ट उल्लेख है कि ध्यान का मूल्यवान उद्देश्य है— अपने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अस्तित्व का बोध, चेतना की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव। पर इसके साथ विज्ञान जगत अब यह बात स्वीकार करने लगा है कि ध्यान से तनाव कम होता है, शारीरिक स्वास्थ्य सम्वर्धन में सहायता मिलती है।

व्यवहार के धरातल पर प्रेक्षाध्यान का प्रयोजन है व्यक्तित्व का समग्र विकास। समग्र व्यक्तित्व का अर्थ होता है उसके सभी संकायों (भौतिक, मानसिक, बौद्धिक और भावनात्मक) का समुचित एवं संतुलित विकास होना। स्वास्थ्य भी इसी के अंतर्गत आ जाता है। इसको इस रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है कि समग्र व्यक्तित्व वाले व्यक्ति में स्वस्थ जीवन के लिए आवश्यक सभी अच्छाइयां अनिवार्य रूप से पाई जाती हैं। समग्र व्यक्तित्व के धनी और स्वस्थ व्यक्ति के अन्दर निम्नांकित आयाम भली प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं—

1. बौद्धिक और भावनात्मक विकास का संतुलन।
2. आध्यात्मिक और वैज्ञानिक सोच।
3. भावनाओं पर नियंत्रण की क्षमता।
4. शरीर के अन्दर यांत्रिक और रासायनिक क्रियाओं का संतुलन।
5. कार्यकौशल की क्षमता।
6. तनाव (मानसिक एवं भावनात्मक) की आदत का अभाव।
7. अनुशासित एवं सहिष्णु जीवनशैली।
8. मैत्री एवं सामंजस्य की क्षमता।
9. संकल्प शक्ति एवं आत्मविश्वास।
10. मानवीय सम्बन्धों के प्रति संवदेनशीलता।

प्रेक्षाध्यान के द्वारा इन सभी गुणों का विकास करने में भरपूर सहायता मिलती है जो अन्ततोगत्वा स्वास्थ्य सम्वर्धन में योगदान देते हैं।

## 4.4.1 प्रेक्षाध्यान प्रशिक्षण की प्रक्रिया

प्रेक्षाध्यान के अभ्यासक्रम में निम्नांकित प्रक्रियाओं की अनुपालना की जाती है—

**4.4.1.1 उपसम्पदा की चर्या**—इस चर्या के 5 सूत्र हैं—1. भावक्रिया, 2. प्रतिक्रिया विरति, 3. मैत्री, 4. मितभाषण एवं 5. मिताहार।

**1. भावक्रिया**—भावक्रिया के तीन अर्थ हैं—वर्तमान में जीना, जानते हुए करना और सतत अप्रमत्त रहना। जो वर्तमान में जीता है, वर्तमान क्षण का अनुभव करता है, वह सहज ही रागद्वेष से बच जाता है। रागद्वेष से शून्य वर्तमान क्षण को देखने वाले और उसमें जीने वाले को शारीरिक उत्तेजनाएं नहीं मिलती। कार्य के प्रति सर्वात्मना समर्पण बिना उसका परिणाम आशानुरूप नहीं होता। इससे हमें निराशा और कुण्ठा का सामना करना पड़ता है जो स्वास्थ्य के लिए घातक है। अत: जो भी किया जाए पूरे मन और समर्पण के साथ किया जाना चाहिए। सतत् जागरूकता के बिना, सतत् अप्रमत्तता के बिना चित्त की निर्मलता संभव नहीं है इसलिए अपनी प्रवृत्तियों के प्रति अनवरत जागरूक रहने को भावक्रिया के अन्दर रखा गया है।

**2. प्रतिक्रिया विरति**—व्यक्ति का उद्देश्य क्रिया करना होना चाहिए, प्रतिक्रिया करना नहीं। बाह्य वातावरण से प्रभावित होकर परिस्थितियों से प्रभावित होकर हमें प्रतिक्रिया से बचना चाहिए क्योंकि प्रतिक्रियाएं ही आगे चलकर शारीरिक अनियमितता पैदा करती हैं।

**3. मैत्री**—उपसम्पदा का तीसरा सूत्र है—मैत्री—मैत्रीपूर्ण व्यवहार। यह तभी संभव है जब व्यक्ति प्रतिक्रिया से मुक्त होगा।

**4. मिताहार**—मिताहार का अर्थ होता है संतुलित एवं अतिआवश्यक मात्रा में भोजन करना। भोजन का जितना प्रभाव पर पड़ता है उतना ही मन और चेतना शरीर और स्वास्थ्य पर भी पड़ता है। अनावश्यक भोजन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

शरीर और मन दोनों में विकृति पैदा करता है। इसलिए भोजन के प्रकार, परिमाण एवं समय का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए।

5. **मितभाषण**— दैनिक जीवन में बोलना आवश्यक होता है पर बोलने की भी एक सीमा होनी चाहिए। आवश्यकता से अधिक बोलना किसी न किसी रूप में उत्तेजना का कारण बनता है जो शरीर और स्वास्थ्य दोनों के लिए अहितकर होता है।

### 4.4.1.2 प्रेक्षाध्यान के सहायक अंग

प्रेक्षाध्यान के सम्पूरक अंगों के रूप में इसके चार सहायक अंगों का अभ्यास किया जाता है। ये हैं—

1. आसन, 2. प्राणायाम, 3. मुद्रा एवं 4. ध्वनि।

आसन, प्राणायाम, मुद्रा एवं ध्वनि के विभिन्न प्रकारों, इनकी प्रक्रियाओं तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से इनसे मिलने वाल लाभ के बारे में आप विस्तार से पूर्वार्द्ध में पढ़ चुके हैं।

---

**बोध प्रश्न 1:**

---

1. जीवन विज्ञान स्वास्थ्य संवर्द्धन की कितनी प्रविधियां हैं?
2. प्रतिक्रिया विरति से आप क्या समझते हैं?

### 4.4.1.3 प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग

प्रेक्षाध्यान अप्रमाद की साधना है जिसके मुख्य आठ अंग बताए गये हैं—

1. कायोत्सर्ग,
2. अन्तर्यात्रा,
3. श्वास प्रेक्षा,
4. शरीर प्रेक्षा,
5. चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा,
6. लेश्याध्यान,
7. भावना एवं
8. अनुप्रेक्षा।

**1. कायोत्सर्ग**— कायोत्सर्ग के सिद्धान्त एवं प्रशिक्षण प्रक्रिया के बारे में आप पूर्व में पढ़ चुके हैं।

**2. अन्तर्यात्रा**— प्रेक्षाध्यान का दूसरा चरण है—अन्तर्यात्रा। ध्यान की साधना में नाड़ी-तंत्र की प्राण-शक्ति (Nervous Energy) को विकसित करना आवश्यक होता है। हमारे केन्द्रीय नाड़ी-तंत्र का मुख्य स्थान है—सुषुम्ना (Spinal cord)। सुषुम्ना के नीचे का छोर—शक्ति-केन्द्र ऊर्जा या प्राणशक्ति का मुख्य केन्द्र है। अन्तर्यात्रा में चित्त को शक्ति-केन्द्र से सुषुम्ना के मार्ग से ज्ञान-केन्द्र तक ले जाना होता है। चेतना की इस अन्तर्यात्रा से ऊर्जा का प्रवाह या प्राण की गति ऊर्ध्वगामी होती है। इस यात्रा की अनेक आवृत्तियों से नाड़ी-तंत्र की प्राणशक्ति विकसित होती है जो ध्यानाभ्यास के साथ स्वास्थ्य संतुलन के लिए आवश्यक है।

हमारे चैतन्य का, ज्ञान का केन्द्र है—नाड़ी-संस्थान। यह समूचे शरीर में व्याप्त है, किन्तु पृष्ठरज्जु के निचले सिरे से मस्तिष्क तक का स्थान चैतन्य का मूल केन्द्र है। आत्मा की अभिव्यक्ति का यही स्थान है। यही चित्त का स्थान है। यही मन का और इन्द्रियों के सम्पोषण का स्थान है। संवेदन, प्रतिसंवेदन और ज्ञान—सारे यहीं से प्रसारित होते हैं। शक्ति का भी यही स्थान है। ज्ञानवाही और क्रियावाही तंतुओं का यही केन्द्र स्थान है। केवल मनुष्य ही ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी कर सकता है। केवल दिशा का ही परिवर्तन हुआ कि जो शक्ति नीचे की ओर जाती थी वह ऊपर की ओर जाने लगती है। इतना-सा ही अन्तर पड़ता है। मस्तिष्क की ऊर्जा का नीचे जाना भौतिक जगत् में प्रवेश करना है। कामकेन्द्र की ऊर्जा का ऊपर जाना अध्यात्म जगत् में प्रवेश करना है। ऊर्जा के नीचे जाने से भौतिक सुख की अनुभूति होती है। ऊर्जा के ऊपर जाने से अध्यात्म-सुख की अनुभूति होती है। यह

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अध्यात्म सुख हमें प्रतिक्रिया विरति की ओर ले जाता है जिससे शरीर के अन्दर चयापचय की दर घटती है, शारीरिक शांति मिलती है और स्वास्थ्य सुदृढ़ होता है।

**3. श्वास प्रेक्षा**– श्वास शरीर में चलने वाली चयापचय की क्रियाओं का अभिन्न अंग है। श्वास और प्राण, श्वास और मन—अटूट कड़ी के रूप में काम करते हैं। मन को हम सीधा नहीं पकड़ सकते। प्राण की धारा को भी सीधा नहीं पकड़ा जा सकता, किन्तु मन को पकड़ने के लिए प्राण को पकड़ें और प्राण को पकड़ने के लिए श्वास को पकड़ें। श्वास-परिवर्तन के द्वारा हम मानसिक विकास कर सकते हैं। चित्त को एकाग्र करने का एक सरल और सूक्ष्म उपाय है—श्वास-प्रेक्षा।

मन की शांत-स्थिति या एकागता के लिए श्वास का शांत होना बहुत जरूरी है। शांत श्वास के दो रूप मिलते हैं—1. सूक्ष्म श्वास-प्रश्वास, 2. मन्द या दीर्घ श्वास-प्रश्वास।

कायोत्सर्ग में श्वास-प्रश्वास का निरोध नहीं किया जाता, किन्तु उसे सूक्ष्म कर दिया जाता है। प्राणवायु को मंद-मंद लेना चाहिए और मंद-मंद छोड़ना चाहिए। इसे ही दीर्घ-श्वास या मंद श्वास-प्रश्वास कहा जाता है।

श्वास-प्रेक्षा के अनेक प्रयोग हैं— दीर्घश्वास प्रेक्षा, समवृत्तिश्वास प्रेक्षा आदि।

**अ. दीर्घश्वास प्रेक्षा**– प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाला सबसे पहले श्वास की गति को नियंत्रित करता है। वह श्वास को लम्बा और लयबद्ध बना देता है। सामान्यत: आदमी एक मिनट में 15-17 श्वास लेता है, दीर्घश्वास प्रेक्षा के अभ्यास से यह संख्या घटाई जाती है। साधारण अभ्यास के बाद यह संख्या एक मिनट में 10 से कम तक की जा सकती है और विशेष अभ्यास के बाद इसे और अधिक कम किया जा सकता है। श्वास को मन्द या दीर्घ करने के लिए तनुपट (Diaphragm) की मांसपेशियों का समुचित उपयोग किया जाता है। श्वास छोड़ते समय पेट की मांसपेशियां सिकुड़ती हैं और लेते समय वे फूलती हैं।

श्वास को मंद, दीर्घ या सूक्ष्म करने से मन शांत होता है। इसके साथ-साथ आवेश शांत होते हैं, कषाय शांत होते हैं, उत्तेजनाएं व वासनाएं शांत होती हैं। श्वास जब छोटा होता है तब वासनाएं उभरती हैं, उत्तेजनाएं आती हैं, कषाय जागृत होते हैं। इन सबसे श्वास प्रभावित होता है। इन सब दोषों का वाहन है—श्वास। जब कभी मालूम पड़े कि उत्तेजना आने वाली है तब तत्काल श्वास को लम्बा कर दें, दीर्घश्वास लेने लग जाएं, आने वाली उत्तेजना लौट जाएगी। इसका कारण है कि श्वास का वाहन उसे उपलब्ध नहीं हो पाता है। बिना आलम्बन के कोई उत्तेजना या वासना प्रकट हो नहीं सकती। ध्यान की साधना करने वाला साधक मन की सूक्ष्मता को पकड़ने में अभ्यस्त हो जाता है। वह जान लेता है कि मस्तिष्क के अमुक केन्द्र में कोई वृत्ति उभर रही है। वह तत्काल दीर्घश्वास का प्रयोग प्रारंभ कर देता है। उभरने वाली वृत्ति तत्काल शांत हो जाती है। साधक उन वृत्तियों की उत्तेजनाओं का शिकार नहीं होता और उसके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता।

श्वास वर्तमान की वास्तविकता है। उसे देखने का अर्थ है—समभाव में जीना, वीतरागता के क्षण में जीना, राग-द्वेष-मुक्त क्षण में जीना। जो व्यक्ति श्वास को देखता है, उसका तनाव अपने आप विसर्जित हो जाता है। दीर्घश्वास प्रेक्षा का प्रयोग चित्त को वर्तमान में चल रही क्रिया पर ही एकाग्र (Concentrate) होने के लिए प्रशिक्षित करने की सरल विधि है। इससे व्यक्ति की कार्य-क्षमता बढ़ती है।

**ब. समवृत्ति श्वास प्रेक्षा**– जैसे दीर्घ श्वास प्रेक्षा प्रेक्षाध्यान का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, वैसे ही समवृत्ति श्वास प्रेक्षा भी उसका महत्त्वपूर्ण सूत्र है। बाएं नथुने से श्वास लेकर दाएं से निकालना और दाएं से लेकर बाएं से निकालना, यह है समवृत्ति-श्वास। इसे देखना, इसकी प्रेक्षा करना, इसके साथ चित्त का योग करना महत्त्वपूर्ण बात है। प्रारंभ मे अंगुली द्वारा और बाद मे संकल्प-शक्ति द्वारा श्वास की दिशा में परिवर्तन किया जाता है। समवृत्ति-श्वास-प्रेक्षा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के माध्यम से चेतना के विशिष्ट केन्द्रों को जागृत किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्वास प्रेक्षा न केवल मानसिक एकाग्रता का साधन है बल्कि इससे विविध शारीरिक क्रियाओं के लिए आवश्यक ऊर्जा की संतुलित उपलब्धि भी होती है जो पुनःश्च शारीरिक विकारों को दूर करने में प्रयोग की जा सकती है।

**4. शरीर प्रेक्षा**– शरीर प्रेक्षा के अन्तर्गत चित्त के द्वारा शरीर के प्रत्येक अंग एवं अवयव की प्रेक्षा की जाती है और जहाँ कहीं भी किसी प्रकार की अनियमितिता दिखती है प्राणऊर्जा के द्वारा उसे ठीक किया जाता है। शरीर प्रेक्षा से रोग प्रतिरोधक क्षमता का भी विकास होता है। ये सारे कार्य आस्था उपचार (Faith Healing) के सिद्धान्त पर सम्पन्न होते हैं। शरीर के सभी तंत्रों के कार्यों को संतुलित कर स्वास्थ्य सम्वर्द्धन का लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास किया जा सकता है।

**5. चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा**– प्रेक्षाध्यान की साधना का ध्येय है—चित्त की निर्मलता। चित्त को निर्मल बनाने के लिए हमारी वृत्तियों, भावों या आदतों को विशुद्ध करने के लिए पहले यह समझना जरूरी है कि अशुद्धि कहां जन्म लेती है और कहां प्रकट होती है। यदि हम उस तंत्र को ठीक समझ लेते हैं तो उसे शुद्ध करने की बात में बड़ी सुविधा हो जाती है। योगशास्त्र की दृष्टि से और वर्तमान के शरीर-शास्त्र की दृष्टि से इस पर विचार आवश्यक है।

वर्तमान विज्ञान के अनुसार हमारे शरीर में दो प्रकार की ग्रंथियां हैं—वाहिनीयुक्त एवं वाहिनीरहित (Ductless)। वे वाहिनी-रहित ग्रंथियां अन्तःस्रावी होती हैं। इन्हें 'एण्डोक्राइन ग्लैण्ड्स' कहा जाता है। पीनियल, पिच्यूटरी, थाइरॉइड, पेराथाइरॉयड, थाइमस, एड्रीनल और गोनाड्स—ये सभी अन्तःस्रावी ग्रंथियां हैं। इसके स्राव हार्मोन कहलाते हैं। हमारी शारीरिक, मानसिक और भावात्मक प्रवृत्तियों के संचालन में इन ग्रंथियों के द्वारा उत्पन्न स्रावों (हार्मोनों) का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। हमारी शरीर की चयापचय सम्बन्धी सभी क्रियाओं के संचालन में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है जो कि स्वास्थ्य संतुलन के लिए जिम्मेदार होती हैं।

मनुष्य की जितनी दीर्घकालीन आदतें बनती हैं, उनका मूल उद्गम-स्थल है—ग्रंथि-तंत्र। हमारे शरीर के दो नियामक तंत्र हैं— एक है नाड़ीतंत्र (Nervous System) और दूसरा है ग्रंथितंत्र। नाड़ीतंत्र में हमारी सारी वृतियां अभिव्यक्त होती हैं, अनुभव में आती हैं और फिर व्यवहार में उतरती है। व्यवहार, अनुभव या अभिव्यक्तिकरण ये सब नाड़ी-तंत्र के काम हैं किन्तु आदतों का जन्म, आदतों की उत्पत्ति ग्रंथि-तंत्र में होती है। जो हमारी अन्तःस्रावी ग्रंथियां हैं, उनमें आदतें जन्म लेती हैं। वे आदतें मस्तिष्क के पास पहुंचती हैं, अभिव्यक्त होती हैं और व्यवहार में उतरती हैं, इसलिए विज्ञान में एक शब्द का प्रयोग हुआ है—न्यूरो-एण्डोक्राइन सिस्टम।

अन्तःस्रावी ग्रंथियों से निकलने वाले हार्मोन दो प्रकार के होते हैं—एक वे जो शारीरिक उत्तेजना को बढ़ाते हैं और दूसरे वे जो उत्तेजना को कम करते हैं। चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा के अभ्यास से इन हार्मोनों के स्राव को संतुलित बनाया जा सकता है जो स्वास्थ्य सम्वर्द्धन में सहायक होता है।

**6. लेश्या-ध्यान**– 'लेश्या' जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है—विशिष्ट रंगवाले पुद्गल द्रव्य (Matter) के संसर्ग से उत्पन्न होने वाला जीव का परिणाम या चेतना का स्तर। कषाय की तरंगें और कषाय की शुद्धि होने पर आने वाली चैतन्य की तरंगें—इन सब तरंगों को भाव के रूप में निर्माण करना और उन्हें विचार, कर्म और क्रिया तक पहुंचा देना यह लेश्या का काम है। लेश्या ही सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच संपर्क-सूत्र है।

लेश्या एक ऐसा चैतन्य-स्तर है जहाँ पहुंचने पर व्यक्तित्व का रूपान्तरण घटित होता है। लेश्याएं अच्छी होंगी तो व्यक्तित्व बदल जाएगा। लेश्याएं बुरी होंगी तो व्यक्तित्व बदल जाएगा। दोनों ओर बदलाव, रूपान्तरण घटित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

होगा। प्रश्न होता है कि वहाँ तक हम कैसे पहुंचे। हमें रंग का सहारा लेना होगा। रंग हमारे व्यक्तित्व को बहुत प्रभावित करते हैं। यदि हम रंगों की क्रियाओं और उनके मनोवैज्ञानिक प्रभावों को समझ लेते हैं तो व्यक्तित्व के रूपान्तरण में हमें बड़ा सहयोग मिल सकता है। व्यक्तित्व रूपान्तरण का सीधा प्रभाव हमारे स्वास्थ्य पर भी पड़ता है। सन्तुलित एवं समग्र व्यक्तित्व विकास के साथ स्वास्थ्य विकास का मंत्र भी अबाध चलता रहता है।

**7. भावना**– भावना का अभ्यास करने वाले व्यक्ति में ध्यान की योग्यता आ जाती है। ध्यान की योग्यता के लिए चार भावनाओं का अभ्यास आवश्यक है –

**1. ज्ञान भावना**—राग-द्वेष और मोह से शून्य होकर तटस्थ भाव से जानने का अभ्यास।

**2. दर्शन भावना**—राग-द्वेष और मोह से शून्य होकर तटस्थ भाव से देखने का अभ्यास।

**3. चारित्र भावना**—राग-द्वेष और मोह से शून्य, समत्वपूर्ण आचरण का अभ्यास।

**4. वैराग्य भावना**—अनासक्ति, अनाकांक्षा और अभय का अभ्यास।

मनुष्य जिसके लिए भावना करता है, जिस अभ्यास को दोहराता है, उसी रूप में उसका संस्कार निर्मित हो जाता है। यह आत्म-सम्मोहन की प्रक्रिया है। इसे 'जप' भी कहा जा सकता है। आत्मा की भावना करने वाला आत्मा में स्थित हो जाता है। 'सोऽहं' के जप का यही मर्म है। 'अर्हम्' की भावना करने वाले में 'अर्हत्' होने की प्रक्रिया शुरु हो जाती है। जो किसी भी कुशल कर्म से अपने को भावित करता है, उसकी भावना उस लक्ष्य की ओर ले जाती है।

भावना नौका के समान है, नौका यात्री को तट तक ले जाती है। उसी प्रकार भावना भी साधक को दु:ख के पार पहुंचा देती है।

प्रतिपक्ष की भावना से स्वभाव, व्यवहार और आचरण को बदला जा सकता है। मोह-कर्म की विपाक भावना का निश्चय परिणाम होता है। उपशम की भावना से क्रोध, मृदुता की भावना से अभिमान, ऋजुता की भावना से माया और संतोष की भावना से लोभ को बदला जा सकता है। राग और द्वेष का संस्कार चेतना की मूर्च्छा से होता है और यह मूर्च्छा चेतना के प्रति जागरूकता लाकर तोड़ी जा सकती है। प्रतिपक्ष भावना चेतना की जागृति का उपक्रम है, इसलिए उसका निश्चत परिणाम होता है।

स्वास्थ्य प्राप्ति की भावना भी अनेक भावनाओं में से एक है। स्वास्थ्य की भावना करके फिर उसकी अनुप्रेक्षा करने से आशातीत लाभ होता है।

**8. अनुप्रेक्षा** ध्यान का अर्थ है प्रेक्षा—देखना। उसकी समाप्ति होने के पश्चात् मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों का अनुचिंतन करना अनुप्रेक्षा है। जिस विषय का अनुचिंतन बार-बार किया जाता है, उससे मन प्रभावित हो जाता है, इसलिए उस चिंतन या अभ्यास का फलीभूत होना स्वाभाविक प्रक्रिया है।

आत्मा का मौलिक स्वरूप चेतना है। उसके दो कार्य हैं—देखना और जानना। हमारी चेतना शुद्ध स्वरूप में हमें उपलब्ध नहीं है इसलिए हमारा दर्शन और ज्ञान निरुद्ध है, आवृत्त है। उस पर एक पर्दा पड़ा हुआ है। उसको दर्शनावरण और ज्ञानावरण कहा जाता है। वह आवरण अपने ही मोह के द्वारा डाला गया है। हम केवल जानते नहीं हैं और केवल देखते नहीं हैं। जानने-देखने के साथ-साथ प्रियता या अप्रियता का भाव बनता है। वह राग-द्वेष को उत्तेजित करता है। राग और द्वेष मोह को उत्पन्न करते हैं। मोह ज्ञान और दर्शन को निरुद्ध करता है। यह चक्र चलता रहता है। इस चक्र को तोड़ने का एक ही उपाय है और वह है—ज्ञाताभाव या द्रष्टाभाव, केवल जानना और केवल देखना। जो केवल जानता-देखता है, वह अपने अस्तित्व का उपयोग करता है। जो जानने-देखने के साथ प्रियता-अप्रियता का भाव उत्पन्न करता है, वह अपने अस्तित्व से हटकर मूर्च्छा में चला जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

स्वास्थ्य की अनुप्रेक्षा करने से मस्तिष्क में स्वास्थ्य सम्वर्द्धन से जुड़ी प्रक्रियाओं को उद्दीपन मिलता है और वे सक्रिय हो उठती हैं। जहाँ कहीं भी साम्यावस्था का असन्तुलन होता है अथवा कोई अन्य अनियमितता होती है, उसे ठीक करने का क्रम शुरू हो जाता है और धीरे-धीरे स्वास्थ्य की सामान्य स्थिति बहाल हो जाती है।

## 4.5 अणुव्रत जीवनशैली से स्वास्थ्य सम्वर्द्धन

अणुव्रत छोटे-छोटे व्रतों के रूप में आचार संहिता का संकलन है जो हमें उस प्रकार की जीवनशैली अपनाने की प्रेरणा देते हैं जिसमें सह-अस्तित्व, सद्भाव, मैत्री एवं सहिष्णुता की प्रधानता होती है। इन व्रतों के माध्यम से हमें उन जीवन-मूल्यों की अनुपालना में सहायता मिलती है जिनसे न केवल व्यक्तिगत तौर पर लाभ होता है बल्कि प्राकृतिक एवं पारिस्थितिकीय संतुलन भी स्थापित होता है। उन शारीरिक एवं मनोजैविक उद्दीपनों के स्रोत से मुक्ति मिलती है जो हमारे अन्दर विविध प्रकार के विकार उत्पन्न करते हैं। अणुव्रतों का विधान गृहस्थ या सामान्य जीवन जीते हुए व्यक्ति का नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान करने, उन्हें सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य जैसे जीवन मूल्यों को अपनाने की प्रेरणा देने के लिए किया गया। हमारे दैनिक जीवन में इन जीवन मूल्यों का अभाव हमें शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक रूप से कमजोर तो बनाता ही है, भांति भांति से रुग्ण बना देता है। अणुव्रतों का पालन करके हम इस रुग्णता से छुटकारा पा सकते हैं और एक स्वस्थ तथा खुशहाल जीवन जी सकते हैं। अणुव्रत आचार संहिता मूलत: एक चारित्रिक आन्दोलन है। नैतिकता और सत्याचरण इसके मूल मंत्र हैं। आत्मविवेचन और आत्मपरीक्षण इसके साधन हैं। इसके पालन करने से शारीरिक एवं मानसिक कल्याण का दुरुह लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।

### 4.5.1 अणुव्रत के निदेशक तत्त्व

1. दूसरों के अस्तित्व के प्रति संवेदनशीलता।
2. मानवीय एकता।
3. सह-अस्तित्व की भावना।
4. साम्प्रदायिक सद्भाव।
5. अहिंसात्मक प्रतिरोध।
6. व्यक्तिगत संग्रह और भोगोपभोग की सीमा।
7. व्यवहार में प्राथमिकता।
8. साधन-शुद्धि की आस्था।
9. अभय, तटस्थता और सत्य-निष्ठा।

### 4.5.2 अणुव्रत: आचार संहिता

1. मैं किसी भी निरपराध प्राणी का संकल्पपूर्वक वध नहीं करूंगा।
   - आत्म-हत्या नहीं करूंगा।
   - भ्रूण-हत्या नहीं करूंगा।
2. मैं आक्रमण नहीं करूंगा।
   - आक्रामक नीति का समर्थन नहीं करूंगा।
   - विश्व-शांति तथा नि:शस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न करूंगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

3. मैं हिंसात्मक एवं तोड़-फोड़-मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।

4. मैं मानवीय एकता में विश्वास करूंगा।

- जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को ऊंच-नीच नहीं मानूंगा।
- अस्पृश्य नहीं मानूंगा।

5. मैं धार्मिक सहिष्णुता रखूंगा।

- साम्प्रदायिक उत्तेजना नहीं फैलाऊंगा।

6. मैं व्यवसाय और व्यवहार में प्रामाणिक रहुंगा।

- अपने लाभ के लिए दूसरों को हानि नहीं पहुंचाऊंगा।
- छलनापूर्ण व्यवहार नहीं करूंगा।

7. मैं ब्रह्मचर्य की साधना और संग्रह की सीमा का निर्धारण करूंगा।

8. मैं चुनाव के संबंध में अनैतिक आचरण नहीं करूंगा।

9. मैं सामाजिक कुरूढ़ियों को प्रश्रय नहीं दूंगा।

10. मैं व्यसन-मुक्त जीवन जीऊंगा।

- मादक तथा नशीले पदार्थ—शराब, गांजा, चरस, हिरोइन, भांग, तम्बाकू आदि का सेवन नही करूंगा।

11. मैं पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहूंगा।

- हरे-भरे वृक्ष नहीं काटूंगा।
- पानी का अपव्यय नहीं करूंगा।

### 4.5.3 अणुव्रत एक सामाजिक व्यवस्था भी

किसी भी व्यवस्था के जन्म लेने में देशकाल की परिस्थितियां भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। अणुव्रत की आचार संहिता का उद्देश्य मानव मात्र को सामने रखकर ऐसी व्यवस्था रूपायित करना है जो व्यक्ति और समाज दोनों में संतुलन स्थापित कर सके। अणुव्रत के मंच से स्वस्थ समाज रचना पर गहराई से विचार कर कुछ सूत्र इस प्रकार निर्धारित किये गए हैं—

1. हिंसा समस्या का समाधान नहीं, इस आस्था का निर्माण।
2. मानवीय एकता में विश्वास।
3. दूसरों के श्रम का अशोषण।
4. मानवीय सम्बंधों का विकास।
5. अर्थ एवं सत्ता का विकेन्द्रीकरण।
6. वैचारिक सहिष्णुता।
7. जीवन-व्यवहार में करुणा का विकास।
8. आहार-शुद्धि और व्यसन मुक्ति
9. सामाजिक रूढ़ियों का परिष्कार।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इन सूत्रों के सहारे एक ऐसी समाज व्यवस्था स्थापित की जा सकती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक रूप से समर्थ हो और अपनी पूरी क्षमता से सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप अपना योगदान दे सके। अणुव्रत आचार संहिता के उपर्युक्त सूत्रों से सामाजिक जीवन के निम्न आयामों की व्याख्या की जा सकती है—

**1. हिंसा समाधान नहीं** — स्वस्थ समाज रचना में हिंसा को समस्या का समाधान नहीं माना जा सकता। वर्तमान राजनीति में हिंसा को, शस्त्र को ही समाधान माना जाता है, यही समस्या का मूल है। एक ओर जब शस्त्र पर धार चढ़ती है तो दूसरी और उसे और ज्यादा तेज बनाने का प्रयास शुरु हो जाता है। इस स्पर्धा ने ही संसार में शस्त्रों के भयंकर जखीरे खड़े किए हैं, पर उनसे समस्या उलझती ही है। अणुव्रत का पहला व्रत है मैं किसी पर आक्रमण नहीं करूंगा तथा आक्रामक नीति का समर्थन नहीं करूंगा। जब आदमी आक्रामक नहीं होगा तो अहिंसा की प्रतिष्ठा अपने आप हो जाएगी। यह अहिंसा में आस्था होने का पहला चरण है।

**2. मानवीय एकता** — अणुव्रत समाज रचना का दूसरा सूत्र है — मानवीय एकता में विश्वास। हमें भूगोल और इतिहास की इस सच्चाई को स्वीकार करना चाहिए कि मानव समाज कई भागों में बंटा हुआ है। इसी से राष्ट्रों की सीमाएं खड़ी होती हैं। भविष्य में भी इस विभाजन को मिटाया जा सके, यह सम्भव नहीं है। फिर भी यदि मानवीय एकता में विश्वास किया जाए तो भावात्मक दूरियों को समाप्त किया जा सकता है। जमीन पर खिंची हुई लकीरें कृत्रिम हैं, जब मन में दीवार खड़ी हो जाती है तो उनमें प्राण पड़ जाते हैं। इसलिए संकीर्ण राष्ट्रवाद से ऊपर उठकर मानवीय एकता पर विश्वास स्वस्थ समाज-रचना का महत्त्वपूर्ण पहलू बन जाता है।

**3. परस्परोपग्रह** — समाज रचना के बारे में एक मान्यता मात्स्य न्याय की रही है। उसके अनुसार बड़ी मछली हमेशा छोटी मछली को निगलकर ही अपना अस्तित्व कायम रख सकती है। पर यह तो जंगल का न्याय है। आदमी का न्याय तो परस्परोग्रह (परस्पर उपकार/सहयोग) की भूमिका पर अधिष्ठित हो सकता है। एक मनुष्य का हित दूसरे के विरोध में नहीं अपितु सहयोग में ही निहित है। भले ही कुछ लोग अपनी बौद्धिक सामर्थ्य से कुछ गरीब लोगों के श्रम का शोषण कर एक बार बड़े बन जाएं, पर यह व्यवस्था बहुत लम्बी नहीं चल सकती। इसमें कुछ गरीब लोग भले ही कुछ दिनों के लिए चुप रह जाए, पर अंततः प्रतिक्रिया घटित होती ही है। इससे जहाँ कुछ लोगों को कष्टमय जीवन जीने के लिए बाध्य होना पड़ता है तो अन्य लोग भी लम्बे समय तक शांति से नहीं जी सकते। दूसरी ओर यदि आदमी दूसरों के श्रम का शोषण न करे तो न केवल वह स्वयं ही शांति का जीवन जी सकता है अपितु दूसरे लोगों के लिए भी शांत जीवन की पृष्ठभूमि का निर्माण करता है। ऐसे लोग ही मशीन की अपेक्षा मनुष्य को ज्यादा महत्त्व दे सकते हैं।

**4. आहार-शुद्धि** — आहार मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकता है। आहार मनुष्य के व्यक्तित्व निर्माण का प्रमुख घटक है। वह न केवल शरीर का पोषक है अपितु वृत्तियों के निर्माण में भी उसकी अहं भूमिका है। सन्तुलित आहार के अभाव में जहाँ एक ओर लाखों-करोड़ों लोग भूखे मरते हैं, वही लाखों-करोड़ों लोग अधिक खा-खाकर मरते हैं। तामसिक आहार से शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य की समस्याएं और अधिक जटिल बनती जा रही हैं।

**5. व्यसन-मुक्ति :** नशे से आदमी का स्वास्थ्य बिगड़ता है। चेतना भी सुप्त-लुप्त हो जाती है। अपराधों की एक अजस्र परम्परा प्रारंभ हो जाती है। आज नशे से पूरी मानवता लहलुहान हो गई है। इसकी तीव्रता ने दूनिया की अर्थव्यवस्था को डांवाडोल बना दिया है। काले धन की और तस्करी की समस्या भी पूरे चरम पर है। ऐसी अवस्था में अणुव्रत प्रेरित समाज-व्यवस्था में आहार-शुद्धि तथा व्यसन-मुक्ति की बात अनिवार्य रूप से जुड़ जाती है।

---

**बोध प्रश्न-2**

---

1. प्रेक्षाध्यान के सहायक अंग कौन-कौन से है?
2. भावना का स्वास्थ्य से क्या सम्बन्ध है?
3. अणुव्रत की आचार संहिता लिखें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

**6. अल्पारंभ-अल्प परिग्रह** — लोकतंत्र आज की मान्य शासन पद्धति बन गई है। चुनाव इसका मुख्य आधार है। पर जब सत्ताशीर्ष पर कुछ लोग जमने की कोशिश करते हैं तो चुनाव में गंदगी का प्रवेश होता है। जिस दिन सत्ता और पूंजी पर लोक का स्वत्व होगा उसी दिन सच्चा लोकतंत्र प्रतिष्ठित होगा। यही अहमिन्द्रता तथा सच्चा समाजवाद होगा। निश्चय ही इस दृष्टि से नये अर्थतंत्र को विकसित करना होगा। अल्पारम्भ और अल्पपरिग्रह उस तंत्र के दो महत्त्वपूर्ण आधार बनेंगे। यह सारा हृदय-परिवर्तन से ही संभव है। केवल कानून या दंड के बल पर लोकतंत्र को संस्थापित नहीं किया जा सकता। उसके लिए जन-जन की चेतना को जगाना पड़ेगा। लोकचेतना जागृत होगी, तभी लोकतंत्र विकसित हो सकेगा।

**7. सापेक्ष-दृष्टि** — व्यक्ति है तो व्यक्तित्व भी रहेगा। व्यक्तित्व की सबसे पहली अभिव्यक्ति है — विचार। विचार ही सम्प्रदाय तथा वाद के भेद के रूप में प्रकट होता है। यह सम्भव नही है कि सभी लोग एक ही तरीके से सोचें-विचारें। यह स्वाभाविक भी नहीं है क्योंकि सत्य इतना विविधमुखी होता है कि उसे एक रूप में पहचाना ही नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में आवश्यक यही है कि उसकी अनेकमुखता को पहचाना जाए तथा उस पर सापेक्ष दृष्टि से विचार किया जाए। विचार का आग्रह जहाँ आदमी को असत्य के द्वार पर पहुंचाता है, वहाँ सापेक्षता उसे सत्य से साक्षात्कार कराती है। सापेक्षता के इस दर्शन से ही व्यक्ति में वैचारिक सहिष्णुता का उदय हो सकता है। हमें इस बात का अधिकार है कि अपने विचार को सत्य मानें पर यह अधिकार नहीं हो सकता कि दूसरे के विचार को असत्य मानकर उसका तिरस्कार करें। सहिष्णुता का यह भाव ही असली धर्म है। यह सार्वभौम स्वीकृति ही सम्प्रदायों एवं वादों में सौहार्द स्थापित कर सकती है, अनेकता में एकता की अनुभूति करा सकती है।

**8. परम्परा और प्रबोध** — मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जहाँ समाज होता है वहाँ परम्परा भी आवश्यक होती है। हर परम्परा का अपना एक उपयोगी उत्स होता है। पर धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों देशकाल की स्थितियां-परिस्थितियां बदलती हैं, बहुत सारी परंपराएं अपनी उपयोगिता खो देती हैं। वे न केवल स्वयं ही रूढ़, बोझिल एवं बेमानी बन जाती हैं अपितु उनसे सारी समाज व्यवस्था बीमार बन जाती है। इसीलिए अणुव्रत हर समय रूढ़ियों के परिष्कार के लिए आवाज उठाता रहा है, परम्परा से इनकार नहीं किया जा सकता, पर निरर्थक रूढ़ियों को ढोते रहना भी स्वस्थ समाज और राष्ट्र का लक्षण नहीं हो सकता। इस दृष्टि से अंध-रूढ़ियों के परिष्कार की संभावना निरंतर बनी रहती है।

इन विवेचनों से यह स्पष्ट होता है कि अणुव्रत आचार संहिता की अनुपालना से सामाजिक एवं वैयक्तिक स्वास्थ्य सम्वर्द्धन में उल्लेखनीय सहायता मिलती है।

## 4.6 अभ्यासार्थ नमूने प्रश्न

### I निबंधात्मक प्रश्न

1. जीवन विज्ञान एवं स्वास्थ्य सम्वर्द्धन की प्रक्रिया की व्याख्या कीजिए।
2. अणुव्रत आचार संहिता शारीरिक एवं सामाजिक स्वास्थ्य में किस प्रकार उपयोगी है?

### II लघूत्तरात्मक प्रश्न (उत्तर 100 शब्दों में)

1. अणुव्रत का दर्शन बताइये।
2. जीवन विज्ञान के द्वारा स्वास्थ्य शिक्षा के तत्त्व कौन-से हैं?

### III वस्तुनिष्ठ प्रश्न (एक शब्द या एक वाक्य में उत्तर दीजिए)

1. मिताहार का अर्थ है —

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. स्वस्थ जीवन के साधन तत्त्व चार हैं—

(क) शरीर, श्वास, तन और मन (ख) शरीर, वाणी, श्वास और हृदय

(ग) शरीर, श्वास, वाणी और मन (घ) शरीर, आत्मा, मन और प्राण

( )

## 4.7 संदर्भ ग्रंथ


1. जीवन विज्ञान की रूपरेखा—मुनि धर्मेश कुमार
2. जीवन विज्ञान सिद्धान्त और प्रयोग—आचार्य महाप्रज्ञ
3. प्रेक्षाध्यान : सिद्धान्त और प्रयोग—आचार्य महाप्रज्ञ
4. Preksha Yoga for Common Ailments—Dr. J.P.N. Mishra
5. Preksha Dyan : Theory and Prectice—Acharya Mahaprajna


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# संवर्ग 2 शारीरिक अनियमितताएं एवं रोग सामान्य परिचय-I

# इकाई-5 : शारीरिक दौर्बल्य, वायुविकार, उच्चरक्तचाप, जुकाम, अम्लता (एसिडिटी)

**संरचना**


5.0 प्रस्तावना
5.1 उद्देश्य
5.2 रोग के महत्त्वपूर्ण कारण
  5.2.1 अप्राकृतिक जीवन यापन
  5.2.2 विजातीय द्रव्य
  5.2.3 जीवन शक्ति का ह्रास
  5.2.4 वंशानुगत कारण
  5.2.5 मिथ्योपचार
  5.2.6 बाह्य प्रहार या आकस्मिक दुर्घटना
  5.2.7 रोगोत्पादक जीवाणु
5.3 रोग के प्रकार और उनका वर्गीकरण
  5.3.1 शारीरिक रोग
  5.3.1.1 तीव्र रोग
  5.3.1.2 जीर्ण रोग
  5.3.2 मानसिक रोग
    5.3.2.1 मानसिक रोग के कारण
    5.3.2.2 मानसिक रोगों से हानियां और उनसे शारीरिक रोगों की उत्पत्ति
    5.3.2.3 मानसिक रोगों को कैसे रोका जाए?
  5.3.3 भावनात्मक रोग
    5.3.3.1 भावनात्मक रोग के कारण एवं प्रभाव
5.4 निरोग शरीर के लक्षण
5.5 शारीरिक दौर्बल्य
5.6 अजीर्ण
  5.6.1 यौगिक चिकित्सा
5.7 अम्लरोग
  5.7.1 यौगिक चिकित्सा
5.8 नजला-जुकाम
  5.8.1 प्राकृतिक चिकित्सा
  5.8.2 आहार
  5.8.3 यौगिक चिकित्सा
5.9 उच्च रक्तचाप
  5.9.1 यौगिक चिकित्सा
5.10 प्रश्नावली
5.11 संदर्भ ग्रंथ


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 5.0 प्रस्तावना

यह सभी जानते हैं कि किसी भी प्रकार की शारीरिक-मानसिक अनियमितता का नाम रोग है। हमारे शरीर की गंदगी फेफड़ों और श्वास द्वारा, शरीर के अन्य अवयवों की गंदगी त्वचा के असंख्य छिद्रों द्वारा पसीने के रूप में तथा पेट की गंदगी पेशाब व पाखाना के रास्ते सदा निकला करती है। यदि कभी इन साधारण ढंगों और मार्गों से शरीर का मल भलीभांति नहीं निकल पाता है, तो प्रकृति मजबूर होकर उस काम के लिये असाधारण ढंग काम में लाती है। उन्हीं असाधारण ढंगों को साधारण भाषा में रोग कहते हैं। रोग तो असल में वह मल होता है जो शरीर के भीतर बहुत पहले संचित हुआ करता है, जिसको निकालने के लिए प्रकृति ज्वर, दस्त, फोड़ा आदि असाधारण ढंग काम में लाती है। इस तरह शरीर रक्षा के लिये, शरीर से मल निकालने के लिए, प्रकृति के प्रयत्न और प्रबंध को रोग या रोग के लक्षण कह सकते हैं। प्रत्येक रोग शरीर में संचित विष को सहन करने की सीमा के अतिक्रमण का दूसरा नाम है।

प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक डॉ. राकेश जिन्दल अपनी पुस्तक ''प्राकृतिक आयुर्विज्ञान'' में लिखते हैं कि रोग वे चिह्न हैं जो हमें चेतावनी देते हैं कि विजातीय द्रव्य रूपी शत्रु ने हमारे शरीर में अड्डा जमा लिया है, जिससे हमें सजग और सावधान होना चाहिये। रोग का एक और नाम शरीर की अस्वाभाविक अवस्था है।

डॉ. जेस्मीमसर गेहमन के अनुसार—स्वास्थ्य की परिवर्तित प्रतिकूल अवस्था को रोग कहते हैं। कारण, रोगकालीन अवस्था उस अवस्था से भिन्न हो जाती है जिसमें न तो कोई पीड़ा होती है, न कोई परेशानी और न अंगों की क्रियाओं में कोई अन्तर होता है। गलत रहन-सहन के कारण आन्तरिक वातावरण के दूषित होने पर स्वास्थ्य की अवस्था में परिवर्तन होकर रोग का प्रादुर्भाव होता है। अतः कहा जा सकता है कि स्वास्थ्य और रोग एक ही चीज की दो अवस्थायें हैं।

बुनियादी हालत में, यानी जब रोग सुषुप्तावस्था में विजातीय द्रव्य के रूप में शरीर के किसी अंग विशेष अथवा समस्त शरीर में व्याप्त रहता है, तब रोग का न तो कोई नाम होता है न उसकी कोई शक्ल ही होती है पर ज्यों ही वह बाहर निकलने के लिए प्राकट्य में आता है, तो विविध नामों से जाना जाता है। शरीर का संचित मल, समय और परिस्थिति के अनुसार कभी ज्वर के रूप में प्रकट होता है, कभी दस्त के और कभी किसी अन्य रूप में। रोग के कारण हर हालत में एक ही होते है, परन्तु परिणाम भिन्न-भिन्न रूपों में और भिन्न-भिन्न नामों से दृष्टिगोचर होते है।

यह समझ लेने के बाद कि रोग शरीर में दोनों रूपों में विद्यमान रह सकता है। अर्थात् निराकार रूप से भी और साकार रूप से भी, यह कहना अति कठिन है कि अमुक शरीर सर्वथा रोगहीन है क्योंकि ऊपर से देखने में वह शरीर भले ही स्वस्थ प्रतीत होता है, किंतु उसके अन्तर में कोई-न-कोई रोग सुषुप्तावस्था में अथवा निराकार रूप से विद्यमान रह सकता है जो परिस्थिति के अनुकूल होने पर साकार रूप धारण कर सकता है। और तभी हम अपनी इन्द्रियों द्वारा उसे समझ-बूझकर यह व्यवस्था दे सकेंगे कि शरीर को अमुक रोग लगा है।

यह भलीभांति जान लेना चाहिए कि किसी भी शरीर में रोग अपना साकार रूप अचानक नहीं धारण कर लेता, बल्कि ऐसा करने में उसे कभी-कभी काफी दिन लग जाते हैं। रोग की सुषुप्तावस्था वाली परिस्थिति, जागृतवाली से कहीं अधिक भयानक और प्राणघातक सिद्ध होती है। क्योंकि रोग प्रकट होने से शरीर का आन्तरिक दूषित द्रव्य जो रोग का कारण है, आसानी से बाहर निकल जाता है और शरीर कुछ ही दिनों में रोगमुक्त हो जाता है। परन्तु सुषुप्तावस्था में वह भीतर ही भीतर शरीर के स्वस्थ अवयवों को घुन की भांति चाटता रहता है, जिसका परिणाम यह होता है कि शरीर की नस-नस में उसका दूषित विकार व्याप्त हो जाता है और शरीर क्षीण होने लगता है। रोग की यह स्थिति अतीव भयानक होती है।

यदि कहा जाये कि मनुष्य के शरीर में रोग आते हैं उसे स्वास्थ्य प्रदान करने के लिए तो यह एक अटपटी-सी बात मालूम पड़ती है किन्तु बात है शत प्रतिशत सच। हम रोज देखते हैं कि एक व्यक्ति जो बीमार

Kaivalyadhama Shri Manibhai Desai Nisarga Upchar Mahavidyalaya, Lonavla
Kaivalyadhama Shri Manibhai Desai Nisarga Upchar Mahavidyalaya, Lonavla
Kaivalyadhama Shri Manibhai Desai Nisarga Upchar Mahavidyalaya, Lonavla

पड़ने के पहले काफी हट्टा-कट्टा रहता है, दो माह रोग ग्रसित रहने पर क्षीण हो जाता है और अपने को हल्का-फुल्का अनुभव करने लगता है। इस सम्बंध में सबसे पहले यह देखना है कि वह व्यक्ति बीमार ही क्यों पड़ा? और फिर यह कि वह एक खास वक्त पर ही क्यों बीमार पड़ा? वह व्यक्ति वास्तव में वर्षों पहले से बीमार था, भले ही रोग उसके शरीर में सुषुपतावस्था में विद्यमान रहने के कारण उसे अथवा दूसरों को ज्ञान न हुआ था। रोग का बीज जो बहुत पहले पड़ चुका था, उसका उचित उपायों द्वारा निर्मूल न होने के कारण उसने शरीर के भीतर मजबूती से जड़ पकड़ ली और फलत: बढ़ना आरम्भ कर दिया। अंत में अनुकूल जलवायु मिलते रहने के कारण अर्थात् मिथ्या आहार-विहार होते रहने से वही रोगरूपी छोटा-सा पौधा बढ़कर एक विशाल काय भयंकर रोग-विटप के रूप में परिणित हो गया और सर्वसाधारण की आंखों के सामने आ गया। इसी अवस्था को हम मनुष्य की रोगावस्था कहते हैं। हालांकि यह अवस्था बहुत पहले से थी, और अब तो उसका केवल प्रकट और साकार रूप ही कहा जायेगा। दूसरे शब्दों में इसे यों कहा जा सकता है कि वर्षों के अनियमित जीवन-यापन से बूंद-बूंद विष भरते रहने के कारण अन्त में शरीर रूपी घट, रोग रूपी विष से लबालब भर गया। प्रकृति अपने नियमानुसार, उस संचित विष को, जिसकी आवश्यकता शरीर को बिल्कुल नहीं होती और जो विजातीय द्रव्य हैं, उस रोगी-शरीर के कल्याणार्थ शरीर में रहने तो देगी नहीं। अत: उसे निकालने के लिए प्रकृति जिन अनेकों तरीकों को अपनाती हैं, उन्हीं को हम रोग का नाम देते हैं।

जब हम प्रकृति से दूर जा पड़ते हैं। विचारने, श्वास लेने, भोजन करने, कपड़ा पहनने, आराम करने, विहार करने आदि सभी मामलों में उसके नियमों के विरूद्ध आचरण करते हैं उसकी अपेक्षाओं का उल्लंघन करते हैं उस समय प्रकृति एक सुयोग्य और अच्छी माता की भांति हमें अपना अबोध शिशु समझकर, हमारे कल्याणार्थ, कभी-कभी मीठी फटकार दे बैठती है। उसी प्राकृतिक मीठी फटकार को रोग का नाम दिया जाता है। इस दृष्टिकोण से रोग हमारी भूलों और बेवकूफियों का परिणाम सिद्ध होते हैं।

संसार में कोई बात अकारण नहीं हुआ करती। प्रत्येक कार्य का कारण होता ही है। अत: रोगोत्पत्ति का भी कारण होना अनिवार्य है। ज्योतिषी लोग रोग का कारण ग्रहों का फेर मानते हैं। ओझा-सोखा, प्रेत बाधा को रोग का कारण समझते हैं। वैद्य, त्रिदोष (वात, पित्त, कफ), चतुर्दोष की विषमावस्था को रोग कहते हैं। डॉक्टर लोग प्रत्येक रोग के लिए रोग के कीटाणु विशेष को ही दोषी ठहराते हैं। परन्तु प्राकृतिक चिकित्सकों का सिद्धान्त इस सम्बंध में उन सबों से भिन्न है। वे न तो ग्रहों को रोग का कारण मानते हैं, न भूत-प्रेत को और न त्रिदोष और कीटाणु-जीवाणुओं को ही। वे रोग का कारण मूलत: स्वयं उस रोगी को ही मानते हैं जिसको कोई रोग होता है।

रोग के मुख्यत: दो कारण होते हैं— बाह्य (Objective) तथा आन्तरिक (Subjective)। शारीरिक धर्म अथवा स्वास्थ्य सिद्धांत के विरूद्ध आचरण करना रोग का बाह्य कारण और अनिष्टकारी मनोवृत्तियों का असंगत प्रयोग तथा अहितकर चिंता, कल्पना, भय आदि उसके आंतरिक कारण होते हैं। शरीर और मन के सभी रोग इन्हीं कारणों से होते हैं। निरोग रहने के लिए सप्राण भोजन, व्यायाम, परिमित परिश्रम, समुचित निद्रा, संयम तथा स्वास्थ्य सम्बंधी नियमों की आवश्यकता होती है और इन नियमों का भंग करना क्या है? मानों रोगों को निमंत्रण देना। उसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, हिंसा, द्वेष, ईर्ष्या आदि मलिन मनोवृत्तियों के व्यवहार से देह और मन में तरह-तरह के रोग उत्पन्न होते हैं। रोगों के बाह्य कारण स्थूल भाव से शरीर पर और आंतरिक कारण सूक्ष्म रूप से मन पर प्रभाव डालते हैं। सभी रोग पहले मन में उपजते हैं फिर शरीर पर प्रकट होते हैं।

महात्मा गांधी ने एक जगह लिखा है कि अंग्रेज कवि मिल्टन के कथनानुसार मनुष्य का मन ही उसके लिए स्वर्ग या नर्क है। स्वर्ग कहीं बादलों में और नर्क कहीं पृथ्वी के भीतर नहीं हैं। मन ही बन्धन (नर्क) और मोक्ष का कारण है। इसके अनुसार कहा जा सकता है कि मनुष्य अपने रोगी या निरोगी रहने का आप ही कारण है। हम जैसे अपने कार्यों से रोगी होते हैं, वैसे ही विचारों से भी रोगी हो जाते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## 5.1 उद्देश्य

1. रोगों की पृष्ठभूमि तथा रोग उत्पन्न करने वाले सामान्य कारणों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
2. विशेष प्रकार के रोगों के लक्षण, कारण एवं उनके निदान की विधि सीख सकेंगे।

## 5.2 रोगों के महत्त्वपूर्ण कारण

### 5.2.1 अप्राकृतिक जीवन यापन

डॉक्टर ए. जुस्ट ने एक जगह लिखा है—''बहुतों की धारणा है कि रोग और अकाल मृत्यु भगवान की दया और प्रेम के परिणाम हैं। ऐसी धारणा को स्थान देना एक तरह से भगवान् का मुंह चिढ़ाना है। क्योंकि हममें जो भी दु:ख, रोग आदि हैं उनका मुख्य कारण है हम लोगों का प्रकृति के नियमों के विरूद्ध जीवन-यात्रा का निर्वाह करना।''

एक डॉक्टर जुस्ट ही नहीं, अपितु पश्चिमी और पूर्वी देशों के लगभग सभी विचारवान विद्वानों और डॉक्टरों को हमारा आधुनिक कृत्रिम जीवन-यापन बहुत खटकने लगा है और वे सभी प्राकृतिक जीवन व्यतीत किये जाने पर बहुत जोर देने लगे हैं। उनका कहना है कि प्राकृतिक जीवन ही आजकल फैली हुई असंख्य बीमारियों और स्वास्थ्य सम्बंधी समस्त दोषों की एक मात्र दवा है।

यदि दु:ख पर शासन करना चाहते हो तो सुख को मिटा दो, यदि अपमान पर शासन करना चाहते हो तो सम्मान को मिटा दो। यदि शोक पर शासन करना चाहते हो तो हर्ष को मिटा दो। इसी तरह यदि रोग पर शासन करना चाहते हो तो भोग (अप्राकृतिक जीवन) को मिटाना ही पड़ेगा। यही नीति है। वास्तव में हममें कुछ आदतें ऐसी हैं, जो हमें स्वस्थ रहने ही नहीं देतीं। उनमें से मुख्य ये हैं—

1. भोजन सम्बंधी बुरी आदतें।
2. आलस्य।
3. पंचतत्त्वों का कम से कम उपयोग।
4. कृत्रिमता से अनुराग।
5. अनियमित भोग-विलास।
6. मिथ्योपचार।
7. मानसिक कुविचार।

प्राकृतिक जीवन संयम का जीवन है। उसे ही सदाचार भी कहते हैं। संयम, सदाचार, सच्चरित्रता एक ही चीज के तीन नाम हैं। असंयम या कदाचार ही वस्तुत: समस्त रोगों की जड़ है।

### 5.2.2 विजातीय द्रव्य

रोग के होने का दूसरा कारण है अप्राकृतिक जीवनयापन के फलस्वरूप हमारे शरीर में विजातीय द्रव्य का बढ़ जाना और उसका शरीर के मल मार्गों द्वारा साधारणत: न निकल सकना। विजातीय द्रव्य के कई नाम हैं। जैसे मल, विकार, विष क्लेद, संचित दुर्द्रव्य, विसदृश द्रव्य, दूषित पदार्थ, जहर, विकृति आदि। वैद्यक में विजातीय द्रव्य को दोष कहते हैं और वैद्यों के यहां भी इस दोष को ही रोग का कारण माना गया है।

शरीर के भीतर जो बेकार चीज होती है, जैसे मलमूत्र, पसीना, कफ, दूषित वायु, दूषित सांस, दूषित रक्त, दूषित मांस या इसी प्रकार की अन्य कोई वस्तु जो स्वस्थ खून और मांस के साथ मिलकर स्वस्थ शरीर का भाग नहीं बन सकती। जो उसको पोषण नहीं दे सकती, उल्टे उसके विनाश का कारण बन सकती है उसी को दोष या विजातीय द्रव्य कहते हैं। विजातीय द्रव्य ठोस, तरल या वायु सा हल्का हो सकता है।

विजातीय द्रव्य का सर्वप्रथम शरीर के मल निकालने वाले मार्गों में या उनके आस-पास विशेषकर पेडू और उदर में संचय होना प्रारंभ होता है और धीरे-धीरे समस्त शरीर में व्याप्त हो जाता है। **'उदरम् व्याधि मन्दिरम्'** कहने का यही तात्पर्य है। विजातीय द्रव्य से भरे हुए अवयवों की पूर्ण वृद्धि नहीं हो सकती क्योंकि शरीर में जहाँ कहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विजातीय द्रव्य होता है वहाँ पोषक द्रव्यों (रक्तादि) के लिए जगह घिर जाती है जिससे पोषण के कार्य में रूकावट पड़ जाने से वे अवयव अपूर्ण और छोटे ही रह जाते हैं जिनमें विजातीय द्रव्य भरा होता है।

विजातीय द्रव्य में अपने रूप को बदलते रहने की सहज शक्ति होती है। इसका निर्माण विशेषत: उन कणों से होता है जो घुलनशील और अलग-अलग हो जाने वाले होते हैं, अथवा पिसे जा सकते हैं। यह उन तत्त्वों से बना होता है जिनमें उद्वेग हो सकता है। उद्वेग की दशा में विजातीय द्रव्य में बहुत बारीक-बारीक जीवाणु-कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं जो अक्रान्त स्थान पर बड़ा परिवर्तन कर देते हैं और विजातीय द्रव्य की मात्रा में वृद्धि कर देते हैं। उद्वेग से गर्मी उत्पन्न होती है। जितना अधिक उद्वेग होगा उतनी ही अधिक गर्मी होगी। दो या अधिक वस्तुओं की रगड़ और मंथन से गर्मी की उत्पत्ति होती है। इसी उद्वेगजनित गर्मी के कारण स्वरूप सारे तीव्र रोग, ज्वर, जुकाम, सिर दर्द, पेट दर्द, बदन-दर्द, अजीर्ण, अरूचि, तृषा, वमन, अतिसार, शरीर में मलोपस्थित के आरंभिक चिह्न होते हैं। वे सभी ज्वर हैं। विजातीय द्रव्य में उद्वेग के कारण हमारे रक्त में गर्मी बढ़ जाती है। इसी दशा का नाम ज्वर है। ज्वर तभी होता है जब शरीर में विजातीय द्रव्य मौजूद हों और उसके निकलने के सब मार्ग करीब-करीब रूक गये हों। अत: शरीर स्थित विजातीय द्रव्य में चालू उद्वेग-क्रिया को ज्वर कहेंगे।

ऋतु परिवर्तन, बाह्यघात, मानसिक उद्वेग आदि कारणों से शरीर स्थित विजातीय द्रव्य में हरकत होती है और तब वह ज्वर का रूप धारण करता है। ज्वर के माने यहां रोग से है। उस समय यदि उचित उपचार द्वारा उसे निकल जाने का मार्ग नहीं दिया जाये तो वह उस अवयव विशेष में ताप उत्पन्न करके उसका नाश कर देता है। शरीर के जिस अवयव पर विजातीय द्रव्य का आघात होता है वह आघात उस अवयव के रोग के नाम से पुकारा जाता है।

केवल खानपान की गलतियों से ही विजातीय द्रव्य हमारे शरीर में एकत्र नहीं होते बल्कि अन्य मार्गों से भी वह शरीर में प्रवेश करते हैं, जैसे—

1. श्वास के साथ हवा में उड़ते रहने वाले छोटे-छोटे कीटाणु, धूल-कण, धुंआ तथा अन्य विजातीय द्रव्य शरीर में चले आते हैं। (पर्यावरणीय प्रदूषण के परिणाम)
2. मुंह के द्वारा जल में मिश्रित कीटाणु और गंदगी आदि शरीर में पहुंच जाती है।
3. विषैले जंतुओं (सांप, बिच्छु आदि) के काट खाने से उनका विष शरीर में प्रवेश कर जाता है।
4. विषैली दवाईयों, सुइयों द्वारा विजातीय द्रव्य शरीर में प्रवेश कराया जाता है।
5. तम्बाकू, गांजा, चरस, सिगरेट आदि नशीले पदार्थों से भी शरीर में विजातीय द्रव्य की वृद्धि होती है।

## 5.2.3 जीवन-शक्ति (रोग-प्रतिरोधक क्षमता) का ह्रास

शरीर में रोगों से लड़ने वाली जीवन-शक्ति की कमी रोगोत्पत्ति का तीसरा कारण है। यह सर्वविदित है कि साधारणत: दुर्बल अंगों और दुर्बल व्यक्तियों में ही रोग पैदा होते हैं और पनपते हैं। शक्तिहीन शरीर में उसमें पड़े हुए कूड़े-कचरे को बाहर निकालकर निर्मल बनाने की ताकत नहीं होती। इस तरह बोझ बराबर बढ़ते जाने से वह निस्तेज हो जाता है, उसका सारा सौन्दर्य और आकर्षण धूल में मिल जाता है, स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। भूख मर जाती है, नींद हराम हो जाती है। शरीर का विकास रूक जाता है और शरीर में हमेशा एक-न-एक रोग डेरा डाले रहता है। यह एक निर्विवाद सत्य है कि शरीर की सभी प्रकार की रुग्णावस्था का मूल कारण उसमें जीवन-शक्ति का ह्रास ही है जो स्वयं एक रोग माना जाता है और जिसकी चिकित्सा प्राकृतिक चिकित्सा-पद्धति में सर्वप्रथम की जाती है। कारण शरीर की जीवनशक्ति बिना बढ़ाये मूल रोग के निवारण करने की आशा करना दुराशा मात्र है।

जीवन शक्ति के ह्रास के प्रधान कारण ये हैं—

1. शक्ति से अधिक श्रम करना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2. असमय रात्रि में कार्य करना।

3. चिंता आदि मानसिक व्याधियां।

4. अप्राकृतिक औषधियों का सेवन आदि मिथ्योपचार।

## 5.2.4 वंशानुगत कारण

रोगी और कमजोर माता-पिता की संतान भी रोगी और कमजोर होती है यह एक प्राकृतिक नियम है। जैसा बीज वैसा फल कहा ही है। मगर इस हालत में भी रोग का मुख्य कारण रोगी के शरीर में वंश परम्परा जन्य वही विजातीय द्रव्य की उपस्थिति ही होता है, क्योंकि विकार द्वारा गम्भीर रूप से आक्रांत माता-पिता से संतान में खून के असर से विकार आना स्वाभाविक है। भले ही वह सूक्ष्माति सूक्ष्म रूप में हो या जहर के रूप में हो वह अपना असर संतान के ऊपर डालता ही है।

गर्भाधान के समय से ही रज और वीर्य में माता-पिता के दोषों का बीज पनपने लगता है और जो नया शरीर बनने लगता है उसमें कर्मानुसार ऐसे जीव का प्रवेश होता है जो अपने पूर्व संस्कारों के कारण उस विशेष देशकाल और निमित्त के लिए उपयुक्त होता है। इस तरह से माता-पिता के अथवा उनके पूर्वजों के बहुतेरे रोग और शारीरिक दोष संतान में आ जाते हैं।

## 5.2.5 मिथ्योपचार

शरीर में जाम अनावश्यक मल ही असल रोग है 'इस सिद्धांत को मानने वाला कभी नहीं चाहेगा कि उसके शरीर में बाहर से कोई विजातीय द्रव्य पहुंचकर रोग का रूप धारण करें। हैजा के बचाव के लिए स्वस्थ शरीर में अनावश्यक रूप से हैजा के विष की सुईयां जबर्दस्ती देना इसका उदाहरण है। आवश्यकता हो या न हो शरीर के किसी रोगी अवयव को जल्दी में आपरेशन कर डालना या उसे एकदम काटकर फेंक ही देना, जिससे वह रोग और गम्भीर रूप धारण कर लेने के लिए बाध्य होता है। रोग होने पर ठीक कारण के निराकरण के बदले रोगी का ऊपर से अत्यन्त उग्र औषधियों का सेवन मिथ्योपचार का तीसरा उदाहरण है जिससे विविध प्रकार के बाहरी विष शरीर में प्रवेश कर विष की मात्रा (रोग) को बढ़ा देते हैं। रोग को पुराना बनाने में मदद करते हैं।

## 5.2.6 बाह्य प्रहार या आकस्मिक दुर्घटना

स्वस्थ व्यक्ति को अकस्मात चोट लगने से या गिरने से त्वचा, मांस, नस, अस्थि आदि के टूटने-फूटने से अभिघातज रोगों की उत्पत्ति होती है। शल्य-क्रिया भी इसी श्रेणी में आती है क्योंकि चीर-फाड़ भी तो सीधा बाह्य प्रहार ही है।

## 5.2.7 रोगोत्पादक जीवाणु

एक स्वस्थ और निर्मल शरीर में संसार भर के कीटाणु भी किसी रोग को प्रारंभ नहीं कर सकते। पर एक मल भरे शरीर में कोई भी रोगाणु उद्वेग पैदा करके रोग के लक्षण उत्पन्न कर सकता है। क्योंकि रोगाणु मल (रोग) से ही जीते हैं और निर्मलता से वे नष्ट हो जाते हैं। इसलिए जब जीवाणु रोगी शरीर में रोग को उभार करने वाले सिद्ध होते हैं, तो उन्हें रोगोत्पादक जीवाणु कहा जाता है। फिर भी किसी विशेष प्रकार का रोग उत्पन्न करने के लिए उत्तेजना देना केवल रोगोत्पादक जीवाणुओं तक ही सीमित समझना भूल होगी। ये रोगोत्पादक जीवाणु, मल से भरे शरीर में रोग के लक्षण कम और खमीर या प्रेरकाणु (एन्जाइम) अधिक पैदा करते हैं।

जिस प्रकार खमीर के जीवाणु वस्तु को खाते भी हैं और सड़ाते भी हैं, उसी प्रकार रोगाणु मल को खाते भी हैं और सड़ाते भी हैं। जिस प्रकार खमीर के जीवाणु खमीर से ही अपनी संतान बढ़ाते हैं उसी तरह रोगाणु भी मल से ही अपनी संतान बढ़ाते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि रोगाणु रोगों के कारण भी हैं और कार्य भी। चेचक, हैजा आदि महामारी फैलने पर जो लोग अधिक संख्या में रोगी होने और मरने लगते हैं उसका एक कारण यह भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है कि अधिकांश मनुष्यों के शरीर में मल भरा रहता है जिसमें उस रोग के कीटाणु शीघ्र उद्वेग पैदा करके उसी रोग के लक्षण उत्पन्न कर देते हैं जिस रोग के कीटाणु होते हैं।

## 5.3 रोग के प्रकार और उनका वर्गीकरण

स्वास्थ्य की दृष्टि से मानव शरीर के तीन पहलू बताये गये हैं—शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक। पूर्ण स्वस्थ शरीर वही समझा जाता है जो आत्मा, मन और शरीर—तीनों से स्वस्थ हो। इनमें से किसी एक की उपेक्षा करके पूर्ण स्वस्थ नहीं रहा जा सकता। इन्हीं तीनों पहलुओं के अनुसार ही रोग भी तीन प्रकार के होते हैं। अर्थात् शारीरिक, मानसिक तथा भावनात्मक। भावनात्मक दुर्बलताओं से मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार मानसिक कमजोरियों से शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं। तीनों प्रकार के रोगों में परस्पर यही सम्बंध हैं। भारतीय शास्त्रकारों के मत से भी तीन ही प्रकार की व्याधियां होती हैं। भाग्य से उत्पन्न व्याधियां आधिदैविक कहलाती हैं, शारीरिक व्याधियों को आधिदैहिक कहते हैं तथा भूतों या तत्त्वों के सम्बंध से उत्पन्न रोग, अथवा व्याघ्र, सर्पादि जीवों कृत पीड़ायें आधिभौतिक के नाम से विख्यात हैं।

### 5.3.1 शारीरिक रोग

व्याधियों के रूप और लक्षण अगणित और अनेक होते हैं जिनका विभाजन आयुर्वेद में चार श्रेणियों में हुआ है—

1. शरीर में विजातीय द्रव्य (दोष) के कारण जो रोग होते हैं, उन्हें शारीरिक कहते हैं। जैसे ज्वरादि।
2. अभिघात आदि से जो पीड़ायें होती हैं, उन्हें आगंतुक कहते हैं।
3. क्रोध, शोक, भय आदि रोगों को निमित्तक मानसिक कहते हैं।
4. क्षुधा, प्यास, जरा एवं मृत्युजन्य क्लेश स्वाभाविक व्याधियां कहलाती हैं।

शरीर में विजातीय द्रव्य की उपस्थिति के फलस्वरूप जितनी व्याधियां होती हैं उनको दो भागों में बांटा जा सकता है। एक भाग में तीव्र रोग तथा दूसरे में मंद या जीर्ण रोग रखे जायेंगे।

**5.3.1.1 तीव्र रोग**—तीव्र रोग को अंग्रेजी में Acute disease कहते हैं। तीव्र का अर्थ है 'तेज'। अत: जिस रोग में तेजी हो उसे तीव्र रोग कहेंगे। जैसे—हैजा, जुकाम, दस्तादि। ये रोग जितनी तेजी से आते हैं, उचित उपचार से उतनी ही जल्दी चले भी जाते हैं। तीव्र रोग अपना उपचार स्वयं होते हैं। जब शरीर में या उसके किसी विशेष भाग में अधिक मल एकत्र हो जाता है तो उसका निष्कासन तीव्र रोगों के रूप में होने लगता है, जो कुछ ही दिनों तक रह कर, अर्थात् उस संचित मल को शरीर से निकाल कर अपने आप चले जाते हैं और शरीर को भलाचंगा और निर्मल छोड़ जाते हैं। तीव्र रोग बच्चों या जवानों को अर्थात् जिनकी जीवन-शक्ति प्रबल होती है, विशेष रूप से होते हैं। तीव्र रोग हठीले उस वक्त जरूर हो जाते हैं जब शरीर से मल-निष्कासन के प्रयत्न में उनके सामने रोड़े डालने की कोशिश की जाती है। तीव्र रोग के विभिन्न लक्षण तो इस बात की सूचना देते हैं कि शरीर अपने को शुद्ध करने के लिए, रोग को निर्मूल करने के लिए क्या और कैसा प्रयत्न कर रहा है? उन लक्षणों का स्वागत करना चाहिए न कि उन्हें दवाओं, सूइयों तथा शास्त्रोपचार से दबाना चाहिए। तीव्र रोगों में उपवास और पूर्ण विश्राम बड़े लाभदायक सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि तीव्र रोग के रोगी को चारपाई पर पड़ जाने के लिए प्रकृति विवश करती है, साथ ही साथ भूख को भी हर लेती है। तीव्र रोग का होना इस बात का सबूत है कि शरीर में जीवनी-शक्ति सजग और सतेज है।

डॉक्टर लिण्डल्हार ने अपनी किताब 'नेचर क्योर' में तीव्र रोगों की साधारणत: पांच अवस्थाये लिखी हैं।

पहली अवस्था को रोग की तैयारी की अवस्था कह सकते हैं। शरीर भर में या उसके किसी भाग में मल के भर जाने से उत्तेजना होती है। फिर सचित मल में उद्वेग की क्रियाएं धीरे-धीरे और कभी-कभी जल्दी-जल्दी भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

होने लगती हैं, जिनसे रोग अपना एक खास रूप धारण करता है। यह अवस्था कुछ मिनटों से लेकर कई वर्षों में पूरी हो सकती है। इस अवधि में रोग पैदा करने में सहायक मल, विष अथवा रोगाणु आदि पैदा और एकत्र होते रहते हैं।

दूसरी अवस्था में रोग का रूप अधिक भयंकर हो उठता है। इस अवस्था में तकलीफ बढ़ जाती है। तनाव, सूजन, सुर्खी, ज्वर बढ़ जाते हैं, और रोगी चारपाई पर पड़कर कमजोरी और पीड़ा का अनुभव करने लगता है।

तीसरी अवस्था में रोगाक्रान्त स्थान के कण नष्ट होने लगते हैं, जिनसे राह बन जाती है। घाव हो जाता है। पीब और रक्त बहने लगता है जैसाकि फोड़ा होने की दशा में होता है। मवाद भी बहता है। पसीना-पेशाब से विष निकलने लगता है। सांस से दुर्गन्धि आने लगती है। दस्त होते हैं। वमन भी हो सकता है। मल के निष्कासन से इस घोर प्रयत्न में शरीर के कुछ उपयोगी तत्वों का भी मल के साथ निकल जाना स्वाभाविक ही होता है जिससे शरीर दुर्बल और शिथिल हो जाता है, दिमाग काम नहीं करता। रोग की यही सबसे उग्र दशा है। जोखिम की घड़ी होती है। जीवन-शक्ति की परीक्षा का समय होता है। यदि जीवन-शक्ति इस अवस्था पर आकर मजबूत हो गयी तो संचित मल को निष्कासित करने में सफल होकर संकट की इस घड़ी को पार कर जाती है और रोगी को रोग-मुक्त कर देती है। कुशल चिकित्सक इसी अवस्था में जीवन शक्ति को सत्योपचार द्वारा सहायता पहुंचाकर यश का भागी बनता है।

चौथी अवस्था रोग के शमन की शुरूआत है। इसमें रोग के लक्षण एक-एक कर जाने लगते हैं। सूजन, तनाव, सुर्खी आदि कम होने लगती है। ज्वर कम हो जाता है। सांस की दुर्गन्धि घट जाती है। दस्त मामूली हो जाते हैं। वमन बन्द हो जाता है। पसीना स्वाभाविक रूप से आने लगता है तथा शरीर को थोड़ा बल का अनुभव होने लगता है।

पांचवीं और अन्तिम अवस्था रोग के पूरे तौर से शमन की होती है। शरीर मल से सर्वथा मुक्त हो जाता है और जो उपयोगी तत्त्व शरीर के नष्ट हुए रहते हैं, वे धीरे-धीरे बनने लगते हैं, थोड़े ही दिनों में शरीर सामान्य हो जाता है।

**5.3.1.2 जीर्ण रोग**—शरीर स्थित मल में उद्रेक होकर निकलने की उग्र दशा का नाम जिस तरह तीव्र या उग्र रोग है, उसी तरह उसके दबकर भीतर रहने, अनिष्ट दशा उत्पन्न करने और धीरे-धीरे थोड़े कष्ट के साथ बहुत काल तक शरीर में पड़े रहने की दशा का नाम जीर्ण रोग है।

शरीर के तीव्र रोगों के रूप में सफाई के प्रयत्न में बारम्बार बाधा उपस्थित होने के फलस्वरूप ही जीर्ण रोग होते हैं। जुकाम को दवा के सहारे बार-बार दबाने से दमा हो सकता है उसी तरह ज्वर को दबाते रहने से यक्ष्मा का होना असंभव नहीं है। तीव्र रोग को दबा देने से जाहिर तो सब कुछ ठीक-सा प्रतीत होता है, पर शरीर के भीतर से निकलती हुई गंदगी शरीर में ही रुक जाती है और जीर्ण रोगों को जन्म देती है।

जीर्ण रोग से आक्रान्त क्षीण जीवन-शक्ति वाले माता-पिता से उत्पन्न सन्तान में उनके रोग बीज रूप में आ जाते हैं।

तीव्र रोगों में कष्ट अधिक सहन करना पड़ता है लेकिन जीर्ण रोगों में तीव्र लक्षणों के न होते हुए भी जीवन अत्यन्त दुःखमय और नीरस बन जाता है।

जीर्ण रोगों को दूर करने के लिए विचारों की शुद्धता, धैर्य और अपने चिकित्सक में विश्वास की बड़ी जरूरत होती है। प्राकृतिक चिकित्सा में जीर्ण रोग जरा कठिनता से जाते हैं पर जाते जरूर हैं और जड़ मूल से जाते हैं। वर्षों की बिगड़ती हालत ठीक होने में समय तो लगेगा ही। ऐसी हालत में यदि रोगी घबरा गया तो उसका मनोरथ पूरा नहीं हो सकता। जीर्ण रोगों के उपचार में सर्वप्रथम रोगी की जीवन-शक्ति को बढ़ाना चाहिए फिर धीरे-धीरे उनको तीव्र रोगों में परिणत करना चाहिए। जीर्ण रोग की इस अवस्था को उभार कहते हैं। इस दशा में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

काफी सावधानी बरतनी पड़ती है। वरना स्थिति भयानक होकर खतरा उत्पन्न हो सकता है। सावधानी और धैर्य से काम लेने पर हर उभार के बाद अच्छी हालत आती है और धीरे-धीरे रोगी जीर्ण रोग से छुटकारा पा जाता है।

## 5.3.2 मानसिक रोग

मानसिक व्याधियां, शारीरिक व्याधियों से अधिक भयानक एवं अनिष्टकारी होती हैं। आश्चर्य तो यह है कि ये मानसिक व्याधियां इतनी मामूली-मामूली बातों को लेकर उत्पन्न हो जाती हैं जिनका हम थोड़ी-सी भी विवेक-बुद्धि से काम लेकर आसानी से प्रतिकार कर सकते हैं। इन व्याधियों में कुछ के कारण एवं नाम रूप हैं—घृणा, प्रतिहिंसा, लोभ, चिंता, आलस्य, निराशा, अहंकार, ईर्ष्या-द्वेष, भय, अज्ञान, असहिष्णुता, काम-लिप्सा, स्वार्थ-परता, अविश्वास, वहम, उन्माद आदि।

**5.3.2.1 मानसिक रोग के कारण**—यद्यपि मानसिक रोग देखने में शारीरिक रोग से भिन्न प्रतीत होते हैं पर उनके कारणों में भिन्नता नहीं होती। उनकी उत्पत्ति भी एकमात्र शरीर में विजातीय द्रव्य के भार से ही होती है जो वर्षों से एकत्र होता रहता है। लूई कूने के मतानुसार ये रोग तभी होते हैं जब विजातीय द्रव्य शरीर में बहुत बढ़ जाता है और पीठ की ओर से रीढ़ की हड्डियों को आक्रान्त करता हुआ मस्तिष्क की कोमल ज्ञानेन्द्रियों आदि को छाप लेता है। जीवन शक्ति के ह्रास एवं अप्राकृतिक जीवन के परिणाम स्वरूप पाचन के खराब होने से विजातीय द्रव्य अज्ञान रूप से धीरे-धीरे एकत्र होकर मानसिक रोग पैदा कर देते हैं। इन रोगों का होना या न होना विजातीय द्रव्य की वृद्धि और मात्रा पर निर्भर करता है।

संयमी और सात्विक विचार वाले व्यक्तियों को मानसिक रोग कम होते हैं। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को भी ये रोग कम होते देखे गये हैं। क्योंकि स्त्रियां, पुरुषों से अधिक संयमी होती हैं और मादक द्रव्यों, जैसे— शराब, सिगरेट, तम्बाकू आदि का उपयोग कम करती हैं। उनमें जो उन्माद के रोग अधिक देखने में आते हैं उनका कारण बहुत कुछ माता-पिता से प्राप्त विजातीय द्रव्य ही होता है।

इसके अतिरिक्त बचपन से ही जीवन में नीरसता का भाव, उदास वातावरण, अनमेल विवाह, अरमानों का पूरा न होना, आर्थिक संकट, मनोरथ सिद्धि में बाधाएं, शारीरिक अस्वस्थता आदि अनेक बातें हैं जो मानसिक रोग के कारण हो सकते हैं और होते हैं। अधिक परिश्रम से भी मानसिक स्वास्थ्य को धक्का लगता है। शिशुओं में माता-पिता के प्रेम के अभाव में मानसिक अशांति बढ़ती है। इस दशा में वे आसानी से बदमिजाज, क्रोधी, चोर, असत्यवादी आदि हो जाते हैं।

मनोजनित रोगों की उत्पत्ति का एक मनोवैज्ञानिक कारण और भी है। वह यह कि जब मनुष्य अपनी बुरी इच्छाओं पर अंकुश रखकर इन्हें दबाता है तो वे मरती नहीं है अपितु गुप्त रूप से तिरोहित हो जाती हैं, छिप जाती हैं और वहीं कालान्तर में मनुष्य को निर्बल पाकर पुन: मानसिक रोगों के रूप में प्रकट हो जाती हैं।

**5.3.2.2 मानसिक रोगों से हानियां और उनसे शारीरिक रोगों की उत्पत्ति**—अमेरिका के सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डॉ. सेलोन ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि सर्वांगपूर्ण स्वास्थ्य ही मानव जीवन की साधारण और स्वाभाविक दशा है। उनका कहना है कि मृत्यु के सब विचार, रोग के सब चित्र, असंयम की सब बातें सदा के लिए दिल से निकाल देनी चाहिये। क्योंकि ये धारणाऐं हमारी उत्पादक शक्ति को नष्ट करके हमें बीमार बना देती हैं।

मानसिक रोग या मनोविकार शारीरिक स्नायु के मार्ग को अवरूद्ध करके तंतुओं को नष्ट करके जीवन शक्ति की क्रिया में बाधक होकर तथा मल विसर्जन में रूकावटें खड़ी करके शारीरिक रोग को भीषण बना देते हैं। अधैर्य, क्रोध और चिड़चिड़ेपन से ज्वर बढ़ते कोई भी देख सकता है।

जिस प्रकार शुभ मनोभावों से रोग को अच्छा होने में मदद मिलती हैं, उसी प्रकार अशुभ मनोभावों व मनोविकारों से रोग उत्पन्न भी होते हैं। फ्रायड तथा जुंग आदि पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

रक्ताल्पता, हृदय-रोग, हिस्टीरिया, स्नायुदौर्बल्य, वीर्य दोष, यहां तक कि लकवा और क्षय जैसे नर संहारक रोगों के मूल में मनोविकारों का सबसे बड़ा हाथ होता है। अत: यह मिथ्या नहीं है कि मनुष्य के 90 प्रतिशत रोग केवल मन:स्थिति से प्रारंभ होते हैं। शरीर के रोग, व्याधि हमारे मन की ही देन है।

भय एक मानसिक रोग है। इसका आघात बड़ा भयंकर होता है। भय के कारण लोग मरते तक देखे गये हैं। इसका आक्रमण तब होता है जब शरीर विष से भर जाता है और हृदय की गति अति तीव्र हो जाती है। नेत्रों की ज्योति मंद पड़ जाती है और कभी-कभी गायब तक हो जाती है। भूख हवा हो जाती है। दस्त या अन्य शारीरिक व्याधियां आ दबोचती हैं और रोगी थर-थर कांपते हुए निर्जीव-सा हो जाता है। भय के अनेक रूप होते हैं पर सभी जीवन की जड़ें हिला देने में समर्थ होते हैं।

क्रोध, दूसरा भयानक मानसिक रोग है। इसके भी विविध रूप होते हैं। इस रोग से भी रोगी के शरीर में तीव्र विष की उत्पत्ति होती है, जो खून को जला डालता है। क्रोधावस्था में मनुष्य-शरीर की ग्रंथियों से निकलने वाले रसों के रासायनिक तत्त्वों में एकदम परिवर्तन हो जाता है और एड्रिनल ग्रंथि एड्रिनलीन नामक एक रासायनिक द्रव (हार्मोन) रूधिर के अन्दर छोड़ने लगती है जिससे वह विषाक्त हो उठता है। क्रोध से पाचन की क्रिया दूषित हो जाती है और पेट का पाचक-रस विष में बदल जाता है।

चिंता, तीसरा प्रसिद्ध मानसिक रोग है, जिसकी विभीषिका चिता से भी बढ़ी चढ़ाई जाती है। यह स्वास्थ्य और सौन्दर्य की सबसे बड़ी दुश्मन है। भय चिंता की जननी है। चिंता से क्रोध की ही भांति रक्त में रासायनिक परिवर्तन होता है जिससे रक्त अशुद्ध और विषाक्त होने लगता है जिसके परिणामस्वरूप शरीर सूखकर कांटा हो जाता है, त्वचा बदरंग हो जाती है, होंठ फीके पड़ जाते हैं। नाक नीली हो जाती है तथा गाल पिचक जाते हैं। ऐसे रोगियों का पाचन तंत्र बिगड़ जाता है और उन्हें यक्ष्मा शीघ्र पकड़ता है। चिंतित मनुष्य को नींद नहीं आती और जीवन भार स्वरूप लगने लगता है।

प्रसिद्ध विद्वान् आर्नल्ड बन्नट के कथानुसार यह निश्चित है कि हमारी 80 प्रतिशत चिंताएं बिल्कुल निरर्थक होती हैं और हानिकारक तो होती ही हैं। चिंता वह कीड़ा है जो सुख रूपी पेड़ की जड़ को खोखला बना डालता है। यदि इस बिल्कुल निःसार, मूर्खतापूर्ण एवं घातक चिंता से सर्वथा दूर रहना सम्भव हो जाये तो स्वर्ग पृथ्वी पर उतर जाये।

ईर्ष्या, द्वेष वह चौथा मानसिक रोग है जिसके सम्बंध में मनोविश्लेषकों ने ही नहीं आधुनिक औषधि विज्ञान ने भी कई अनुसंधानों से यह साबित कर दिया है कि यह स्वास्थ्य के लिए उतना ही घातक सिद्ध हो सकता है जितना कि तपेदिक या हृदय रोग। इन व्याधियों के प्रहार से केवल मानसिक संतुलन में ही विकृति नहीं आती वरन् लकवा, अंधापन और कैन्सर तक के होने के प्रमाण मिले हैं। ईर्ष्या से भी हमारे रक्त में विष का संचार हो जाता है।

**5.3.2.3 मानसिक रोगों को कैसे रोका जाये?**—मानसिक रोग बड़े हठीले और दु:साध्य होते हैं, पर असाध्य नहीं। हां, यदि आत्मबल कम हुआ, जीवन शक्ति मर-सी गयी है और शरीर में विजातीय द्रव्य का स्थान ऐसा हो कि प्राकृतिक उपचारों द्वारा उसको निकाला जाना सम्भव न हो तो ऐसे रोगों को असाध्य समझना ही होगा। मानसिक रोगों को मिटाने में मानसोपचार से बड़ी सहायता मिलती है। मानसिक रोगों को रोकने में नीचे दिये हुए नियमों से मदद मिल सकती है—

1. मन के अशांत होने पर, अशांति के कारण की तरफ से मन को हटा लेने का प्रयत्न करना चाहिए। उसके विषय में सोचना एकदम बंद कर देना चाहिए।

2. सदा दूसरों के अधिकारों का सम्मान करना चाहिए। क्योंकि हम किसी से अपने अधिकार का सम्मान तभी करा सकते हैं जब उसके अधिकार का सम्मान हम स्वयं करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. हमें दूसरों पर उपकार-पर-उपकार करते जाना चाहिये। परन्तु यदि उन उपकारों का प्रतिफल हमें न मिले तो दु:खी कदापि नहीं होना चाहिए।

4. उत्तेजित होना, उग्रता दिखाना, बहस करना, किसी को डराना-धमकाना, अपनी बात को ही ऊपर रखना तथा अपनी ही इच्छा की पूर्ति की आशा करना आदि मानसिक कमजोरियां हैं, उन्हें भुला देना होगा।

5. संसार के सभी कामों को भगवदेच्छा समझते हुए अपने को निमित्त मात्र समझो। भगवान् में आत्म समर्पण की भावना को अपना रक्षा-कवच समझो।

6. मन चंचल हो जाये तो जोर-जोर से पढ़ना या भगवन्नामों का जप करना आरंभ कर दो या एक गिलास ठंडा पानी पीलो या उस स्थान से हट जाओ।

7. अपने में आत्मनिर्भरता, आत्म सम्मान और आत्मबल सदा भरते और अनुभव करते रहो।

8. मन के विकृत होने पर उससे लड़ना मत आरम्भ कर दो, अपितु उसे अपना दास बनाने का यत्न करो, जो उसका वास्तविक स्वरूप है।

9. इस बात का स्मरण सदैव रखना चाहिए कि जो मानसिक दिक्कतें, अड़चनें तथा बाधाएं उपस्थित होती हैं, वे सबके साथ हो सकती हैं, हमारे लिए ही नहीं होतीं। ऐसे विचार से आत्मसंतोष की उपलब्धि होती है।

## 5.3.3 भावनात्मक रोग

व्यक्ति-व्यक्ति से मिलकर समाज बनता है। समाज एक होता है लेकिन उसमें पाए जाने वाले व्यक्तियों में विभिन्नता पाई जाती है। कुछ लोग निरंतर प्रसन्न रहते हैं और कुछ ऐसे होते है जिनका विषाद उनसे छूटता ही नहीं है। यह अंतर होता है भावों की विभिन्नता के कारण, जिनसे कि स्वभाव का निर्माण होता है। स्वभाव का निर्माण संवेगों के आधार पर होता है, जो व्यक्ति जैसे संवेगों में जियेगा, उसका स्वभाव वैसा ही निर्मित होगा। ये भाव, संवेग कहां होते हैं? इसके लिए हमारे पास दो तत्त्व हैं—शरीर और मन, जो कि बाह्य जगत् के तत्त्व हैं जबकि हमारे भाव अंतर्जगत् के तत्त्व हैं। भाव हमारे मस्तिष्क के एक भाग हाइपोथेलेमस में आते हैं, उसके बाद मन को प्रभावित करते हैं।

हमारा मानसिक जगत् व्यक्त है और भावजगत् अव्यक्त है। सारी घटनाएं वहाँ घटित होती हैं, फिर बाहर आती हैं। हम केवल बाहर की घटना को महत्त्व देते हैं। भीतर की घटना को महत्त्व नहीं देते, इसीलिए हम समस्या के मूल कारण एवं उद्भव तक नहीं पहुंच पाते। गहराई तक जाया जाए तो पता चलता है कि सभी समस्याओं का मूल स्थान है—भावजगत्। जब तक भावजगत् का परिष्कार नहीं होगा, न व्यक्ति की शांति संभव है और न विश्वशांति संभव है। हमें परिष्कार करना होगा भावजगत् का, जहाँ अशांति का जन्म हो रहा है। जहाँ संवेग का जन्म हो रहा है। इस तरह हमें पता चलता है कि संवेग और स्वभाव का बहुत गहरा संबंध है। स्वभाव से यह पता चल जाता है कि अमुक व्यक्ति अमुक प्रकार के संवेग में जी रहा है। अत: भावनात्मक स्वास्थ्य के लिए संवेग की पहचान और भाव की पहचान जरूरी है। जो व्यक्ति अपने स्वभाव को एवं भावनात्मक स्वास्थ्य को ठीक रखना चाहे उसे संवेगों के प्रति बहुत जागरूक रहना होता है। इस तरह हम देखते हैं कि व्यक्ति का भावनात्मक स्वास्थ्य, प्राथमिक स्वास्थ्य है। उसके बिना अन्य स्वास्थ्य भी प्राप्त नहीं होते। अत: व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने भावनात्मक स्वास्थ्य की तरफ जागरूक रहें, जिसके लिए व्यक्ति को अपने संवेगों के प्रति जागरूक रहना होगा। भावनात्मक स्वास्थ्य का एक सूत्र है—अपने संवेगों के प्रति जागरूक रहना तो दूसरा सूत्र है— पाचन क्रिया के प्रति जागरूक रहना। स्वभाव के साथ पाचन क्रिया भी भावनात्मक स्वास्थ्य के लिए सहायक पहलू है। जिस व्यक्ति की पाचन क्रिया ठीक नहीं होती, वह भावनात्मक स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं रख सकता। उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, जिसके फलस्वरूप कई मानसिक एवं शारीरिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। पाचन क्रिया के अलावा अन्त:स्रावी ग्रंथियां भी स्वभाव से संबंधित हैं। अर्थात् अंत:स्रावी ग्रंथियाँ भी भावनात्मक स्वास्थ्य को

JainVishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रभावित करती हैं। अत: अंत:स्रावी ग्रंथियों का संतुलित होना बहुत जरूरी है तथा जिनका संतुलन भावों की पवित्रता पर निर्भर है।

सारांशत: भावनात्मक स्वास्थ्य के लिए भाव एवं संवेग का संतुलन अति आवश्यक है। भावनात्मक स्वास्थ्य नहीं होगा तो व्यक्ति के स्वभाव में, व्यक्तित्व में विकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं। मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए भी भावनात्मक स्वास्थ्य अपेक्षित है।

इस भावनात्मक स्वास्थ्य के असंतुलन को ही भावनात्मक रोग की संज्ञा दी जाती है। भावनात्मक रोग ही मानसिक रोग के कारण बनते हैं। भावनात्मक रोग की तीव्रता जितनी अधिक होगी उतनी ही अधिक तीव्रता मानसिक रोग की भी होगी।

**5.3.3.1 भावनात्मक रोग के कारण एवं प्रभाव**- जैसा कि ऊपर बताया गया है कि संवेग एवं भाव दोनों का संतुलन भावनात्मक स्वास्थ्य कहलाता है अर्थात् मुख्यत: इनका असंतुलन ही भावनात्मक रोग को उत्पन्न करता है और भावों एवं संवेगों का असंतुलन तब होता है जब उनके सामने प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न होती है और व्यक्ति समाधान नहीं ढूंढता है तथा उस परिस्थिति के साथ ही अन्य अनेक समस्याओं को उत्पन्न कर लेता है। धीरे-धीरे व्यक्ति के संवेगों की तीव्रता में इतनी अधिकता आ जाती है कि व्यक्ति के सोचने की सीमा पर नियंत्रण नहीं रहता है और एक स्थिति ऐसी आती है कि व्यक्ति अपना भावनात्मक संतुलन खो देता है और कई प्रकार के भावनात्मक रोगों से ग्रस्त हो जाता है।

## 5.4 निरोगी शरीर के लक्षण

आजकल का मानव प्रकृति से इतनी दूर जा पड़ा है और उसका परिणाम इतना सर्व व्यापी हुआ है कि आज सारे संसार में एक भी पूर्ण आदर्श निरोगी व्यक्ति का मिलना यदि असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य हो गया है। आदर्श निरोगी व्यक्ति की तो बात दूर डा. जे.एच. टिल्डन ने स्वस्थ मनुष्यों के आंकड़ों के बल पर बताया है कि इतनी बड़ी लम्बी और चौड़ी दुनिया में हजार में एक भी स्वस्थ व्यक्ति नहीं है। अत: यह निर्णय करना कि एक सच्चे अर्थों में आदर्श निरोगी मनुष्य कैसा होना चाहिए अत्यन्त कठिन है। इस तथ्य को ही दृष्टि के सामने रखकर डॉ. फ्रायड ने एक जगह लिखा है कि मनुष्य शरीर में साधारण बीमारी का होना ही उसके निरोगी होने का प्रमाण है। जबकि प्राकृतिक चिकित्सकों के मन से वही व्यक्ति निरोगी कहलायेगा जिसका शरीर विकार अथवा विजातीय द्रव्य से सर्वथा रहित है और जिसकी समस्त इन्द्रियां और अंग-प्रत्यंग सुचारू रूप से अपना-अपना कार्य सम्पादन करते हैं साथ ही साथ जो शरीर, मन और आत्मा तीनों से एक साथ ही स्वस्थ है। डा. लूईकूने के अनुसार पूर्ण निरोगी मनुष्य वह है जिसके सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंग साम्यावस्था में हों और बिना किसी कष्ट, भार या प्रयास के अपना-अपना कार्य करते हों तथा अवयवों का रंग-रूप अपने कार्य-संचालन के योग्य और सुन्दर हों। एक स्वस्थ मनुष्य के नेत्रों में निर्मलता और शान्ति विराजमान रहती है और उसकी मुखाकृति की रेखाओं में तोड़-मरोड़ या खींचातानी नहीं होती। उत्तम पाचन स्वास्थ्य का प्रधान लक्षण है। मल का त्याग इस प्रकार होना चाहिए कि वह गुदा में न लगे और वह अंग बिलकुल साफ रहे। निरोगी मनुष्य सदैव प्रसन्न रहता है और उसे भय नहीं रहता।

निरोगी शरीर के कुछ लक्षण यहां दिये जा रहे हैं जिनसे किसी व्यक्ति के उत्तम-मध्यम स्वास्थ्य की जांच आसानी से की जा सकती है—

(1) दिल गवाही दे कि शरीर में कोई रोग नहीं है और वह शत प्रतिशत निरोग हैं।

(2) कष्ट या व्याधि के सम्बन्ध में कोई जानकारी या अनुभव न हो।

(3) जिसे समझने की आवश्यकता न हो कि उसके पास शरीर नाम की भी कोई चीज है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(4) जो काम के समय काम में और विश्राम के समय विश्राम में रस और आनन्द ले सकता है।

(5) जो सहनशील हो, सख्त काम से न घबराता हो, जो स्वतंत्र विचार वाला, निर्भीक, अध्यवसायी, दृढ़प्रतिज्ञ, आत्म-विश्वासी, हंसमुख, दयावान, विनयी, दीर्घजीवी हो। एक शब्द में जो दैवी सम्पदाओं जैसे सत्य, अहिंसा तथा प्रेम आदि का भण्डार हो।

(6) त्वचा मुलायम, लचीली, चिकनी, स्वच्छ और गर्म हो, तर न हो तथा खुजलाने से उसमें चिह्न और लकीरें न बनें। रोमकूपों के स्थान सघन, सुन्दर और मुलायम बालों से भरे हों। पसीने में किसी प्रकार की बदबू न हो। जाड़े, गर्मी तथा बरसात आदि ऋतुओं को बरदास्त करने की सहज क्षमता हो।

(7) मुख मंडल पर झुर्रियां, शुष्कता और होठों पर पपड़ियां न पड़ें।

(8) आंखें चमकीली, स्वच्छ, बड़ी और नाक की और कोनों में कुछ ललाई हो। आंखें पीली, डबडबाई और लाल न हों।

(9) जबान चिकनी, गुलाबी, समतल, साफ और गीली हो।

(10) दांत पूरे मजबूत और मोती के समान साफ और चमकदार हों।

(11) प्रत्येक अंग प्रकृतित: सुडौल और अपना कार्य सुचारू रूप से करने वाला हो। नाखून गुलाबी और पैर के तलवे त्वचा के रंग से मिलते हों।

(12) कमर पतली और छाती चौड़ी और पेट से 5-7 इंच ऊंची हो। सिर शरीर की ऊंचाई का आठवां भाग हो तथा मुलायम और घने बालों से पूर्ण हो।

(13) ग्रीवा गोल, सीधी, न बहुत लम्बी और न धड़ में घुसी हुई हो।

(14) श्वास की गति साधारण और बिना किसी स्पष्ट शब्द के निर्गन्ध हो। सोते में मुंह खुला न रहता हो।

(15) निद्रा अटूट, गहरी, लम्बी और बिना किसी स्वप्न के हो।

(16) शरीर की नसें उभरी न हों।

(17) मुख का स्वाद अच्छा रहे। बार-बार थूकना या गला साफ करना न पड़े।

(18) सवेरे सोकर उठने पर शरीर में पर्याप्त स्फूर्ति, उत्साह और ताजगी हो।

(19) भोजन के बाद पेट में गुड़गुड़ाहट न हो, न पेट भारी होकर आलस्य का अनुभव हो। पाचन ठीक हो।

(20) मल त्याग 24 घंटों में दो बार साफ हो जो गुदा में न लगे। रंग गेहुंआ हो। न बहुत कड़ा और न दस्त की तरह हो। निर्गन्ध भी हो।

(21) मूत्र त्याग में कष्ट, बेचैनी न हो वह हल्की गर्मी लिए हुए, हल्के-पीले रंग का निर्गन्ध हो। धार बांधकर बाहर निकले।

(22) निश्चित समय पर सच्ची और खुलकर भूख लगे जो प्राकृतिक आहार से शान्त हो जाये और सन्तोष प्राप्त हो।

(23) प्यास न अधिक लगे न कम लगे। शुद्धजल से प्यास बुझ जाए और शान्ति प्राप्त हो।

(24) प्राकृतिक आहार जैसे फल, दूध, हरी साग-सब्जी, सप्राण भोजन आदि में अभिरुचि हो।

(25) आहार-विहार में उत्तेजना के वशीभूत न हो।

(26) सात्विक विचार तथा सात्विक भोजन करने वाला हो।

(27) चित्त संयमित हो। मन चंचल न हो अर्थात् तन और मन दोनों से निर्मल हो।

(28) आशावादी हो, विपत्ति पड़ने पर घबराने वाल न हो।

(29) प्रकृति के इशारों को समझता हो और तदनुसार आचरण करता हो।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

**बोध प्रश्न 1:**

1. जीर्ण रोग किसे कहते हैं?
2. भावनात्मक रोग क्या है?
3. निरोगी शरीर के लक्षण लिखें।

## 5.5 शारीरिक दौर्बल्य (Physical Weakness)

विविध प्रकार की शारीरिक और मानसिक क्रियाओं को संचालित करने के लिए ऊर्जा की आवश्यकता होती है। ऊर्जा का स्रोत होता है भोजन और भोजन हम बाहर से ग्रहण करते हैं। उपयुक्त पाचन एवं अवशोषण के पश्चात रक्त प्रवाह के साथ यथावश्यक भोजन की मात्रा शरीर की सभी कोशिकाओं में पहुंचाई जाती है। इनके अन्दर ऑक्सीजन (जो श्वसन के द्वारा प्राप्त होती है) की उपस्थिति में भोजन का आक्सीकरण होता है तथा ऊर्जा मुक्त होती है। इसी ऊर्जा को कोशिकाएं अपने अंग से सम्बन्धित कार्यों के लिए प्रयोग में लाती हैं। इस ऊर्जा का उपयोग करके विभिन्न प्रकार की यान्त्रिक क्रियाएं संपादित की जाती हैं। इसके अतिरिक्त चयापचय की जटिल क्रिया के फलस्वरूप शरीर के लिए आवश्यक जैव रसायनों का निर्माण एवं संश्लेषण होता है जो पुनश्च शरीर की यांत्रिक एवं जैव रासायनिक गतिविधियों में सहयोग करते हैं। खाद्य पदार्थों एवं पोषक तत्त्वों की अनुपलब्धता, शारीरिक अंगों में किसी विकार या कमी के कारण और किसी प्रकार के मानसिक अवसाद के चलते शरीर में उसके कार्यों के लिए आवश्यक ऊर्जा का उत्पाद न नहीं हो पाता तब धीरे-धीरे शरीर को स्वस्थ एवं सक्षम बनाये रखने से लिए आवश्यक कार्य सही समय पर, सही अनुपात में, सही दर से नहीं हो पाते और व्यक्ति को कमजोरी महसूस होती है। इसे ही शारीरिक दौर्बल्य का नाम दिया जाता है।

इससे बचाव के लिए आवश्यक है कि जीवन शैली को संतुलित और नियमित बनाया जाए, आवश्यक पोषक तत्त्वों से युक्त यौगिक एवं संतुलित आहार का सेवन किया जाए तथा शरीर के सभी अंगों एवं ग्रन्थियों को सक्रिय बनाये रखने के लिए आसन, प्राणायाम एवं ध्यान के नियमित अभ्यास किये जाएं।

## 5.6 अजीर्ण

अजीर्ण को बदहजमी, अपच, मन्दाग्नि तथा अग्निमान्द्य भी कहते हैं। अंग्रेजी में इस रोग का नाम क्लेचमचेप है, इस रोग के कारण वे ही हैं जो कब्ज के हैं।

भोजन ठीक से न पचना, खट्टी डकारें आना, पेट फूलना, उसमें मीठा-मीठा दर्द होना, गले व कलेजे में जलन होना, मुंह में भीतर से पानी आना, जी मचलाना, दिल की धड़कन, घबराहट, दिमागी परेशानी, पाखाना न होना या पतला पाखाना होना तथा भूख न लगना आदि अजीर्ण के लक्षण हैं।

तीन दिनों का उपवास कागजी नींबू के रस मिले जल पर रहकर करना चाहिए या फलों के रस पर रहना चाहिए। गाजर, संतरा, टमाटर आदि के रस ठीक रहेंगे। उसके बाद चार-पांच दिनों तक अल्पाहार करना चाहिए। सुबह को मीठा सेव या दो पके टमाटर, दोपहर को कोई उबली हुई हरी तरकारी और थोड़ा मट्ठा, तीसरे पहर गाजर, टमाटर या अनानास का रस तथा रात में थोड़ी सो उबली हुई तरकारी या उसका केवल रस लेना चाहिए। इन दिनों गुनगुने पानी का एनिमा भी एक समय या दोनों समय लेना जरूरी है। एक सप्ताह तक कुंजल क्रिया भी करें तथा उसके बाद सप्ताह में दो-तीन बार, एक या दो माह तक करें।

उपवास और अल्पाहार के बाद भूख और पाचनशक्ति के अनुसार सादा और सात्विक आहार आरम्भ करना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हल्का व्यायाम, शुष्क घर्षण—स्नान, खुली हवा में वास तथा मानसिक शांति इस रोग को दूर भगाने में बड़ी सहायता करते हैं। मामूली अजीर्ण तो इतने ही उपचार से ठीक हो जाता है परन्तु प्रबल और पुराने अजीर्ण में नीचे के उपचार आवश्यकतानुसार और जोड़ देने चाहिए।

1. सप्ताह में एक दिन 'एप्सम साल्ट बाथ' लें या प्रतिदिन दो बार पेट को गरम पानी में तौलिया भिगो-भिगोकर 15 मिनट तक सेंके। बीच-बीच में 3-4 मिनट पर ठंडे पानी से भीगी तौलिया से भी एक मिनट तक सेकें। या भोजन के बाद एक-डेढ़ घंटा तक पाक स्थली के ऊपर गरम जल की बोतल या थैली रखकर फेरें या पेडू, पेट और पीछे की तरफ मेरुदण्ड के निचले हिस्से पर गरम-ठंडी सेक दें।

2. रात भर के लिए पेडू पर गीली मिट्टी रखें या कमर पर भीगी लपेट लगावें।

3. भोजन के एक घंटा पहले एक गिलास ठंडे जल का सेवन करें।

### 5.6.1 यौगिक चिकित्सा

यौगिक चिकित्सा के अन्तर्गत निम्न प्रयोग वांछित हैं—

1. अग्निसार क्रिया, नौलि एवं वस्ति।
2. आसन— सूर्यनमस्कार, त्रिकोणासन, हलासन, ताड़ासन, कटिचक्रासन, मत्स्यासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन।
3. भस्त्रिका प्राणायाम।
4. उड्डियान एवं महाबंध।
5. कायोत्सर्ग एवं दीर्घश्वास प्रेक्षा।
6. पाचन-शुद्धि की अनुप्रेक्षा।

## 5.7 अम्ल रोग

असंयमी जीवन और गलत खान-पान के फलस्वरूप शरीर में प्रतिदिन विजातीय द्रव्य एकत्र होते रहते है जो कालान्तर में कुपित होकर शरीर के समस्त रक्त को विषाक्त कर देते हैं अथवा अम्ल से परिपूरित कर देता है जिससे शरीर रोगी हो जाता है। इस अम्लत्व का आक्रमण जब पाकस्थली में विशेष रूप से होता है तो उसे अम्ल रोग (acidity) कहते हैं जिससे गले का जलना, पेट का पानी मुंह में आना, वमन, पेट का छाला, खाना खाने के बाद पेट का भार युक्त होना, अथवा कभी-कभी उसमें पीड़ा का होना तथा पाकस्थली से पाचक-रस के अत्याधिक निकलने के कारण भूख का अधिक लगना जिससे अन्त में कष्ट होना आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। जब अम्लत्व या विजातीय द्रव्य का जोर शरीर की त्वचा पर होता है तो त्वचा पर छोटे-छोटे ऐसे फोड़े निकलते हैं जो सेप्टिक हो जाते हैं और अच्छा होने का नाम ही नहीं लेते। उनमें पीव पड़ना बन्द हो जाता है और उनसे रक्त मिला पानी बराबर निकलता है तथा जब रोग का वेग स्नायु-संस्थान की तरफ होता है तो गठिया आदि वात-रोग तकलीफ देने लगते हैं।

उपचार के लिए गुनगुने पानी का एनिमा, कटि स्नान तथा रात भर के लिए कमर की भीगी पट्टी का कुछ दिनों तक प्रयोग करके सर्वप्रथम पेट को साफ कर लेना चाहिए। फिर महीने में दो बार 10-15 मिनट का भाप स्नान लेना चाहिए। सप्ताह में दो बार एक घंटा के लिए चादर की लपेट लगानी चाहिए। दिन मे दो बार पेडूपर गीली मिट्टी की पट्टी बांधनी चाहिए। तथा नीबू का रस व शहद मिला जल पहले कुछ दिनों तक गरम फिर ठंडा प्रचुर मात्रा में पीना चाहिए। भोजन क्षार धर्मी लेना चाहिए। ताजे फल और कच्ची पक्की साग, सब्जियां, मट्ठा, दही, मक्खन तथा धरोष्ण दूध आदि क्षारधर्मी पदार्थ कहलाते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 5.7.1 यौगिक चिकित्सा

यौगिक चिकित्सा के अंतर्गत निम्नलिखित प्रयोग अपेक्षित हैं—

1. वस्त्र धौति।
2. आसन—कायोत्सर्ग, उत्तानपादासन, वज्रासन।
3. शीतली, भ्रामरी एवं चन्द्रभेदी प्राणायाम।
4. सम्पूर्ण शरीर पर श्वेत रंग के ध्यान के साथ शरीरप्रेक्षा।
5. आमाशय, पक्वाशय तथा लीवर की स्वस्थता के सुझावों के साथ संतुलित पाचन की अनुप्रेक्षा।

## 5.8 नजला-जुकाम

नाक के रास्ते पतला कफ निकलने को नजला-जुकाम कहते हैं। इसमें आंखें लाल, गला खराब तथा सिर भारी रहता हैं। हम जो कुछ भी खाते हैं, उसकी पाचन क्रिया पूरी होने के बाद बने रक्त का ऑक्सीजनीकरण होता है। नाक के द्वारा पूरा ऑक्सीजन न मिलने से यह क्रिया पूरी नहीं होती और रक्त में आवश्यक गर्मी न आने से यह रोग होता है, जिससे खाया-पिया नजला-जुकाम के रूप नें बाहर निकलता रहता है। इस बीमारी में नाक से सूंघने की शक्ति तथा जुबान के स्वाद का भी पता नहीं चलता। तीन-चार दिनों के बाद बलगम गाढ़ा हो जाता है और फिर हल्की खांसी या छीकों के साथ कफ निकलता है।

कब्ज रहना भी इस रोग का मुख्य कारण है। कफ तथा वायुकारक वस्तुओं का प्रयोग, शरीर से पसीना न निकलना, शरीर को आवश्यकतानुसार गर्म न रखना अदि अनेक कारण इस रोग के होते हैं। यदि नजले जुकाम की स्थिति बनी रहे, तो आंखें कमजोर हो जाती हैं, कानों से कम सुनाई पड़ने लगता है, बाल सफेद हो जाते हैं तथा झड़ने लगते हैं।

नजला-जुकाम शारीरिक जीवनी-शक्ति का उस प्रयत्न का परिणाम है जो वह आहार-विहार की बुरी आदतों, व्यायाम और शुद्ध वायु के अभाव तथा रहन-सहन की अन्य अस्वास्थ्यकर आदतों के कारण शरीर के तन्तुओं में बराबर एकत्र होते रहने वाले मल को बाहर निकाल फेंकने के लिए करती है।

सावधानी के दृष्टिकोण से नजला-जुकाम आरम्भ होते ही यदि रोगी सबल है तो उसे हल्की धूप में थोड़ी दूर टहलकर शरीर में पसीना लेना चाहिए। फिर तुरन्त एक मिनट तक स्पंज-स्नान लेकर पुनः बदन को गरम कर लेना चाहिए। परन्तु जो रोगी दुर्बल है उसे बजाय टहलने के आराम से बिस्तर पर लेट जाना चाहिए और आधे-आधे घंटो पर एक-एक गिलास गरम पानी नींबू का रस डालकर या सादा ही पीते रहना चाहिए। ऐसा करने से नाक खुलकर बहने लगेगी और सर्दी का जोर बहुत कुछ कम हो जाएगा।

### 5.8.1 प्राकृतिक चिकित्सा

जलनेति-सूत्रनेति की आदत डालकर नजला-जुकाम से सदा के लिए बचा जा सकता है। इसके बाद भस्त्रिका प्राणायाम करना और सफेदे के पत्तों का स्थानीय वाष्प दिन में दो बार लेने से लाभ मिलता है।

उपवास या रसाहार से पेट साफ न हो तो पेडू पर 20-30 मिनट मिट्टी की पट्टी रखकर शाम को गुनगुने पानी का एनिमा लेकर आंतों की सफाई कर लेनी चाहिए। दिन में एक बार या एक दिन छोड़कर गर्म पांव स्नान (Foot Bath) कर लेने से छाती साफ हो जाती है व जुकाम ठीक हो जाता है।

छाती तथा पीठ पर धूप में मालिश तथ दोनों जगह थपकी देने से भी छाती खुलती है। धूप में मालिश के बाद स्नान कर लें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 5.8.2 आहार

नजला-जुकाम में उपवास बड़ा गुण करता है। इसलिए एक या दो दिन पूर्ण उपवास, केवल चार बार गर्म पानी, नीबू का रस तथा दो-तीन चम्मच मधु मिलाकर लेना चाहिए। इसी से जुकाम ठीक हो जाएगा या एक सप्ताह सिर्फ सन्तरा, रसदार फल व सब्जी का रस, सब्जी का सूप पीने से ही लाभ हो जाएगा।

दिन में दो बार अदरक, इलायची, कालीमिर्च की चाय या प्राकृतिक चाय पीएं। जूस तथा सूप एवं इस चाय की खुराक को दिन में 6 बार लें। इससे पूरे शरीर में परिवर्तन आ जाएगा। इसके बाद एक समय सादा भोजन, दूसरे समय फल तथा सब्जियों का सूप और सुबह-शाम अदरक की चाय लें। ऐसा एक माह तक करें। इस आहार-क्रम को एक-दो वर्ष तक अपनाने से हर प्रकार के रोगों से बचें रहेंगें यदि खांसी भी हो तो अदरक के रस में 2-3 चम्मच मधु मिलाकर दिन में दो बार लें।

### 5.8.3 यौगिक चिकित्सा

1. शुद्धि क्रियाएं— कुंजल, जल एवं सूत्र नेति।
2. मस्तक एवं सीने की यौगिक क्रियाओं का अभ्यास।
3. आसन— उत्तानपादासन, सिंहासन, भुजंगासन, मत्स्यासन।
4. नाड़ीशोधन एवं सूर्यभेदी प्राणायाम।
5. मुख पर पीले रंग का ध्यान।
6. जुकाम ठीक होने के संकल्प की अनुप्रेक्षा।

---

**बोध प्रश्न 2:**

---

*1. अजीर्ण रोग के कारण बताएं।*

*2. अम्ल रोग की यौगिक चिकित्सा लिखें।*

## 5.9 उच्च रक्तचाप (High Blood Pressure)

रक्तचाप क्या है?—हमें जीवित रखने के लिए रक्त हमारे शरीर के प्रत्येक भाग में धमनियों द्वारा निरन्तर पहुंचकर उसे पोषण देता रहता है। यह अत्यन्त आवश्यक कार्य हमारे हृदय द्वारा अनवरत सम्पन्न होता है। वह पम्प की तरह खुलता-दबता रहता है और रक्त को रक्तवाहिनी धमनियों और नलिकाओं में आगे बढ़ाता रहता है। हृदय द्वारा स्वयं को दबाकर रक्त को धमनियों में आगे बढ़ाने के कारण धमनियों की दीवार पर जो दबाव पड़ता है उसे ही रक्त दबाव या 'रक्तचाप' या ब्लड प्रेशर (Blood Pressure) कहते हैं। यह एक सर्वथा स्वाभाविक शारीरिक क्रिया है जिसके बिना हम जीवित नही रह सकते। यह रक्तचाप निम्नलिखित परिस्थितियों में किसी भी व्यक्ति का स्वाभाविक रूप से बढ़ सकता है जिसे कोई रोक नहीं सकता—

1. तबीयत में जरा-सा भी जोश और उमंग आने पर।
2. किसी प्रकार की जरा-सी भी घबराहट या भय होने पर।
3. किसी प्रकार की अत्यधिक खुशी में भी आदमी का रक्तचाप बढ़ जाता है।
4. दिलचस्प दृश्य देखने से, तेज खुशबू या बदबू से, सुरीली या सख्त आवाज सुनने से।
5. मानसिक तथा भावनात्मक आवेगों के कारण।
6. स्त्री-प्रसंग के समय।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

परन्तु जो लोग कहते हैं 'हमें ब्लड प्रेशर है' उनका असली मतलब होता है कि उनका ब्लड प्रेशर या रक्तचाप मामूली से अधिक है और स्थाई है या उसके दौरे आते हैं और जो वस्तुत: एक भयानक रोग का रूप धारण कर चुका होता है। यह अवस्था शत-प्रतिशत आना अस्वाभाविक होती है जिसके परिणाम किसी भी समय भयंकर हो सकते हैं। जिनको बढ़े हुए रक्तचाप की बीमारी होती है उनके शरीर में हृदय को कमजोर बना देने वाली यह क्रिया बराबर होती रहती है और यह बीमारी अकस्मात नही होती अपितु बहुत धीरे-धीरे भयंकर रूप ग्रहण करती है।

जब तक शरीर की धमनियों और रक्त-नलिकाओं की दशा स्वाभाविक रहती है, अर्थात् जब तक वे लचीली रहती हैं एवं उनके छिद्र पूरे खुले रहते हैं तब तक रक्त को आगे बढ़ाने के लिए हृदय को आवश्यकता से अधिक दबाव डालने की आवश्यकता नहीं पड़ती और रक्त अपनी स्वाभाविक चाल से हृदय से निकलकर धमनियों और रक्त-नलिकाओं द्वारा शरीर के प्रत्येक भाग में पहुंचता रहता है और उसे पोषण देता रहता है। पर जब धमनियों और रक्त-नलिकाओं के छिद्र किन्हीं कारणों से संकरे पड़ जाते हैं तो रक्त के समुचित संचालन के लिए हृदय को अस्वाभाविक रूप से अधिक दबाव डालकर उन पतले छिद्र वाली एवं तंग रक्तवाहिनीयों नलिकाओं में रक्त को ठेलना पड़ता है। इसके लिए हृदय को अत्यन्त कठिन श्रम करना पड़ता है जिससे वह कमजोर हो जाता है।

उच्च रक्तचाप रोग अथवा दूसरे शब्दों में रक्त नलिकाओं का अपना लचीलापन खोने और उनके छिद्रों के तंग होने का कारण मात्र हमारा कृत्रिम और अप्राकृतिक जीवन एवं अनियमित आहार-विहार है। खान-पान में असंयम करने वालों के रक्ताधार विकृत और अस्वस्थ हो जाते हैं क्योंकि विकार और विष की अधिक मात्रा जिसे रक्त अनावश्यक भार के रूप में शरीर के सब अंगों से निरन्तर वहन करता है, धीरे-धीरे रक्तवाहिनीयों, धमनीयों और रक्त-नलिकाओं को कड़ा कर देती है, साथ ही उनके छिद्रों में चिपक कर रक्त-संचारण के मार्ग को संकुचित एवं तंग कर देती है। शरीर में मल जितनी अधिक मात्रा में एकत्र होगा उतनी ही अधिक मात्रा में वह नलिकाओं की दीवारों पर चिपकेगा, फलत: उतना ही अधिक उनका संकुचन होकर रक्त मार्ग तंग होगा तथा उसी अनुपात से यह रोग तेज और मंद होगा। उच्च रक्तचाप के कतिपय कारण इस प्रकार हो सकते हैं—

1. श्वेतसार (मैदा आदि) से बनी हुई चीजें, चीनी, मसाले, तेल, खटाई, तली-भूनी चीजें, प्रोटीन, रबड़ी, मलाई, दाल, काफी, चाय तथा सिगरेट आदि का अधिक मात्रा में सेवन करना।
2. बार-बार या आवश्यकता से बहुत अधिक खाना।
3. मादक द्रव्यों धूम्रपान आदि का अधिक सेवन।
4. अपर्याप्त व्यायाम।
5. असंयम एवं तनावपूर्ण जीवनशैली।
6. चिन्ता, क्रोध, भय आदि मानसिक विकारों का बना रहना।
7. मूत्राशय के रोग, उपदंश, पुराना आंव, कब्ज तथा मस्तिष्क की शून्यता।

रक्तचाप कितना है?—रक्तचाप अधिक है या कम या कि साधारण, यह जानने के लिए स्फाइगमो मैनोमीटर (Sphygmomanometer) यन्त्र का सहारा लेना ठीक रहता है। जब इस यंत्र का आविष्कार नहीं हुआ था तब डॉक्टर कलाई के ऊपर की नाड़ी में रक्त के चाल की जांच करके उसके दबाव का पता लगाया करते थे जो बहुत भ्रमात्मक होता था। एक स्वस्थ वयस्क व्यक्ति का रक्तचाप साधारणत: सिस्टोलिक 120 तथा डायस्टोलिक 80 मिलीमीटर पारा होता है। परीक्षण करके इस परिणाम पर पहुंचा गया है कि रक्तचाप का साधारण स्वरूप 120 से 130 मिलीमीटर पारा तक मानना ठीक है। 130 मिलीमीटर पारा से ऊपर वाले रक्त को अस्वाभाविक और बढ़ा हुआ रक्तचाप माना जाता है। 110 मिलीमीटर तक पहुंचा रक्तचाप असाधारण रूप से घटा हुआ रक्तचाप कहलाता है।

शरीर के सारे हिस्सों में रक्तचाप का रूप एक सा नहीं होता। हृदय से अंग विशेष की दूरी के अनुसार उसमें भिन्नता हुआ करती है। इसलिए यन्त्र द्वारा सही रक्तचाप जानने के लिए बायीं भुजा की धमनी को, जो ऊपरी हिस्से में सामने की ओर रहती है, चुना गया है जहाँ रक्त का दबाव शरीर के और स्थानों से अधिक रहता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

क्योंकि यह स्थान हृदय के बहुत निकट होता है।यन्त्र द्वारा बढ़े या घटे रक्तचाप को जानने के अतिरिक्त रोगी में कितने ही अन्य प्रकार के और लक्षण प्रकट होते हैं जिनसे इस रोग का पता आसानी से लग जाता है। चक्कर आना, सिरदर्द, किसी काम में दिल न लगना, नींद न आना, श्वास कष्ट, हाजमा बिगड़ जाना, चिड़चिड़ापन, शिथिलता, कभी-कभी नाक से खून गिरना, सीने में दर्द तथा जरा-सी मेहनत में हांपने लगना आदि लक्षण यदि किसी व्यक्ति में हों तो उसे निश्चय ही बढ़े हुए रक्तचाप का शिकार समझना चाहिए।

जिन कारणों से रक्तचाप बढ़ने का रोग होता है उन कारणों से बचना इस रोग की प्रमुख चिकित्सा है। साथ ही स्वास्थ्य-रक्षा के साधारण नियमों के नित्य-प्रतिपालन करने की आदत डालनी चाहिए। भोजन के समय पानी न पीना, उसके दो घंटे बाद खूब पानी पीना, भोजन चबा-चबाकर करना, भोजन के बाद पेशाब करना तथा कम से कम 50 कदम टहलना तत्पश्चात् थोड़ा आराम करना, सुबह-शाम शक्ति अनुसार हवाखोरी के लिए टहलना, उषापान करना, नींबू का रस मिला जल दिन में प्रचुर मात्रा में पीना, शाम का खाना सूर्यास्त के पहले खा लेना, भूख न होने पर न खाना, सूर्योदय के पहले ही शय्या त्याग देना, दिन में न सोना, सोते समय मुंह को न ढकना, शान्त और प्रसन्नचित्त रहना, अधिक न खाना, कब्ज न होने देना, सप्ताह में एक-दो दिन जल पर रहकर उपवास करना तथा गहरी नींद लेना आदि स्वास्थ्य-रक्षा के साधारण नियम हैं।

### 5.9.1 यौगिक चिकित्सा

यौगिक चिकित्सा के रूप में निम्नांकित अभ्यास भी किया जाना चाहिए—

1. शुद्धि क्रिया- नेति।
2. गर्दन एवं वक्षभाग की यौगिक क्रियाऐं।
3. आसन, पवनमुक्तासन, वज्रासन एवं शशांकासन।
4. प्राणायाम— नाड़ीशोधन एवं उज्जाई प्राणायाम।
5. कायोत्सर्ग— दिन में दो बार (30-30 मिनट)।
6. प्रेक्षाध्यान— दीर्घश्वास प्रेक्षा एवं अभय की अनुप्रेक्षा।
7. तेल, घी, मांस, मिर्च-मसालों आदि के वर्जन के साथ हल्का सुपाच्य भोजन (न्यूनतम नमक के साथ) निश्चित समय पर लिया जाए।

## 5.10 प्रश्नावली

**I निबंधात्मक प्रश्न**

1. रोग के प्रमुख कारणों एवं प्रकारों पर प्रकाश डालिए।
2. उच्च रक्तचाप का वर्णन कीजिए।

**II लघुत्तरात्मक प्रश्न**

1. नजला-जुकाम का उपचार बताइये।
2. शारीरिक दौर्बल्य से किस प्रकार बचा जा सकता है?

**III वस्तुनिष्ठ प्रश्न—एक वाक्य में उत्तर लिखें:—**

1. स्वस्थ एवं वयस्क व्यक्ति का सामान्य रक्तचाप कितना होना चाहिए?
2. स्वास्थ्य की परिवर्तित अवस्था को रोग कहते हैं-यह किसने कहा है?

## 5.11 संदर्भ पुस्तकें


1. प्राकृतिक आयुर्विज्ञान—डॉ. राकेश जिन्दल 2 रोगों की सही चिकित्सा—नागेन्द्र नीरज एवं मंजु नीरज
3. आरोग्य प्रकाश—रामनारायण शर्मा 4. Preksha Yoga for common Ailments—J.P.N. Mishra


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

# इकाई : 6 एवं 7 संयुक्त – टान्सिलाइटिस, ज्वर, कमरदर्द, पाचन दौर्बल्य, नेत्ररोग, अनिद्रा, स्मृति दौर्बल्य, नाड़ी तंत्र दौर्बल्य

**संरचना**


6.0 उद्देश्य

6.1 टान्सिलाइटिस

6.1.1 टान्सिलाइटिस के लक्षण

6.1.2 उपचार और रोकथाम

6.2 ज्वर

6.2.1 ज्वर के लक्षण

6.2.2 ज्वर के भेद

6.2.3 ज्वर की चिकित्सा

6.3 कमरदर्द

6.3.1 कमरदर्द का उपचार

6.4 पाचन दौर्बल्य (कब्ज)

6.4.1 कब्ज के प्रमुख कारण

6.4.2 कब्ज अनेक रोगों का जनक

6.4.3 कब्ज का उपचार

7.0 नेत्र रोग

7.0.1 नेत्र रोगों के प्रकार

7.0.1.1 जरादूरदृष्टि

7.0.1.2 दूरदृष्टि दोष

7.0.1.3 निकटदृष्टि दोष

7.0.1.4 मोतियाबिन्दु

7.0.1.5 ग्लुकोमा

7.0.1.6 रतौंधी

7.0.2 नेत्र रोगों के प्रमुख कारण

7.0.3 नेत्र रोगों का उपचार

7.1 अनिद्रा

7.1.1 नींद क्यों नहीं आती?

7.1.2 नींद की अवस्थाएं

7.1.2.1 नान-रेम निद्रा

7.1.2.2 रेम निद्रा


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

7.1.3 अनिद्रा के कारण एवं लक्षण
7.1.4 अनिद्रा के परिणाम
7.1.5 अनिद्रा का उपचार
7.2 नाड़ी तंत्र (स्नायु तंत्र) दौर्बल्य
7.2.1 स्नायुविक दुर्बलता के लक्षण
7.2.2 स्नायुविक दुर्बलता के कारण
7.2.3 उपचार एवं चिकित्सा
7.3 स्मृति दौर्बल्य
7.3.1 स्मृति दौर्बल्य की चिकित्सा
7.4 अभ्यासार्थ प्रश्न
7.5 संदर्भ ग्रंथ

## 6.0 उद्देश्य

-महत्त्वपूर्ण सामान्य रोगों के कारण, लक्षण एवं उनसे होने वाली हानियों का ज्ञान प्राप्त करना सकेंगे।

-इन रोगों के उपचार की यौगिक एवं प्राकृतिक चिकित्सा विधि की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

## 6.1 टान्सिलाइटिस (Tonsilitis)

मुखगुहा और ग्रसनी (Pharynx) की श्लेष्मा झिल्ली में अन्तर्निहित (embedded) लसीका गांठों के एकत्र होने से ही टान्सिल गांठें बनती हैं। टान्सिल्स मुखगुहा और ग्रसनी के संधिस्थल पर एक घेरे के रूप में स्थित होती हैं। ग्रसनी के नासिकागुहा संधि (Nasopharynx) के स्थान पर पीछे की ओर धंसी हुई एक टान्सिल पाई जाती है जिसे फेरिन्जियल टान्सिल (Pharyngeal or Adenoid) कहते हैं। ठीक संधि स्थल पर दो अन्य टान्सिल भी पाये जाते हैं, जिन्हें क्रमश: पैलेटाइन टान्सिल और लिंगुअल टान्सिल कहा जाता है। इसमें पैलेटाइन ऊपर की ओर छत से लटकती हुई तथा लिंगुअल जीभ के पिछले आधार से लगी होती है।

एक समय ऐसा माना जाता था कि टान्सिल का कोई विशेष योगदान नहीं होता परन्तु आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की नवीनतम खोजों के अनुसार ये टान्सिलस जीवाणुओं और रोगाणुओं के संक्रमण के बचाव मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। आधुनिक अनुसंधानों से यह बात सामने आई है कि जिन बच्चों में टान्सिल्स आपरेशन के द्वारा निकाल दी जाती हैं उनमें रोगों का संक्रमण अधिक होता है, जल्दी होता है। ऐसा लगता है कि टान्सिल्स मुखगुहा और नासाद्वार के रास्ते शरीर में प्रवेश करने वाले रोगाणुओं को अपने अन्दर दबोच लेती हैं और उन्हें नष्ट कर देती है। इन टान्सिल्स रूपी गांठों में लसीका द्रव भरा होता है जिसमें प्रचुर मात्रा में श्वेत रक्त कणिकाएं पाई जाती हैं। खाद्य और पेय पदार्थों के द्वारा और श्वास के साथ शरीर में प्रवेश करने वाली वायु के रास्ते जब भी कोई जीवाणु या रोगाणु ग्रसनी तक पहुंचने की कोशिश करता है तब इन गांठों में उसे कैद कर लिया जाता है और श्वेत रक्त कणिकाएं उन्हें नष्ट कर देती हैं।

### 6.1.1 टान्सिलाइटिस के लक्षण

शरीर में मल एकत्र हो जाने और रोगाणुओं एवं जीवाणुओं के संक्रमण के कारण टान्सिल ग्रंथियां सूज जाती हैं, फूल जाती हैं जिसके कारण गले में सूजन, स्वरयंत्र में दर्द, तीव्र बुखार, कब्ज, पेशाब का गाढा एवं पीला होना,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सिरदर्द, शरीर में दर्द तथा थूक एवं कुछ भी खाने-पीने में असह्य दर्द होना आदि लक्षण प्रकट होते है। कभी-कभी आवाज भी बैठ जाती है। कभी-कभी समान लक्षण के कारण टांसिलाइटिस, स्कारलेट बुखार तथा डिप्थीरिया-तीनों में अन्तर कर पाना कठिन हो जाता है। टांसिलाइटिस में सूजन तथा सुर्खी टान्सिल्स तक ही सीमित रहते हैं, कोमल तालु अप्रभावित होता है। संक्रमण एवं रोगाणुओं का हमला अचानक होता है जिससे सर्वप्रथम टान्सिल्स ही प्रभावित होते हैं।

डिप्थीरिया में टांसिल, गल शुण्डिका तथा कोमल तालु पर भूरे धूसर रंग के बड़े-बड़े चकत्ते होते हैं। जिनके चारों ओर लाल कोष पाये जाते हैं। इन्हें आसानी से दूर नहीं किया जा सकता है। खून का स्राव, इनमें पाये जाने वाले कतिपय कीटाणुओं के कारण विशेष गन्ध, कफ, पूय मिश्रित स्राव, दर्द का अभाव, आक्रमण धीरे-धीरे, टांसिल भी बढे हुए होते हैं।

स्कारलेट बुखार में गले तथा तालु-दोनों पर चमकती सुर्खी, टांसिल में सूजन व कफ से ढके होते हैं। तीव्र बुखार के समय आक्रमण एवं उलटी, कोमल तालु पर कोई प्रभाव नहीं, जिह्वा मलाई के रंग की सफेदी लिए हुए होती है। कई बार स्कारलेट बुखार एवं टांसिलाइटिस दोनों एक साथ हो जाते हैं।

लक्षणों के आधार पर टांसिलाइटिस को दो वर्गों में बांटा गया है— 1. तीव्र टांसिलाइटिस एवं 2. जीर्ण टांसिलाइटिस।

तीव्र टांसिलाइटिस में टांसिल के पूरे भागों में सूजन तथा सुर्खी उत्पन्न हो जाती है तथा उनमें कई गड्ढे बन जाते हैं। इनके ऊपर एक पीली परत जमा हो जाती है जिसे साफ करने में अत्यन्त कठिनाई होती है, इसे तीव्र फालीक्यूलर टांसिलाइटिस कहते हैं।

औषधियां लेकर बार-बार टांसिलाइटिस को दबाने से वह जीर्ण टांसिलाइटिस में परिवर्तित हो जाता है। इसमें जीर्ण टाक्सिमियां के कारण गठिया, नेफ्राइटिस, न्यूराइटिस तथा सामान्य रोग प्रतिरोध क्षमता की कमी आदि के लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हैं। बच्चों में नाक बहते रहना, नाक की झिल्लियों में सूजन, कानों का बहना, बार-बार जुकाम होना, बढे हुए टान्सिल, अवरूद्ध विकास, बेचैनी, सोते-सोते चौंकना, सोते समय सांस लेने में कठिनाई जैसे लक्षण भी दिखाई देते हैं।

## 6.1.2 उपचार और रोकथाम

### अ. ध्यान-योग उपचार

**आसन**— सुप्तवज्रासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन, सिंहासन।

**प्राणायाम**— उज्जाई, भ्रामरी, महाप्राण ध्वनि— 5 मिनट।

**प्रेक्षा**— विशुद्धि केन्द्र पर नीले रंग का ध्यान— 10 मिनट।

**अनुप्रेक्षा**— टान्सिल की स्वस्थता का सुझाव— ''मेरा टान्सिल स्वस्थ हो रहा है''— 15 मिनट।

### ब. प्राकृतिक उपचार

1. दिन में दो बार टांसिल, गले और गर्दन पर 10-15 मिनट तक भाप का सेवन। उसके बाद गरम पानी में कागजी नींबू का रस मिलाकर गरारा करना।
2. सप्ताह में एक दिन शाम को सोने से ठीक पहले ''हाट एप्सम साल्ट बाथ'' लिया जाना चाहिए।
3. तत्पश्चात एक से दो घंटे के लिए हल्के गरम पानी की गीली पट्टी लगाई जानी चाहिए।
4. कागजी नीबू का रस और शुद्ध शहद मिलाकर उसे अन्दर की तरफ टांसिलों पर लगाकर दबा-दबा कर मालिश करना। इससे यदि रक्त या पीव निकले तो भय नहीं करना चाहिए।
5. इसके पश्चात सम्भव हो तो ताजे मक्खन से कंठ और ग्रीवा पर 15-20 मिनट की मालिश करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

6. रोगी को चाहिए कि वह प्रतिदिन लगभग 8-9 बजे से अपने मुंह को खोलकर सूरज के सामने बैठे और एक नीले कांच के टुकड़े से छानकर सूरज की नीली रोशनी टांसिलों पर 5-7 मिनट तक पड़ने देवें। प्रतिदिन नीली बोतल में सूर्य तप्त जल का सेवन करें।
7. सादा सुपाच्य भोजन करें। मट्ठा, दही, नारियल का पानी, फल और ताजी सब्जियों के रस का सेवन करें। मिर्च-मसाला, अधिक नमक, तेल, चाय-कॉफी, खटाई एवं मांसाहार का सर्वथा वर्जन करें।

## 6.2 ज्वर (बुखार) (Fever)

असामान्य रूप से शरीर के बढे हुए तापमान को ज्वर या बुखार कहते हैं। सामान्य परिस्थितियों में मानव शरीर का तापमान 98.4° फारेनहाइट अथवा 37.5° सेन्टीग्रेड होता है। ज्वर का अनेक बीमारियों से गहरा सम्बन्ध होता है। बुखार को हमेशा किसी-न-किसी बीमारी या अनियमितता के सन्दर्भ में ही देखा जाना उचित होता है क्योंकि बिल्कुल अलग से इसकी कोई प्रासंगिकता सिद्ध नहीं हो सकी है। शरीर का तापमान जब 105 डिग्री फारेनहाइट तक पहुंच जाता है तब उसे खतरनाक या घातक माना जाता है। इस स्थिति में इसे हाइपरपाइरेक्सिया (Hyperpyrexia) के नाम से जाना जाता है। 106-107 डिग्री फारेनहाइट तक तापमान पहुंच जाने पर अपरिहार्य रूप से मृत्यु का साया मंडराने लगता है। बुखार का प्रारम्भ शरीर के तापमान में मामूली बढोतरी से प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे ऊपर चढता जाता है और इस क्रमिक चढाव के साथ बेचैनी, सिर दर्द, हाथ-पैरों में जकड़न तथा पूरे बदन में तेज पीड़ा का आभास बढ़ता ही जाता है।

आधुनिक आयुर्विज्ञान बुखार का मुख्य कारण रोगाणुओं और जीवाणुओं का आक्रमण ही मानते हैं। उसके अनुसार बुखार की तीव्रता और उसके दुष्परिणाम इस बात पर निर्भर करते हैं कि रोगाणु की किस्म कैसी है उसका सुप्त एवं प्रजनन काल कैसा और कितना है? इसके अतिरिक्त बुखार उत्पन्न होने के प्रमुख कारणों में हृदयघात, ट्यूमर, घाव, शल्यक्रिया, कोई शारीरिक-मानसिक आघात, टीकाकरण आदि आते हैं।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में शरीर में बुखार उत्पन्न होने की क्रियाविधि इस प्रकार बताई गई है—

रक्त में पाई जाने वाली श्वेत रक्त कणिकाएं मोनोसाइट्स और अन्य मैक्रोफेजेज शरीर में प्रवेश करने वाली बैक्टीरिया या वाइरस को निगलती हैं तथा उसकी कोशिका भित्ति का कुछ अंश बाहर छूट जाता है जिसके परिणामस्वरूप फैगोसाइट्स इंटरल्यूकिन-1 नामक रसायन उत्पादित करती हैं। यह स्राव रक्तप्रवाह के साथ हाइपोथैलेमस तक जाता है और हाइपोथैलेमस के प्री-आप्टिक क्षेत्र के न्यूरोनों को 'ई' श्रृंखला के प्रोस्टाग्लैडिंन नामक रसायनों के स्राव को प्रेरित करता है। प्रोस्टाग्लैन्डिन रसायनों के कारण हाइपोथैलेमस का थर्मोस्टेट, जो शरीर के तापमान को नियंत्रित करता है, थोड़ा पुनर्संगठित होकर ऊपर के तापमान पर सेट हो जाता है। फिर इस नई सेटिंग के अनुसार शरीर के तापमान की वृद्धि निर्धारित हो जाती है और परिणामस्वरूप बुखार की स्थिति उत्पन्न होती है।

प्राकृतिक चिकित्सा शास्त्र के अनुसार शरीर के अन्दर, साधारण एवं सामान्य परिस्थितियों से अलग हटकर जब मल इकट्ठा होकर पुराना पड़ जाता है, बाहर नहीं निकल पाता तो वह वहीं सड़ने लगता है। उस सड़न क्रिया से एक प्रकार की विषैली और गरम खमीर उठती है जो रक्त को विषाक्त और गरम बना देती है। ऋतु परिवर्तन, छूत, उद्वेगजनक पदार्थों का आहार, मानसिक विकार एवं आघात आदि उद्दीपनों के कारण जब उद्वेग उत्पन्न होता है तो रक्त एवं शरीर के कोष-कोष (Cells) में व्याप्त विजातीय त्याज्य रसायनिक द्रव्य उग्र हो उठता है। वह तब शरीर में उष्मा उत्पन्न करने वाले यौगिकों एवं अवयवों को उत्तेजित करके शरीर के रक्त के ताप को बढ़ाता है। इससे शरीर के अन्दर स्थित विषैले पदार्थों को भस्म (नष्ट) करने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। यदि यह प्रक्रिया अपेक्षित समय एवं गति से सम्पन्न हो जाती है तो शरीर निर्विष, निर्दोष एवं स्वस्थ होने की दिशा में अग्रसर होता है। प्रकृति के इसी प्रयत्न को ज्वर या बुखार की संज्ञा दी जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

### 6.2.1 ज्वर के लक्षण

शरीर के अन्दर का तापमान अधिक हो जाने के कारण भूख बन्द हो जाती है, प्यास अधिक लगती है, कमजोरी बढ़ जाती है, किसी काम को करने की शक्ति नहीं रहती है। आरम्भ में ठंड और कंपकपी सताती है। बदन में और सिर में दर्द होता है। उचित ढंग से नींद नहीं आती है। जीभ मैली हो जाती है, मिचली आती है, नाड़ी गति तेज हो जाती है। हृदय की धड़कन और श्वास की गति भी अपेक्षाकृत तेज हो जाती है। श्वास, पसीना, मल और मूत्र बदबूदार हो जाते हैं। शरीर का तापमान बढ़ने से शरीर के अन्दर चलने वाली आवश्यक (अनैच्छिक) एवं ऐच्छिक यांत्रिक क्रियाएं तथा चयापचय (Metabolism) की क्रियाएं या तो सामान्य से अत्यन्त धीमी पड़ जाती हैं या फिर बिल्कुल बन्द हो जाती हैं। इसी वजह से उपरोक्त सारी कठिनाइयां और परेशानियां दृष्टिगोचर होती हैं। प्राकृतिक आयुर्विज्ञान के अनुसार ज्वर के साथ चलने वाली क्रियाएं ऊपर से देखने में भले ही कष्टदायक प्रतीत होती हैं वास्तविक रूप में ये सारी अत्यन्त लाभप्रद और रक्षात्मक होती हैं। उदाहरणार्थ ज्वर में भूख बन्द होने का अर्थ होता है जीवनी शक्ति (Vital Energy) का पूर्णत: शरीर की सफाई में लगे रहने के कारण उसे भोजन के पचाने से अवकाश देना। स्पष्ट है ऐसी दशा में ज्वर के रोगी को जबरन भोजन देने का अर्थ होता है उसे विष ही देना। इसी प्रकार बुखार में निस्तेज होकर बिस्तर पर पड़ जाने का मतलब होता है प्रकृति का शरीर को पूर्ण आराम देने के लिए बाध्य करना। वास्तव में जब शरीर की इकाइयों (Cells) में ऊर्जा का उत्पादन बन्द हो जाता है तो अनावश्यक कार्यों या ऐच्छिक कार्यों के लिए ऊर्जा उपलब्ध भी नहीं हो पाती और शरीर स्वत: ही थक कर पड़ जाता है। शरीर के अन्दर स्थित विजातीय द्रव्य में उद्वेग होने के कारण वह शरीर में फैलने का प्रयास करता है। इस प्रसरण का दबाव जब त्वचा और मांसपेशियों पर पड़ता है तो वे उत्तेजित एवं गर्म हो जाती हैं और फिर पीड़ा उत्पन्न होती है। जब वही उत्तेजित विष सिर और मस्तिष्क के क्षेत्र में आक्रमण करता है तब सिर दर्द और अनिद्रा तथा प्रलाप आदि उपद्रव उठ खड़े होते हैं। ज्वर कभी-कभी जाड़ा देकर कंपीकंपी के साथ भी आता है। उसकी व्याख्या यह है कि जब कभी शरीर में विजातीय द्रव्यों की मात्रा अधिक हो जाती है तो उनके अवरोध के कारण शरीर के दूरदराज के भागों या सीमांत भागों में रक्त का प्रवाह भलीभांति नहीं हो पाता। रक्त भी विषाक्त होता है इसलिए उसकी अधिकांश मात्रा यकृत और प्लीहा की ओर मुड़ जाती है। जहाँ कुछ सीमा तक शुद्धिकरण की क्रियाएं सम्पादित होती हैं। फलत: शरीर की बाहरी सतह की ओर रक्त का अभाव होने लगता है और रोगी को कंपकंपी महसूस होती है। अन्दर दहनक्रिया चलती रहती है और कुछ समय पश्चात् जब गरम रक्त बाहर की ओर दौड़ने लगता है तब वह अस्वाभाविक रूप से चर्म को भी गरम कर देता है और शरीर का तापमान बढ़ने लगता है। इसे ही ज्वर चढ़ना कहते हैं। ज्वर में पाये जाने वाले उपरोक्त सभी प्रमुख लक्षणों का अर्थ यही होता है कि शरीर में अन्दर ही अन्दर सफाई और शुद्धता करने का कार्य द्रुत गति से चल रहा है जिसमें पाचनतंत्र, श्वसनतंत्र, रक्त परिवहन तंत्र एवं अन्य सभी तंत्र अपने-अपने ढंग से योगदान दे रहे हैं।

### 6.2.2 ज्वर के भेद

शरीर में चढ़ने वाले ज्वर मुख्य रूप से निम्न प्रकार के होते हैं—

1. साधारण ज्वर
2. मलेरिया (जो मच्छरों के काटने से उत्पन्न होता है)
3. टायफाइड (इसे मियादी बुखार कहते हैं। यह एक विशेष प्रकार के रोगाणु के संक्रमण के कारण होता है।)
4. इन्फ्लुएंजा (जुकाम के साथ होता है)
5. डेंगू (यह भी डेंगू कीटाणुओं के संक्रमण के कारण होता है)
6. फाइलेरिया
7. गर्दन तोड़
8. प्लेग।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 6.2.3 ज्वर की चिकित्सा

#### I. ध्यान योग चिकित्सा

आसन— कायोत्सर्ग।

प्राणायाम— स्वर परिवर्तन, चन्द्र स्वर का सतत् अभ्यास।

प्रेक्षा— तेजस केन्द्र पर 20-30 मिनट ध्यान तत्पश्चात् विशुद्धि केन्द्र पर 10 मिनट का ध्यान।

अनुप्रेक्षा— कायोत्सर्ग की अवस्था में सुझाव—''मेरा ज्वर दूर हो रहा है''—15 मिनट।

#### II. प्राकृतिक चिकित्सा

1. ज्वर प्रारम्भ होते ही नीम के पानी का एनीमा देवें।
2. कंपकंपी आने पर गरम पाद स्नान तथा बेचैनी की हालत में गीली चादर का लपेट देवें।
3. रोगी को पर्याप्त मात्रा में नींबू पानी पिलायें।
4. सिर तथा पेट को ठण्डा रखने के लिए ठण्डी गीली मिट्टी अथवा ठंडे पानी से गीले तौलिया की पट्टी करें।
5. अधिक ज्वर में सिर ठण्डे पानी से धो दें तथा टण्डा कटि स्नान देना लाभकारी होता है।
6. लम्बे समय तक चलने वाले ज्वर में सुबह-शाम नीम के पानी का एनीमा देकर नीम के पानी की गीली चादर लपेट कर नीम के पानी का घर्षण स्नान दें।

#### III. आहार चिकित्सा

1. आदतन रोगी को भोजन न दें।
2. नींबू पानी के अतिरिक्त अन्य कोई ठोस आहार न देना श्रेयस्कर रहता है।
3. तीन दिन तक प्रतिदिन 3 लीटर जल तथा कम से कम 5 नींबू का प्रयोग करें। उसके बाद नींबू पानी के साथ शहद, मौसमी के रस का सेवन करें। 4 घंटे पूर्व भीगी हुई मुनक्का को मसलकर अथवा नारियल का पानी दें।
4. ज्वर खत्म होने पर तथा भूख लगने पर मौसमानुसार ताजे फल तथा बिना मसाले की उबली सब्जी का सेवन करायें। तरबूजा, सेब, खीरा या ककड़ी का रस निकाल कर दें। रोगी यदि खाने का हठ करे तो उन्हें सब्जी का सूप, नारंगी या ताजे फल ही खाने को दें। गाजर, पालक, टमाटर, लौकी, टिण्डा, तोरई आदि उबली सब्जी तथा इनको मसलकर, छानकर उसका पानी (सूप) दिया जाना चाहिए। सभी प्रकार के आहार चबा-चबा कर खाना अनिवार्य है।

## 6.3 कमर दर्द (Low Back Pain)

पीठ के नीचले हिस्से में अर्थात् कमर के क्षेत्र में पीछे की ओर लगभग 80 प्रतिशत लोगों को पीड़ा का अनुभव हो जाया करता है। इसका कोई स्पष्ट कारण ज्ञात नहीं हो पाता है। प्राय: यह देखा जाता है कि तंत्रीय बीमारियां जैसे मेटास्टैटिक कैन्सर, कशेरुकीय हार्निया और केशरुकाओं में क्षरण ही इसका प्रमुख कारण बनती है। फिर भी जब हम कमर दर्द का कोई एक और एकमात्र कारण खोजने की कोशिश करते हैं तो उसमें सफलता कम ही मिलती है। इसीलिए इस अनियमितता और तकलीफ को 'स्ट्रेन' (Strain), स्प्रेन (Sprain) या लम्बैगो (Lumbago) नाम देकर अप्रत्यक्ष रूप से इसकी रोकथाम करने का प्रयास करते हैं। कई बार कशेरुकाओं, मेरुदण्ड, श्रोणिमेखला तथा अन्य स्थानीय अस्थियों एवं इन सभी अस्थियों से जुड़ी हुई पेशियों में संरचनात्मक विकार अथवा विभिन्न दैनिक क्रियाओं या दुर्घटनाओं के फलस्वरूप उत्पन्न हुए विकार के कारण भी कमर दर्द की तकलीफ उभरती है। एलोपैथिक चिकित्सा विज्ञान के अन्तर्गत कमरदर्द का पता लगाने के साधन के रूप में निम्नांकित विधाओं पर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विशेष ध्यान दिया जाता है—

1. संक्रमण,
2. कैंसर,
3. गठिया रोग की शुरुआत एवं
4. एंकीलोसिंग स्पांडीलाइटिस।

इनमें से कोई एक विकार की उपस्थिति कमर दर्द का कारण बन सकती है। इसी को आधार मानकर आधुनिक चिकित्सा विज्ञान अपनी चिकित्सा का निर्धारण करता है।

सामान्य तौर पर यह माना जाता है कि अचानक गलत ढंग से उठने, बैठने तथा झुकने के कारण रीढ़ की हड्डियां (कशेरुकाएं) अपनी स्वाभाविक स्थिति से हट जाती हैं। पी.आई.डी. (प्रोलेप्सड इन्टरबर्टिब्रल डिस्क) या मांसपेशियों तथा लिगामेंट्स में गलत तनाव, खिंचाव अथवा रीढ़ के नीचे कटि प्रदेश की पांच हड्डियों में संकरापन पैदा होने, अंग भंग होने, दो कशेरुकाओं के मध्य संधि स्थल पर पाई जाने वाली उपास्थियों के नष्ट होने, आस्टिओफाइट आर्थराइटिस, आस्टिओ पेट्रोसिस, संक्रमण, दुर्घटना होने, उम्र बढ़ने के कारण अस्थियों में क्षरण, नियमित व्यायाम के अभाव में, विटामीन-डी तथा कैल्सियम तत्त्व की कमी से अस्थियों में ह्रास, विकृति एवं विकार उत्पन्न होता है। इन्हीं सब परिस्थितियों के एक साथ या अलग-अलग उत्पन्न होने के कारण कमर दर्द होता है।

## 6.3.1 कमर दर्द का उपचार

### I. ध्यान यौगिक उपचार

1. **आसन**— मेरुदण्ड की क्रियाएं, उत्तान पादासन, मकरासन एवं मत्स्यासन।
2. **प्राणायाम**— सूर्यभेदी, दर्द के स्थान पर ध्यान केन्द्रित करते हुए भस्त्रिका—5 मिनट।
3. **प्रेक्षा**— कमर दर्द में होने वाले दर्द की प्रेक्षा।
4. **अनुप्रेक्षा**— कमर की स्वस्थता का सुझाव—"मेरी कमर का दर्द शान्त (ठीक) हो रहा है—15 मिनट।

**II. अन्य अनिवार्य और आवश्यक उपाय**—कमर दर्द से मुक्ति पाने के लिए निम्नांकित उपाय श्रेयस्कर होते हैं—

1. आराम करने के लिए कठोर बिस्तर पर पतला गद्दा बिछाकर उसे ही उपयोग में लायें।
2. कुर्सी पर बैठने के समय पीठ को पीछे पुश्ते से सटा कर रीढ़ को सीधा रखते हुए बैठें।
3. बैठने के समय और सोते समय यह ध्यान रखें कि वक्ष आगे की ओर झुका हुआ और पेट अंदर की ओर धंसा हुआ न हो।
4. किसी वजनदार वस्तु को उठाते समय शरीर को उससे ज्यादा दूर नहीं रखें। ऐसा करने से अनावश्यक भार के कारण रीढ़ की हड्डियां क्षतिग्रस्त होने का भय रहता है। बेहतर हो कि घुटनों को मोड़ते हुए झुकें तथा दोनों हाथों से ही सामान उठायें।
5. मोटा तकिया प्रयोग में लाने, ऊंची एड़ी की चप्पल तथा तंग जीन्स आदि के प्रयोग से बचें।
6. कहीं भी लगातार 45 मिनट से ज्यादा न बैठें। कुछ देर खड़े होकर टहलें ताकि मांसपेशियों की थकान-तनाव दूर हो सके।
7. घरेलू कार्यों (बर्तन धोने, कपड़े धोने, पोंछा लगाने, प्रेस करने आदि) को करते समय रीढ़ तथा कमर को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गलत ढंग से न झुकायें, यथासंभव सीधा रखें। थोड़ा पीठ दर्द हो भी जाये तो निष्क्रिय होकर बिस्तर न पकड़ लें। सक्रिय बने रहें। शीघ्र ही लाभ हो जायेगा। हल्के-फुल्के दर्द की स्थिति में बर्फ या गरम थैली अथवा 3 मिनट गरम, 2 मिनट ठण्डा क्रम से 5 बार कम्प्रेस करें। कुछ दिन गरम पानी से फव्वारा व तौलिया भिगो-भिगोकर घर्षण स्नान करें। कमर दर्द की 90 प्रतिशत परेशानियां इन छोटे-छोटे प्रयोगों से दूर हो जाती हैं।

8. मानसिक तनाव भी कई बार कमर दर्द का कारण बनता है। तनाव दूर करने के लिए ध्यान, योगासन और प्राणायाम का अभ्यास करें।

## III. प्रेक्षायोग चिकित्सा

1. **यौगिक क्रियाएं**— पेट की दस क्रियाएं, मेरूदण्ड की क्रियाएं।
2. **आसन**— उत्तानपादासन, भुजंगासन, मकरासन, मत्स्यासन।
3. **प्राणायाम**— सूर्यभेदी, दर्द के स्थान पर ध्यान केन्द्रित करते हुए सूक्ष्म भस्त्रिका— 5 मिनट।
4. **प्रेक्षा**— कमर एवं उसके आस-पास होने वाली वेदना की प्रेक्षा— 10 मिनट।
5. **अनुप्रेक्षा**— कमर की स्वस्थता का सुझाव—"मेरी कमर का दर्द शांत (ठीक) हो रहा है— 15 मिनट।
6. **मुद्रा**— अनामिका और अंगूठे को सटाकर दबाव दें— 15 मिनट।

**विशेष**— कमर दर्द से स्थायी मुक्ति के लिए तथा भविष्य में कभी कमरदर्द नहीं हो इसका उपचार है— निरन्तर व्यायाम तथा योगाभ्यास। व्यायाम तथा योगाभ्यास से मेरुदण्ड की पेशियां, स्नायु तथा रक्त वाहिकाएं इतनी सशक्त, लचीली तथा सुदृढ़ हो जाती हैं कि अचानक झटके, गलत ढंग से झुकने एवं गलत ढंग से उठने-बैठने के तनावों को भी आसानी से सहन कर लेती हैं। डिस्को की शॉक एबजार्बर क्षमता में चमत्कारिक वृद्धि होती है। व्यायाम तथा योगाभ्यास कमरदर्द का सुरक्षा कवच है। थकान होने पर भी विश्राम नहीं योगाभ्यास करने से न केवल थकान मिटती है बल्कि तमाम ऊतकों एवं अंगों में पुनर्जीवन आता है। इसके साथ-साथ चाय, कॉफी, चिकनाई, तले-भुने खाद्य पदार्थ, फास्ट-फूड जैसे पदार्थ जो कोलेस्टेराल एवं यूरिक एसिड की मात्रा बढ़ाते हैं का सेवन न करना ही श्रेयस्कर होता है।

## 6.4. पाचन दौर्बल्य (कब्ज) (Constipation)

कब्ज आधुनिक सभ्यता की प्रमुख देन है। परिष्कृत आहार, विकृत विहार, तिरस्कृत दमित विचार तथा अत्यधिक चिन्तन का परिणाम है कब्ज। इसमें आंतें निष्क्रिय हो जाती हैं। मल निकलने में देरी होती है। मल निकालने के लिए ज्यादा बल लगाना पड़ता है। इसी अवस्था को कब्ज कहते हैं। इसे मलबन्ध, कोष्ठबद्धता, कॉन्स्टीपेशन तथा ऑबस्टीपेशन भी कहते हैं।

### 6.4.1 कब्ज के प्रमुख कारण

भोजन में रेशे के अभाव के कारण प्राय: कब्ज होती है। ब्रेड, केक, चाय, कॉफी, चॉकलेट, बिस्कुट, टॉफी, मांस, अण्डा, मछली, मैदा, बेसन तथा चीनी से बने पदार्थ, मिल कुटा चावल, परिशोषित परिष्कृत संश्लिष्ट फास्ट फूड, जंक फूड, रैपर तथा डिब्बा बन्द आहार, भांति-भांति के तले-भुने आहार कब्ज पैदा करते हैं। गरम तथा तेज मसाले, अति परिशोधित कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन तथा संतृप्त वसा, वनस्पति घी आदि का प्रयोग, भोजन में शाक-सब्जी का अभाव, शुष्क भोजन, आहार में जलांश की कमी, जल कम पीना, वृद्धावस्था में आंतों तथा मलाशय की मांसपेशियों का कमजोर होना, खून की कमी, देर तक मल रोके रहने की आदत, नियमित समय पर मल त्याग नहीं करना, बड़ी आंत तथा गर्भाशय की सूजन, बड़ी आंत की मल फेंकने की क्षमता में कमी, थॉयराइड तथा पिट्यूटरी के विकार, मधुमेह, उच्च रक्तचाप, हृदय रोग तथा रोगों में उपयोग आने वाली उष्ण प्रकृति की औषधियां लोहा, सीसा तथा अफीमजन्य औषधियां, स्तम्भक तथा एण्टीबायोटिक औषधियां, कब्ज दूर भगाने वाली औषधियों का निरन्तर सेवन, पित्त तथा आंत के स्रावों का कम होना, भोजन चबा-चबाकर नहीं खाना, त्वचा तथा गुर्दे से पानी का अधिक निकल जाना, अधिक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दमन, कठोर जल का निरन्तर सेवन, बार-बार तथा भूख से अधिक भोजन करना, पाचक रस तथा एंजाइम की कमी, बचपन से ही आंत एवं पेट की गलत संरचना, धूम्रपान, अफीम तथा अन्य दुर्व्यसनों की लत से आंतों का निष्क्रिय होना, बड़ी आंत में अवरोध पैदा होना, भोजन तथा जल का पाचन सही नहीं होना, निरन्तर मानसिक परेशानी, चिन्ता, उत्तेजना, शोक आदि से स्नायु संवेदी संस्थान का कमजोर होना, स्नायविक कमजोरी से आंतो की सर्पिल गति का निष्क्रिय होना, कंजूस वृत्ति तथा त्याग प्रवृत्ति का अभाव आदि अनेक कारण हैं जिनसे कब्ज होती है।

## 6.4.2 कब्ज अनेक रोगों का जनक

कब्ज में रुका हुआ मल आंतों की दीवार को उत्तेजित कर अतिसार दस्त पैदा करता है। लगातार कब्ज की स्थिति में मल को निकालने के लिए ज्यादा बल लगाने से गुदा में चिर (फिशर) तथा बवासीर पैदा होता है। कब्ज में बड़ी आंत में मल ज्यादा देर तक इकट्ठा होने से बड़ी आंत फैल जाती है। सिनमॉयड तथा गुदा पर मल का दबाव ज्यादा होने से इनमें घाव तथा सूजन भी आ जाती है। आंतें और अधिक निर्बल हो जाती हैं। पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं में यह स्थिति ज्यादा दिखती है। आहार में सुधार तथा कब्ज का उपचार नहीं होने से कब्ज पुराना हो जाता है। आंतों में एकत्रित दूषित मल का दबाव तथा दुष्प्रभाव स्नायुओं पर होने लगता है। स्नायु उत्तेजित होकर साइटिका दर्द, कमर दर्द, न्यूराइटिस, वीर्यदोष आदि वृषण रोग पैदा करते हैं।

कब्ज से उत्पन्न पैथोजेनिक बैक्टीरिया प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट, इलेक्ट्रोलाइट्स पर धावा बोलकर जैव रासायनिक प्रतिक्रिया द्वारा उन्हें घातक रोगोत्पादक रसायनों मे बदल देते हैं। आत्म विषमयता (ऑटो टॉक्सिकेशन) की स्थिति पैदा करते हैं। एमीनो एसिड्स (प्रोटीन) को कैंसरोत्पादक "बायोजेनिक एमाइंस" में परिवर्तित कर देते हैं। जैसे प्रोटीन, ट्रेप्टोफिन, ट्रिप्टोमाइन्स, हिस्टीडाइन, हिस्टेमाइन, टायरोसाइन तथा टायरोमाइन आदि विषाक्त रसायनों में परिवर्तित हो जाते हैं। ये जहरीले रसायन रक्त प्रवाह द्वारा यकृत से मस्तिष्क तथा अन्य अंगों, अवयवों में पहुंचकर शारीरिक रोग के साथ मानसिक एवं स्नायविक रोग अवसाद, सभ्रांति, दुश्चिन्ता, क्षोभोन्माद आदि पैदा करते हैं।

## 6.4.3 कब्ज का उपचार

**I प्राकृतिक चिकित्सा**— सुबह के उपचार में खाली पेट का 5 मिनट सेक करके मिट्टी की पट्टी आधा घंटा रखें। पेट, रीढ़ तथा नितम्ब की मालिश करें। गुनगुने पानी में एक नींबू निचोड़कर किंचित नमक मिलाकर एनीमा दें। रोगी की स्थिति के अनुसार ठण्डा कटि स्नान, गरम-ठण्डा कटि स्नान, सौम्य कटि स्नान, गीली चादर लपेट अथवा पेट की लपेट बदल-बदल कर दें। यह क्रम दस से पन्द्रह दिन तक लगातार चलायें। सप्ताह में एक दिन वाष्प स्नान या गरम पाद स्नान भी दें।

खाने के तीन घंटे बाद मध्याह्नकाल के उपचार मे पेडू पर मिट्टी की पट्टी आधा घंटा रखें। स्थानीय वाष्प अथवा गरम-ठण्डा कम्प्रेस पेडू तथा कमर का देकर लपेट अथवा ठण्डा कटि स्नान क्रम से एक दिन के अन्तराल पर दें। जीर्ण कब्ज में रात्रि को मिट्टी की पट्टी तथा पेट की लपेट दें।

प्रात:काल 5 से 10 मिनट ठण्डा कटि स्नान लेकर तेजी से सैर करें अथवा योगासन आदि व्यायाम करें। ब्रिटेन की इटिंग डिसआर्डर्स एसोसिएशन के वैज्ञानिक डॉ. सराह क्लेमेन्ट अपने विभिन्न प्रयोगों से इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि कब्ज में उत्तेजक दस्तावर दवाईयां लेने से पाचन तंत्र की नाजुक झिल्लियां प्रदाहित होती हैं। आंतों की सर्पिल गति तथा शक्ति जिससे मल निष्कासन होता है, कमजोर होती है। यकृत निष्क्रिय हो जाता है। कुपोषण पैदा होता है। कब्ज स्थायी हो जाता है। उत्तेजक औषधियों के प्रयोग से निर्जलीकरण, गुर्दे, दिल तथा आंत की बीमारियां होती हैं। उपयोगी जीवाणु भी नष्ट हो जाते हैं।

## II प्रेक्षायोग चिकित्सा

**आसन**— पेट की दस क्रियाएं, अग्निसार, उदराकर्षण।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

**विशेष प्रयोग**— अर्ध शंख प्रक्षालन, ताड़ासन, स्कन्धासन, तिर्यग्भुजंगासन, शंखासन।

**प्राणायाम**— दीर्घश्वास, अनुलोम-विलोम—5 मिनट। दाहिने स्वर को खुला रखकर मूलबन्ध कर 100 कदम चलना।

**प्रेक्षा**— ठुड्डी के नीचे के भाग को हथेली से दबाते हुए उस पर ध्यान—10 मिनट।

**अनुप्रेक्षा**— बड़ी आंत को सुझाव—"मेरी बड़ी आंत सक्रिय हो रही है"—5 मिनट।

**III आहार चिकित्सा**— प्रात:काल उठते ही ताम्र पात्र में रखा 3-4 गिलास जल पिएं। जीर्ण कब्ज में दो गिलास गरम पानी में एक नींबू का रस, रात्रि के भिगे हुए 25 ग्राम सूखे आंवले को मसल एवं छानकर 2 चम्मच शहद तथा 15 ग्राम अदरक का रस मिलाकर पिएं। पेट को फुलाते-पिचकाते हुए टहलें। हाजत होते ही दबायें नहीं तुरन्त जायें। हाजत न होने पर भी नियत समय पर नियमित मल त्याग की आदत डालें। 25 प्रतिशत लोगों में इस आदत से कब्ज दूर हो जाती है। मन में जब शंका हो कि जायें कि नहीं जायें तो अवश्य जायें तथा खायें कि नहीं खायें तो नहीं खायें। मल त्याग के समय हल्का बल लगाएं, घोड़े की भांति गुदा को बन्द करें, फैलायें। साथ ही उदर की पेशियों को अन्दर बाहर करें। भारतीय ढंग से मल त्याग करने से कपाटी खुलती है। बस्ति की मांसपेशियों तथा स्नायु पर मल त्याग का अनुकूल प्रभाव होता है।

---

**बोध प्रश्न 1:**

---

1. टान्सिलाइटिस की प्राकृतिक चिकित्सा लिखें।
2. मानव शरीर का सामान्य तापमान कितना होता है?
3. पाचन दौर्बल्य की चिकित्सा मे क्या अनुप्रेक्षा करते है?

प्रारम्भ में 3 से 10 दिन तक सिर्फ उबली सब्जी, फलोपवास, नींबू-पानी-शहद पर रहकर आंशिक उपवास तथा जल पर रहकर उपवास करें। इससे शरीर का शोधन होता है। आंतें शक्तिशाली एवं स्वस्थ होती हैं। धीरे-धीरे क्रम से अपने पूर्व आहार पर लौटें।

अपने दैनिक आहार में सुबह 3-4 ताजे फल या सूखे आंवले को कूट-पीसकर खायें। नाश्ते में अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार मौसमी फलों अमरूद, सेब, पपीता, केला, चीकू, अंगूर, नाशपाती, अनार, गाजर, टमाटर, खुर्बानी, भिगा हुआ किशमिश, मुन्नका, अंजीर, खजूर, अंकुरित अनाज तथा दूध लें। मीठे फल एक साथ मिलाकर नही ले। दूध के साथ सभी प्रकार के फल लिए जा सकते हैं।

दोपहर तथा शाम के भोजन में 4 घंटे पूर्व पालक, गाजर, मूली के पत्ते आदि सब्जियों के रस में गूंदे हुए मोटे आटे की मोटी 2 या 3 (35-40 ग्राम की एक) रोटी भूख से कम, उबली सब्जी 300 ग्राम, पालक, मूली पत्ता, टमाटर, पत्ता गोभी, प्याज, लहसुन, गाजर, मूली आदि का सलाद 230 ग्राम, दही 150 ग्राम, लहसुन, आंवला, अंकुरित अन्न तथा नारियल की चटनी 50 ग्राम, अंकुरित अनाज 50 ग्राम लें। जहाँ तक संभव हो छिलका समेत ही सब्जी बनायें तथा छिलके वाली दाल खायें। मध्याह्नकाल में सब्जियों का सूप अथवा गाजर, पालक, टमाटर आदि सब्जियों का रस, छाछ तथा बेल (बिल्व) का चूर्ण अथवा मौसमानुसार फल लें। मौसम में बेल या बेल का शर्बत लें।

सोने के पूर्व सम मात्रा में आंवला तथा मेथी का चूर्ण डेढ़ चम्मच, दूध के साथ लें।

कुछ दिन तक पुराने कब्ज में रात्रि को त्रिफला चूर्ण अथवा इसबगोल की भूसी दूध के साथ लें। 25 ग्राम अमलतास दो सौ ग्राम पानी में उबालें। आधा बच जाने पर पिएं। हरड़, बहेड़ा, इसबगोल तथा अमलतास निरापद वनोषधि है किन्तु आहार नहीं है। इसलिए इनकी आदत नहीं लगायें।

खाने के समय पानी नहीं पिएं। खाने के एक घंटे पूर्व तथा बाद में प्रात:काल खाली पेट दिन भर में साढ़े तीन लीटर जल अवश्य पिएं। जल कम पीने से मल खुश्क हो जाता है, कब्ज रहने लगता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आंवला, बेल, केला, सेब, इसबगोल में स्थित पैक्टिन म्यूसिलेज, सेल्यूलोज मल को निकाल बाहर करते हैं। हेमिसेल्यूलोज डेक्स्ट्रीन रेशे तथा विभिन्न अम्ल आंतों की सर्पिल गति को सशक्त बनाते हैं। कॉलेस्ट्रॉल को नियमित रखते हैं। कब्ज दूर करते हैं। लहसुन में स्थित सेलेनियम अलाइल सल्फाइड, दही, छाछ, मट्ठा में स्थित लैक्टोबेसिलस बुल्गेरिस, एसिडोफिलस पैथोजेनिक बैक्टीरिया को नष्ट करते हैं।

उपरोक्त आहारों तथा फलों में विटामिन ए.बी.सी.ई. के एन्जाइम, खनिज लवण पर्याप्त मात्रा में मिलने से कुपोषणजन्य कब्ज दूर होता है।

## 7.0 नेत्र रोग (Eye Problem)

मानव के नेत्र एक यांत्रिक फोटोग्राफिक कैमरे की तरह काम करते हैं क्योंकि इसमें ठीक कैमरे की तरह एक लेंस, परिवर्तनीय अपरचर छिद्र, और फोटोफिल्म की तरह काम करने वाले रेटिना पाये जाते हैं। आंखों के लेंस सिस्टम में निम्नांकित अवयव होते हैं-

1. कार्निया के बाहरी सतह तथा वायुमंडल के बीच का रिक्त स्थान।
2. कार्निया के पृष्ठ सतह तथा जलीय एक्वस हयूमर के बीच का रिक्त स्थान।
3. एक्वस हयूमर तथा लेंस के बाहरी सतह का स्थान।
4. लेंस के अन्दर की सतह तथा विट्रस हयूमर के बीच का जलीय भाग।

लेंस के बाहर की ओर तथा लेंस के अन्दर की ओर के क्षेत्रों के बीच पाये जाने वाले अपवर्तनांक का अन्तर ही नेत्र की फोकस क्षमता का निर्धारण करते हैं। जिस प्रकार एक शीशे का बना हुआ लेंस किसी कागज पर प्रतिबिम्ब बना सकता है ठीक उसी प्रकार आंखों के अन्दर पाये जाने वाला लेंस रेटिना पर किसी बाह्य वस्तु का प्रतिबिम्ब अंकित करने की क्षमता रखता है। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि रेटिना पर बनने वाला प्रतिबिम्ब वस्तु के वास्तविक आकार से छोटा और उल्टा होता है परन्तु मस्तिष्क के अन्दर यह विलक्षण क्षमता होती है कि वह रेटिना के अवास्तविक और उल्टे प्रतिबिम्ब को सीधा और वास्तविक बनाकर देख सकता है, समझ सकता है।

आखो के रेटिना पर किसी वस्तु के प्रतिबिम्ब के बनने की प्रक्रिया निम्नांकित चार चरणो मे सम्पन्न होती है-

1. किसी भी बाह्य वस्तु से प्रकाश की किरणों का परावर्तित होकर लेंस तक पहुंचना।
2. प्रकाश की किरणों की मात्रा एवं गुणवत्ता के अनुसार फोकस बनाने के लिए लेंस का समायोजित होना।
3. आंखों के तारे (प्यूपिल-Pupil) का समायोजित होना।
4. आंखों का सम्पूर्ण रूप से समायोजित होना।

प्यूपिल का आकार और समायोजन आइरिस से जुड़ी हुई तीन चिकनी पेशियों- सिलियरी (रोमक) पेशियां, डाइलेटर पेशियां तथा कान्सट्रिक्टर पेशियों के कार्यों पर निर्भर करता है। इन सभी पेशियों को इन्ट्रिसिंक पेशियों के नाम से जाना जाता है क्योंकि ये सारी पेशियां नेत्र गोलक (Eye Ball) के अन्दर स्थित होती हैं। आंखों का फैलना, पुतलियों एवं पलकों का सामूहिक रूप से सिकुड़ना अथवा समायोजित होना नेत्रगोलकों के बाहरी सतह से जुड़ी पेशियों के कार्य पर निर्भर करता है, जिन्हे एक्सट्रिंसिक पेशियों के नाम से जाना जाता है।

### 7.0.1 नेत्र रोगों के प्रकार

बाह्य उद्दीपनों, कुपोषण अथवा असंतुलित आहार एवं उम्रवृद्धि के कारण आंखों में निम्नांकित रोग उत्पन्न होते हैं-

**7.0.1.1 जरादूरदृष्टि (Presbyopia)**- जैसे-जैसे व्यक्ति की उम्र बढ़ती है, उसकी आंखों में पाये

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जाने वाले लेंस की प्रत्यास्था (clasticity) क्षमता घटती जाती है और लेंस, जो पहले आवश्यकतानुसार फैलने-सिकुड़ने में सक्षम होता था, एक ठोस एवं कड़े पदार्थ के रूप में परिवर्तित हो जाता है। ऐसा सम्भवत: लेंस की रचना करने वाली प्रोटीन की अनवरत विकृति का नतीजा होता है। ऐसी अवस्था आने पर लेंस की सामान्य गोलाकार (वृत्ताकार) आकृति बिगड़ कर कुछ टेढ़ी हो जाती है और लेंस की समायोजन क्षमता अत्यधिक घट जाती है। जन्म के समय से लेकर युवावस्था में आने तक आंखों की समायोजन क्षमता 14 डायाप्टर्स होती है जबकि 50-55 वर्ष तक आते-आते यदि जरादूरदृष्टि का दोष उत्पन्न हो जाए तो यह क्षमता घटकर 2-3 डायाप्टर्स रह जाती है। यदि इसको रोका न जायें तो यह क्षमता बिल्कुल नष्ट भी हो सकती है। तब व्यक्ति एक निश्चित दूरी तथा निश्चित कोण से ही साफ देख पाता है, अन्यथा बिल्कुल नहीं।

**7.0.1.2 दूरदृष्टि दोष (Hypermetropia)**- इस बीमारी में व्यक्ति को नजदीक की वस्तुएं साफ नहीं दिखाई देती हैं जबकि दूर की वस्तुओं को वह स्पष्ट रूप से देख सकता है। मनुष्य की आंखों को "इमेट्रोपिक" (Emmetropic) माना जाता है क्योंकि इसमें आवश्यकतानुसार नजदीक और दूर दोनों ही दूरियों पर स्थित वस्तुओं को समायोजन करने की क्षमता होती है। जब लेंस में जरादृष्टि दोष उत्पन्न हो जाता है, पेशियां कमजोर पड़ जाती हैं तब वे दूर के फोकस से हटकर नजदीक की वस्तुओं को फोकस नहीं कर पाती क्योंकि फोकस करने के लिए नेत्रगोलक, आइरिस, अपरचर तथा इन्ट्रिंसिक पेशियों की समायोजन क्षमता नष्ट हो चुकी होती है।

**7.0.1.3 निकटदृष्टि दोष (Myopia)**- आंखों की इस खराबी के अन्तर्गत लेंस तथा नेत्रगोलक से जुड़ी पेशियों की शिथिलता एवं कमजोरी के चलते व्यक्ति को दूर की वस्तुएं साफ नहीं दिखाई देती हैं। दूर स्थित वस्तुओं से आने वाली प्रकाश की किरणें अपरचर से होती हुई लेंस से गुजर कर जब प्रतिबिम्ब बनाती हैं तो वह प्रतिबिम्ब रेटिना पर न बनकर उसके आगे ही बन जाता है इसलिए वह फोकस रेंज के बाहर होता है और वस्तु धुंधाली दिखती है।

**7.0.1.4 मोतियाबिन्दु (Cataract)**- लेंस का निर्माण करने वाली प्रोटीनों के क्षरण तथा लेंस के अन्दर जलीय तत्त्व की परत चढ़ जाने से लेंस पारदर्शी न होकर अर्धपारदर्शी रह जाता है और धुंधला एवं दुग्ध सफेद सा दिखता है। इसके कारण जब किसी वस्तु से आने वाली प्रकाश की किरणें लेंस से होकर गुजरती हैं तो उनकी क्षमता घट जाती है और वे रेटिना पर स्पष्ट एवं चमकदार प्रतिबिम्ब बनाने के बजाय धुंधला प्रतिबिम्ब बनाती हैं। कई बार तो प्रतिबिम्ब इतना अस्पष्ट होता है कि कुछ भी दिखाई नहीं देता। मूलत: तो यह अनियमितता उम्र बढ़ने के साथ उत्पन्न होती है परन्तु चोट या घाव, रेडियो-धर्मिता, विषैली गैसों तथा कतिपय औषधियों के दुष्परिणाम के कारण भी मोतियाबिन्दु उत्पन्न होता है।

**7.0.1.5 ग्लूकोमा (Clucoma)**- उम्रदराज लोगों में अन्धता उत्पन्न होने का यह एक प्रमुख कारण है। नेत्र गोलकों में पाये जाने वाले जलीय द्रवों (एक्वस ह्यूमर तथा विट्रस ह्यूमर) की सांद्रता अत्यधिक बढ़ जाने के कारण यह रोग उत्पन्न होता है। ये जलीय द्रव, जो समय-समय पर रक्त प्रवाह के साथ बाहर निकल जाया करते हैं, जब नेत्र गोलकों में एकत्र होने लगते हैं तो उनके दबाव के कारण रेटिना और उससे जुड़ी तंत्रिका कोशिकाएं (Neurons) नष्ट होने लगती हैं और यदि इसे नियंत्रित न किया जाए तो पूर्णअंधता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

**7.0.1.6 रतौंधी (Night Blindness)**- विटामिन-ए की महती कमी से रतौंधी रोग उत्पन्न होता है। जब रक्त के अन्दर विटामिन की मात्रा सामान्य से बहुत कम हो जाती है तो प्रतिबिम्ब निर्माण करने वाले फोटो संवेदी 'राड' एवं 'कोन' अत्यन्त घट जाती है और कम प्रकाश में किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब बना पाने में सक्षम नहीं होते इसलिए रात में कुछ भी नहीं दिखाई देता। दिन के भरपूर प्रकाश मे अथवा रात में भी तीव्र प्रकाश में वस्तुएं ठीक-ठीक नजर आती हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## 7.0.2 नेत्र रोगों के प्रमुख कारण

नेत्रों में विकृति उत्पन्न करने वाले प्रमुख कारणों को निम्नानुसार सूचीबद्ध किया जा सकता है—

1. पोषाहार का असन्तुलन (पोषक तत्त्वों की कमी)।
2. भोजन में विटामिन-ए की कमी।
3. सिर में गम्भीर चोट लगना।
4. उत्तेजक, मादक वस्तुओं का सेवन।
5. नेत्रों में लम्बे-लम्बे समय तक तेज धूप का लगते रहना।
6. लगातार महीन वस्तुओं का अवलोकन अथवा महीन अक्षरों की पढ़ाई।
7. नेत्रों में धूलकणों एवं धूएं का बार-बार लगते रहना।
8. तेज बिजली की रोशनी में पढ़ना।
9. चलते हुए वाहनों में पढ़ना।
10. अत्यन्त कम प्रकाश में पढ़ना या कोई महीन काम करना।
11. अत्यधिक और असामान्य रूप से कम दूरी से सिनेमा या टीवी देखना।
12. कब्ज रहना।
13. डर, चिंता, क्रोध और मानसिक उद्वेग।
14. बुढ़ापा एवं उम्र बढ़ने के अनुसार जीवनशैली में परिवर्तन न करना।

## 7.0.3 नेत्र रोगों का उपचार

### I. ध्यान-योग चिकित्सा

**आसन**—गर्दन एवं नेत्रों की यौगिक क्रियाएं, सिंहासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन।

**प्राणायाम**—नाड़ीशोधन, दीर्घश्वास, शीतली—15 मिनट।

**प्रेक्षा**—आंख पर हरे तथा जामुनी रंग का ध्यान—10 मिनट।

**अनुप्रेक्षा**—आंख की स्वस्थता का सुझाव—"मेरी आंखें स्वस्थ हो रही हैं"—15 मिनट।

**विशेष**—पामिंग, फोकस करने वाले अभ्यास अर्थात् त्राटक (कैडिंल गेजिंग, शोल्जर गेजिंग, अधो एवं ऊर्ध्वगेजिंग, दृष्टिपट गेजिंग), कटिस्नान, मेहन स्नान, स्थानीय (नेत्रों का) भाप स्नान आदि प्रयोग करने से नेत्रों के विकार अतिशीघ्र दूर होते हैं।

### II. आहार संयम

नेत्र रोगों में भोजन के रूप में उन खाद्य पदार्थों को पर्याप्त मात्रा में ग्रहण करना चाहिए जिनमें प्रचुर मात्रा में विटामिन 'ए' पाया जाता है, जैसे—धारोष्ण दूध, मक्खन, गोभी, शलजम, मेथी का साग, गाजर, टमाटर, सोयाबीन, हरा धनिया आदि। विटामीन-बी, सी और डी वाले पदार्थ भी नेत्र रोगों के लिए लाभकारी होते हैं। नेत्र रोगियों को बेर और आलूबुखारे को छोड़कर सब तरह के फल तथा मटर, सेम एवं लोबिया को छोड़कर सभी हरी सब्जियां हितकारी होती हैं।

सदैव हल्का, सुपाच्य, शाकाहारी भोजन ही लेना चाहिए। उत्तेजक खाद्य पदार्थ एवं तेज मिर्च-मसाले वाले खाद्य पदार्थ नहीं लेना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 7.1 अनिद्रा (Insomnia)

### 7.1.1 नींद क्यों आती है?

निद्रा और जागृति (सोना और जागना) हमारे दैनिक जीवन में एक निश्चित क्रम से घटित होते हैं, जिसे सर्केडियन रिदम कहते हैं। जब हमारा मस्तिष्क जाग्रत होता है तो वह चेतन रूप से बाहर की सभी घटनाओं एवं विविधप्रकार के उद्दीपनों एवं सूचनाओं के उत्तर में प्रतिक्रिया करने या उनका उत्तर देने को तत्पर रहता है। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि मस्तिष्क की रचना छोटी-छोटी इकाई कोशिकाओं से मिलकर होती है, जिन्हें 'न्यूरॉन' कहते हैं। जब वे काम करते-करते थक जाते हैं तो काम करना बंद कर देते हैं जिसके परिणामस्वरूप ऐसी स्थिति आती है जब श्वास लेने जैसी कुछ आवश्यक क्रियाओं को छोड़ शरीर के द्वारा की जाने वाली सारी गतिविधियां बंद हो जाती है, आंखें मूंद जाती हैं और मस्तिष्कीय चेतना समाप्त हो जाती है तथा शरीर सर्वथा शिथिल एवं निश्चल हो जाता है। इसे ही नींद या निद्रा आना कहते हैं। न्यूरॉनों की थकान दूर होने पर वे पुन: सक्रिय हो उठते हैं और मस्तिष्कीय चेतना लौट आती है। शरीर सक्रिय हो उठता है इसे ही जागृति या जागना कहते हैं। यदि जागृतावस्था में मस्तिष्कीय तरंगों की रिकॉर्डिंग की जाए तो यह तथ्य सामने आता है कि इस अवस्था में मस्तिष्क का मुख्य मार्ग, जिसे सेरिब्रल कार्टेक्स कहते हैं, अत्यधिक सक्रिय होता है। इससे लगातार विद्युतीय तरंगों के रूप में संकेत और निर्देश शरीर के विभिन्न भागों में भेजे जा रहे होते हैं। नींद की अवस्था में सेरिब्रल कार्टेक्स से भेजे जाने वाले विद्युतीय संकेतों की संख्या अतिन्यून होती है। वास्तव में सेरिब्रल कार्टेक्स की यह तत्परता और सक्रियता मस्तिष्क में ही पाये जाने वाले विशेष प्रकोष्ठ से होती है जिसे रेटिकुलर फार्मेसन कहते हैं। यह प्रकोष्ठ मध्यमस्तिष्क एवं पश्चमस्तिष्क तना के चयनित क्षेत्रों में स्थित कतिपय न्यूरानों के एक साथ मिलकर एक ही प्रकार के काम (सोने और जागृत रहने) के नियंत्रण करने के कारण अस्तित्व में आता है और इसे रेटिकुलर एक्टिवेटिंग सिस्टम (आर. ए. एस) कहते हैं। सही बात तो यह है कि निद्रा और जागृति का नियन्त्रण रेटिकुलर फार्मेसन से ही होता है। यह कार्य सम्पादित करने के लिए यह ज्ञानवाही और क्रियावाही तंत्रिकाओं की मदद से शरीर के विभिन्न भागों से सूचनाओं का आदान-प्रदान कर फिर तदनुरूप मस्तिष्क को सक्रिय करता है और बदले में मस्तिष्क इसे सक्रिय बनाता है और बनाये रखता है। जब इस दोतरफा मार्ग से संकेतों का आदान-प्रदान बन्द हो जाता है तो रेटिकुलर फार्मेसन सुस्त पड़ जाता है और व्यक्ति को नींद आ जाती है। नींद की अवस्था में पेशियां भी पूरी तरह निष्क्रिय हो जाती है इसलिए हाथ, पैर और शरीर के विभिन्न अंगों में हलन-चलन रूक जाती है। रेटिकूलर फार्मेसन की गतिविधियां क्रमिक और लयबद्ध ढंग से चलती है जिसके फलस्वरूप निद्रा और जागृति का क्रम नियमित और लयबद्ध चलता रहता है। इसे ही वैज्ञानिकों ने शरीर की जैविक घड़ी की संज्ञा दी है।

### 7.1.2 नींद की अवस्थाएं

नींद की सम्पूर्ण अवधि को दो भागों में बांटा जा सकता है—

**7.1.2.1 नान-रेम निद्रा (नान रैपिड आई मूवमेन्ट निद्रा)**—इसे स्थिर नेत्र निद्रा भी कहते हैं। नींद की यह अवस्था चार चरणों में पूरी होती है—

**1. प्रथम चरण**—यह जागने और सोने के बीच की प्रथम और परिवर्तन की अवस्था होती है। इसकी कुल अवधि एक से सात मिनट की होती है। इसमें व्यक्ति आंखे बन्द कर पूरी तरह निढाल पड़ा होता है, श्वास की गति एक समान होती है जबकि नाड़ी की गति घटती-बढ़ती है। ई.ई.जी. रिकार्डिंग में थीटा तरंगें अधिक पाई जाती है। व्यक्ति आते-जाते विचारों की श्रृंखला में खोता जाता है। इस अवस्था में यदि व्यक्ति को आवाज दी जाए तो उसका उत्तर यही होगा कि वह सो नहीं रहा है।

**2. द्वितीय चरण**—यहां से वास्तविक नींद का प्रारम्भ होता है। इस चरण में प्रवेश के बाद व्यक्ति को हल्के संकेतों या हल्की ध्वनि करके जगाया नही जा सकता। नेत्र गोलक बहुत धीरे-धीरे दायें से बायं और बायें से दायें घुमते हैं। मस्तिष्कीय तरंगों में बीटा तरंगों की अधिकता होती है तथा इसकी अवधि लगभग 5 से 7 मिनट की होती है।

Sanvishva Bharati Institute (Deemed University), Agra

**3. तृतीय चरण**—यहां से गहरी नींद का प्रारम्भ होता है। इस चरण में प्रवेश करते ही शरीर पूरी तरह शिथिल हो जाता है, शरीर का तापमान और रक्तचाप कम हो जाता है। यह अवस्था सोना प्ररम्भ करने के लगभग 15 से 25 मिनट के बाद आती है। इसमें डेल्टा तरंगों की बहुलता होती है तथा इसकी अवधि लगभग 10 से 12 मिनट की होती है।

**4. चतुर्थ चरण**—यह गाढ़ी नींद की अवस्था होती है। इसमें शरीर पूरी तरह स्थिर और शिथल रहता है। नाड़ी गति, तापमान एवं रक्तचाप एक समान बने रहते हैं। डेल्टा तरंगों की प्रचुरता रहती है तथा इस चरण की अवधि 70 से 90 मिनट की हो सकती है।

**7.1.2.2 रेम निद्रा (रैपिड आई मूवमेन्ट निद्रा)**—इसे सचल नेत्र निद्रा भी कहते हैं। नान रेम निद्रा के चरणों की समाप्ति के बाद रेम निद्रा का एक क्रम अवश्य आता है। इसमें नेत्र गोलक स्वयं ही बार-बार बायें से दायें ओर से दायें से बायें तेजी से घूमते रहते हैं। श्वसन की गति और नाड़ी गति अनियंत्रित होकर बढ़ जाती है। रक्तचाप घटता-बढ़ता रहता है। सोने वाला गाढ़ी नींद से निकलकर नानरेम निद्रा के तीसरे और दूसरे चरण में लौट आता है। अधिकतर सपने इसी अवस्था में आते हैं। इसकी अवधि 10 मिनट से लेकर 40 मिनट तक हो सकती है।

हम जब भी सोते हैं नान-रेम और रेम दोनों प्रकार की निद्राओं का क्रम चलता रहता है। लगभग 1 घंटे 30 मिनट की नान-रेम निद्रा के बाद पहला दौर रम निद्रा का होता है जो 10 मिनट का होता है। दूसरी बार पुन: डेढ़ घंटे बाद जब रेम निद्रा का समय आता है तो इसकी अवधि 15 से 20 मिनट की हो जाती है। 6 घंटे की मधुर नींद में रेम निद्रा के कम से कम तीन दौरे आते ही है। परन्तु यदि सोने की अवधि बढ़ती जाती है तो उस स्थिति में नान-रेम की अवधि तो क्रमश: घटती जाती है और रेम निद्रा की अवधि बढ़ती जाती है। ऐसा होना और प्राय: ऐसा होते रहना स्वास्थ्य की दृष्टि से उचित नहीं होता।

## 7.1.3 अनिद्रा के कारण एवं लक्षण

उम्र बढ़ने के साथ सामान्य नींद का क्रम अवश्य ही बदलता है जिसके कारण नान-रेम और रेम निद्राओं की अवस्थाओं के अनुपात में भी बदलाव आता है। परन्तु यह बदलाव जैविक घड़ी की अनुमति एवं उसकी सहमति से सम्पन्न होता है इसलिए अधिक हानि नहीं होती परन्तु नान रेम निद्रा के तीसरे और चौथे चरण की अवधि में कमी अथवा ठीक-ठीक से नींद न आना या फिर पूरी तरह नींद से वंचित हो जाना अनियमितता का प्रारम्भ होता है। यह देखा गया है कि अनियमितता की शुरुआत देर रात तक जागने और प्राय: देर तक सोने से होती है। यदि इस प्रकार की स्थिति का सुधार हो जाए तो कुछ समय बाद पूरी तरह रेम और नान रेम निद्रा के क्रमों का व्यतिक्रम हो जाता है। इसके अतिरिक्त तनावपूर्ण जीवनशैली, चाय, कॉफी का अत्याधिक सेवन, मानसिक अवसाद और चिन्तन, कोई शारीरिक असुविधा या रोग, नशीली दवाओं एवं शराब का सेवन तथा अधिक धूम्रपान से भी नींद का व्यतिक्रम होता है और इन कारणों को यदि समय रहते नियोजित न किया जाए या इन्हें छोड़ा न जाए तो कुछ समय पश्चात् नीद न आना, कम समय के लिए नींद आना, रात में बार-बार नींद टूट जाना, आधी रात के बाद बिल्कुल नींद न आने का अंतहीन सिलसिला शुरु हो जाता है, इसे ही अनिद्रा रोग की संज्ञा दी जाती है। इस रोग से ग्रस्त रोगी की आंखें हमेशा सूजी और लाल रहती हैं। चेहरे पर भारीपन और पसीने की चिकनाहट दिखती है। हाथ-पैरों में कम्पन होता है और थोड़े से शारीरिक श्रम से चक्कर आता है। रक्तचाप प्राय: बढ़ जाता है।

शराब और मादक द्रव्यों का सेवन अनिद्रा का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कारण होता है। कई लोग यह मानकर कि शराब पीकर सोने से अच्छी नींद आती है, सोने से पूर्व शराब का सेवन करते हैं जबकि वस्तुस्थिति इससे बिल्कुल उलटी है। शराब नाम-रोग निद्रा के समूचे नियमित क्रम को बिगाड़ कर रख देती है जिससे नान-रेम निद्रा की अवधि तो घटती जाती है और रेम निद्रा की अवधि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और फिर एक ऐसी स्थिति आती है कि गाढ़ी नींद प्रयास करने से भी नहीं आती। बार-बार नींद टूटती है और सपने आते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अत्यधिक धुम्रपान से भी अनिद्रा की स्थिति उत्पन्न होती है। पहले तो नींद आती नहीं और आती भी है तो बहुत विलम्ब से। यदि आ भी जाती है तो बार-बार टुटती है। नान-रेम निद्रा के एक चक्र की अवधि 90 मिनट से घटकर मात्र 20-25 मिनट रह जाती है। कमोवेश यही स्थिति अत्याधिक चाय, काफी या मादक द्रव्यों के सेवन से भी उत्पन्न होती है। इनके अन्दर पाये जाने वाले रासायनिक पदार्थों के प्रभाव से न्यूरान इस प्रकार सुप्त पड़ जाते हैं कि वे अपने नियमित कार्यों को भी भूल जाते हैं और व्यक्ति शारीरिक, मानसिक चैतन्यता के असंतुलन के साथ नींद की भारी कमी का शिकार बन जाता है।

शारीरिक और मानसिक तनाव वर्तमान युग की जीवनशैली की देन है। ये तनाव अन्ततोगत्वा स्वास्थ्य की बर्बादी के कारण बनते हैं और इसका प्रारम्भ होता है अनिद्रा से। तनाव से ग्रस्त व्यक्ति कभी पूरी नींद नहीं ले पाता।

इसके अतिरिक्त विभ्रम, श्वास की बीमारी जैसे— अस्थमा, कफ, खांसी, गले का रोग (गलगण्ड) होने से भी अनिद्रा रोग उत्पन्न होता है। अनिद्रा ऐसा रोग है जो अन्य अनेक रोगों को जन्म देता है। इनमें कई मनोरोग भी शामिल होते हैं। डिप्रेशन (उदासीनता) अनिद्रा से उत्पन्न होने वाले रोगों में से एक मनोरोग है। इससे पीड़ित व्यक्ति अपना आत्मविश्वास खो बैठता है। किसी काम में उसका मन नहीं लगता और उसकी पूरी दिनचर्या अस्तव्यस्त हो जाती है। मानसिक उन्माद भी अनिद्रा से पैदा होने वाला मनोरोग है जिसमें व्यक्ति अपना मानसिक सन्तुलन बनाकर नहीं रख पाता, जिसके कारण उसे तरह-तरह की शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

## 7.1.4 अनिद्रा के परिणाम

एक वयस्क एवं स्वस्थ व्यक्ति का अपना स्वास्थ्य बनाये रखने तथा स्वयं को तरोताजा रखने के लिए छः घंटे सोना आवश्यक बताया गया है। अनिद्रा के कारण शरीर के अन्दर अनवरत चलने वाली चयापचय की क्रियाएं असंतुलित हो जाती हैं। शरीर को चलाने और उसे स्वस्थ बनाए रखने के लिए इसके अन्दर का भौतिक और रासायनिक वातावरण एक जैसा होना चाहिए। इसे ही साम्यावस्था या होमियोस्टेसिस कहते हैं। सन्तुलित चयापचय की दर के कारण ही साम्यावस्था बनी रहती है। इसके बिगड़ जाने पर शरीर के अन्दर पाये जाने वाले रसायनों का निर्माण, उनका श्रम अनियमित एवं अनियंत्रित हो जाता है जिसके फलस्वरूप शरीर के लगभग सभी तंत्रों के काम समयानुसार नहीं हो पाते। शरीर की सारी यांत्रिक क्रियाएं प्रभावित होती हैं, विशेषकर पेशियों का काम रूक जाता है। शरीर में ऊर्जा का उत्पादन अत्यधिक घट जाता है। हमेशा थकान की स्थिति बनी रहती है। रोग-प्रतिरोधक क्षमता घट जाती है जिसके कारण शरीर दूसरे अन्य रोगों का शिकार होने लगता है। इसके साथ-साथ मानसिक बेचैनी, निराशा, कुंठा आदि के भाव पैदा होने से न केवल कार्यक्षमता प्रभावित होती है बल्कि स्वभाव में आया तीखापन एवं चिड़चिड़ापन व्यक्ति को अपनों के बीच ही अप्रिय बना देता है और जीवन एक बोझ-सा लगने लगता है।

## 7.1.5 अनिद्रा का उपचार

अनिद्रा रोग में दवाओं से अधिक यदि हम किंचित अपनी दैनिक परिचर्या को नियमित बनाने पर ध्यान दे सकें तो शत-प्रतिशत लाभ होने की पूरी सम्भावना रहती है। यौगिक चिकित्सा शरीर और मन के समग्र एवं एकीकृत सम्बन्धों पर आधारित होती है। इसी सिद्धान्त के आलोक में अनिद्रा रोग को दूर करने के लिए निम्न चिकित्साक्रम अपनाया जा सकता है।

1. **षट्क्रिया**—जलनेति एवं कुंजल क्रिया—प्रतिदिन एक बार, प्रातःकाल लघुशंका प्रक्षालन—सप्ताह में एक बार।

2. **यौगिक क्रियाएं**—सिर की, गर्दन की, वक्ष की, कमर की, पेट की, हाथ-पैरों की एवं श्वास की क्रियाएं—प्रत्येक की तीन-तीन आवृत्ति, प्रातःकाल।

3. **सूर्य नमस्कार**—सम्पूर्ण 12 अवस्थाओं की दो आवृत्ति—प्रतिदिन एक बार, प्रातःकाल

4. **मुद्रा**—विपरीत करणी मुद्रा—3 आवृत्ति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5. **प्राणायाम**–नाड़ी शोधन प्राणायाम–5 मिनट
6. **कायोत्सर्ग**–सुप्त कायोत्सर्ग–20 मिनट–प्रात:काल एवं रात में सोने से पूर्व–20 मिनट
7. **प्रेक्षाध्यान**–श्वास प्रेक्षा एवं ज्योति केन्द्र प्रेक्षा–10 मिनट–एक बार
8. **आहार संयम**–
    1. केवल सुपाच्य खाद्य वस्तुओं का सेवन करें।
    2. मिर्च, मसालों एवं तली हुई खाद्य वस्तुओं का निषेध करें।
    3. चाय-कॉफी का सेवन पूरी तरह बन्द करें।
    4. बिना मसाले की या अति अल्प मसालों वाली सब्जियों, ताजे मौसमी फलों और पत्तेदार सलाद का भोजन में समावेश करें।
9. **जीवनशैली**—
    1. उतावलेपन और चिंता से मुक्त रहने का प्रयास करें। छोटी-छोटी बातों पर अनावश्यक प्रतिक्रिया से बचें।
    2. सोने और सोकर उठने का समय निश्चित करें परन्तु किसी भी स्थिति में रात देर तक जागने का निषेध करें।
    3. शयनकक्ष को स्वस्थ रखें, उसमें कम से कम सामान रखें तथा शयन कक्ष की दीवारों एवं बिस्तर आदि का रंग अधिक गाढ़ा एवं आंखों को चुभता हुआ न रखें।
    4. धूम्रपान, शराब एवं अन्य किसी भी प्रकार के मादक पदार्थ के सेवन का सर्वथा निषेध करें।
    5. अनावश्यक दवा की गोलियों के सेवन से बचें।
    6. दिन में कदापि न सोयें। तेज गर्मी एवं लू के मौसम में कुछ देर आराम किया जा सकता है परन्तु लम्बी अवधि के लिए सोने का प्रयास न करें।
    7. शयन कक्ष का तापमान एवं रोशनी की व्यवस्था मौसम के अनुकूल रखें।
    8. रात को सोने से पूर्व गर्मी में शीतल जल से तथा सर्दियों में गुनगुने पानी से पैर धोकर सोयें।
    9. सोने से एक घंटे पूर्व भोजन कर लें। सोते समय यथावश्यक ठण्डा दूध पीना लाभकारी होता है।
    10. रात को सोने से पूर्व सारे शरीर पर हल्के हाथों से तेल की मालिश से भी लाभ मिलता है।
    11. यदि रुचि हो तो सोने का उपक्रम करते समय मधुर एवं शांत संगीत अत्यन्त धीमी आवाज में चला लें।

## 7.2 नाड़ीतंत्र (स्नायुतंत्र) दौर्बल्य (Nervous Weakness)

वर्तमान शताब्दि को स्नायुविक रोगों की शताब्दि कहा गया है क्योंकि लाखों में कोई विरला व्यक्ति ही होगा जो स्नायुविक रोगों से पूरी तरह मुक्त होगा। हर चिकित्सा पद्धति के अपने-अपने ढंग से किये गये अथक प्रयासों के बावजूद इन रोगों से मुक्ति संभव नहीं हो सकी है। मनोविज्ञान के विशेषज्ञ भी अपने ढंग से प्रयास करते आये हैं परन्तु उन्हें भी अपेक्षित सफलता नहीं मिल सकी है। तंत्रिका तंत्र शरीर का नियामकतंत्र (Regulatory System) है जो शरीर की तमाम यांत्रिक और जैव-रासायनिक क्रियाओं का नियमन एवं नियोजन करता है। इसकी दुर्बलता से, इसके कमजोर हो जाने से शरीर की विविध क्रियाओं में असंतुलन उत्पन्न होता है। इसके परिणाम स्वरूप शरीर के अन्दर अनेकानेक रोगों का आक्रमण होता है। स्नायुविक दुर्बलता का सम्बन्ध एक अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू से भी है। किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण उसके शरीर और मन के सामूहिक अन्तर्सम्बन्धों की परिणति से होता है। मन के स्वरूप के बारे में कोई स्पष्ट एवं निश्चित अवधारणा अब तक नहीं बन पाई है। पर एक बात अवश्य है कि मन के कार्यों की परिणति तंत्रिका तंत्र (Nervous System) के माध्यम से ही होती है। तंत्रिका तंत्र के दुर्बल होने का अर्थ यह लिया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जा सकता है कि उसके अवयव अर्थात् मस्तिष्क, सुषुम्ना एवं तंत्रिकाएं कमजोर हो गई हैं और अपना काम ठीक ढंग से नहीं कर पा रही हैं। चूंकि मन की गतिविधियों का क्रियान्वयन इन अंगों के माध्यम से होता है इसलिए उपरोक्त दुर्बलता की अवस्था में मन का कार्य भी सुचारू रूप से चल पाना संभव नहीं दिखाई देता। मस्तिष्क, सुषुम्ना और तंत्रिकाएं एक अंग के रूप में कार्य करते हैं इसलिए इनकी विकृति में अनेक कारकों का योग देखा जाता है।

## 7.2.1 स्नायुविक दुर्बलता के लक्षण

स्नायुविक दौर्बल्य का कोई एक लक्षण नहीं होता बल्कि इसके कारण विभिन्न जैविक क्रियाओं में इस प्रकार विकृति भरे सामूहिक परिवर्तन दिखते हैं जो रोग की गम्भीरता को रेखांकित करते हैं। इनमें कुछेक लक्षणों को यहां उद्धृत किया जा रहा है—

1. बराबर कब्ज बने रहना तथा भोजन से सर्वथा अरुचि हो जाना।
2. बराबर सिर दर्द बने रहना तथा थकावट अधिक मालुम होना।
3. बार-बार दूषित विचारों का आना, निराशा, कुंठा, क्रोध, बेचैनी, घबराहट, उदासी, भय, ईर्ष्या एवं घृणा के भावों से व्याप्त होना।
4. इच्छा शक्ति का समाप्त प्राय: हो जाना और हमेशा दिग्भ्रमित बने रहना।
5. रक्तचाप एवं रक्त संचार की अनियमितता।
6. शरीर में बार-बार कम्पन होना तथा पेशियों का बार-आर अनायास फड़कते रहना।
7. समस्त अनैच्छिक गतिविधियों एवं क्रियाओं में अनावश्यक नकारात्मक परिवर्तन दिखना।

## 7.2.2 स्नायुविक दौर्बल्य के कारण

स्नायुविक दुर्बलता के कारणों को निम्न प्रमुख बिन्दुओं में सूचीबद्ध किया जा सकता है—

1. अत्यधिक मांसाहार का सेवन।
2. भोजन में तेल, खटाई, मसालों एवं उत्तेजक खाद्य पदार्थों का सेवन।
3. नशीले पदार्थों एवं नशीली दवाओं का प्रयोग बार-बार करना।
4. शरीर से मलनिष्कासन उचित ढंग से उचित समय पर न हो पाना।
5. तथाकथित एडवान्स जीवनशैली में जीना।
6. तनावग्रस्त बने रहना।

उपरोक्त दोषपूर्ण कारकों के परिणामस्वरूप शरीर में एक प्रकार का रासायनिक विष भरा माहौल बनता है, जिसके चलते शरीर के प्रत्येक भाग में मौजूद स्नायुविक तंतुओं पर कठोर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। या तो वे नष्ट होने लगते हैं या फिर उनकी कार्यक्षमता उल्लेखनीय रूप से घट जाती है। तब शरीर के तमाम तंत्रों को नियोजित करने की प्रक्रिया में बाधा उत्पन्न होती है और शरीर में विभिन्न प्रकार के अन्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं। व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो अत्यधिक कड़ी मेहनत के कारण उत्पन्न हुई थकावट, मेहनत बिल्कुल न करना, पूरी नींद न लेना, स्वास्थ्य की अवहेलना करते हुए प्रतिकूल काम करना, समुचित विश्राम न करना, जननेन्द्रियों की अति थकावट, बेमेल विवाह और अनुचित यौन सम्बन्ध, दुर्गंधयुक्त घुटन भरे वातावरण में निवास करना और समाज से छिपाये जाने वाले अमर्यादित कार्यों में लिप्त रहने के कारण ही प्राय: स्नायुविक दुर्बलता का जन्म होता है।

## 7.2.3 उपचार एवं चिकित्सा

**1. उपवास और उपयुक्त आहार**—तंत्रिकीय दुर्बलता से छुटकारा पाने का सर्वप्रथम उपाय उपवास द्वारा शरीर को उसमें व्याप्त अम्ल-विष से मुक्त करना है। उपवास की अवधि और प्रकार सदैव किसी विशेषज्ञ की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

देखरेख में तय की जानी चाहिए। उपवास के दिनों में शरीर और विशेषतौर पर मस्तिष्क को भरपूर आराम देना चाहिए तथा रात को सोते समय एनिमा द्वारा पेट को साफ कर लेना चाहिए। उपवास काल में पानी या नींबू का रस मिला पानी प्रचुर मात्रा में पीते रहना चाहिए।

ऐसा आहार लेना चाहिए जिसमें फास्फोरस, कैल्शियम, सोडियम, पौटेशियम और लोहा आदि पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हों। इसके परिणामस्वरूप नाड़ियों की शक्ति का पुनर्निमाण होता है और निर्जीव से हो रहे तंत्रिका कोश (Nerve Cells) जीवन्त हो पाते हैं। केवल भोजन सुधार से ही अनेक प्रकार की स्नायुविक दुर्बलता दूर होती है तथा रोगी खोये हुए उत्साह, मन:शक्ति एवं मस्तिष्क की शक्ति को पुन: प्राप्त करने में सफल होता है।

**2. व्यायाम**—प्रतिदिन नियमित रूप से हल्का-फुल्का व्यायाम भी नाड़ियों को सशक्त बनाने में बड़ा सहायक होता है। प्रतिदिन सुबह-शाम शक्ति भर टहलना एवं टहलते हुए शुद्ध एवं ताजी वायु का सेवन एक सरल एवं अच्छा व्यायाम माना जाता है।

**3. प्राकृतिक उपचार**—एप्सम साल्ट बाथ, रीढ़ पर ठंडे पानी का तरेरा, रीढ़ की पट्टी, कमर की भीगी पट्टी, कटि स्नान, मेहन स्नान, सूर्य स्नान आदि उपाय रोग को जड़मूल से नष्ट करते हैं।

**4. प्रेक्षा-योग उपचार**—

**आसन**—यौगिक क्रियाएं, सुप्त वज्रासन, वज्रासन में मूलबन्ध।

**प्राणायाम**—प्रत्येक अवयव पर ध्यान केन्द्रित कर मूलबन्ध के साथ सूक्ष्म भस्त्रिका, नासामुख प्राणायाम—5 मिनट।

**प्रेक्षा**—कायोत्सर्ग में पीले रंग के प्रवाह की अवधारणा करते हुए पूरे शरीर की प्रेक्षा करना।

**अनुप्रेक्षा** नाड़ीतंत्र की स्वस्थता का सुझाव 15 मिनट।

**तप**—मौन का अभ्यास, कोलाहल से बचाव।

## 7.3 स्मृति दौर्बल्य (Meamory Weakness)

स्मृति मूल रूप से मस्तिष्क के विभिन्न भागों की कोशिकाओं (Neurons), विशेषकर सेरिब्रल कार्टेक्स की कोशिकाओं की सामूहिक कार्यक्षमता का परिणाम होता है। मस्तिष्क में तंत्रिकाओं के द्वारा जो भी संदेश लाया जाता है उसका विश्लेषण सेरिब्रल कार्टेक्स में ही किया जाता है। तत्पश्चात् उसकी प्रतिक्रिया तैयार होती है और फिर प्रतिक्रियाओं का क्रियान्वयन किया जाता है। इन सबके लिए आवश्यक दिशा-निर्देश मस्तिष्क से ही जारी किये जाते हैं। किसी-न-किसी रूप में इन सब प्रतिक्रियाओं का सम्बन्ध व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के साथ होता है। जहाँ एक ओर प्रतिक्रियाओं की क्रियान्विति के लिए आदेश प्रसारित किया जाता है वहीं ये सारी बातें मस्तिष्क के अन्दर विशेष रूप से बने स्मृति प्रकोष्ठ में संचित होती रहती है और जब-जब ये घटनाएं स्मृति प्रकोष्ठ से बाहर निकलती हैं मस्तिष्क के अन्दर उसी प्रकार हलचल प्रारम्भ होती है और उसके प्रभाव शरीर में दृष्टिगोचर होते हैं। कभी-कभी ये प्रभाव नकारात्मक होते हैं तो कभी-कभी ये प्रतिक्रियाएं आवश्यक भी होती हैं। स्मृति प्रकोष्ठ की दुर्बलता के कारण जब वहाँ संचित बातें बाहर नही आती तो व्यक्ति को व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक प्रतिकूलताओं का सामना करना पड़ता है जो उसके शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करती हैं। स्मृति की वैज्ञानिक प्रक्रिया तथा इसके प्रकार एवं प्रभाव के बारे मे आप विस्तार से पूर्वार्द्ध में पड़ चुके हैं अत: यहां उसकी पुनरावृत्ति अपेक्षित नहीं है।

**बोध प्रश्न 2:**

*1. डाइलेटर पेशियां किस अंग से सम्बन्धित है?*

*2. सचल नेत्र निद्रा किसे कहते है?*

*3. नाड़ी तंत्र दौर्बल्य की प्रेक्षा-चिकित्सा लिखें।*

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 7.3.1 स्मृति दौर्बल्य दूर करने के उपाय

पूर्व में स्नायुविक दुर्बलता दूर करने के लिए जिन विधियों का विवरण दिया गया है वे सभी स्मृति दौर्बल्य दूर करने के लिए प्रयोग में लाये जाने चाहिए। इसके अतिरिक्त निम्नांकित प्रेक्षायोग उपचारविधि विशेष लाभकारी होती है—

**आसन**—योगमुद्रा, सर्वांगासन, मत्स्यासन, कायोत्सर्ग, जालंधर बंध

**प्राणायाम**—अनुलोम विलोम—5 मिनट।

**महाप्राण ध्वनि**—प्रात: एवं रात्रि में सोने से पूर्व 21 बार।

**प्रेक्षा**—ज्ञान केन्द्र एवं लालपट्टियों पर पीले रंग का ध्यान—10 मिनट

**अनुप्रेक्षा**—मस्तिष्क पर ध्यान केन्द्रित कर सुझाव देना—''मेरी स्मरण शक्ति विकसित हो रही है''।

## 7.4 अभ्यासार्थ नमूने प्रश्न

1. टान्सिलाइटिस के कारण और लक्षण बताइये।
2. अनिद्रा से होने वाली स्वास्थ्य हानियों का ब्योरा दीजिए।
3. कब्ज अनेक रोगों का जनक होता है—कैसे?
4. नाड़ीतंत्र दौर्बल्य की यौगिक चिकित्सा किस प्रकार की जाती है?
5. कमर दर्द के प्रमुख कारण लिखिए।

## 7.5. सन्दर्भ पुस्तकें


(i) Nature cure for common diseases—V. Modi

(ii) Preksha Yoga for common Aliments—J.P.N. Mishra

(iii) Principles of Anatomy & Physiology—G.J. Tortova & N.P. Anagnastokas

(iv) Human Physiology—Vandu, Sherman & Luciana

(v) Current Medical Diagnosis and Treatments—L.M. Tierney, S.J. Mephee & M.A. Papadakis

(vi) रोगों कीसही चिकित्सा—नागेन्द्र नीरज एवं मंजू नीरज

(v) प्राकृतिक आयुर्विज्ञान—राकेश जिन्दल

(vi) अमृतपिटक—आचार्य महाप्रज्ञ


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई: 8 यकृत दोष, गर्दन का दर्द, हार्निया, साइटिका, बवासीर

संरचना


8.0 उद्देश्य

8.1 यकृत दोष (Liver Disorder)

8.1.1 यकृत दोष की चिकित्सा

8.2 गर्दन का दर्द (Cervical Pain)

8.2.1 गर्दन दर्द के कारण

8.2.2 गर्दन का दर्द की चिकित्सा

8.3 हार्निया (Hernias)

8.3.1 हार्निया की चिकित्सा

8.4 साइटिका (Sciatica)

8.4.1 साइटिका की चिकित्सा

8.5 बवासीर (Pilus)

8.5.1 बवासीर की चिकित्सा

8.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

8.7 संदर्भ ग्रंथ


## 8.0 उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद विद्यार्थी विभिन्न शारीरिक रोगों की सैद्धान्तिक एवं उनके प्राकृतिक तथा यौगिक उपचार की विधि से परिचित हो सकेंगे।

## 8.1 यकृत दोष (Liver Disorder)

यकृत (Liver) शरीर का मुख्य पावर हाऊस है। शरीर की समस्त ग्रंथियों में यकृत सबसे बड़ी रस-वाहिका ग्रंथि है। इसका वजन एक सामान्य कद काठी के वयस्क व्यक्ति में औसतन पौने दो किलो (1750gm) होता है। यह पेट की दाहिनी ओर वक्ष-उदर-मध्य पेशी, डायफ्राम के निचले भाग में स्थित होता है। आप पूर्वार्द्ध में पाचनतंत्र के अन्तर्गत इसकी विशिष्ट रचनाओं एवं कार्यों के बारे में पढ़ चुके हैं। यकृत का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य पित्त का उत्पादन है जो उसके कोषाणुओं की विशेषता है। इनमें निरन्तर पित्त का निर्माण होता रहता है और इसे पित्त U नलिका के द्वारा छोटी आंत के पक्वाशय (Duodenum) में पहुंचाया जाता है जो भोजन के रासायनिक पाचन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। जब पाचन क्रिया नहीं चल रही होती है उस समय यकृत कोषाणुओं द्वारा निर्मित पित्त यकृत के साथ लगी हुई थैली, जिसे पित्ताशय (Gall Bladder) कहते हैं, में एकत्र होता रहता है और आवश्यकता पड़ने पर पुनः उसी पित्तनलिका के द्वारा पक्वाशय में पहुंचाया जाता है। इसके अतिरिक्त यकृत कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन तथा वसा के चयापचय (Metabolism) में भी अति महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। शरीर की आन्तरिक सफाई का गुरुतर कार्य करने में भी यकृत सहयोग करता है। यकृत की अनेक इकाइयों में दूषित रक्त को परिष्कृत करने एवं विविध प्रकार के विजातीय विषयुक्त पदार्थों के शरीर से निष्कासन में भी यकृत की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। यकृत के तमाम महत्त्वपूर्ण कार्यों को प्रकार से सूचीबद्ध कर सकते हैं—

1. शरीर की अन्दरुनी गन्दगी को निकालने में सहयोग।
2. पित्त का निर्माण।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3. रक्त में आये हुए कार्बोहाइड्रेट की अतिरिक्त मात्रा को ग्लाइकोजन के रूप में अपने अन्दर संचित करना और आवश्यकतानुसार पुन: शरीर को उपलब्ध कराना।

4. शरीर मे प्रविष्ट होने वाले विषैले पदार्थों (Antigcns) को नष्ट करने में सहयोग करना।

यकृत के इन कार्यों में जब किसी कारणवश बाधा उत्पन्न होती है तो शरीर रोगी हो जाता है। उपरोक्त कार्य में बाधा पड़ने से यकृत में शोथ (सूजन) हो जाती है। दूसरे कार्य में बाधा उत्पन्न होने से पाचन का दोष और पीलिया होने की सम्भावना रहती है। तीसरे कार्य में बाधा आने से मधुमेह रोग और चौथे कार्य में बाधा उत्पन्न होने से शरीर में अनेक गंभीर तंत्रीय रोग उत्पन्न हो जाते हैं। हिपेटाइटिस और यकृत कैन्सर बीमारियां सर्वथा घातक होती हैं।

## 8.1.1 यकृत दोष की चिकित्सा

**I. प्राकृतिक चिकित्सा—**

1. दो-तीन दिनों का उपवास और एनिमा। उसके बाद जब तक कब्ज दूर न हो पेडू पर गीली मिट्टी की पट्टी रखने के बाद एनिमा लेना चाहिए।

2. गर्म या ठंडे पानी में नींबू का रस डालकर दिन में कई बार पीना। दो-तीन दिन तक रसाहार, फिर एक सप्ताह तक फलाहार।

3. आहार में ताजे फल, सलाद, उबली हुई तरकारियां, मट्ठा, दही, शहद आदि का अधिक मात्रा में सेवन करना तथा ठोस आहार कम से कम लेना।

4. सुबह-शाम स्वच्छ वायु में टहलना—कम से कम 1 घंटा।

5. पीली बोतल के सूर्य तप्त जल की 6 खुराकें (50-50 ग्राम)।

**II. प्रेक्षा-योग चिकित्सा—**

1. **आसन**—पश्चिमोत्तानासन, त्रिकोणासन, शशांकासन, योग मुद्रा, दक्षिणपार्श्वशयन।
2. **प्राणायाम**—सूक्ष्म-भस्त्रिका, दीर्घश्वास—5 मिनट।
3. **प्रेक्षा**—यकृत पर पीले रंग का ध्यान—10 मिनट।
4. **अनुप्रेक्षा**—यकृत की स्वस्थता का सुझाव—"मेरा यकृत स्वस्थ हो रहा है"—15 मिनट।
5. **तप**—गरिष्ठ, मावा, मैदा एवं मसालेदार तले हुए खाद्य पदार्थों का सर्वथा वर्जन।

## 8.2 गर्दन का दर्द (Cervical Pain)

गर्दन, कंधा तथा हाथों में दर्द, झनझनाहट, गर्दन को पीछे ले जाने में चक्कर आना, गर्दन को घुमाने में दर्द, किसी कारणवश दबाव, ग्रीवा कशेरुकाओं के आवरण के मूल पर दबाव पड़ने से दर्द, वेदना या झनझनाहट प्राय: दोनों कंधों या हाथों यानि दोनों (उभय) पार्श्वों में होती है। दर्द एक पार्श्वीय भी हो सकता है। दर्द मन्द, धीमा हो सकता है तो कभी अचानक तीव्र रूप से चुभती हुई गति से बढ़ता है। रूग्ण स्थान के आस-पास संवेदनशीलता बढ़ जाती है। दर्द गम्भीर अवस्था में पहुंच जाता है, कशेरुकाएं सख्त हो जाती हैं। सम्बंधित मांसपेशियों में शिथिलता, निर्बलता और क्षीणता आ जाती है। रोग बढ़ने पर सर्वाइकल (गर्दन) तथा लम्बर (कटि) क्षेत्र के नाड़ी मूलों पर दबाव पड़ने से हाथों तथा टांगों में पक्षाघात के लक्षण दिखाई देते हैं। ताप, दर्द तथा स्पर्श ज्ञान नष्ट होने लगता है। इसके अतिरिक्त गर्दन तथा सिर के पिछले हिस्से में दर्द होता है, गर्दन की मांसपेशियां नष्ट होकर कृश हो जाती हैं। मध्य पृष्ठ क्षेत्र की हड्डियों में विकृति आने से पैरों की मांसपेशियों में भी विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 8.2.1 गर्दन दर्द के कारण

गर्दन का दर्द अथवा Cervical Pain का सम्बंध मूल रूप से कशेरुकाओं की सूजन एवं उनमें संक्रमण से होता है। इस रोग में एक या एक से अधिक कशेरुकाएं संक्रमित हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त गर्दन की कशेरुकाओं, अंसमेखला तथा इन अस्थियों से जुड़ी पेशियों में विकृतिपूर्ण तनाव एवं खिंचाव भी गर्दन के दर्द का कारण बनता है। ऐसा गर्दन को गलत ढंग से घुमाने अथवा बार-बार अनावश्यक दबाव डालने के कारण भी होता है। कई बार ऐसा भी देखा गया है कि ऑस्टियोपोरोसिस (Osteo-porosis) और ऑस्टियोआर्थराइटिस (Osteo-arthritis) बीमारियों के कारण भी गर्दन का दर्द उत्पन्न होता है। कभी-कभी ग्रीवा की हड्डियां अपनी जगह से आगे को खिसक जाती हैं और एक-दूसरे पर चढ़ जाती हैं। ऐसी स्थिति जन्म से भी हो सकती है अथवा किसी दुर्घटना के कारण भी।

## 8.2.3 गर्दन दर्द की चिकित्सा

गर्दन का दर्द प्राय: गलत अंग-विन्यास, आहार-विहार एवं चिंतन की विकृति, तेज ठंड लगना, अचानक झटका लगना, विलासितापूर्ण कुर्सी एवं बिस्तर पर बैठना और सोना, लगातार एक ही दशा में बैठकर कार्य करना अथवा यात्रा करने के कारण भी ग्रीवा की मांसपेशियां और रक्त वाहिकाएं कठोर हो जाती हैं। रक्त-संचार और स्नायु-संचार अवरुद्ध हो जाते हैं, जिससे दर्द की उत्पत्ति होती है।

**I. प्राकृतिक चिकित्सा —**

1. पीड़ित व्यक्ति को काम के साथ समय पर आराम करना चाहिए।
2. बैठने के लिए सीध पुस्ते वाली कुर्सी तथा सख्त एवं पतले गद्दे वाला बिस्तर उपयोग में लाना चाहिए।
3. रोगी को स्थिति के अनुसार क्रमश: ठण्डा और गरम ग्रीवा सेक देना चाहिए।
4. नीम के पानी का एनिमा देकर गरम बैठन स्नान, गरम पाद स्नान, वाष्प स्नान, गीली चादर लपेट अथवा पूर्ण टब स्नान बदल-बदल कर देना चाहिए।
5. गरम पानी में मैग्नीशियम सल्फेट, इप्सम साल्ट डालें अथवा 50 ग्राम अदरक कूटकर कपड़े में बांधकर निचोड़ें। इससे गर्दन की मालिश एवं सेक करें। गरम उपचार के बाद ठण्डे पानी से स्पंज अवश्य करें।

**II. प्रेक्षा-योग चिकित्सा —**

1. **आसन** — गर्दन की क्रियाएं, भुजंगासन, शलभासन, पश्चिमोत्तानासन, उष्ट्रासन।
2. **प्राणायाम** — सूर्यभेदी व दीर्घ रेचन का अभ्यास।
3. **प्रेक्षा** — गर्दन तथा उसमें होने वाली वेदना की प्रेक्षा — 10 मिनट।
4. **अनुप्रेक्षा** — गर्दन की स्वस्थता का सुझाव — 'मेरी गर्दन स्वस्थ हो रही है' — 15 मिनट।
5. **तप** — चीनी और चिकनाई का वर्जन।

## 8.3 हार्निया (Hernias)

उदर भाग में स्थित आंतों का कुछ अंश उदर भित्ति को धकेल कर बाहर की ओर फुलाव या थैली बनाता है। प्राय: उस स्थिति को हार्निया के नाम से जाना जाता है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो जब पेडू के अगल-बगल बाहरी त्वचा फूल कर गांठ या थैली के रूप में उभर जाती है तो उसे ही हार्निया कहा जाता है। सामान्य रूप से हार्निया दो प्रकार की होती है — इन्गुइनल (Inguinal) और फीमोरल (Femoral)। जनन अंगों (मादा में योनि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

और नर में शिशन) के ठीक बगल में जब थैली बनती है तो वह फीमोरल हार्निया होती है। इस प्रकार की थैली जब पेड़ू के हिस्सों में बनती है तो उसे इन्गुइनल हार्निया कहते हैं।

इस प्रकार का उभार शुरु में तो आंतों के अन्दर से बाहर के दबाव की वजह से होता है पर बार-बार इस प्रकार की थैली बनते-बनते एक ऐसी स्थिति भी आती है जब आंतों का एक हिस्सा सरककर इस थैली में भर जाता है। इन सभी स्थितियों में असहनीय वेदना होती है। यदि समय पर इसका निदान और उपचार न किया जाए तो थैली का आकार बढ़ने के साथ-साथ दर्द भी बढ़ता जाता है। इन्गुइनल हार्निया प्राय: पुरुषों में ज्यादा होती है। पुरुषों में कई बार आंतों के कुछ अंश सरक कर थैली के अलावा इन्गुइनल नलिका के रास्ते वृषण या अंडकोषों (Testicles) में उतर जाता है। फीमोरल हार्निया, जो मोटी महिलाओं में ज्यादा होता है, में थैलीनुमा सूजन पांव के ऊपरी हिस्से तक फैल जाती है।

हार्निया मूलत: उदर भाग की पेशियों में शिथिलता, कमजोरी के कारण ही होती है। मनुष्य की आंतें लम्बी घुमावदार होती हैं। इन घुमावों को पेशी तंतु निश्चित स्थान पर मजबूती से बांधकर रखते हैं। बचपन में कुपोषण से, खानपान की गड़बड़ी से, अपच और कब्ज से, कफ और खांसी से जब बार-बार इन पेशियों पर दबाव पड़ता है तो वे टूट जाती हैं और आंतों के घुमाव अपने स्थान से हटकर उदर भित्ति पर दबाव डालते हैं तभी यह थैली या पाउच बनता है। कई बार अचानक या बार-बार सामर्थ्य से बहुत भारी बोझ उठाने के कारण भी हार्निया होने का खतरा रहता है।

एक अन्य प्रकार की हार्निया भी देखने को मिलती है, जिसे ''हाइटस हार्निया'' के नाम से जाना जाता है। सामान्य रूप से आमाशय डायाफ्राम के नीचे स्थित होता है और आगे की ओर ग्रास नली के स्फिंक्टर नामक एक तरफा वाल्व से जुड़ा रहता है। यह वाल्व ही भोजन के नीचे की ओर आमाशय में जाने का नियंत्रण करता है। कभी-कभी आमाशय का कुछ हिस्सा एक लूप के रूप में डायाफ्राम से ऊपर की ओर फूलकर सरक आता है। इसे ही हाइटस हार्निया कहते हैं। इस लूप के कारण वाल्व का काम ठीक ढंग से नहीं हो पाता है और भोजन का नीचे की ओर गमन अनियंत्रित होता है तथा आमाशय में से अम्लीय रस ऊपर की ओर ग्रासनली में चढ़ता है जिससे भूख, भोजन करने एवं पाचन पर बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। हाइटस हार्निया का मुख्य कारण तनाव और शारीरिक स्ट्रेन ही माना जाता है। हाइटस हार्निया में सीने तथा गले में बहुत तेज जलन होती है, जिसे **हार्टबर्न** की संज्ञा दी जाती है। यह जलन भोजन के तुरन्त बाद अत्यधिक बढ़ती है तथा कभी-कभी इससे हार्टअटैक का भ्रम होता है। हाइटस हार्निया के कारण भोजन निगलने में भी अत्यधिक कठिनाई होती है। आमाशय से अम्लीय रस निकलकर बार-बार ऊपर की ओर ग्रासनली में आने के कारण अल्सर होने की संभावना भी बनी रहती है। हाइटस हार्निया अधेड़ उम्र की महिलाओं, धूम्रपान करने वालों तथा मोटे लोगों में अधिक होती है तथा भारी बोझ उठाने, बार-बार छींकने एवं तेज खांसी से बढ़ती है।

## 8.3.1 हार्निया की चिकित्सा

1. **आसन** — उत्तानपादासन, सर्वांगासन, वज्रासन, पश्चिमोत्तानासन।
2. **प्राणायाम** — बिना कुंभक के अनुलोम-विलोम — 5 मिनट।
3. **प्रेक्षा** — आंतों की प्रेक्षा — 10 मिनट।
4. **अनुप्रेक्षा** — हार्निया के स्वस्थ होने का सुझाव ''मेरी आंतें अपने स्थान पर स्थित हो रही है'' — 15 मिनट।
5. **खाद्य संयम** — गरिष्ठ और तले हुए पदार्थों का वर्जन।



Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## 8.4 साइटिका (Sciatica)

सुषुम्ना (Spinal Cord) के निचले छोर से निकलने वाली साइटिका तंत्रिका (Sciatica Nerve) नीचे की ओर पैरों तक जाती है। इस तंत्रिका में किसी विकृति या इस पर किसी अनुचित दबाव के कारण दोनों नितम्बों से दर्द प्रारम्भ होता है और जांघों तथा पैरों के पीछे की ओर नीचे तक जाता है। कभी-कभी यह दर्द अत्यंत तेज और दुखदायी होता है। यह दर्द कभी इस तंत्रिका में सूजन और प्रदाह के कारण भी उत्पन्न होता है। इस दर्द को गृधसी, रीघन या लंगड़ी का दर्द, वात-शूल अथवा साइटिका का दर्द कहते हैं। इस रोग का आरम्भ अचानक तथा तीव्र वेदना के साथ होता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों मे यह रोग अधिक होता है। कतिपय स्थितियों में यह दर्द दौरे के रूप में भी आता है। 30 से 50 वर्ष तक के बीच की आयु में यह रोग अधिक होता है। साइटिका की पीड़ा एक समय में प्राय: एक ही टांग में होती है। साथ में ज्वर भी रहता है।

इस रोग का कारण मुख्य रूप से कशेरुकाओं का अपने स्थान से खिसककर इधर-उधर होना (Slip disc) होता है परन्तु चोट लगने, घाव होने, ट्यूमर बनने, मधुमेह, शराब के सेवन आदि से भी साइटिका रोग उत्पन्न होता है।

### 8.4.1 साइटिका की चिकित्सा

**I. प्राकृतिक चिकित्सा —**

प्राकृतिक चिकित्सा के नियमानुसार रोगी को भाप-स्नान देना चाहिए। इससे बड़ा लाभ होता है। यह क्रम सप्ताह में दो-तीन बार दुहराना चाहिए। दिन में दो बार साधारण स्नान भी करना चाहिए। जब दर्द अधिक हो तो गुनगुने पानी में और जब दर्द कम हो जाए तो शीतल सामान्य जल से स्नान हो तो लाभदायक होता है। रात को सोते समय 10-20 मिनट तक सहन-स्नान करना चाहिए। सुबह को थोड़ी देर तक धूप में बैठने के बाद कटि स्नान तथा कभी-कभी एप्सम साल्ट बाथ भी लेना चाहिए।

## 8.5 बवासीर (Piles or Haomorrhoids)

गुदा द्वार की रक्त वाहिकाओं (शिराओं) में असामान्य फैलाव को बवासीर कहते हैं। इन शिराओं के अत्यधिक फैल जाने के कारण रक्त यहां इकट्ठा हो जाता है और छोटी-छोटी वाहिकाएं मस्से या दाने के रूप में लटक जाती हैं जो कभी-कभी गुदा द्वार से बाहर को भी लटकी दिखाई देती हैं।

तकलीफ की आरंभिक अवस्था में गुदाद्वार की भीतरी और बाहरी नसों में खुजली और जलन मालूम होती है। जलन कभी भीतरी नस में होती है, कभी बाहरी और कभी भीतरी और बाहरी दोनों नसों में। जिस जगह जलन और खुजली होती है वहाँ बिना मुंह के फोड़े की सी छोटी-छोटी गांठें जिनको मस्से भी कहते हैं, निकली होती हैं जो आगे चलकर काफी बड़ी हो जाती हैं। ये ही जब फट जाती है तो बवासीर खूनी कहलाती है। रक्तहीन बवासीर को बादी बवासीर कहते हैं।

बवासीर कोई रोग नहीं, अपितु रोग का लक्षण है। यह रोग सभ्य समाज का रोग है। मैदा, डबल रोटी, डिब्बा बन्द वस्तुएं प्रयोग करने से पेट साफ नही होता और कब्ज जब बराबर बना रहता है, तब आंतों में उसकी सड़न से गर्मी बढ़ जाती है। जिसके फलस्वरूप आंतों की झिल्ली कमजोर हो जाती है, गुदा प्रदेश में भारीपन का अनुभव होता है, मलत्याग में कठिनाई और कष्ट होता है तथा गुदा के पास की नसों के अंतिम छोर में दूषित रक्त इकट्ठा हो जाने से धीरे-धीरे गंदे मांस की सृष्टि हो जाती है। यही बवासीर है। गुदा के पास की नसें या शिरायें शरीर की एक लम्बी रक्तवाही शिरा का सबसे निचला भाग है जिस पर मलमार्ग की पेशियां असाधारण अवस्था में अनावश्यक दबाव डालकर उन शिराओं के रुधिर-प्रवाह में रूकावट डालती हैं, जिससे वे रक्त से भरकर सूज जाती हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कभी-कभी स्त्रियों को गर्भाशय में गर्भ के ही भार से ऐसा होता है जो प्रसव के अनन्तर अपने आप दूर हो जाता है। जब मनुष्य की रीढ़ में कोई रोग होता है तो उसके दुर्द्रव्य का भार गुदा मार्ग की शिराओं पर पड़ने से भी बवासीर के मस्सों की उत्पत्ति होती है। ये मस्से इस बात को प्रकट करते हैं कि शरीर विजातीय द्रव्य से लदा हुआ है, रक्त दूषित हो चुका है तथा कोष्ठ में मल भरकर पुराना पड़ चुका है। इस कथन से स्पष्ट है कि बवासीर का मूल कारण कब्ज के कारणों से भी गहरा है और यह भी है कि बवासीर के कारणों में से कब्ज होना सिर्फ एक कारण है क्योंकि हर बवासीर के रोगी को कब्ज होना जरूरी है। बवासीर के अन्य कारणों में यकृत की खराबी, उदर-विकार तथा किसी प्रकार का रक्त-विकार आदि हो सकते हैं।

## 8.5.1 बवासीर की चिकित्सा

**प्राकृतिक चिकित्सा—**

बवासीर की तकलीफ जड़ से दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि कब्ज को पहले दूर किया जाये और फिर उसे कभी न होने दिया जाये। कब्ज दूर करने का निश्चित उपाय ऊपर दिया जा चुका है। पुराना बवासीर सारे शरीर की स्थिति में सुधार होने पर ही जाता है।

बवासीर के रोगी की आंतें बहुत कमजोर हो जाती हैं। अत: आरम्भ में उसे ऐसे खाद्य पदार्थ देने चाहिए जिनसे कब्ज तो दूर हो ही, साथ ही साथ मल भी इतना मुलायम बने कि वह बिना तकलीफ दिये गुदा मार्ग से बाहर हो जाये। आहार में यथासम्भव सलाद, रसदार फल या उनका रस और तरकारी या उनके सूप की अधिकता हो जिसमें ऊपर से पानी पीने की आवश्यकता न हो। इससे विशेष लाभ यह है कि तरल पदार्थ शुद्ध रूप में प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार का आहार कुछ दिनों तक चलाते रहने पर रोग उत्पन्न करने वाली स्थिति बहुत कुछ दूर हो जायेगी और यदि रोग आरम्भिक अवस्था में होगा तो वह भी अच्छा हो जायेगा। ऐसे भोजन पर रहते हुए भी यदि पाखाना ढीला न होने लगे तो स्थिति में काफी सुधार होने तक प्रतिदिन दो या तीन बार एनिमा लेना चाहिए। पहले गुनगुने पानी का, उसके बाद ठंडे पानी का। एनिमा के पानी में नींबू का 8-10 बूंद रस जरूर मिला लेना चाहिए। सायं काल सोते समय 1100 ग्राम पानी या 50 ग्राम नारियल के तेल का एनिमा नींबू के 25 ग्राम रस सहित लेकर रातभर सेक रखना चाहिए। इससे बड़ी आंत के पर्दे को ठंडक पहुंचेगी और मल भी ढीला पड़ जायेगा। सायंकाल के सेक रखने वाले एनिमा के साथ-साथ पेड़ू, जंघा और कटि-प्रदेश पर ऊनी कपड़े का पैक रातभर के लिए देकर गर्मी पहुंचाने की कोशिश करनी चाहिए। अगर इन उपचारों के बावजूद भी मलत्याग में कष्ट हो तो गर्म और ठंडे पानी का कटिस्नान करने की व्यवस्था करनी चाहिए। तीन मिनट गर्म पानी में बैठने के बाद एक मिनट ठंडे पानी में बैठना क्रमश: चलना चाहिए और गर्म पानी में बैठते समय पैरों को एक पात्र में रखे हुए गर्म पानी में रखना चाहिए। इन स्नानों के बाद ठंडे जल से सारे शरीर का स्नान कर सूखी तौलिया से रगड़कर बदन को सुखा लेना चाहिए और तब बिस्तर पर लेटकर विश्राम करना चाहिए।

उपर्युक्त उपचारों से जब मल ढीला आने लगे तो निम्नलिखित खाद्य पदार्थ भी रोगी के आहार में जोड़े जा सकते हैं—

गेहूं का दलिया, चोकर समेत आटे की रोटी, गूलर, पालक, बथुआ, तोरई, परवल, मूली, पत्तागोभी, हरा पपीता आदि सभी हरी शाक भाजियां, पका पपीता, पका बेल, पका केला, खरबूजा, सेव, नाशपाती, मट्ठा, दूध, किशमिश, मुनक्का, आलू बुखारा, अंजीर तथा पका या कच्चा नारियल आदि। दालें और उत्तेजक खाद्य पदार्थ एकदम त्याग देना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

**प्रेक्षा-योग चिकित्सा —**

1. **आसन** — सर्वांगासन, इष्टवंदन, अश्वनीमुद्रा, मूलबंध, मत्स्यासन।
2. **प्राणायाम** — नाड़ीशोधन, भस्त्रिका — 5 मिनट।
3. **प्रेक्षा** — आंतों की प्रेक्षा — 10 मिनट।
4. **अनुप्रेक्षा** — बड़ी आंत को सुझाव — ''मेरी बड़ी आंत सक्रिय हो रही है'' 15 मिनट।
5. **खाद्य संयम** — गरिष्ठ पदार्थ, मिर्च मसाले और तले हुए पदार्थों का वर्जन।

## 8.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. यकृत दोष के कारण बताएं।
2. गर्दन दर्द की चिकित्सा लिखें
3. साइटिका की बीमारी का वर्णन करें।

## 8.7 सन्दर्भ पुस्तकें


(i) Human Physiology—Vandu, Sherman & Luciana

(ii) Principles of Anatomy & Physiology—G.J. Tortora & N.P. Anagnastokas

(iii) रोगों की सही चिकित्सा नागेन्द्र नीरज एवं मंजू नीरज

(iv) Preksha Yoga for Aommon Ailments—J.P.N. Mishra

(v) Total Health—David Petus

(vi) अमृत पिटक — आचार्य महाप्रज्ञ

(v) प्राकृतिक आयुर्विज्ञान — राकेश जिन्दल


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# संवर्ग–3 शारीरिक अनियमितताएं एवं रोग सामान्य परिचय–II

# इकाई–9 एवं 10 संयुक्त – कैंसर, हृदयरोग, गठिया, एड्स, मिर्गी, मधुमेह एवं पेप्टिक अल्सर

**संरचना**


9.0 उद्देश्य

9.1 कैंसर

9.1.1 कैंसर के प्रकार

9.1.2 कैंसर के कारण

9.1.3 कैंसर रोग की उत्पत्ति में सहायक आहार

9.1.4 कैंसर के लक्षण

9.1.5 कैंसर के विशेष चिह्न

9.1.6 कैंसर की चिकित्सा

9.1.7 कैंसर बचाव के उपाय

9.2 हृदय रोग

9.2.1 हृदय और उसकी कार्य प्रणाली

9.2.2 हृदय रोग क्या है?

9.2.3 हृदय रोग के लक्षण

9.2.4 हृदय रोग के कारण

9.2.5 हृदय रोग के प्रकार

9.2.5.1 एंजाइना

9.2.5.2 हृदय आघात

9.2.6 हृदय रोगों की जांच एवं उपचार की प्रचलित विधियां

9.2.7 हृदय रोग की चिकित्सा

9.3 गठिया

9.3.1 गठिया के प्रकार

9.3.1.1 आस्टियो आर्थराइटिस

9.3.1.2 रियूमेटाइड आर्थराइटिस

9.3.1.3 गाउटी आर्थराइटिस

9.3.1.4 एन्किलूजिंग स्पान्डिलाइटिस

9.3.2 गठिया की चिकित्सा


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

9.4 एड्स

9.4.1 एड्स के लक्षण

9.4.2 एड्स के कारण

9.4.3 एड्स से बचने के उपाय व सावधानियां

10.0 मिर्गी

10.0.1 मिर्गी के लक्षण

10.0.2 मिर्गी के कारण

10.0.3 मिर्गी की चिकित्सा

10.1 मधुमेह

10.1.1 मधुमेह के लक्षण

10.1.3 मधुमेह के प्रकार

10.1.4 मधुमेह के कारण

10.1.5 मधुमेह की चिकित्सा

10.2 पेप्टिक अल्सर

10.2.1 पेप्टिक अल्सर के कारण

10.2.2 पेप्टिक अल्सर के लक्षण

10.2.3 पेप्टिक अल्सर की चिकित्सा

10.3 अभ्यास के लिए प्रश्न

10.4 संदर्भ ग्रंथ

## 9.0 उद्देश्य

1. कैंसर एवं एड्स जैसी जानलेवा बीमारियों तथा अन्य कई खास बीमारियों के कारण, लक्षण एवं उपचार के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
2. गम्भीरतम रोगों की प्राकृतिक एवं यौगिक चिकित्सा से परिचित हो सकेंगे।

## 9.1 कैंसर (Cancer)

किसी अंग विशेष के किसी ऊतक की कोशिकाएं जब अनियंत्रित ढंग से विभाजित होकर एक गांठ का रूप बना लेती है तो उसे ट्यूमर कहते हैं। कुछ ट्यूमर अत्यंत घातक होते हैं और कुछ गांठ के रूप में होने के बाद भी कोई नुकसान नहीं पहुंचाते। घातक ट्यूमर्स को कैन्सर की गांठ बोलते हैं। इसे चिकित्सा विज्ञान की भाषा में मैलिग्नेंट ट्यूमर (Malignant Tumer) कहते हैं। यह तीन अवस्थाओं में पनपता है। जब अनियंत्रित गांठ की शुरुआत होती है और कोशिकाएं एकत्र होती हैं तो उसे प्राथमिक ट्यूमर (Primary Tumer) कहते हैं। यह गांठ प्रौढ़ होकर और बढ़ती है तथा अगल-बगल के ऊतकों में फैल जाती है, तब इसे द्वितीयक ट्यूमर (Secondary Tumer) कहते हैं। कुछ समय बाद यह गांठ फटती है और मैलिग्नेंट कोशिकाएं रक्त प्रवाह के सहारे शरीर के तमाम ऊतकों में पहुंचती हैं और फिर पूरा शरीर कैन्सर कोशिकाओं से भर जाता है जो जीवन की अंतिम स्थिति होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 9.1.1 कैंसर के प्रकार

कैन्सर को तकनीकी रूप से कार्सिनोम (Carcinome) कहते हैं। ग्रंथियों के कैंसर को एडिनो कार्सिनोमा (Adeno Carcinoma) कहते हैं। संयोजी ऊतक में पाये जाने वाले कैंसर को आस्टियोजेनिक सार्कोमा (Osteogenic Sarcoma) तथा अधेड़ अवस्था में पाये जाने वाले रक्त कैंसर को मायलोमा कहते हैं। वैसे श्वेत रक्त कणिकाओं के कैंसर को ल्यूकेमिया (Leucamica) भी कहते हैं।

''कैंसर नई सभ्यता की देन है''—डॉ. लिनिंग स्टोन

इस रोग के सम्बंध में एक आश्चर्य की बात यह भी है कि पुराने जमाने में आज से 100 वर्ष पहले तक यह रोग बहुत कम दिखाई पड़ता था, पर आज इस वैज्ञानिक युग में रेडियम, एक्सरे, शल्यचिकित्सा आदि आधुनिक साधनों के बावजूद यह घटने के बजाय दिनोंदिन बढ़ता ही जा रहा है।

रोगों में हृदय रोग के बाद कैंसर का दूसरा नम्बर है। अमेरिका की कैंसर सोसाइटी द्वारा प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार 50 से 70 वर्ष की आयु वाले प्रति तीन व्यक्तियों में से एक व्यक्ति कैंसर रोग का शिकार होता है। भारत में भी कैंसर रोगियों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। टाटा कैंसर इन्स्टीट्यूट की एक विज्ञप्ति के अनुसार भविष्य में आठ व्यक्तियों में से एक व्यक्ति कैंसर का रोगी होगा। कैंसर अभी भी चिकित्सा विज्ञान की प्रमुख चुनौतियों में से है।

## 9.1.2 कैंसर के कारण

1. खाने-पीने की चीजों को विविध प्रकार के रंगों से रंगना।
2. खाने-पीने की चीजों को जायकेदार बनाने के लिए तीव्र गुण वाले मसालों का प्रयोग।
3. खाने-पीने की चीजों को खुशबूदार बनाने के लिए तीव्र खुशबूदार योगों का प्रयोग।
4. अत्यंत गरम खाद्य खाना।
5. अधिक खाना।
6. मांस अधिक खाना।
7. अप्राकृतिक भोजन और गलत रहन-सहन के कारण रक्त विषाक्त होने से शरीर में उपदाह की स्थिति।
8. कम पानी पीना।
9. चाय, तम्बाकू, शराब आदि नशीली चीजों का सेवन।
10. सफेद चीनी का, सैक्रीन का सेवन।
11. तरह-तरह से तैयार किए हुए खाद्य पदार्थ जो डिब्बों में बंद करके आते हैं।
12. कजली (राख), तारकोल, पिच, बेंजाइन, पाराफिन, कारबोलिक एसिड तथा एनिलाइन आदि जब किसी प्रकार से त्वचा के संपर्क में आते हैं या मुख के रास्ते शरीर के भीतर प्रवेश करते हैं तो उनकी वजह से शरीर की समवर्तन-क्रिया (मेटाबोलिज्म) में कुछ रासायनिक क्रियाएं होती हैं जिनसे भयंकर विष की उत्पत्ति होती है। यही विष कैंसर रोग का मूल कारण है। चिमनी की कजली साफ करने वालों, कोयले से गैस बनाने वाले, कारखानों के श्रमिकों, सड़क पिच करने वाले मजदूरों, एसिलाइन रंग जो एक प्रकार का विष है, से वस्तुओं को रंगने वाले रंगसाजों तथा बेनजाइन के कारखानों में काम करने वाले व्यक्तियों को कैंसर रोग प्रायः देखा जाता है।
13. मलावरोध
14. तीव्र रोगों में द्रव्यौषधियों का प्रयोग
15. ऑपरेशन के बाद घाव का बहुत दिनों तक न भरना
16. प्लास्टिक का उपयोग
17. गर्भधारण व गर्भनिरोधक औषधियों का उपयोग।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Jodhpur

वायु, जल, आकाश, पृथ्वी का प्रदूषण, मानसिक तनाव, भय, चिंता, भावना का दमन व व्यायाम न करना एवं असंतुलन जैसे अनेक कारण कैंसर के जनक हैं। लम्बे समय तक कटिजयत रहने, आंत के कैंसर को बुलावा देने वाली हो सकती है। इसके अलावा शाकाहार में कमियों के कारण भी, जैसे—कच्ची सब्जियां व फलों का उपयोग न करना जिस कारण विटामिन्स व खनिज लवणों की प्राप्ति नहीं होती। अनाज, दालें अधिक मात्रा में उपयोग करना, भोजन भी अधिक मात्रा में करना, परिश्रम न करना। नमक व चीनी का अत्यधिक उपयोग, कृत्रिम रासायनिक खाद्य के कारण हमारे लिए सभी प्रकार के खाद्य पदार्थ दूषित हो गये हैं। पानी में फ्लोराइड एवं क्लोरीन घुलने के कारण कैंसर रोग की उत्पत्ति एवं विकास में सहायक हो सकता है।

कैंसर का एक प्रधान कारण-प्रदाह—किसी अंग विशेष में सतत् उत्तेजना बनी रहने के कारण उसमें प्रदाह की स्थिति उत्पन्न होती है, जिसको कैंसर का एक प्रमुख कारण कह सकते हैं। साधारणत: गर्भाशय की ग्रीवा, मलद्वार, ओष्ठ, जीभ, कण्ठ, आमाश्य, आंत एवं विभिन्न प्रकार के वाह्य अंग आदि में आसानी से देखा जा सकता है। भारत में विशेषकर पुरुषों में मुंह का कैंसर व स्त्रियों में गर्भाशय का कैंसर अधिक होता है।

## 9.1.3 कैंसर रोग की उत्पत्ति में सहायक आहार

विश्व के आंकड़ों के अनुसार मांसाहारी मनुष्य, शाकाहारी मनुष्य की अपेक्षा अपने शरीर में कैंसर रोग के लिए अधिक अनुकूलता प्रदान करता है क्यों नाइट्रोजन युक्त आहार, शरीर को दूषित करने के लिए अधिक जिम्मेदार है, जो एक प्रकार से कैंसर रोग के लिए अधिक अनुकूल क्षेत्र या भूमिका सुलभ करता है।

## 9.1.4 कैंसर के लक्षण

पुरुषों में होंठ, जीभ, गला, आमाशय, यकृत तथा आंत आदि मुख्य रूप से इस रोग के क्षेत्र होते हैं। जो अधिक धूम्रपान के आदि होते हैं। उनकी जीभ, गले और फेफड़ों मे कैंसर खास तौर से हुआ करता है। मुंह में छाले पड़ जाये तो शीघ्र ठीक नहीं होते। कैंसर का रोगी शीघ्र सूखने लगता है। गांठ के आस-पास लम्बे समय में दर्द होने लगता है। स्त्रियों में स्तन, गर्भाशय, योनिमुख, आमाशय तथा आंतों में यह रोग विशेष रूप से होता है।

## 9.1.5 कैंसर के विशेष चिह्न

चर्म पर होने वाला कैंसर कठोर और ऊंचाई लिए हुए होता है जो फटने पर घाव का रूप ले लेता है। भीतरी कैंसर कई प्रकार से पड़ा बढ़ता रहता है। पीड़ा दोनों प्रकार के कैंसर का प्रधान लक्षण है—

1. अन्य कैंसरों की तुलना में मुंह के कैंसर का चुनाव सरल है। लोगों का मुंह पूरा नहीं खुलता।
2. स्त्रियों को बार-बार रक्तस्राव होता है।
3. आहार गले में अटक जाता है।
4. पेशाब व पाखाने की हालत में परिवर्तन महसूस हो या कब्जियत की शिकायत हो।
5. आवाज मोटी हो या खांसी हो गई हो।
6. शरीर के किसी भी हिस्से में खास करके स्तन और गले में गांठ दिखाई दे।
7. तिल या मस्से में, विशेषत: उनके चिह्नों में परिवर्तन दिखाई दे (पककर पीव हो जाये)।

## 9.1.6 कैंसर की चिकित्सा

जब तक रोग का जोर कम न हो जाये तब तक उपवास या रसाहार करते हुए रोज जरूरत के मुताबिक दोनों समय या एक समय एनिमा लेना चाहिए। दीर्घ उपवास या दीर्घ रसाहार ही इस रोग में विशेष लाभदायक होते हैं। प्रतिदिन दो बार रोग के स्थान पर सूर्य स्नान लेने के बाद कटि स्नान, महीने में दो बार पूरे शरीर का भाप स्नान और दो बार रोग के स्थान पर पट्टी रखकर पूरे शरीर की भीगी चादरलपेट, प्रतिदिन रात भर पेडू की गीली मिट्टी की पट्टी या

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कमर की गीली पट्टी का प्रयोग तथा कैंसर पर तीन-तीन घंटा के अन्तर से 5 से 10 मिनट तक भाप देकर बाकी समय मिट्टी की उष्णकर गीली पट्टी 1-1 घंटा बाद बदल-बदल कर रखना। इस रोग की प्राकृतिक चिकित्सा है। कैंसर में यदि वेदना हो या उससे रक्त निकले तो उस पर खूब ठंडे जल से या बर्फ-जल से भीगी कपड़े की पट्टी बदल-बदल कर रखनी चाहिए।

### 9.1.7 कैंसर बचाव के अन्य उपाय

1. सहज व उन्मुक्त जीवन जीना चाहिए।
2. शक्ति के अनुसार कोई हल्का व्यायाम करना चाहिए।
3. 3 से 5 किमी. तक पैदल चलिये।
4. हल्के योगासन व शिथलीकरण कीजिए।
5. कब्ज न रहने दें।
6. प्रोसेस्ड फूड से बचें।

7. अग्नि के सम्पर्क से बने खाद्य पदार्थ का उपयोग न करें। जब तक रोग से पूर्ण छुटकारा न मिले तब तक यही पथ्य चलना चाहिए। प्राकृतिक विटामिन ए.सी.ई. बीटा कैरोटिन, सेलेनियम तथा क्लोरोफिल का भरपूर उपयोग करें जो कि निम्न में मौजूद हैं—

A. गेहूं-जारे का जूस
B. (गाजर+चुकन्दर) का जूस
C. मिक्स सब्जियों का जूस विशेषकर हरी पत्तियों का जूस—पालक आदि।
D. काले अंगूर या तरबूजा छिलका सहित जूस।
E. अनार या सेव का जूस।
F. अन्न—अमृतान्न (अंकुरित अन्न), मधु तुलसी पत्र, नारियल पानी (द्राभ), किशमिस, मुनक्का, मौसम्बी, फल, सब्जियों का जूस व सलाद में कैंसर अवरोधी तत्व पाये जाते हैं। इनके सेवन से कैंसर जैसी जानलेवा बीमारी से बचा जा सकता है।

## 9.2 हृदय रोग (Heart Disease)

### 9.2.1 हृदय और उसकी कार्य प्रणाली

हृदय एक बन्द मुट्ठी के समान आकार का लगभग 350-400 ग्राम वजन का महत्त्वपूर्ण अंग है जो छाती में बाईं ओर स्थित है। हृदय का मुख्य कार्य है समस्त शरीर की रक्त धमनियों में घूमने वाले रक्त को पम्प करना तथा रक्त के माध्यम से ऑक्सीजन, पौष्टिक तत्वों आदि को शरीर के प्रत्येक भाग में पहुंचाना। हृदय का दूसरा मुख्य कार्य है रक्त को शुद्धिकरण के लिए फेफ्फुस तक पहुंचाना और शुद्ध व ऑक्सीजन-युक्त रक्त को पुन: हृदय में वापस लाना तथा महाधमनी और पतली केशिकाओं के माध्यम से अन्य आवश्यक सामग्री सम्पूर्ण शरीर में आवश्यकतानुसार लाना ले जाना।

हृदय एक ऐसी चमत्कारी पम्प है जो एक मिनट भी रूके बिना आजीवन (लगभग 70-80 वर्षों तक) चुपचाप लाखों करोड़ों लीटर रक्त का परिवहन करता रहता है। हृदय एक मिनट में 72 बार धड़कता है और लगभग 5 लीटर (शरीर में पूर्ण रक्त की मात्रा) को प्रवाहित कर देता है। नब्ज का भी हृदय से सीधा संबंध है। वह भी एक मिनट में 72 बार धड़कती है। वैद्य लोग नब्ज देखकर व्यक्ति के खान-पान व रोग का पता लगा लेते हैं। वह सभी संकेत हृदय द्वारा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नब्ज तक पहुंचते हैं। लाखों-करोड़ों लीटर रक्त का प्रवाह करने वाला हृदय कभी अपने प्रयोग के लिए एक भी बूंद रक्त अतिरिक्त नहीं लेता है। वह एक ईमानदार खजांची की भांति, कोरोनरी धमनियों द्वारा मिलने वाले रक्त पर ही अपना निर्वाह करता है।

हृदय चार चैम्बरों में विभाजित है। दो चैम्बर बाईं ओर तथा दो चेम्बर दाईं ओर स्थित हैं। दोनों बायें चैम्बर शुद्ध रक्त तथा दोनों दायें चैम्बर अशुद्ध रक्त प्रवाह के लिए जिम्मेदार हैं।

## 9.2.2 हृदय रोग क्या है?

स्वस्थ हृदय जीवन का आधार है क्योंकि हृदय का जीवन और मृत्यु से सीधा सम्बंध है। हृदय रोग एक मनो-शारीरिक रोग है। सारे विश्व में पिछले 4-5 दशकों मे हृदय रोगियों की संख्या में भारी वृद्धि हुई है। हृदय रोग अपने सहयोगी रोगों—उच्च रक्तचाप, मधुमेह, गैस्ट्राइटिस, मोटापा, माइग्रेन, अल्सर, अस्थमा, शरीर दर्द, कमर दर्द, गर्दन दर्द, थकावट, आलस्य, उदासी, उत्साह हीनता, अनिद्रा आदि के साथ चुपचाप व्यक्ति पर आक्रमण करता है।

कैलीफोर्निया के प्रसिद्ध हृदय रोग विशेषज्ञ डॉ. डीन आर्निश के अनुसार हृदय रोग का मुख्य कारण है रक्त में वसा (Cholesterol) की अधिकता। रक्त में चर्बी की मात्रा बढ़ जाने से रक्त वाहिनियों का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, जाम हो जाता है तो हृदय आघात (Heart attack) होता है। यदि व्यक्ति कोलस्ट्रोल की मात्रा कम कर रक्त वाहिनियों का मार्ग क्लीयर कर सके, तो हृदय रोग की संभावना न के बराबर रहती है।

हृदय रोग चिकित्सा वर्षों से औषधियों पर निर्भर रही है। आयुर्वेद, यूनानी, होम्योपैथी, एलोपैथी सभी में ऐसी औषधियां हैं, जो वसा को घटाकर ब्लोकेज (अवरोध) को कम करती हैं। परन्तु आजकल एन्जियोप्लास्टी तथा बाई पास सर्जरी का प्रचलन अधिक हो गया है। इनके द्वारा रक्त धमनियों के प्रवाह को सुचारू बनाया जाता है।

बाईपास सर्जरी से रक्त-संचार प्रणाली तो सहयोगी-धमनी द्वारा एक बार ठीक हो जाती है, परन्तु पुराना कचरा शरीर में वहीं पर छोड़ दिया जाता है। सफाई नहीं की जाती जिससे अवरोध की पुनः संभावना बनी रहती है। डॉ. डीन आर्निश ने इसके लिए योग को एक सफल विकल्प बताया।

## 9.2.3 हृदय रोग के लक्षण

उच्च रक्तचाप, सिर दर्द, जरा से श्रम से थकावट, तनाव, चिड़चिड़ापन, छाती में भारीपन।

हृदय रोग आज समस्त संसार के चिकित्सकों के लिए एक चुनौती बन गया है।

## 9.2.4 हृदय रोग के कारण

1. त्रुटि पूर्ण जीवनशैली,
2. व्यायाम न करना,
3. वसा का आधिक्य (रक्त में कोलस्ट्रोल की मात्रा बढ़ जाना),
4. उच्च रक्तचाप (हाइपरटैंशन) (हाई ब्लडप्रेशर),
5. मधुमेह (डायबिटीज),
6. मोटापा,
7. आहार की अनियमितता,
8. उलझन भरा जीवन (चिन्ता और तनाव),
9. आराम पसन्द जीवन (आलस्य और शारीरिक श्रम का अभाव),
10. धूम्रपान व मद्यपान (बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, शराब आदि),

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

11. काम धंधे में परेशानी,
12. तनाव (परिवार में कलह, सहअस्तित्व की कमी),
13. क्रोध, भय, लोभ की प्रवृत्ति,
14. एकाकीपन (अकेलेपन और असुरक्षा की भावना),
15. निषेधात्मक सोच (निगेटिव थिंकिंग),
16. निराशा (डिप्रैशन),
17. कार्य की अधिकता (वर्क लोड अधिक) एवं
18. आमदनी और खर्चे में असमानता।

## 9.2.5 हृदय रोग के प्रकार

### 9.2.5.1 अंजाइना (Angina)

अधिक कार्य करने के कारण शरीर के अन्य अंगों में होने वाले दर्द की तरह हृदय के स्नायु-तंत्र में होने वाले दर्द को अंजाइना कहते हैं। यह दर्द हृदय के पास से उठता है और धीरे-धीरे छाती, गर्दन, बायें हाथ, कभी-कभी जबड़े में भी चला जाता है। रोगी का दम घुटने लगता है, 2-3 मिनट में ठीक भी हो जाता है। कभी-कभी पेशीदर्द, गैस्ट्रिक दर्द, सरवाइकल दर्द में भी अंजाइना का भ्रम हो जाता है। दर्द यदि सोर्विट्रेट की गोली से अथवा थोड़ा विश्राम करने से ठीक हो जाता है तो प्राय: अंजाइना ही होता है।

### 9.2.5.2 हृदय आघात (Heart attack)

हृदय को रक्त पहुंचाने वाली 2-3 मुख्य कॉरोनरी धमनियों में अचानक अवरोध आ जाने से रक्त का प्रवाह रूक जाता है। जैसे कार में पैट्रोल की नाली में कचरा आ जाने से पैट्रोल सप्लाई बन्द हो जाती है और इंजन रूक जाता है। उसी प्रकार हृदय को रक्त की सप्लाई बन्द हो जाने से हृदय के उस भाग की मांसपेशियां कार्य करना बन्द कर देती हैं। उसी स्थिति को हृदय आघात, दिल का दौरा अथवा हार्ट अटैक कहते हैं।

## 9.2.6 हृदय रोगों की जांच एवं उपचार की प्रचलित विधियां

वर्तमान में हृदय रोगों की जांच में निम्नलिखित विधियां प्रयोग में ली जा रही हैं—

1. ई.सी.जी., 2. इको टेस्ट, 3. ट्रेडमिलटेस्ट, 4. रक्त की जांच एवं 5. एन्जियोग्राफी।

इन प्रचलित जांच विधियों से हृदय की कार्यक्षमता एवं किसी प्रकार के अवरोध आदि का पता लग जाता है।

इसके बाद अनेकानेक मंहगी औषधियों, एन्जियोप्लास्टी या फिर ओपेन हार्ट सर्जरी (वक्ष को खोलकर की जाने वाली शल्य चिकित्सा) के द्वारा उन रोगों को ठीक करने का प्रयास किया जाता है। इन सभी अत्यंत खर्चीले एवं पीड़ादायक उपायों के बाद भी यह जरूरी नहीं कि रोग से मुक्ति मिल जाये। अवरोध फिर उत्पन्न हो जाते हैं और स्थिति पूर्ववत होने की पूरी संभावना रहती है।

## 9.2.4 हृदय रोग की चिकित्सा

### 1. प्रेक्षायोग जीवनशैली

प्राचीन भारत के लोग मौलिक जीवनशैली जीते थे। प्रात: शीघ्र उठना, आसन-प्राणायाम करना, कुश्तीकरना, बाहर कुओं पर स्नान करना, देवदर्शन करना, प्रभु स्मरण करना, शांत स्वभाव में रहना उनकी सामान्य दिनचर्या थी। समय की धूल में वह सब ओझल हो गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

Early to bed and early to rise में विश्वास जगाएं। ब्रह्म मुहूर्त में प्रात: शीघ्र उठें, आसन, प्राणायाम, मुद्रा, यौगिक क्रियाओं का अभ्यास करें। सैर को जायें, ध्यान, कायोत्सर्ग करें। सभी कार्य समय पर निपटाने का प्रयास करें। उलझन भरे कार्यों को युक्ति युक्त ढंग से सुलझाने का प्रबंध करें। अधिक कार्य हो तो सहयोगियों में वितरित करें। घर परिवार में सौहार्द उत्पन्न करें। आदर दें, आदर पायें। भूत एवं भविष्य के बारे में चिंता छोड़ें, वर्तमान को सुन्दर बनाने का प्रयास करें।

प्रभु में विश्वास जगायें, धर्म स्थल (मन्दिर, मस्जिद, गुरूद्वारा, चर्च आदि) में जाने की आदत डालें, कुछ देर स्वाध्याय करें। चिंता मुक्त व प्रसन्न चित्त रहने का प्रयास करें।

## 2. हृदय रोग और प्रेक्षाध्यान चिकित्सा

(बाईपास सर्जरी का टालना पूर्णतया संभव)

आयुर्वेद, यूनानी, होम्योपैथी, एलोपैथी, शल्य चिकित्सा आदि जो चिकित्सा पद्धति आपने अपनाई, उसी के साथ-साथ अपने डॉक्टर की देखरेख में प्रेक्षा-योग चिकित्सा का यह अनोखा प्रयोग भी आप कर देखें। तो पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है आपको एन्जिओप्लास्टी अथवा बाईपास सर्जरी की आवश्यकता नही पड़ेगी। परन्तु शर्त यह है कि इसे आपको मन से, लगन से और श्रद्धा से करना होगा।

## 3. अनोखा प्रयोग

इस प्रयोग को निम्नलिखित भागो मे बांटा जा सकता है—

1. यौगिक क्रिया, आसन, प्राणायाम, मुद्रा,
2. ध्यान व कायोत्सर्ग,
3. प्रेक्षा-योग जीवनशैली,
4. आहार प्रबंधन (बिना वसा का आहार),
5. तनावमुक्त जीवन (विधेयात्मक चिंतन, निषेधात्मक विचारों का त्याग, प्रेम, मैत्री, अहिंसा, सादगी, अनेकान्त)।

(प्रेक्षा के प्रयोग किसी भी प्रेक्षा-प्रशिक्षण केन्द्र पर किसी योग प्रेक्षा-प्रशिक्षक से सुगमता से सीखे जा सकते हैं।)

### 4. आहार प्रबंधन

आहार का हमारे स्वास्थ्य तथा हृदय रोग से चोलीदामन का साथ है। हम कितनी कैलोरी भोजन द्वारा लेते हैं और कितनी कैलोरी श्रम द्वारा खर्च करते हैं इसमें सामंजस्य स्थापित करना ही आहार प्रबंधन या आहार विवेक है। प्राय: हम अपनी आवश्यकता (खर्च) से अधिक कैलोरी अपने भोजन द्वारा ग्रहण करते हैं। अधिक मात्रा में ली गई कैलोरी तथा वसा हमारी रक्त धमनियों में जम जाती हैं जो हृदय रोग का एक बड़ा कारण बनती हैं। अत: हम अपने भोजन में सलाद, फल, जूस तथा विटामिन व कम वसा वाले पदार्थों का प्रयोग करें। प्रयोग से पहले फलों, सब्जियों को अच्छी तरह से धो अवश्य लें।

दैनिक भोजन की कुल आमद कैलोरी का 25 प्रतिशत प्रात:कालीन नाश्ते में 35 प्रतिशत दोपहर के भोजन में, 15 प्रतिशत सायंकालीन पेय में तथा 25 प्रतिशत सायं के भोजन में लेने का अनुपात रखें। सायंकालीन भोजन विशेष रूप से हल्का होना चाहिये। विवाह-पार्टी आदि में सलाद, जूस, रुखा फलका-चपाती आदि से काम चलायें, मिठाई एवं तले पदार्थों का मोह छोड़ें। मांस, मछली, घी, मक्खन, तेल युक्त मिठाइयां व अन्य पदार्थ बिल्कुल न लें। तो भी मित्र कोलेस्ट्राल के लिए 200-300 मिली. दूध लेना अनिवार्य है। अतिरिक्त भूख लगने पर मुरमुरे, चावल, मक्की की खीर, सलाद आदि लेना हितकर है। शराब, तम्बाकू, सिगरेट आदि का प्रयोग यदि करते हैं, तो तुरन्त छोड़ दें।

### 5. तनाव प्रबंधन

तनाव आधुनिक युग का वह श्राप है जिसने हमारे जीवन को पूर्णतया अस्त-व्यस्त कर दिया है। विज्ञान ने आज जहाँ हमें अगणित सुविधाएं प्रदान की हैं वहीं हमें आराम पसन्द जीवन, कार्य से जी चुराना व सतत तनाव में रहने की सजा भी प्रदान की है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तनाव का भी हमारे स्वास्थ्य एवं हृदय पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यदि कहा जाये कि तनाव ही हृदय रोग का मुख्य कारण है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। जब हमारी दैनिक समस्याएं व आवश्यकताएं हमारे संसाधनों से बढ़ जाती हैं अथवा हमारी अपेक्षाओं के अनुकूल परिणाम नहीं आते हैं तो हमें तनाव का आभास होता है। विज्ञान की भाषा में एड्रिनलिन तथा नॉरएड्रिनलिन हार्मोन्स के असंतुलित स्रावों को तनाव की संज्ञा दी गई है।

उच्च रक्तचाप, अंजाइना, हार्ट अटैक, सर दर्द, कमर दर्द, कंधे में दर्द, सरवाइकल दर्द, अस्थमा, चिंता, उदासी, अनिद्रा, अल्सर आदि सभी तनाव जनित मनोशारीरिक रोग हैं। तनाव चूंकि आज हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग बन गया है, हम इससे कैसे निपटें, इस पर विचार करना अति आवश्यक है।

तनाव के मुख्य कारणों मे एक है ''ओवर लोड''। आज हमें रोटी खाने के लिए भी पर्याप्त समय नहीं मिलता। अस्त-व्यस्त दिनचर्या, शारीरिक श्रम की कमी, उलझन भरा जीवन, इन सबके अतिरिक्त मन को प्रसन्न रखने, व हास्य विनोद करना तो दूर, ऐसा करने के बारे में सोचने का भी समय नहीं मिलता।

कार्य का आधिक्य, समय की कमी, आवश्यकताओं व इच्छाओं की भरमार, अखबार, टी.वी., रेडियो द्वारा अनेक जानकारी व अनेक प्रसाधन सामग्री का लोलुपता भरा प्रचार आदि आज के तनाव के मुख्य कारण हैं। परन्तु यह सब जीवन के अनिवार्य अंग हैं। हमें इनको धैर्य व युक्ति पूर्वक निपटना है और तालमेल बिठाना है। इसके लिए हमें खर्च व आय में संतुलन, स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता, घर परिवार में सौहार्द, प्रेम समर्पण की भावना, समाज से उचित तालमेल तथा प्रभु स्मरण आदि क्षेत्रों को शक्तिशाली करना होगा, समृद्ध करना होगा।

घर परिवार में सदस्यों के साथ बैठकर आपस में एक-दूसरे की शिकायतों व कठिनाइयों का समाधान करना होगा, थोड़ा बहुत त्याग व सामंजस्य करना होगा। आपसी समस्याओं का समाधान ढूंढना होगा। पीढी अन्तराल जनित विवाद को सहनशीलता की शक्ति से जीतना होगा। कार्यालय में यदि कोई तनाव का कारण है उसकी गहराई में जाकर उचित समाधान करें। अपनी सारी समस्याओं की एक तालिका बनाएं और श्रृंखलाबद्ध समाधान ढूंढे व उन्हें हल करें। किसी विद्धान हितैषी से परामर्श लें। प्यार भरी मधुर वाणी भी कभी-कभी समस्याओं को हल कर देती है। क्रोध के समय, किसी मौलिक कार्य में अकेले ही जुट जाये, कार्य भी सम्पन्न हो जायेगा और क्रोध भी स्वत: समाप्त हो जायेगा।

निषेधात्मक विचारों का त्याग एवं विधेयात्मक चिंतन की आदत डालें। मानवीय गुणों का समावेश करें। सादा जीवन व अनेकान्त दर्शन को जीवन का अभिन्न अंग बनाएं।

## 6. सप्त स्वर्ण नियामावली

हृदय रोग स्पष्टतया गलत जीवनशैली, शारीरिक श्रम की कमी, मोटापा, कोलेस्ट्रोल की अधिक मात्रा, तनाव, गलत खान-पान आदि का ही परिणाम है। निम्न सूत्रों की जानकारी आपको, हृदय रोग, चाहे वह किसी भी स्तर पर हो, अवश्य ही मुक्ति दिलायेंगी।

1. हृदय रोग एवं हृदय की कार्यप्रणाली की पूर्ण जानकारी व कारणों के प्रति सजगता।

2. मोटापा व उच्च रक्तचाप की जानकारी तथा कारणों के प्रति सजगता।

3. तनाव कम करने की कला की जानकारी व कारणों के प्रति सजगता, मनोरंजन के लिए कुछ हासपरिहास की आदत, मधुर वाणी, वाक् कौशल, विधेयात्मक चिंतन, प्रेम, मैत्री, सहनशीलता, कार्यों को टालने की बजाय कार्य और समय में सामंजस्य बिठाने की कला।

4. आहार विवेक, बिना वसा का भोजन, कैलोरी ग्रहण व खर्च में संतुलन, धूम्रपान व शराब आदि का त्याग।

5. यौगिक जीवनशैली, सामान्य स्वास्थ्य के प्रति सजगता, व्यवस्थित दिनचर्या।

6. आसन, प्राणायाम, यौगिक क्रिया, मुद्रा की जानकारी व नियमित अभ्यास।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

7. ध्यान, कायोत्सर्ग की जानकारी व श्रद्धापूर्वक उन्हें करना, भीतर से सशक्त व बाहर से सरल रहना, अपनी उपलब्धियों को प्रभु का प्रसाद मानकर संतुष्ट रहने की प्रवृत्ति बनाना, पर निन्दा का त्याग।

## 9.3 गठिया (Arthitis)

अस्थि संधियों अर्थात् हड्डियों के जोड़ों में दर्द और सूजन एक आम बीमारी है जिसका सीधा प्रभाव व्यक्ति की दिनचर्या पर पड़ता है। कुछ लोग जैसे-तैसे इस रोग के साथ जीवन चलाते रहते हैं परन्तु कुछ का जीवन अत्यंत पीड़ादायक हो जाता है। भारत में प्रत्येक छः व्यक्तियों में से एक किसी न किसी रूप में जोड़ों के दर्द से ग्रस्त है। इस रोग को मेडिकल साइंस की भाषा में 'आर्थराइटिस' अथवा संधिशोथ अथवा गठिया कहते हैं। आर्थराइटिस वैसे तो कई बीमारियों का संयुक्त नाम है परन्तु रियूमेटायड आर्थराइटिस, आस्टियोआर्थराइटिस तथा गाउटीआर्थराइटिस के रूप में यह बहुतायत पाई जाती है। इन सब में दो या दो से अधिक अस्थियों के संधि स्थान पर सूजन, दर्द, ऐंठन और कड़ापन हो जाता है। यही नहीं उन संधियों के आस-पास की पेशियों मे भी ऐंठन पायी जाती है जिसके कारण उन जोड़ों को काम में लेते समय अत्यधिक कठिनाई और पीड़ा होती है।

### 9.3.1 गठिया के प्रकार

#### 9.3.1.1 आस्टियो आर्थराइटिस

गठिया रोग से ग्रस्त रोगियों में सर्वाधिक संख्या इसी प्रकार की आर्थराइटिस की होती है। बहुत लोग इसे बुढ़ापे की बीमारी मानते हैं। जोड़ों में अप्रत्याशित क्षोभ, टूट-फूट और बढ़ती उम्र के कारण इस बीमारी की उत्पत्ति होती है। कतिपय दो अस्थियों के संधि स्थल पर उनके सर्वांग सिरों पर उपास्थि (कार्टिलेज) का एक प्रत्यास्थ और मुलायम पेड लगा होता है जिसके कारण जोड़ों को काम में लेते समय जब अस्थियां मुड़ती हैं तो एक दूसरे के ऊपर सरकने में सुविधा होती है तथा आगे-पीछे खिंचने की गुंजाइश रहती है। किन्हीं कारणों से जब इस उपास्थि के पेड में टूट-फूट होती है तो अस्थियों के सिरे फूल जाते हैं और इन्हें बांधकर रखने वाले लिगामेंटस अर्थात् तन्तुक धागे और उनसे जुड़ी पेशियों के तंतु भी सूजकर मोटे हो जाते हैं। पूरे जोड़ की आकृति बदल जाती है और जोड़ को हिलाने में असहनीय दर्द होता है। इस प्रकार का संधिशोथ किसी भी जोड़ के स्थान पर हो सकता है परन्तु ऐसा देखा गया है। यह विकृति प्रायः उन्हीं जोड़ों में पाई जाती है जिन पर शरीर का अधिक भार टिका होता है। जैसे घुटने, कूल्हे और मेरूदण्ड के जोड़। कई बार यह विकृति अंगुलियों में अंगुठे के निचले भाग तथा एड़ी के ऊपरी भाग में भी पायी जाती है। चिकित्सक इसे प्राथमिक एवं द्वितीयक श्रेणी में बांटते हैं। प्राथमिक श्रेणी की आस्टियोआर्थ्राटिस बिना किसी बाह्य कारण विशेष के उत्पन्न होती है और अधिकतर स्त्रियों में पाई जाती है। बढ़ती उम्र और शरीर की घटती क्षमता को इसका प्रमुख कारण माना जा सकता है। इसके अलावा कुछ सीमा तक आनुवंशिकता भी इसका कारण हो सकती है। द्वितीयक श्रेणी की आस्टियोआर्थराइटिस रोजमर्रा की जीवनशैली से जुड़ी विवशताओं के कारण किन्हीं-किन्हीं जोड़ों पर बार-बार अवांछित तनाव और दबाव पड़ने के कारण उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिए फुटबाल खिलाड़ी को घुटनों का संधिशोध होने की पूरी संभावना होती है क्योंकि वह घुटनों के जोड़ों को अत्यधिक प्रयोग में लाता है और उन पर बार-बार दबाव डालता है।

इस रोग के विकसित होने पर जोड़ों को हिलाने-चलाने पर उन जोड़ों तथा उनके आस-पास की पेशियों में असहनीय पीड़ा होती है।

#### 9.3.1.2 रियूमेटायड आर्थराइटिस

जोड़ों की यह विकृति सामान्यतया धीरे-धीरे प्रारम्भ होती है परन्तु कभी-कभी अचानक उभर कर सामने आ जाती है। बीमारी के लक्षण उभरते हैं, गायब हो जाते हैं, कुछ समय बाद फिर उभर आते हैं। हाथ-पैरों के जोड़ इस रोग

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

से सर्वाधिक प्रभावित होते हैं। कुछ समय तक रोग बना रहता है। तो शरीर के अन्दर पाये जाने वाले संयोजी ऊतक (कनेक्टिव टिश्यू) भी इस रोग से ग्रस्त हो जाते हैं और रोगी को ऐसा महसूस होता है मानो सारा शरीर बीमार हो गया हो। यह रोग प्राय: द्विपार्श्वीय होता है। यदि बांयी कलाई में तकलीफ है तो दायीं में भी होगी।

शरीर की कई अस्थि संधियों को सिनोवियल संधि (सिनोवियन ज्वाइंट) कहा जाता है क्योंकि वहाँ संधि करने वाली अस्थियों के बीच एक थैलीनुमा सिनोवियल झिल्ली होती है जिसमें सिनोवियल द्रव नामक तरल पदार्थ भरा होता है। रोग का प्रारम्भ सिनोवियल झिल्ली में शोध या सूजन से होता है। यदि इस प्रारम्भिक अवस्था में इसका उपचार नहीं किया जाये तो सिनोवियल झिल्ली की सूजन बढ़ती है, सिनोवियल द्रव सूखने लगता है। इसके साथ अन्दर ही अन्दर पैनस नामक दानेदार ऊतक का निर्माण होता है। उपास्थित के अग्रभाग पर लगे उपास्थित पेड को नष्ट कर डालता है। द्रव्य युक्त आन्तरिक मुलायम भाग सूखकर पूरी तरह संयोजी ऊतक का रूप ले लेता है और जोड़ काम करना बंद कर देता है। जोड़ों का मुड़ना बंद सा हो जाता है, जो थोड़ा-सा जोर लगाने पर असहनीय दर्द होता है। दर्द से प्रात:काल अपेक्षाकृत अधिक परेशानी होती है, दिन चढ़ने के साथ थोड़ी राहत मिलती है। हाथों की अंगुलियों में यदि यह रोग हो जाता है तो अंगुलियां टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती है और उनके बूते पर कोई काम कर पाना नितान्त दुष्कर हो जाता है। धीरे-धीरे रियूमेटायड आर्थराइटिस का असर शरीर के संयोजी ऊतकों तक फैलता है इसलिए जोड़ों में दर्द के अतिरिक्त बुखार, भूख न लगना, वजन घटना, कमजोरी, खून की कमी जैसी अन्य परेशानियां भी उभरती हैं। कई बार शरीर में गिल्टियां भी हो जाती हैं।

रियूमेटायड आर्थराइटिस वैसे तो किसी भी उम्र में हो सकता है परन्तु 25 से 40 वर्ष की उम्र में यह रोग अधिक होता देखा गया है। वैज्ञानिकों के अनुसार शरीर के अपने रोग प्रतिरोधी तंत्र की कोशिकाएं अपने ही सिनोवियल संधियों पर आक्रमण कर उसे धीरे-धीरे नष्ट करने लग जाती है, जिससे संधि शोथ की यह समस्या उत्पन्न होती है। वंशानुगत कारणों के साथ वायरस संक्रमण भी इस रोग का कारण होता है। कई वैज्ञानिकों का यह भी मानना है कि किसी अज्ञात विजातीय के कारण भी यह रोग हो जाता है परन्तु उसकी स्पष्ट जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकती है।

### 9.3.1.3 गाउटी आर्थराइटिस

इस प्रकार का आर्थराइटिस शरीर में असंतुलित रासायिनक क्रियाओं के कारण होता है। चयापचय की क्रिया के परिणामस्वरूप शरीर की कोशिकाओं में यूरिक एसिड का निर्माण होता है। जो पेशाब के साथ बाहर निकल जाता है। इसी एसिड के नाम पर मूत्र को यूरिन का नाम दिया गया है। किन्हीं कारणों से यदि इस एसिड का उत्पादन अधिक होने लग जाये या पेशाब के साथ यह बाहर न निकल पाए तो रक्त में इसकी मात्रा बढ़ने लगती है। इसकी लगातार बढ़ती मात्रा से यह रक्त के अन्दर उपलब्ध सोडियम से रासायनिक क्रिया करके सोडियम यूरेट नामक रसायनिक यौगिक बनाता है जो धीरे-धीरे जोड़ों के बीच रिक्त स्थान में जमा होकर वहाँ जकड़न, सूजन और दर्द उत्पन्न करता है। यदि समय रहते इसका उपचार न किया जाये तो जोड़ों की अस्थियां आपस में मिलकर फ्यूज हो जाती है और जोड़ पूरी तरह काम करना बंद कर देते हैं। यह रोग प्राय: 45 वर्ष की उम्र के बाद होता है वैज्ञानिकों का मत है कि तनाव ग्रस्त जीवनशैली, पर्यावरण प्रदुषण और यदा-कदा किसी डिफेक्टिव जीन के कारण इस बीमारी की उत्पत्ति होती है।

### 9.3.1.4 एन्किलूजिंग स्पान्डिलाइटिस

यह एक अलग प्रकार का जोड़ों का रोग है। इसकी प्रारम्भिक अवस्था में मेरुदण्ड (रीढ़) के निचले छोर तथा पैरों में दर्द उठता है जो धीरे-धीरे कूल्हों तथा दोनों कंधों में फैलता दिखाई देता है। कुछ समय दिखाई देता है। कुछ समय बाद रीढ़ का लचीलापन गायब हो जाता है तथा उठते-बैठते दर्द होता है, जिससे रोगी रीढ़ को सीधा ही नहीं करता, परिणाम स्वरूप उसमें सदा के लिए हल्का घुमाव बन जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## 9.3.2 गठिया की चिकित्सा

गठिया के उपचार के लिए अनेक विधियां प्रयोग में लाई जाती हैं। विशेषज्ञ चिकित्सकों के निदान तथा सर्जरी (शल्य चिकित्सा) के अतिरिक्त कुछ ऐसे अन्य सरल उपाय भी हैं जो अत्यंत कारगर सिद्ध होते हैं। इसको समझना तथा किसी जानकार प्रशिक्षक की देखरेख में इनको प्रयोग में लाना उपयोगी होता है। इनमें से कुछ प्रमुख निदान और बचाव के उपाय इस प्रकार है—

**1. उष्ण चिकित्सा**—इसके अन्तर्गत कर्मस्नान, गर्म पट्टी, गर्म सेक और पैराफिन वैक्स के लेप का प्रयोग किया जाता है उससे सूजन दूर होती है और दर्द में आराम मिलता है।

**2. शीत चिकित्सा**—कुछ गठिया के उपचार में शीत चिकित्सा भी लाभकरी होती है। जैसे जोड़ पर दर्द रहता हो, वहाँ सूती कपड़े से बनी थैली में बर्फ भरकर उसकी पट्टी बनाकर बांधने से लाभ मिलता है। एक साथ बारी-बारी से गर्म-शीत सेक तथा गर्म और शीत पट्टी के परिवर्तन से भी दर्द घटता है और सूजन कम होती है।

**3. मालिश**—जोड़ों पर धीरे-धीरे दबाव देते हुए गोलगोल घुमाकर मालिश करने से भी जोड़ों का दर्द घटता है तथा उनकी जकड़न दूर होती है।

**4. विद्युतीय उद्दीपन**—एक नव विकसित विधि जिसे ट्रांसक्यूटेनियस इलेक्ट्रिकल नर्वस्टिमुलेटर (टेन्स) कहते हैं, के द्वारा प्रभावित जोड़ों में अत्यंत कम तीव्रता की विद्युत धारा प्रवाहित की जाती है। जिसकी अवधि कुछ मिनटों से लेकर कुछ घंटों तक होती है। इससे जोड़ों की पेशियों में क्रमांकुचन तेज होता है। उनमें फैलाव आता है और उनकी जकड़न दूर होती है। टेन्स चिकित्सा के लिए अलग-अलग प्रकार के उपकरण बाजार में सुगमता से उपलब्ध हैं।

**5. औषधी निदान**—गठिया के उपचार में एलौपैथिक चिकित्सा पद्धति के अन्तर्गत अलग-अलग प्रकार की दर्द निवारक दवाईयां, नानस्टेरायड प्रतिशोथ दवाईयां, स्टेरायड्स और एन्टीबायोटिक औषधियां प्रयोग में लाई जाती हैं। आयुर्वेद और होमियोपैथी मे भी गठिया के लिए अनेक कारगर दवाईयां उपलब्ध हैं।

**6. शल्य चिकित्सा (सर्जरी)**—गठिया की कतिपय बहुत पुरानी और चुनी हुई विकृतियों में शल्य चिकित्सा करके बढ़ी हुई हड्डी को काटकर निकाल दिया जाता है। कई बार आवश्यकता पड़ने पर बेकार हो गये जोड़ो की हड्डियों को निकालकर धातु निर्मित जोड़ लगा दिये जाते हैं। आर्थोप्लास्टी, आर्थोटोमी, आस्टियोटोमी, सिनोवेक्टोमी जैसी शल्य क्रियाओं के द्वारा घुटनों, कुहनी, कुल्हे, ऐड़ी एवं कलाई गठिया रोग से मुक्ति मिलने की पूरी सम्भावनाएं होती हैं।

**7. यौगिक चिकित्सा**—योग चिकित्सा के अन्तगंत निम्नांकित प्रयोगों के अभ्यास सर्वथा कारगर और रोग मुक्ति के स्थायी उपाय हैं—

**अ. कंधे और गर्दन की क्रिया**—गर्दन को पहले दायें और बायें कंधे की ओर झुकाकर, उसके बाद आगे-पीछे, तत्पश्चात् गोल घुमाना—इन तीनों क्रियाओं की पांच-पांच आवृत्तियां प्रतिदिन दो बार।

**ब. कलाई की क्रिया**—मुट्ठी बांधकर मुट्ठी को पहले ऊपर की ओर खींचना, उसके बाद नीचे लटकाने के लिए जोर देना। किसी ठोस वस्तु का आलम्बन लेकर पंजों और कलाई को ऊपर-नीचे घुमाना। करबद्ध मुद्रा में दोनों कलाई को एक साथ दांये और बायें मोड़ना।

**स. ऐड़ी-पंजे की क्रिया**—पीठ के बल लेटकर पैरों को सीधा करके पंजों को अपनी ओर खींचें, फिर अपने से दूर जमीन की ओर दबाएं।

**द. घुटने और कुहनी की क्रिया**—कुर्सी पर बैठकर दोनों हथेलियों से दोनों जांघों को सहारा देकर घुटनों को मोड़ें, फिर ढ़ीला छोड़ें। इसकी पांच आवृति करें। इसी प्रकार हाथों को मोड़कर अंगुलियों से कंधे को छुएं, फिर कुहनी को ऊपर उठायें-गिराएं इसकी भी पांच आवृति करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

**य. आसन**— 1. सूर्य नमस्कार के बारहों चरण का कम से कम तीन चक्र अभ्यास करें।

2. सुविधानुसार पवन मुक्तासन, शशांकासन, भुजंगासान और धनुरासन का अभ्यास करें— कम से कम तीन आवृति प्रत्येक की।

**र. प्राणायाम**— नाड़ी शोधन और भस्त्रिका प्राणायाम का अभ्यास।

**ल. ध्यान**— प्रतिदिन 30 मिनट दीर्घश्वास प्रेक्षा का अभ्यास। यौगिक क्रियाओं एवं आसनों का अभ्यास करने के बाद सुखासन में बैठकर श्वास पर ध्यान केन्द्रित करते हुए लम्बी धीमी और गहरी श्वास का अभ्यास अत्यन्त लाभदायक होता है।

**व. आहार संयम**— 1. चोकर सहित अनाज का प्रयोग करें तथा दालों में किसी प्रकार का मसाला आदि न डालें। चिकनाई तथा मिर्च मसालों का सर्वथा त्याग करें।

2. सीजन में उपलब्ध हरी सब्जियों और फलों का उपयोग करें।

## 9.4 एड्स (Aids)

विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) का कहना है संसार के सामने एक नए तथा जानलेवा रोग 'एड्स' की चुनौती है। इस समय इसके लिए कोई उपचार नहीं है।

सन् 1980 में अमेरिका से शुरू हुआ यह रोग इस समय पश्चिमी देशों में काफी भयावह रूप धारण कर चुका है, लेकिन भारत भी इस आयातित एड्स रोग से अछूता नहीं रह गया है। जांच कराने पर 0.86 प्रतिशत लोगों में एड्स का विषाणु पाया गया है। चिकित्सकों का मत है कि समय रहते यदि सचेत नहीं हुए तो कुछ वर्षों में एड्स सुरसा की भांति हजारों-लाखों भारतीयों को लील जायेगा। दिन-प्रतिदिन एड्स पीड़ित रोगियों की संख्या बढ़ रही है। यह आम धारणा बनी हुई है कि कुछ वर्षों के अन्दर एड्स एक महामारी बनकर फैलेगा।

एड्स का अर्थ है 'एक्वायर्ड इम्युनो डेफीशियेंशी सिन्ड्रोम' जो एच. आई. वी. (HIV) विषाणु से होता है। यह विषाणु एक प्रकार का छिपा चोर है, जो शरीर के अन्दर सोता रहता है। यह ऐसा अनोखा रोग है जो रोगी की रोग प्रतिरोध क्षमता को नष्ट कर देता है। पूरी तरह फैल जाए तो शरीर को तहस-नहस कर देता है। रोग प्रतिरोध क्षमता धीरे-धीरे घटने के कारण अनेक प्रकार की बीमारियां शरीर को हो जाती है और अन्ततोगत्वा रोगी की मृत्यु हो जाती है। सबसे पहले जब एच आई वी वायरस का हमला होता है तो रोग प्रतिरोध का काम करने वाली टी-सेल लिम्फोसाइट श्वेत रक्त कोशिकाओं को इस प्रकार वश में कर लेती हैं कि वे वायरस को मारने के बजाय उनके विकास में सहायता करने को विवश हो जाती हैं। वायरस की संख्या बढ़ती जाती है और रोगाणुओं को मारने वाली टी सेल की संख्या घटती जाती है तब रोग गम्भीरतम होता जाता है।

### 9.4.1 एड्स के लक्षण

रूक-रूक कर हल्का बुखार हो जाता है जो किसी भी दवाई से नहीं जाता । रात को पसीना आता है। रात दिन बेहद थकान रहती है। पतले दस्त आते हैं। भूख जाती रहती है। बेहद कमजोरी महसूस होती रहती है और रोगी का वजन कम होता चला जाता है। सूजी हुई ग्रन्थियां, मुंह और भोजन की नली में सफेद दाग या जख्म इसके प्रारम्भिक लक्षण है। विविध प्रकार के संक्रमण होने लगते हैं और अन्य रोगों से ग्रसित होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

### 9.4.2 एड्स होने के कारण

किसी संक्रमित व्यक्ति के रक्त एवं अन्त:कोशिकीय स्रावों से एड्स फैलता है। एड्स मुख्यतया यौन सम्बन्धों, संक्रमित रक्त दाता के रक्त से, संक्रमित सूई से, संक्रमित हथियार से, त्वचा के कटने-फटने से एवं एड्स संक्रमित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

गर्भवती मां से जन्म लेने वाले बच्चे को अथवा ऐसी मां के द्वारा दुग्धपान से फैलता है। एड्स सामान्य सामाजिक सम्पर्कों एवं घरेलू सम्पर्क के द्वारा नहीं फैलता है। स्पर्श, चूमने, गले लगाने, कपड़े बदलने, झूठे बर्तन में खाने से भी एड्स नहीं फैलता है। अब इस बात की पुष्टि हो चुकी है कि समलैंगिक सम्बन्ध और पर स्त्री गमन अथवा पर पुरुष गमन इस रोग के मुख्य कारण हैं। कई स्त्रियों अथवा कई पुरुषों के सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति दूसरे लोगों की अपेक्षा एड्स के जल्दी शिकार होते हैं। एड्स की एक रोगिणी सम्भोग के द्वारा बीस पुरुषों को एड्स के जरिए मौत के मुंह में ढ़केल सकती है।

## 9.4.3 एड्स से बचने के उपाय व सावधानियां

एड्स का मतलब है ऐसा रोग जिसमें रोग प्रतिरोधक शक्ति क्षीण हो जाती है। अब तक इसका कोई सफल ईलाज नहीं ढूँढा जा सका है। इससे बचाव ही इसका उपचार है। एक बार एड्स का संक्रमण होने के बाद मौत निश्चित है। जीवन में वही व्यक्ति निरोगी रहता है जो प्रकृति के निकट रहता है सुन्तुलित आहार और साफ-सुथरे रहन सहन से कई बीमारियाँ पास नहीं फटकती। तनाव, चिन्ता, सिगरेट-बीड़ी, शराब या मादक द्रव्य शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्ति को कम करते हैं। इनसे दूर रहिये।

प्रतिदिन कोई व्यायाम कीजिए। तीन से पांच किलो मीटर पैदल चलिये और योगासन कीजिये। प्रात: सनबाथ लीजिये, सात-आठ घंटे की नींद लीजिये। पूर्ण स्वथ्य होने तक अग्नि के सम्पर्क से बने खाद्य पदार्थों का उपयोग न करें केवल अंकुरित अन्न, मधु, दूध, दही, मौसम की हरी साग-सब्जियों और फल या जूस का सेवन करें। इस प्रकार प्रतिरोधक शक्ति बढ़ जायेगी, एड्स जैसी जान लेवा बीमारी से बचा जा सकता है।

**विशेष सावधानियाँ** — 1. रक्त लेते समय यह ध्यान रखें कि यह रक्त किसी एड्स रोगी का तो नहीं है। आवश्यकता होने पर अपने किसी करीबी दोस्त या रिश्तेदार का रक्त लीजिये, रक्तदान करने से पहले यह आश्वस्त हो जायें कि सूई को उबालकर, कीटाणु नाशक दवा लगाकर अच्छी तरह साफ कर लिया गया है।

2. स्त्री-पुरुष जानबूझकर खतरे से न खेलें। किसी अन्जान स्त्री-पुरुष से यौन सम्पर्क न करें।

3. किसी भी वस्तु को उपयोग करने से पहले भली भांति कीटाणु नाशक दवा लगाकर साफ करें। वस्तु अपनी जानकारी की हो अन्य की नहीं।

---

**बोध प्रश्न 1:**

---

*1. किसने कहा कि कैंसर नई सभ्याता की देन है।*

*2. हृदय रोग की प्रेक्षा चिकित्सा लिखें।*

*3. एड्स का अर्थ लिखें।*

# 10.0 मिरगी (Epilepsy)

मिरगी या अपस्मार को अंग्रेजी में Epilepsy कहते हैं।

## 10.0.1 मिरगी के लक्षण

इसके दौरे आते हैं। रोगी को दौरा आने के पहले प्राय: मालूम हो जाता है। पर कभी-कभी मिरगी का दौरा अचानक भी आता है। उस रोग का जब दौरा आता है तो रोगी बेहोश हो जाता है, उसके अंग-प्रत्यंग कांपने लगते हैं और प्राय: मुंह से झाग निकलने लगता है। कभी-कभी रोगी की आंखे खुली रहने पर भी उसे होश नहीं रहता, वह अपनी जीभ काटने लगता है और बेहोशी में पेशाब-पाखाना कर देता है। यह अवस्था कुछ सेकेंड से लेकर कुछ मिनटों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तक रहती है। उसके बाद रोगी धीरे-धीरे अपने आप होश में आ जाता है और थक जाने के कारण प्राय: सो जाता है। दौरे के समय रोगी के मुख में तौलिया आदि रख देने से वह अपनी जबान को न काट सकेगा।

## 10.0.2 मिरगी के कारण

मस्तिष्क में पाये जाने वाले लाखों न्यूरानों के अन्दर असामान्य और नियमित विद्युतीय संप्रेषण एवं प्रक्षेपण के कारण शरीर की कंकाल पेशियों में अत्यन्त तीव्र गति से संकुचन होता हैं और शरीर के विभिन्न अंग अकड़ जाते हैं ऐंठ जाते है। ऐसी स्थिति-मस्तिष्क के अन्दर पाये जाने वाले न्युरानों के बीच बने रिबरबरेटिंग सर्किट के कारण और भी गम्भीर हो जाती है। इस दौरे की स्थिति मे पेशियों में अकड़न एवं ऐंठन इस प्रकार की अनैच्छिक होती है कि सहज ही उससे वापस निकलना उनके लिए मुश्किल होता है। अन्जाने में ही पीड़ित व्यक्ति को प्रकाश, ध्वनि एवं गन्ध का भ्रम होता है। न्यूरानों से निकले डिस्चार्ज मस्तिष्क के कई केन्द्रों के कार्य को ठप्प कर देते हैं जिसके कारण व्यक्ति अचेत हो जाता है।

मिरगी के प्रमुख कारण- मिरगी के सभी कारणों को सिम्टोमेटिक और इडियोपैथिक वर्गों में बांटा जाता है। सिम्टोमेटिक वर्ग में निम्न कारण आते है—1. अविभाजित चयापचप (रक्त शुगर की कमी, कैल्शियम की कमी, पेशाब में यूरिक एसिड की अधिकता, रक्त में ऑक्सीजन की कमी आदि)।

2. संक्रमण (मस्तिष्क झिल्लियों का संक्रमण)।
3. विषाक्तता (शराब, नशीली दवाऐं)।
4. रक्त प्रवाह के दोष।
5. सिर की कोई चोट, ट्यूमर।

इडियोपैथिक वर्ग में कोई स्पष्ट कारण नहीं होकर अनेकानेक शारीरिक अनियमितताएँ ही मिरगी के दौरे का कारण बनती हैं।

## 10.0.3 मिरगी की चिकित्सा

**1. प्राकृतिक चिकित्सा**—औषधोपनारक इस रोग में प्राय: जमिनल और ब्रोमाइड आदि विषाक्त औषधियां प्रयोग करके मस्तिष्क के स्नायुओं को चेतना शून्य कर देते हैं जिससे रोग और उसके लक्षण कुछ दब जाते हैं, पर रोग जड़ से हरगिज नहीं जाता। रोग को जड़ से दूर करने के लिये उपवास, रसाहार और फलाहार करने के बाद, उपयुक्त आहार के साथ-साथ प्रात:काल कटि-स्नान, शुष्क घर्षण स्नान तथा शाम को मेहन-स्नान, स्पाइनल बाथ या पेडू पर मिट्टी की पट्टी लगानी चाहिये। सप्ताह में दो दिन एप्सम साल्ट-बाथ लेना भी जरूरी है। प्रतिदिन आधा घंटा तक धूप में पूरे शरीर की तेल मालिश होनी चाहिए, उसके बाद खुरदरे तौलिये से शरीर को रगड़-रगड़ कर पोंछना चाहिये। तत्पश्चात् साधारण स्नान कर लेना चाहिये। मेरूदण्ड पर दो मिनट भीगा गरम तौलिया तथा एक मिनट ठंडी तौलिया बारी-बारी से रखकर 10-20 मिनट तक सेंकना इस रोग मे बड़ा लाभ करता है।

आसमानी रंग की बोतल के सूर्यतप्त जल की 50-50 ग्राम की 8 खुराकें रोगी को प्रतिदिन पीनी चाहिये तथा बेहोशी की हालत में उसी जल का छींटा मुंह पर देना चाहिये या उस जल से भीगी कपड़े की पट्टी माथे पर रखकर उसे बदलते रहना चाहिये।

**2. प्रेक्षायोग चिकित्सा**

**आसन**—पवन मुक्तासन, सर्वांगासन, शशांकासन, सुप्तवज्रासन।

**प्राणायाम**—मूलबन्ध के साथ सूक्ष्म भस्त्रिका, नासामुख प्राणायाम।

**प्रेक्षा**—ललाट पर सफेद रंग का ध्यान।

**अनुप्रेक्षा**—मस्तिष्क की स्वस्थता का सुझाव।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## 10.1 मधुमेह (Diabetes)

उदर के बांयी तरफ ऊपरी हिस्से में आमाशय के ठीक नीचे उससे ढकी क्लोम ग्रन्थि या अग्न्याशय स्थित है। इसकी बाह्य संरचना — शहतूत की तरह, रंग मटमैला, लम्बाई 15 से 23 से.मी. तथा चौड़ाई 5 से 8 से.मी. होती है। इस ग्रन्थि का व्यवच्छेदन (डिसेक्शन) करने पर सफेद रंग की मोटी नली दिखती है जो पित्त-नलिका के साथ मिलकर ड्यूडिनम में खुलती है। इसमें ग्रन्थि के विभिन्न अंगो में बना रस छोटी-छोटी नलिकाओं द्वारा लाया जाता है, मोटी नली को पैन्क्रियाटिक-डक्ट कहते हैं। जो पैन्क्रियाटिक एम्पूला गुम्फ बनाती है। यहीं पर क्लोम ग्रन्थि के रस ट्रिप्सिन (अपचित प्रोटीन को पचाने वाला), एमाइलोप्सिन या एमिलेस (अपचित कार्बोज को पचाने वाला), स्टियाप्सिन या लाइपेस (वसा को पचाने वाला) तथा रेनिन (दूध को पचाने वाला) तथा पित्ताशय का पित्त दोनों ड्यूडिनम में प्रविष्ट होते हैं। यह तो हुआ क्लोम ग्रन्थि का बहिर्स्राव, परन्तु इस ग्रन्थि के कुछ भाग ऐसे स्त्राव बनाते हैं जो बाहर नहीं निकलते, बल्कि सीधे रक्त में मिलकर कार्बोज की सात्मीकरण क्रिया में भाग लेते हैं। जर्मन पैथोलॉजिस्ट पॉल लैगरहेन्स ने, जिनका जीवनकाल 1947-88 रहा है, सर्वप्रथम क्लोम ग्रन्थि में अनेक द्वीप आकार की संरचनाओं की खोज की। उनके नाम पर इन द्वीप संरचनाओं को लैगरहेन्स के आइलैण्ड (Island of dangerhans) कहते हैं। लैगरहेन्स के आइलैण्ड में विशिष्ट प्रकार की कोशिकाओं में अल्फा कोशिकाएं 20%, बीटा कोशिकाएं 70% तथा गामा कोशिकाएं 5% के करीब होती हैं। ये क्रमशः ग्लूकागोन, इन्सुलिन, पाडुदिन तथा लिपोकाइक हार्मोन सीधे रक्त में छोड़ती हैं। इसमें कुछ डी-कोशिकाएं भी होती हैं जो स्त्राव छोड़ती हैं ये कोशिकाएं क्लोम की स्पंजी (पोपली) ग्रन्थि में छतरी हुयी रहती हैं। पोपली क्लोम ग्रन्थि में जब बीटा कोशिकाओं की मात्रा कम हो जाती है या ये निष्क्रिय हो जाती हैं उस स्थिति में इन्सुलिन हार्मोन कम निकलता है। फलतः कार्बोज का उपयोग शरीर में नहीं हो पाता है। शरीर को शक्ति एवं उष्णता नहीं मिल पाती है। इन्सुलिन यकृत तथा पेशियों में अतिरिक्त ग्लूकोज को ग्लाइकोजेन में रूपान्तरित कर संग्रह करता है। संगृहीत ग्लाइकोजेन को आपातकाल में अल्फा-कोशिकाओं से निकले हार्मोन ग्लूकागोन द्वारा ग्लाइकोजेशन प्रक्रिया द्वारा ग्लूकोज (शक्ति) में रूपान्तरित किया जाता है।

किसी भी मीठे आहार (कार्बोज) का पाचन सर्वप्रथम मुंह में टाइलिन तथा बाद में आमाशय एवं आंतों के अन्य एन्जाइमों द्वारा होता है। सभी प्रकार के कार्बोज अन्त में ग्लूकोज में परिवर्तित होकर शरीर की ऊर्जा के काम आते हैं। ग्लूकोज रक्त के साथ सिर से लेकर पैर की अंगुलियों एवं नाखूनों तक पहुंचकर उन्हें शक्ति तथा पोषण देता है। खाने के तीन घण्टे पश्चात् रक्त में बढी हुई शर्करा इन्सुलिन की सहायता से कोशिकाओं द्वारा प्रयुक्त होती है। कोशिकाओं में ग्लुकोज अतिशीघ्रता से फास्फोरिलिटेड होकर आक्सीकरण की क्रिया को तीव्र करता है फलतः शरीर को ऊर्जा प्राप्त होती है। कोशिकाओं में ग्लूकोज के ऑक्सीकरण तथा दहन में पानी तथा कार्बन डाइआक्साइड मुक्त होते हैं, जिन्हें गुर्दे तथा फेफड़ों द्वारा निकाल दिया जाता है। स्नायु संस्थान तथा हृद्पेशी की कोशिकाएं ग्लूकोज को संचित नहीं कर पाती हैं, उन्हें तुरन्त काम में ले लेती हैं जबकि यकृत तथा अन्य मांसपेशीय कोशिकाएं ग्लूकोज को ग्लाइकोजिन के रूप में आकस्मिक आवश्यकता हेतु संचित कर लेती हैं। थकान, मूर्च्छा, तीव्र हृदय-धड़कन एवं अन्य आपातकाल में ग्लूकोज, शहद, पानी तथा नीबू का घोल तुरन्त राहत देता है। उपर्युक्त स्थिति में शरीर को अतिरिक्त ग्लूकोज नहीं मिलने पर मस्तिष्क के निर्देश पर यकृत में संचित ग्लाइकोजिन ग्लूकोज में परिवर्तित होकर आपात-परिस्थिति से मुक्त करता है।

एडिपोस कोशिकाओं में अतिरिक्त ग्लूकोज इन्सुलिन के सहयोग से चर्बी के रूप में संचित हो जाता है। संचित वसा एमरजेन्सी में ऊर्जा प्रदान करती है। ग्लूकोज यकृत में पहुंचते ही विशिष्ट एन्जाइम्स द्वारा एसिड्स में परिवर्तित हो जाता है। इसका रासायनिक नाम ट्रिग्लिसराइड्स है। ट्रिग्लिसराइड्स वसाम्ल रक्त-संचार द्वारा पेट, छाती, जांघ, नितम्ब तथा त्वचा के नीचे वसा के रूप में संचित हो जाता है। यही कारण है कि जो लोग अधिक कार्बोज खाते हैं उनका मोटापा बढ जाता है। डायटिंग, उपवास अथवा बिना भोजन की स्थिति में वसा टूटकर ऊर्जा के काम आता है। ग्लूकोज

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

का चयापचय-चक्र उल्टा हो जाता है अर्थात् वसा एसिड्स में परिवर्तित होकर रक्त में कीटोन की मात्रा बढा देता है। यकृत इस कीटोन को पुन: ग्लूकोज में परिवर्तित कर कोशिकाओं के उपयोग हेतु भेज देता है। यही कारण है कि उपवासादि की स्थिति में वजन कम होने लगता है। स्वस्थ व्यक्ति मे यह चक्र परिस्थिति अनुसार निरन्तर चलता रहता है, परन्तु काफी लम्बे समय तक भोजन नहीं मिलने अथवा रुग्णावस्था में विघटित वसा कीटोन का स्तर व्यक्ति में इस कदर बढ जाता है कि यह पेशाब में एसीटोन के रूप में बाहर निकलता है। प्रसव के समय मूत्र में एसीटोन (कीटोन) का विद्यमान होना यह संकेत देता है कि शरीर की समस्त संचित ऊर्जा (वसा) बच्चे को जन्म देने में लग रही है।

## 10.1.1 मधुमेह के लक्षण

सामान्यतया रक्त में ग्लूकोज की मात्रा सामान्य से अधिक हो जाने और लगातार ऐसी स्थिति बने रहने को ही मधुमेह (Diabetes) कहते हैं। जैसे-जैसे रक्त में ग्लूकोज की मात्रा बढ़ती है पेशाब में भी ग्लूकोज आने लग जाता है। इस रोग के साथ तीन प्रमुख लक्षण स्पष्ट दिखते हैं—

1. अत्यधिक पेशाब आना (Polyurea)
2. अत्यधिक प्यास लगना (Polydipsia)
3. अत्यधिक भूख लगना (Polyphagia)

## 10.1.2 मधुमेह के प्रकार

मधुमेह को दो वर्गो में बांटा गया है—

**1. टाइप—1 मधुमेह**—यह अचानक प्रकट होता है और इसका कारण होता है रक्त में इन्सुलिन नामक हार्मोन की कमी। अग्नाशय में पायी जाने वाली बीटा कोशिकाएं जो इन्सुलिन का निर्माण करती हैं, या तो किसी कारणवश नष्ट हो जाती हैं या फिर वे किसी दोष के कारण इन्सुलिन कम बनाती हैं। इसे इन्सुलिन डिपेन्डेन्ट डाइबिटीज (Insulin Dependent Diabetes ) कहते हैं। इसे जुवेनाइल-आनसेट डाइबिटीज भी कहते हैं क्योंकि यह प्राय: नई उम्र के लोगों में उत्पन्न होती है। ऐसे रोगियों मे यदि इन्सुलिन का इंजेक्शन समय-समय पर दिया जाये तो रोग पूरी तरह नियन्त्रण में रहता है।

**2. टाइप—2 मधुमेह**—इस प्रकार का मधुमेह अपेक्षाकृत अधिक लोगों में पाया जाता है। मधुमेह के कुल रोगियों में से 90 प्रतिशत इसी मधुमेह से पीड़ित होते है। यह रोग प्राय: उन लोगों में पाया जाता है जो 40 वर्ष को पार कर चुके होते हैं तथा जिनके शरीर का भार आनुपातिक रूप से अधिक होता हैं। इस प्रकार का मधुमेह चूंकि जीवन के तीसरे चरण में पाया जाता है इसलिए इसे मेच्योरिटी-आनसेट डाइबिटीज (Maturity Onset Diabetes) कहतें हैं। इन रोगियों में बढे हुए ग्लूकोज की मात्रा को आहार संयम, व्यायाम एवं योगाभ्यास और औषधियों से बखूबी नियन्त्रण में किया जा सकता है। ऐसे रोगियों मे इन्सुलिन हार्मोन की कमी नहीं होती परन्तु इन्सुलिन के द्वारा ग्लूकोज को नियन्त्रक करने वाली क्रिया-विधि दोषपूर्ण हो जाती है इसलिए इन्सुलिन देने से भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसी कारण इस प्रकार के मधुमेह को नान-इन्सुलिन डिपेन्डेंट डाइबिटिज (Non Insulin Dependent Diabetes) कहते हैं।

मधुमेह रोगियों में इन्सुलिन के अभाव के कारण यकृत द्वारा ग्लूकोज को फैटी एसिड तथा लिपिडस (ट्रिग्लिसराइड्स) में संश्लेषित करने की प्रक्रिया ठप्प पड़ जाती है। कोशिकाओं को पर्याप्त ऊर्जा नहीं मिल पाती है। समस्त चयापचय-चक्र अस्त-व्यस्त हो जाता है। मधुमेही जानवरों पर किये कुछ प्रयोगों से इस निष्कर्ष पर पहुंचा गया है कि उनमें फैटी एसिड्स का ऑक्सीकरण सामान्य की अपेक्षा अत्यधिक बढ़ जाता है फलत: कीटोन बॉडीज का निर्माण भी बढ़ता है। यही कारण है कि मधुमेही के ऊतकों, रक्त तथा पेशाब में कीटोन बॉडीज की मात्रा बढ़ने के कारण ही मधुमेही रोगियों की श्वास में एक विशेष प्रकार की वार्निश की-सी मीठी सुगन्ध आती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मधुमेही रोगियों में इन्सुलिन के अभाव के कारण कार्बोज का ऊर्जा में रूपान्तरण नहीं हो पाता है, फलत: शरीर ऊर्जा-प्राप्ति हेतु संचित वसा (Body fat) का उपयोग करता है। फलत: फैटी एसिड्स (कीटोन) का विघटन बढ़ जाता है। वजन घटने लगता है। रक्त में अनुपयुक्त शर्करा, कोटोन्स तथा वसायुक्त एसिड्स के बढ़ने से कीटोसिस की भयावह स्थिति उत्पन्न होती है। पेशाब में भी ऐसीटोन बी, हाइड्रोक्सी ब्यूटिक एसिड उपस्थित रहता है। रक्त में बढ़ा हुआ कार्बन-डाइऑक्साइड को शीघ्रता से अवचूषित कर लेता है। फलत: शरीर में ऑक्सीजन की कमी हो जाती है। ऑक्सीजन की पूर्ति हेतु श्वसन क्रिया तीव्र होती है फलत: रोगी हांफने लगता है। कभी-कभी बेहोशी तथा मूर्च्छा भी आ जाती है। समय पर ऑक्सीजन की पूर्ती नहीं होने पर रोगी की मृत्यु तक हो जाती है।

आहार द्वारा गृहीत कार्बोज का 100% प्रोटीन का 58% तथा वसा का 10% भाग ग्लूकोज में परिवर्तित हो जाता है। कुल ग्लूकोज का सिर्फ 15% रक्त में तथा 85% कोशिकाओं में जमा रहता है।

## 10.1.3 मधुमेह के प्रमुख कारण

**1. आनुवंशिक**—माता-पिता, दादा-दादी, नाना-नानी मधुमेह के रोगी हैं तो बच्चों को मधुमेह होने की पूरी समभावना रहती है।

**2. व्यवसाय**—बैठे-बैठे कार्य करने वाले दुकानदार, क्लर्क, व्यवसायी, अध्यापक, अधिकारी आदि को मधुमेह होने की अत्यधिक सम्भावना रहती है।

3. वसायुक्त आहार।

4. मोटापा।

5. तनाव या दबाव।

6. धूम्रपान।

## 10.1.4 मधुमेह की चिकित्सा

**1. प्राकृतिक चिकित्सा**

1. प्रात:काल शौच के बाद ताजे पानी का एनिमा लें। उसके बाद आधे घंटे तक पेडू पर गीली मिट्टी की पट्टी बांधे, या 20 मिनट वायु में तेजी से टहलें। इससे कब्ज टूटेगा।

2. शाम को या तीसरे पहर मेहन-स्नान करें। उसके बाद शक्ति भर थोड़ा टहले। इससे जीवनी शक्ति की वृद्धि होगी।

3. तलपेट पर सेंक देकर या मर्दन करके रातभर के लिये कमर की गीली पट्टी लगावें।

4. नारंगी रंग की बोतल का सूर्य तप्त जल दो हिस्सा, तथा आसमानी रंग की बोतल का एक हिस्सा मिलाकर 50-50 ग्राम की 4 खुराकें प्रतिदिन पान करें।

**2. आहार चिकित्सा**

मधुमेह अवरोधी आहार योजना में प्रात:काल एक नींबू, 200 मि.ली. मेथी का सम शीतोष्ण पानी रात्री को 200 मि.ली. जल में 20 ग्राम मेथी भिगो दें। प्रात: छानकर पानी गरम करें तथा मेथी को अंकुरित करके खायें।

शौचादि क्रियाओं से निवृत होकर योगासन करें तथा शक्ति के अनुसार टहलें। नीम के 15 पत्ते, सफेद फूल सदाबहार चांदनी, विकोरोजिया के 6 पत्ते, बिल्व पत्र के 10-12 पत्ते अथवा तुलसी के पत्ते 15-20 (इनमें से कोई एक) पीसकर खायें। खाने के बाद कृशकाय मधुमेही दही की लस्सी तथा मोटे मधुमेही छाछ एक गिलास लें।

ढाई घंटे के बाद आधा कप करेले का रस लेने के बाद 100 ग्राम अंकुरित मूंग, मोठ, मसूर, चना, मटर आदि मे प्याज के टुकड़े, नींबु रस, नारियल के घिसे हुए टुकड़े, अनार के दाने, पालक, धनिया आदि पत्ते तथा दही मिलाकर स्वादिष्ट बनाकर खाइये। साथ मे 5 लहसुन भी खाये। नाश्ते मे कभी पॉपकॉर्न, मूंगफली तथा हथकुटा चिवड़ा भी ले सकते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

वसा की दृष्टि से जन्तुज वसा काम में नही ले। इससे बीटा कोशिकाएं लकवा ग्रस्त हो जाती हैं। वनस्पति वसा के रूप मे नारियल, मूंगफली, अखरोट, काजू, बादाम तथा सोयाबीन का दही या छाछ काम में ले।

नाश्ते के तीन घंटे बाद आधा कप करेले का रस अथवा बेल का रस, तुलसी, सफेद चांदनी, नीम, तेजपात, 50-50 ग्राम सूखे पत्ते के चूर्ण में 100-100 ग्राम मेथी, आंवला सम मात्रा में कूटकर मिला लें। यह सुगर निल चूर्ण बन जाता है। 10 ग्राम शुगर निल चूर्ण लेने के बाद जौ, चना, चावल, गेहूँ, मोंठ, मसूर, ग्वार के दाने, राजमा, बाजरा, अरहर, कुलथी, सोयाबीन, मटर, उड़द, चौला, मडूवा को सम मात्रा में मिलाकर आटा पिसायें। इसकी 2-3 रोटी (35 ग्राम की एक रोटी) उबली सब्जी 250 ग्राम (सब्जियों में टमाटर, पालक, लौकी, टिण्डा, तोरई चौलाई, पालक, लेटस, बथुआ, धनिया, चना, मेथी तथा मटर का साग, ककड़ी, मूली, परवल, गोभी, केला, फूल, बैंगन) लें, सलाद 250 ग्राम, दही 150 ग्राम, अंकुरित मेथी 15 ग्राम लें।

**मध्य काल** — जामुन की गुठली का चूर्ण डेढ़ चम्मच तथा छाछ एक गिलास।

**अपरा काल** — जामुन की गुठली का चूर्ण डेढ़ चम्मच तथा एक गिलास छाछ लें अथवा फलों में पपीता, नींबू, नांरगी, आंवला, अन्नानास, काला जामुन, टमाटर, अनार आदि लें। मीठे फल, खजूर, मुनक्का, अंजीर, किशमिश, केला प्रारम्भ में नहीं लें। रोग ठीक होने पर धीरे-धीरे लिये जा सकते हैं।

**उत्तरार्द्धकाल में** — सब्जियों लौकी, खीरा, शलगम, लेटस, ककड़ी, पालक, टमाटर आदि का रस मिलाकर या अलग-अलग ले सकते हैं।

**रात्रिकालीन भोजन में** — इच्छानुसार दोपहर की भांति। कभी अंकुरित अनाज, फल तथा सब्जियों की क्रूट चाट, अंकुरित दालों की इडली आदि विभिन्न व्यंजन बनाकर ले सकते हैं।

**3. प्रेक्षायोग चिकित्सा**

**षट् क्रियाऐं** — नेति और कुंजल।

**आसन** — श्वास और पेट की दस क्रियाओं, सूर्यनमस्कार, पवनमुक्तासन, उत्तानपादासन, अर्ध-मत्स्येंद्रासन, भुजंगासन एवं मत्स्यासन।

**प्राणायाम** — भ्रामरी एवं नाड़ी शोधन — 5 मिनट।

**प्रेक्षा** — अग्नाशय की प्रेक्षा — 10 मिनट।

**अनुप्रेक्षा** — अग्नाशय की स्वस्थता का सुझाव — ''मेरा अग्नाशय स्वस्थ हो रहा है।'' — 15 मिनट।

---

**बोध प्रश्न 2:**

---

*1. मिरगी रोग के कारण लिखें।*

*2. टाइप-2 मधुमेह क्या है?*

## 10.2 पेप्टिक अल्सर (Peptic Ulcer)

किसी झिल्ली अथवा पेशी स्तर में छितराया हुआ, क्रेट की तरह का घाव अल्सर कहलाता है। जठर रस में पाये जाने वाले हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के कुप्रभाव के कारण आहारनाल के किसी भाग विशेष में जब घाव होता है तो उसे पेप्टिक अल्सर के नाम से जाना जाता है। पेप्टिक अल्सर कभी-कभी तो ग्रासनली (Esophagus) के अंतिम छोर पर पाया जाता है परन्तु बहुतायत में अल्सर आमाशय के आखिरी, घुमावदार छोर में बनता है जो गैस्ट्रिक अल्सर (Gastric Ulcer) के नाम से जाना जाता है। ऐसा ही अल्सर जब पक्वाशय अर्थात् ड्योडिनम (Duodinum) के प्रारंभिक भाग में बनता है तब उसे ड्योडिनल अल्सर (Duodinal Ulcer) के नाम से जाना जाता है। वैसे सर्वाधिक अल्सर पक्वाशय में ही बनते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 10.2.1 पेप्टिक अल्सर के कारण

आमतौर पर पक्वाशय में बनने वाले अल्सर का तात्कालिक मुख्य कारण अग्नाशय में जठर रस का आवश्यकता से अधिक स्राव होना बताया जाता है। गैस्ट्रिक अल्सर में, जो कि आमाशय में ही विकसित होता है, अल्सर का कारण जठर रस का अधिक स्राव न होकर आमाशय की दीवार से स्रावित होने वाले श्लेष्मा का आवश्यकता से कम बनना। आमाशय की अपनी दीवार इसी श्लेष्मा के कारण हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के प्रभाव से सुरक्षित रहती है परन्तु जब श्लेष्मा की कमी हो जाती है तो वह जठर रस घाव बनाना शुरु कर देता है। जो आगे चलकर अल्सर के रूप में परिवर्तित हो जाता है। जठर रस के अधिक स्राव अथवा श्लेष्मा के कम बनने के लिए जिन कारकों को सूचीबद्ध किया जा सकता है, वे हैं — धूम्रपान (बीड़ी और सिगरेट का), भावावेश और क्रोध, कतिपय खाद्य पदार्थ और नशीले पेय एवं दवाईयां (एल्कोहल, काफी तथा एस्पिरीन)। सामान्य तौर पर श्लेष्मा जो आमाशय की आंतरिक भित्ति का सुरक्षा स्तर बनाती है हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के स्राव को भी रोकती है। जब यह प्रतिरोध घटता है तभी अल्सर उत्पन्न होता है। कुछ वैज्ञानिक शोध कार्यों से यह भी प्रमाण मिला है कि **कैम्पीलोबैक्टर पाइलोराइडिस** नामक बैक्टीरिया के कारण भी अल्सर उत्पन्न होता है।

## 10.2.2 पेप्टिक अल्सर के लक्षण

पूर्व उदर भाग में जलता हुआ शूल और दर्द अल्सर की पहली पहचान है। दर्द एक समान होता रहता है तथा इसकी तीव्रता एवं स्थान प्रायः-प्रायः एक ही होता है। भोजन करने के तुरन्त बाद या फिर एन्टासिड औषधियों के सेवन से दर्द में कुछ राहत मिलती है। कई रोगियों में दर्द होता ही नहीं और अल्सर का पता तब लगता है जब वह गम्भीर रूप ले लेता है।

अल्सर की गम्भीर विकृति उससे रक्त स्राव होना माना जाता है। उल्टी और दस्त दोनों रास्ते से खून आता है। यह स्थिति नितांत खतरनाक और आपात होती है। अल्सर की इससे थोड़ी कम खतरनाक अवस्था वह होती है जब अल्सर के स्थान पर आंत में छिद्र हो जाता है और मरीज जो भी खाता-पीता है वह उस छिद्र के रास्ते लीक होकर उदर गुहा में फैलता है और फिर सड़ांध उत्पन्न होती है। आंत में छेद होने पर भयंकर दर्द होता है। मरीज हक्का-बक्का सा रह जाता है, घबरा जाता है। यदि अल्सर आमाशय के अंतिम हिस्से में या ड्योडिनम के प्रारंभिक भाग में है तो खाद्य पदार्थ अग्नाशय और यकृत में समाने लगते हैं, जिससे बहुत तीव्र वेदना होती है, जिसका स्थान मध्य पूर्व पीठ और कंधा होता है।

## 10.2.3 पेप्टिक अल्सर की चिकित्सा

अल्सर के रोगी को मिर्च-मसाले खाना बिल्कुल बन्द कर देना चाहिए तथा ऐसा खाद्य पदार्थ और पेय नहीं लेना चाहिए जो एसिडिटी बढ़ाता हो। एल्कोहल (शराब) का सेवन सर्वथा वर्जनीय है। ठंडा दूध, क्रीम, मक्खन, ताजे फल तथा उबली सब्जियां प्रयोग में लाना चाहिए। फलों में केला, आम तथा तरबूज का प्रयोग श्रेयस्कर होता है।

अल्सर के मरीज को पर्याप्त मात्रा में जल पीना चाहिए। दिन में दो बार शीतल जल से स्नान करना चाहिए। दो बार 15-20 मिनट के लिए कटि स्नान तथा उदर के निचले भाग में आधे घंटे के लिए शीतल जल से गीली मिट्टी की पट्टी सदैव खाली पेट लेना चाहिए तथा इसके बाद कुछ दूर पैदल टहलना चाहिए। किसी तरह के कब्ज की शिकायत हो तो तुरन्त एनीमा लेना चाहिए। हल्के हाथों से पेट की मालिश तथा दीर्घश्वास का अभ्यास बहुत लाभकारी होता है। मरीज को सदा तनावमुक्त तथा प्रसन्न रहना चाहिए। अल्सर धीरे-धीरे बनता है इसलिए इसे ठीक होने में भी समय लगता है अतः मरीज को हिम्मत नहीं हारना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## 10.3 अभ्यास के लिए प्रश्न

1. कैंसर क्या और कितने प्रकार का होता है?
2. मधुमेह के रोगी का आहार कैसा होना चाहिए?
3. मिरगी का दौरा क्यों आता है?
4. एड्स का रोग किन-किन कारणों से होता है?
5. गठिया रोग का विवरण दीजिए।
6. मधुमेह का प्रेक्षायोग उपचार क्या होता है?

## 10.4 संदर्भ ग्रन्थ सूची


1. Principles of Anatomy and Psychology—G.J. Tortora and N.P. Anagnastakos
2. Total Health—David Pefers
3. Family Health—Fancis Mackenzie
4. Preksha yoga for Common Ailments—J.P.N. Mishra
5. Naure Cure for Common Diseases—V. Modi
6. रोगों की सही चिकित्सा—नागेन्द्र नीरज एवं मंजू नीरज
7. मधुमेह लाइलाज नहीं है—नागेन्द्र कुमार नीरज
8. Cancer—O.P. Jaggi
9. Understanding Cancer—T.N. Chapekar
10. प्राकृतिक आयुर्विज्ञान—राकेश जिन्दल


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई : 11 रक्ताल्पता, दमा

**संरचना**


11.0 उद्देश्य

11.1 रक्ताल्पता (Anemia)

11.1.1 रक्ताल्पता के प्रकार

11.1.1.1 न्यूट्रीशनल रक्ताल्पता

11.1.1.2 पर्नीसियस रक्ताल्पता

11.1.1.3 हिमोरेजिक रक्ताल्पता

11.1.1.4 हिमोलिटिक रक्ताल्पता

11.1.1.5 एप्लास्टिक रक्ताल्पता

11.1.1.6 सिकल सैल रक्ताल्पता

11.1.2 रक्ताल्पता के लक्षण

11.1.3 रक्ताल्पता की चिकित्सा

11.2 दमा (Asthma)

11.2.1 दमा के कारण

11.2.1.1 वंशानुगत दमा

11.2.1.2 एलर्जिक दमा

11.2.1.3 संक्रमणजन्य दमा

11.2.1.4 पुरानी खांसीजन्य दमा

11.2.1.5 कार्डियक दमा

11.2.1.6 संवेगात्मक तनावजन्य दमा

11.2.2 दमे की चिकित्सा

11.3 अभ्यासार्थ नमूने प्रश्न

11.4 संदर्भ ग्रंथ


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 11.0 उद्देश्य

1. शारीरिक रोग रक्ताल्पता एवं दमा के सामान्य कारणों एवं लक्षणों की जानकारी प्राप्त करना,
2. इन रोगों की प्राकृतिक एवं यौगिक चिकित्सा की विधि को समझना।

## 11.1 रक्ताल्पता (Anemia)

ऐसी स्थिति जिसमें मनुष्य के रक्त की ऑक्सीजन संवहन क्षमता (Oxygen carrying capacity) में अत्यधिक कमी आ जाती है, उसे रक्ताल्पता या Anemia के नाम से जाना जाता है। रक्त में पाई जाने वाली लाल रक्त कणिकाओं (Red Blood corpscules or RBC) में लौहयुक्त एक रासायनिक यौगिक पाया जाता है, जिसे हीमोग्लोबिन (Hemoglobin) कहते हैं। श्वसन क्रिया के दौरान फेफड़ों की दीवार में पाई जाने वाली रक्त-कोशिकाओं में प्रवाहित रक्त के आर-पार लाल रक्तकणिकाओं में स्थित हीमोग्लोबिन के साथ ऑक्सीजन का संयोग होता है और वह ऑक्सीहीमोग्लोबीन के रूप में परिवर्तित हो जाता है। वही रक्त जब आगे शरीर की तमाम कोशिकाओं के समीप से होकर गुजरता है तो ऑक्सीहीमोग्लोबिन से ऑक्सीजन मुक्त होकर कोशिकाओं में चली जाती है जो फिर उस कोशिका की विविध चयापचय की क्रिया में प्रयोग में लाई जाती है। किन्हीं कारणों से जब हीमोग्लोबिन की कमी हो जाती है और

हीमोग्लोबिन की रासायनिक संरचना में कोई विकार आ जाता है तभी रक्ताल्पता रोग उत्पन्न होता है। मूलत: रक्ताल्पता किसी अन्य विकार का लक्षण होता है।

### 11.1.1 रक्ताल्पता के प्रकार

रक्ताल्पता को हीमोग्लोबिन और लाल रक्त कणिकाओं की मात्रा एवं संख्या तथा रासायनिक स्वरूप के आधार पर निम्नांकित अलग-अलग वर्गों में बांटा जा सकता है—

#### 11.1.1.1 न्यूट्रीशनल रक्ताल्पता (Nutritional)

लाल रक्त कणिकाओं (RBC) का मुख्य घटक हीमोग्लोबिन होता है और हीमोग्लोबिन का निर्माण लौह तत्त्व (Iron) तथा ग्लोब्युलीन के संयोग से होता है। शरीर के लिए प्रोटीन की और लौह तत्त्व की आपूर्ति भोजन से प्राप्त पोषक तत्त्वों से होती है। यदि बाहर से ग्रहण किये जाने वाले खाद्य पदार्थों से पर्याप्त मात्रा में लौह तत्त्व, आवश्यक अमीनो अम्ल (जो प्रोटीन की रचना करते हैं) और विटामिन बी.-12 न मिले, उनकी कमी हो जाए तो फिर हीमोग्लोबिन की कमी हो जाएगी और इस प्रकार से उत्पन्न रक्ताल्पता को न्यूट्रीशनल रक्ताल्पता कहते हैं।

#### 11.1.1.2 पर्नीसियस रक्ताल्पता (Pernicious Anemia)

जब शरीर के अन्दर कतिपय इन्ट्रिंसिक कारकों (Intrinsic factors) की कमी के चलते अस्थिमज्जा में लाल रक्त कणिकाओं का उत्पादन समुचित मात्रा में नहीं हो पाता, तब परिणाम स्वरूप आंतों के द्वारा विटामिन बी-12 का अवशोषण नहीं हो पाता। आमाशय की दीवार से गैस्ट्रिक जूस और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का निर्माण अधिक होता है जिसके कारण लौह तत्त्व और विटामिन बी-12 का अवशोषण होने में भारी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है और रक्त की कमी हो जाती है। ऐसी स्थिति को पर्नीसियस रक्ताल्पता कहते हैं।

#### 11.1.1.3 हीमोरेजिक रक्ताल्पता (Hemorhagic Anemia)

किन्हीं कारणों से अत्यधिक रक्तस्राव के कारण जब रक्तप्रवाह के साथ अधिक संख्या में लाल रक्त कणिकाएं शरीर से बाहर निकल जाती हैं तो उस स्थिति को हीमोरेजिक रक्ताल्पता कहते हैं। इस प्रकार की एनीमिया के प्रमुख कारण हैं—बड़े घाव, अल्सर अथवा अनियमित भारी माहवारी। इन परिस्थितियों में यदि रक्तस्राव बहुत असाधारण रूप से भारी होता है तो उसे एक्यूट (Acute) एनीमिया कहा जाता है। कई बार यह जानलेवा भी सिद्ध होता है। परन्तु यदि रक्तस्राव धीरे-धीरे परन्तु लंबे समय तक होता रहे तो उसे क्रोनिक (Chronic) एनीमिया कहते हैं। इसके प्रमुख लक्षणों में से एक है भारी थकान महसूस होना।

#### 11.1.1.4 हीमोलिटिक रक्ताल्पता (Hemolytic Anemia)

कई बार ऐसा पाया जाता है कि लाल रक्त कणिकाओं की कोशिका झिल्ली समय से बहुत पहले ही टूट जाती है और उनके अन्दर का हीमोग्लोबिन तरल पदार्थ प्लाज्मा में उड़ेल दिया जाता है जिसके कारण रक्त की कमी हो जाती है। ऐसी स्थिति को हीमोलिटिक रक्ताल्पता कहते हैं। लाल रक्त कणिकाओं के टूटने के पूर्व उनकी आकृति में विचित्र विकृति उत्पन्न होती है। यह विकृति कई कारणों से होती है। इनमें विकारयुक्त हीमोग्लोबिन बनना, लाल रक्त कणिकाओं की रचना में सहयोगी एन्जाइम्स का विकृत होना और लाल रक्त कणिकाओं की झिल्ली का ही विकृत होना प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य सम्भावित कारणों में कुछ परजीवी, जहरीले रसायन, एन्टीबाडी (कोशिकीय प्रतिविष) आदि का पाया जाना भी हो सकता है। नवजात शिशुओं में यह रोग अधिक पाया जाता है। थैलेसीमिया (Thalassemia) नामक रोग इसका ज्वलंत उदाहरण है। इस रोग में, जो कि मूलत: आनुवांशिक रोग है, त्रुटिपूर्ण हीमोग्लोबिन एवं झिल्ली के कारण ऐसी लाल रक्त कणिकाओं का निर्माण होता है जो बनने के कुछ ही दिनों बाद टूट जाती है और शरीर में रक्त की भारी कमी हो जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

### 11.1.1.5 एप्लास्टिक रक्ताल्पता (Aplastic Anemia)

तरुण अस्थिमज्जा के नष्ट हो जाने अथवा उसके निष्क्रिय हो जाने के कारण एप्लास्टिक रक्ताल्पता की विकृति उत्पन्न होती है। इस स्थिति में ऐसा पाया गया है कि अस्थिमज्जा, जो मूलत: अर्धतरल गाढ़ा अपारदर्शी होता है, सूखकर या तो कड़े वसीय संयोजी ऊतक के रूप में बदल जाता है अथवा उसमें गांठ बन जाती है। कतिपय विषैले रसायनिक पदार्थों, रेडियोधर्मी रसायनों अथवा औषधियों के दुष्प्रभाव से यह स्थिति उत्पन्न होती है। इसके परिणाम स्वरूप लाल रक्त कणिकाओं का उत्पादन अत्यधिक कम हो जाता है।

### 11.1.1.6 सिकल सैल रक्ताल्पता (Sickle-cell Anemia)

इस प्रकार की रक्ताल्पता से पीड़ित व्यक्तियों के रक्त में विचित्र प्रकार का राक्षस हीमोग्लोबिन बनने लगता है। लाल रक्त कणिकाएं जब आक्सी हीमोग्लोबिन से ऑक्सीजन मुक्त करके कोशिकाओं को दे देती हैं उसके बाद बचा हुआ हीमोग्लोबिन ऑक्सीजन के अभाव में अपनी सामान्य आकृति खो बैठता है और हंसिये का आकार लेने लगता है परिणाम स्वरूप अपनी ही लाल रक्त कणिका की झिल्ली को फाड़कर नष्ट कर देता है और स्वयं भी नष्ट हो जाता है। एक साथ जब इस प्रकार की गतिविधियाँ अनेक लाल रक्त कणिकाओं में होने लगती है तब रक्त में RBC की संख्या खतरनाक रूप से घटने लग जाती है। लाल रक्त कणिकाओं के निर्माण की अपेक्षा उनके नष्ट होने पर एवं कहीं अधिक तेज होने से रक्ताल्पता की स्थिति उत्पन्न होती है। इसका परिणाम होता है कि शरीर के विभिन्न ऊतकों को सही समय पर सही मात्रा में ऑक्सीजन की आपूर्ति नही हो पाती और तब तमाम ऊतकों एवं तंत्रों की कार्य प्रणाली मंद पड़ने लगती है और फिर दूसरे अन्य रोगों का आक्रमण होता है। ऊतक नष्ट होने लगते हैं। कई बार तो हंसिये का आकार लिए हुए हीमोग्लोबिन रक्त वाहिकाओं में फंस जाते हैं और उन वाहिकाओं में रक्त प्रवाह बुरी तरह बाधित होता है कभी-कभी तो पूरी तरह ठप्प पड़ जाता है, परिणाम स्वरूप कई अंग पूरी तरह काम करना बंद कर देते हैं।

## 11.1.2 रक्ताल्पता के लक्षण

रक्ताल्पता रोग के शिकार रोगियों के होंठ तथा आंखों की पलकों के नीचे की त्वचा निस्तेज तथा पीली पड़ जाती है। सांस फूलती है, चेहरे व पैरों में सूजन आ जाती है, शरीर पीला पड़ जाता है। साथ ही थकान, भूख की कमी, सिर चकराना, सोकर उठने पर भयंकर सिरदर्द, चक्कर आना, आंखों के सामने अंधेरा छा जाना, हृदयगति बढ़ जाना, जीभ थुलथुली एवं लाल होना, मुंह के दोनों किनारों पर जख्म हो जाना, पैरों में सुइयों की चुभन, सर्दी-गर्मी के प्रति संवेदनशीलता, मानसिक अवसाद, स्मृति-दौर्बल्य तथा कभी-कभी मूर्च्छा जैसे लक्षण भी पाये जाते हैं।

## 11 .1.3 रक्ताल्पता की चिकित्सा

**1. प्राकृतिक उपचार**-रक्तहीनता के रोगी को खुली हवा में गहरी-गहरी सांस लेते हुए विश्राम करना चाहिए। प्रात:काल धूप में नंगे बदन बैठकर सारे शरीर का सूखा घर्षण स्नान करें तत्पश्चात् ठंडे पानी में तौलिया भिगोकर सारे शरीर को पौंछें। सुहानी धूप में सारे शरीर की हल्की मालिश कर स्नान करना चाहिए। शरीर की समस्त कोशिकाओं को जागृत एवं सक्रिय करने के लिए शक्ति अनुसार गरम पाद स्नान, वाष्प स्नान, गीली चादर लपेट या धूप स्नान के बाद 20 मिनट का ठण्डा घर्षण स्नान देवें। 10 15 दिन लगातार एनिमा देकर पेट को भली प्रकार साफ रखें। दोपहर के समय पे गरम सेक या स्थानीय वाष्प पेट, कमर अथवा रीढ़ पर देकर ठण्डा कटि स्नान या ठण्डा रीढ़ स्नान देवें। यकृत तथा प्लीहा को सक्रिय बनाने के लिए गरम और ठण्डा सेंक क्रमश: देवें। अस्थिमज्जा को जागृत रखने के लिए छाती एवं रीढ़ पर गरम एवं ठण्डे का सेंक देवें। ठण्डे पानी के नियमित स्नान एवं तत्पश्चात् सूखा घर्षण से लाल रक्त कणिकाएं सक्रिय बनती हैं तथा हीमोग्लोबिन द्वारा ऑक्सीजन धारण करने की क्षमता बढ़ती है। पेट का गरम ठण्डा सेंक अथवा गरम ठण्डा कटि स्नान अथवा लपेट देने से आमाशय में प्रचुर मात्रा में पाचक रस निकलता है जिससे लोहे का अवशोषण सरल हो जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

**2. प्रेक्षायोग उपचार**—प्रेक्षायोग चिकित्सा के अन्तर्गत निम्नांकित प्रयोगों का नियमित अभ्यास सर्वथा लाभकारी होता है—

1. कायोत्सर्ग—20 मिनट, प्रात: एवं सायंकाल।
2. ध्यान—स्वास्थ्य केन्द्र पर अरुण रंग का ध्यान, 20 मिनट, दिन में दो बार।
3. अनुप्रेक्षा—20 मिनट, एक बार, रक्त सम्बर्द्धन की अनुप्रेक्षा।
4. यौगिक क्रियाएं—वक्ष एवं उदर की, एक बार प्रात:काल प्रत्येक की 5-5 आवृत्ति।
5. आसन—जानुशिरासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन, वज्रासन, योगमुद्रा, प्रत्येक की 3-3 आवृत्तियां, एक बार।
6. आहार संयम—रक्तहीनता के रोगी को प्रचुर मात्रा में प्रोटीन, लौह, फोलिक अम्ल, विटामीन बी-12 युक्त खाद्य पदार्थों का सेवन अपेक्षित है। हमारा रक्त क्षार प्रधान होता है अत: रोगियों को प्रचुर मात्रा में क्षार प्रधान आहार देने से रक्त पुनर्जीवन प्राप्त कर सतेज हो जाता है। फलों में खुर्बानी, केला, नाशपती, सेव, काली किशमिश, अंगुर, शहद, मौसम्मी आदि का उपयोग श्रेयस्कर होता है। सब्जियों में पालक, टमाटर, गाजर, पत्तागोभी, खीरा, ककड़ी, मूली तथा शलगम के पत्ते लेने चाहिए। इसके अतिरिक्त अंकुरित अनाज, चना, गेंहू, मसूर, सोयाबीन आदि को अंकुरित करके खाने से लाभ होता है। प्रोटीन की दृष्टि से गाय का दूध, छाछ, दही, कणीयुक्त चावल एवं अंकुरित दालें अत्यन्त लाभकारी होती हैं। ध्यान रहे अंकुरित अनाज रक्तहीनता के रोगियों के लिए वरदान होते हैं।

## 11.2 दमा (Asthma)

दमा श्वास की बीमारी है जिसके बारे में बहुधा यह कहा जाता है कि "दमा दम लेकर ही दूर होता है।" दमा के बारे में जानने से पूर्व श्वसन प्रणाली की समेकित जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। श्वसन तंत्र के प्रमुख अंगों में नाक (Nose) (नासाद्वार (Nostril) और नासागुहा (Nasal Cavity)), फेरिक्स (Pharynx), श्वासनली (Trachea), श्वसनी (Bronchi) श्वसनीका (Bronchioles) तथा फुफ्फुस (Lungs) प्रमुख हैं। नासाद्वार और नासागुहा से होती हुई वायु फेरिंक्स (गले का भाग) में जाती है। उसके बाद स्वरयंत्र को पार करती हुई, श्वासनली से होती हुई, श्वसनी और फिर श्वसनिकाओं के द्वारा फेफड़ों में पहुंचती है। श्वासनली दो भागों में विभाजीत होकर दो श्वसनियों में परिवर्तित होती है और प्रत्येक श्वसनी छोटी-छोटी श्वसनिकाओं में विभक्त हो जाती है। दोनों फेफड़ों के अन्दर अनेक वायु प्रकोष्ठ (Alveoli) होते हैं। हर वायु प्रकोष्ठ में श्वसनिकाओं की शाखायें वायु पहुंचाने का कार्य करती हैं। वायु प्रकोष्ठों की दीवार में पतली-पतली रक्त केशिकाओं का जाल बिछा होता है जिसमें अत्यन्त सघन दाब के साथ रक्त प्रवाहित होता रहता है। यह रक्त वह होता है जो शुद्धिकरण के लिए फेफड़ों तक लाया जाता है और इसमें कार्बनडाईआक्साइड अधिक होती है। वायु प्रकोष्ठों की दीवार के आर-पार ऑक्सीजन-कार्बनडाइआक्साइड का आदान-प्रदान होता है। वायु प्रकोष्ठ में श्वास के साथ लाई गई ऑक्सीजन-युक्त वायु से ऑक्सीजन रक्त में प्रवेश करती है जबकि रक्तकेशिकाओं में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड युक्त रक्त से कार्बन-डाइ-ऑक्साइड निकलकर वायु प्रकोष्ठों में आ जाती है और नि:श्वास के साथ उसे बाहर कर दिया जाता है। इस प्रकार रक्त ऑक्सीजन ग्रहण कर आगे चला जाता है और शरीर की प्रत्येक कोशिका को वही ऑक्सीजन बांट देता है जो फिर ऊर्जा उत्पादन और चयापचय की क्रिया में उपयोग में ली जाती है।

जब कभी प्रदूषण के कारण अथवा धूम्रपान के कारण श्वास के साथ धूलकण, कार्बनकण, कीटाणु, जीवाणु या इसी प्रकार के कतिपय अन्य विजातीय और अन्य अनावश्यक अणु श्वासनली से होते हुए श्वसनियों और श्वसनिकाओं तक पहुंचते हैं तो श्वसनियों और श्वसनिकाओं की दीवार में अनावश्यक उद्दीपन उत्पन्न होता है। इसकी ऐनक कोशिकाएं और श्लेष्मा कोशिकाएं उद्दीप्त हो जाती हैं तथा मुख की ओर लहराने लग जाती हैं तब खांसी एवं थूक के साथ उन सभी को बाहर कर दिया जाता है। श्लेष्मा कोशिकाओं से श्लेष्मा का स्राव उन सभी विजातीय पदार्थों को आगे नहीं बढ़ने देता। परन्तु जब इस प्रकार को प्रतिकूल परिस्थितियाँ सीमा के पार हो जाती हैं तब इन श्वसनियों तथा श्वसनिकाओं की पेशियों में सूजन आ जाती है श्लेष्मा का स्राव अत्यधिक हो जाता है जो नलिका के

Jan Kshwa Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अन्दर जमा होने लगता है। नलिका की सूजी हुई दीवार सूखकर कड़ी होने लगती है परिणाम यह होता है कि वायु मार्ग सिकुड़कर इतना कम हो जाता है कि श्वास लेने में अत्यधिक कठिनाई होती है। अत: सांस का प्रयास कम हो जाता है। बाह्य सांस लम्बा होने लगता है, सीने पर दबाव के साथ बार-बार खांसना पड़ता है फिर भी पूरी तरह सांस नहीं ली जा सकती। इसी अवस्था को दमा कहते हैं।

मुख्यत: दमा की तीन अवस्थाएं होती हैं। पहली अवस्था में सांस नलियों (श्वसनियों और श्वसनिकाओं) की दीवार में सूजन, दूसरी में इन नलियों की दीवार की मांसपेशियों में ऐंठन और खिंचाव तथा तीसरी अवस्था में इन नलियों के स्राव (श्लेष्मा-कफ) में अति असामान्य वृद्धि होती है। इन तीनों क्रमिक स्थितियों के कारण वायु-मार्ग अत्यंत संकरा हो जाता है और वायु के आवागमन के लिए जगह की कमी हो जाती है। सांस लेने में असुविधा होने लग जाती है। सांस की गति तेज हो जाती है। छाती में सांय-सांय, चूं-चूं की आवाज सुनाई देती है। इन वायु नलिकाओं की ये अनैच्छिक पेशियां स्वत: फैलती-सिकुड़ती रहती हैं। इन पर कतिपय न्यूरोट्रांसमिटर्स का सीधा प्रभाव होता है। ये न्यूरोट्रांसमीटर्स तंत्रिकाओं के एक्सान भाग के अन्तिम छोर पर स्थित सिनैप्टिक एन्ड बल्ब से निकलते हैं। बाह्य उद्दीपनों के परिणाम स्वरूप स्वायत्तशाषी तंत्रिका तंत्र के अनुकम्पी अनुभाग के न्यूरानों से उत्तेजक न्यूरोट्रांसमीटर के स्राव के कारण भी इन नलिकाओं की दीवार की पेशियों में अनियमित संकुचन या फैलाव हो जाता है जिससे श्वास की बीमारी दमा उत्पन्न होती है।

## 11.2.1 दमा के कारण

### 11.2.1.1 वंशानुगत दमा

एक ही वंश की आगामी पीढ़ियों में जिनमें किसी भी रूप में रक्त का सम्बन्ध होता है दमा होने की पूरी सम्भावना रहती है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि हर पीढ़ी के हर सदस्य को दमा हो ही जाए, बीच की एक-दो पीढ़ियां अथवा एक ही पीढ़ी के एक-दो सदस्य उससे मुक्त हो सकते हैं। परन्तु उसके बाद की पीढ़ियों में और समकालीन अन्य सदस्यों में दमा होना पूरी तरह स्वाभाविक होता है।

### 11.2.1.2 एलर्जिक दमा

दमा के कुल रोगियों में लगभग 75 से 80 प्रतिशत रोगी एलर्जिक दमा से ही पीड़ित होते हैं। हमारी सांस के द्वारा लाखों की संख्या में जीवाणुओं तथा अन्य रासायनिक लघु अणु (एलर्जेन) हमारे नासाद्वार में प्रवेश करते हैं। कई लोगों के शरीर का रोगप्रतिरोधी तंत्र इन अणुओं के प्रति अतिसंवेदनशील होता है। इसके कारण इस तंत्र की कोशिकाएं (हाइपरसेन्सिटिव टी सेल) प्रतिविष (एन्टीबाडी) का निर्माण करने में जुट जाती हैं। ये एन्टीबाडी खाली समय में शरीर में स्थित हिस्टामीन नामक रसायनों से भरी मास्टर कोशिकाओं से चिपक जाती हैं। एलर्जेन के पुन: प्रहार करने पर उन्हें नष्ट करने के लिए श्वास नलियों में उभार के रूप में स्थित मास्टर कोशिकाओं से चिपकी एन्टीबाडी उत्तेजित हो जाती हैं और मास्टर कोशिका फट जाती है। इनके फटने से हिस्टामीन नामक रसायन युक्त होकर इन पतली-संकरी श्वास-नलिकाओं में भर जाता है जिससे यहां सिकुड़न, जकड़न और ऐंठन पैदा हो जाती है और दमा का दौरा तेज हो जाता है। एलर्जिक दमा में नाक से पानी गिरना, आंखों का लाल हो जाना, पित्ती उछलना, खुजली होना, बुखार हो जाना, अतिशय छींकें आना आदि लक्षण पाये जाते हैं।

विशेष मौसम में खिलने वाले फूलों के परागकण, जन्तुओं के रोम, खुशबू पैदा करने वाले सेन्ट और अगरबत्ती, धुआं और धूलकण, बरसात का मौसम, तम्बाकू एवं पौधों की कटाई के मौसम में उड़ते हुए भूसे-छिलके के कारण उत्पन्न हुए एलर्जी से दमा होने की संभावना रहती है। अनेक प्रकार के डिब्बा बंद खाद्य पदार्थ, तरल पेय, कुछ दवाइयां, रंग-रोगन में प्रयोग होने वाले रसायन तथा कई रंग एलर्जिक दमा के कारण बनते हैं।

### 11.2.1.3 संक्रमणजन्य दमा

गले में संक्रमण अथवा श्वासमार्ग से विषाणु, रोगाणु एवं परजीवियों के प्रवेश के कारण भी दमा हो सकता है। ऐसा भी देखा गया है कि पेट में कीड़ों की उपस्थिति के कारण भी दमा की शिकायात हो सकती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

### 11.2.1.4 पुरानी खांसीजन्य दमा

खांसी कई कारणों से होती है परन्तु यदि खांसी की शिकायत लम्बे समय तक बनी रहे तो इस प्रक्रिया से जुड़ी हुई श्वासनली एवं समस्त पेशियां दुर्बल एवं रुग्ण हो जाती हैं। श्वसनिकाओं में सूजन एवं ऐंठन आ जाती है तथा यही आगे चलकर दमा का रूप ले लेता है।

### 11.2.1.5 कार्डियक दमा

जिन व्यक्तियों में दिल का कोई विशेष रोग जैसे माइट्रल स्टेनोसिस, हृदय में छेद, हृदय में सूजन तथा उच्च रक्तचाप जैसा रोग होता है, उनमें फेफड़े भी ठीक ढंग से काम नहीं करते हैं और धीरे-धीरे दमा की शिकायत हो जाती है।

### 11.2.1.6 संवेगात्मक तनावजन्य दमा

भय, परीक्षा, मुकदमा, दु:ख, अत्यधिक क्रोध और अत्यधिक मानसिक तनाव से दमे की शिकायत हो सकती है। इन सभी स्थितियों में सांस लेने का तरीका असामान्य हो जाता है। सांस की गति तीव्र हो जाती है, वह उथली तथा छिछली होती है। इन सभी प्रतिकूल मानसिक स्थितियों से उत्पन्न स्नायुविक विक्षेपों के कारण श्वासनली एवं श्वसनिकाओं में सिकुड़न एवं ऐंठन उत्पन्न हो जाती है और दमा प्रारम्भ हो जाता है।

---

**बोध प्रश्न 1:**

---

1. रक्ताल्पता के प्रकारों को समझाएं।
2. दमा रोग के कारण लिखें।

## 11.2.2 दमे की चिकित्सा

### 1. प्राकृतिक उपचार

दमे के रोगी को रीढ़, छाती, कन्धे व पेट पर क्रमश: गरम और ठण्डा सेक देना चाहिए। उसके बाद हल्के हाथों से मालिश करें एवं तत्पश्चात् नीम के गुनगुने पानी का एनीमा देवें। तत्पश्चात् गरम पाद तथा गरम हाथ स्नान एक साथ दिया जाना चाहिए। यदि दमे के दौरे की तीव्रता हो तो दो चम्मच चाय को एक लीटर पानी में उबालें। एक पाव बचने पर रोकने वाला एनीमा दें। इस काढ़े में थियोफीलिन नामक रसायन पाया जाता है जो एनीमा के कारण धीरे-धीरे रक्त प्रवाह में घुलता है और सांस की नलियों को ढीला करता है। दमे के सूक्ष्म संचित विकार को बाहर निकालने के लिए रोगी की स्थिति को ध्यान में रखकर धूप-स्नान, थर्मोलियम, पूर्ण टब स्नान, वाष्प स्नान तथा गरम गीली चादर लपेट अदल-बदल कर दें। अचानक ठंडे पानी से स्नान न कराकर थोड़ा गरम पानी से ही स्नान करायें। स्नान के बाद सूखे तौलिये से या फिर हाथ से खूब घर्षण कर शरीर को गरम करें। गरम उपचार के बाद मौसम के अनुरूप गरम तथा ठण्डे पानी से तौलिया भिगोकर निचोड़ लें और उससे भलीभांति घर्षण स्नान दें। इन गरम उपचारों से कृत्रिम ज्वर प्रतिक्रिया (Febsile Reaction) होती है। सांस की नलियां खुल जाती हैं। उनमें जमा कफ ढीला पड़कर बाहर निकलता है। इसके अतिरिक्त छाती तथा पीठ का तीन मिनट गरम तथा दो मिनट ठण्डा सेंक क्रम से पांच बार देकर 15 मिनट मालिस करें। छाती तथा पीठ को लपेट दें। दो-तीन घंटा बंधा रहने दें। इससे भी आशातीत लाभ होता है।

### 2. प्रेक्षायोग चिकित्सा

1. शुद्धि क्रियाएं—जलनेति एवं कुन्जल आवश्यकतानुसार।
2. यौगिक क्रियाएं—श्वास और सीने की 5-5 आवृत्तियां प्रतिदिन तथा तीन हफ्ते के अन्तराल से एक बार शंख प्रक्षालन
3. आसन—जानुशिरासन, अर्द्धमत्स्येन्द्रासन, पश्चिमोत्तानासन, भुजंगासन, मत्स्यासन, हृदयस्तम्भासन और नौकासन (प्रत्येक की एक-एक आवृत्तियां प्रात:काल खाली पेट)।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. प्राणायाम—सूर्यभेदी, अनुलोम-विलोम और उज्जायी प्राणायाम (बिना कुम्भक के)—15 मिनट प्रात: एवं 15 मिनट सायंकाल।
5. कायोत्सर्ग—20 मिनट-दिन में दो बार।
6. प्रेक्षाध्यान—दीर्घश्वासप्रेक्षा का अभ्यास (20 मिनट एक बार)।
7. अनुप्रेक्षा—श्वास संयम एवं श्वास संतुलन की अनुप्रेक्षा (15 मिनट एक बार)।
8. आहार संयम—
   (1) शाम का भोजन हल्का एवं सूर्यास्त से पूर्व लें।
   (2) यथासंभव दीर्घश्वास का प्रयोग करें। उपवास काल में नींबू-पानी-शहद मिलाकर प्रयोग करें।
   (3) तला-भुना एवं गरिष्ठ भोजन कदापि न खायें।
   (4) गाजर का रस, पालक, अंकुरित गेहूं, हाथकुटा चावल, चीकू, संतरा, सेव तथ आम का भरपूर सेवन करें।
   (5) भोजन संयम से करें। रुचिकर होने पर भी ठूंस-ठूंस कर कदापि न करें।
9. जीवन शैली में परिवर्तन—मौसम परिवर्तन के प्रति सर्वथा सजग रहें। धूलभरे और प्रदूषित स्थानों पर कदापि न जाएं। जाना भी पड़े तो नाक-मुंह पर फिल्टर का प्रयोग करें। दैनिक गतिविधियों की समयसारिणी बनाकर उसका कठोरता से पालन करें।

## 11.3 अभ्यासार्थ नमूने प्रश्न

1. रक्ताल्पता के कारण और लक्षण लिखिये।
2. अस्थमा के प्रकार और मूल कारणों का विवरण दीजिए।
3. एप्लास्टिक एनीमिया क्या होता है?
4. एलर्जी से दमा कैसे बनता है?
5. एनीमिया का प्राकृतिक उपचार बताइये।
6. अस्थमा का प्रेक्षायोग उपचार किस प्रकार करते हैं?

## 11.4 संदर्भ पुस्तकें


1. प्राकृतिक आयुर्विज्ञान—डॉ. राकेश जिन्दल
2. आरोग्य प्रकाश—वैद्यराज पं. रामनारायण शर्मा
3. रोगों की सही चिकित्सा—डॉ. नागेन्द्र नीरज एवं डॉ. मंजू नीरज
4. Principles of Anatomy and Physiology—G. J. Tortora and M. P. Anagnastokas.


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

# इकाई : 12 शराब, धूम्रपान एवं नशीली दवाओं की लत

**संरचना**


12.0 उद्देश्य

12.1 धूम्रपान का नशा

12.1.1 धूम्रपान : कुछ कडुवे तथ्य

12.2 शराब की लत

12.2.1 मद्यपान और आयु

12.2.2 प्रेक्षा योग से नशामुक्ति

12.3 नशीली दवाओं की लत

12.4 नशे का दुष्प्रभाव

12.5 नशे की चिकित्सा

12.5.1 नशे के दुष्प्रभाव का निसर्गोपचार

12.5.2 आहार चिकित्सा

12.5.3 योग चिकित्सा

12.5.4 नशीली दवाईयों से मुक्ति का मानसिक एवं सामाजिक उपचार

12.6 अभ्यासार्थ नमूने प्रश्न

12.7 संदर्भ ग्रंथ


## 12.0 उद्देश्य

(1) नशे के विभिन्न पहलुओं की जानकारी देना।

(2) शराब के दुष्परिणामों की विवेचना प्रस्तुत करना।

(3) धूम्रपान के घातक प्रभावों से परिचित कराना।

(4) नशीली दवाओं (ड्रग्स) की विविध किस्में तथा उनके कुप्रभावों की व्याख्या प्रस्तुत करना।

(5) शराब, धूम्रपान एवं नशीली दवाओं की लत से छुटकारा पाने के लिए प्रेक्षा-योग उपचार की जानकारी उपलब्ध कराना।

## 12.1 धूम्रपान (Smoking) का नशा

प्रत्येक सिगरेट के डिब्बे पर तथा विज्ञापन में यह कानूनी चेतावनी दी जाती है कि सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। धूम्रपान से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं। जैसे — वातस्फीति (एम्फीसेमा), हृदय-रोग, चिरकालिक खांसी आदि। इन दिनों जनता के ध्यान को आकर्षित करने वाला धूम्रपान का सबसे बड़ा दुष्परिणाम है — फेफड़ों का कैंसर। यह एक असाध्य और बहुधा घातक बीमारी है। यह बीमारी नही पीने वालों की अपेक्षा पीने वालों में 20 गुणा अधिक व्याप्त है। कैंसर की बीमारी में विषाक्त कोशिकाएं वृद्धिंगत होती हुई स्वस्थ कोशिकाओं को नष्ट कर देती हैं और अन्ततोगत्वा ऊतकों को भी। एम्फीसेमा (वातस्फीति) की बीमारी में श्वास-प्रकोष्ठों (अल्वीओली) का रोगात्मक विस्तार होता है। बहुत सारी श्वसनिकाएं एक साथ अवरुद्ध हो जाती हैं। श्वास-प्रकोष्ठों की दीवारें पतली होकर क्षीण हो जाती हैं। जिससे श्वसन-तंत्र की समग्र उपयोगी सतह के क्षेत्रफल में भारी गिरावट आ जाती है। सारी परिस्थितियां अपुनरावर्तनीय हैं। अन्ततोगत्वा ऑक्सीजन की कमी तथा कार्बन-डाई-ऑक्साइड की वृद्धि निरन्तर बनी रहती है, जिससे मृत्यु तक हो सकती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अब धूम्रपान न केवल फेफड़ों के कैंसर का प्रमुख कारण माना जाता है अपितु स्वरयंत्र, मुख-गुहा तथा अन्न-नली के कैन्सर का भी प्रमुख कारण माना जाता है। साथ ही मूत्राशय, अग्नाशय (क्लोमग्रन्थि) और गुर्दे के कैंसर में भी सहयोगी कारण बनता है। सिगरेट का धुआं श्वास-नलिका के अस्तर में रहे हुए सूक्ष्म बालों (रोमों) को आघात पहुंचा कर संवेदनशून्य कर देता है। जिससे वे धूलिकण-युक्त श्लेष्म को ऊपर धकेलने में अक्षम हो जाते हैं तथा उसे स्वरयंत्र द्वारा बाहर निकालने की क्रिया बंद हो जाती है। यदि धूम्रपान की आदत वाले व्यक्ति धूम्रपान छोड़ दें तो कुछ महिनों में ये बाल-सूफी के कार्य के लिए पुन: सक्रिय बन सकते हैं।

टाइम पत्रिका, मार्च 1985 में अमेरिका के सर्जन जनरल सी. एवरेट कूप की इसी विषय पर एक रिपोर्ट भी प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट में वे कहते हैं—हमारे युग की सार्वजनिक स्वास्थ्य से संबंधित समस्याओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या धूम्रपान की है। उसकी रोकथाम भी की जा सकती है, फिर भी हमारे समाज में मृत्यु का सबसे प्रमुख कारण धूम्रपान है।

इस रिपोर्ट में आगे धूम्रपान न करने वालों को भी एक चेतावनी दी गई है कि उनको सिगरेट के धुएं से भरे कमरों में जाने से भी बचना चाहिए क्योंकि कैंसरोत्पादक तत्त्व धूम्रपान करने वाले व्यक्ति के द्वारा कस लेने में जितनी मात्रा में भीतर जाते हैं उसकी अपेक्षा सुलगती सिगरेट से निकलते धुएं में अधिक मात्रा में विद्यमान होते हैं।

तम्बाकू धूम्रपान को छोड़ पाना अत्यधिक कठिन इसलिए होता है क्योंकि एक तो शरीर उन रसायनों, जो तम्बाकू से मिलते हैं, पर निर्भर हो जाता है और दूसरे भौतिक तथा भावनात्मक रूप से व्यक्ति तम्बाकू के साथ जुड़ जाता है। बलपूर्वक जब भी इसे छुड़ाया जाता है तो ''विथड्राल'' लक्षणों के साथ संघर्ष करना पड़ता है। उदाहरण के लिए जब सिगरेट का एक कस लिया जाता है तो उसके साथ निकोटिन की खेप शरीर और मस्तिष्क को पहुंचाई जाती है। इसे अचानक रोक देने से शरीर और मस्तिष्क दोनों की ओर से तीव्र प्रतिक्रिया होती है। इसका अर्थ यह नही है कि इसे जारी रखा जाना चाहिए। ऐसी स्थिति आने में धूम्रपान करते रहने का लम्बा समय होता है। लोग समझते हैं कि धूम्रपान बेचैनी, तनाव तथा मानसिक अवसाद को घटाता है लेकिन वस्तुस्थिति इससे बिल्कुल उल्टी है। बीसवीं सदी में जर्दा, धूम्रपान के घातक प्रभावों की पर्याप्त चर्चा और खोज की जा चुकी है। तम्बाकू धूम्रपान के विभिन्न तरीकों (सिगरेट, चुएट, पाइप, हुक्का) में से सिगरेट पीना सर्वाधिक नुकसानदेह पाया गया है। यद्यपि तम्बाकू में अनेक प्रकार के घातक रसायन पाये जाते हैं, परन्तु इनमें से निकोटिन, टार और कार्बन मोनोआक्साइड सबसे ज्यादा हानिकारक होते हैं। तम्बाकू की निकोटिन चेतना को सुप्त करती है। इसके प्रभाव से एड्रीनलीन नामक रस का स्राव होता है जिससे रक्तचाप बढ़ने तथा हृदय और पैर की ओर रक्त पहुंचाने वाली धमनियों में अवरोध उत्पन्न होने का खतरा रहता है। सिगरेट की तम्बाकू में पाया जाने वाला टार रसायन श्वास- नलिकाओं को लगातार उत्तेजित करता है जिससे ''ब्रोंकाइटिस'' और ''एम्फीसेमा'' नामक श्वास की बीमारी होती है जिससे शरीर को ऑक्सीजन की आपूर्ति में बाधा आती है। टार के कारण ही पुरुषों तथा महिलाओं दोनों में 9 में से 8 में मुंह तथा फेफड़ों के कैंसर होने की संभावना रहती है।

तम्बाकू से निकली कार्बन मोनोआक्साइड रक्त में अवशोषित होकर लाल रक्त कणिकाओं (RBC) में स्थित हीमाग्लोबिन से संयोग करती है जिसके कारण शरीर के ऊतकों को ऑक्सीजन आपूर्ति में बाधा पहुंचती है। विशेषकर गर्भावस्था में ऑक्सीजन की यह कमी गर्भ में पल रहे शिशु की विकृति का कारण बनती है। कार्बन मोनोआक्साइड से रक्त वाहिकाओं के रोग भी उत्पन्न होते हैं।

धूम्रपान से फेफड़ों को भी उसकी गर्मी तथा धुएं में पाये जाने वाले रसायनों से घाव पहुंचता है। यह घाव तीन चरणों में बनता है जो क्रमश: पूरे होते हैं—(1) सबसे पहले कार्बनमोनोऑक्साइड के कारण ऑक्सीजन के आवागमन और उसके लेन-देन मे व्यवधान होता है। (2) धुएं की उष्मा (ताप) के कारण श्वास नलिकाओं में घाव होता है। (3) अंत में धुएं में पाये जाने वाले कतिपय अम्लीय यौगिकों तथा एल्डीहाइड के कारण फेफड़ों के अति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मुलायम ऊतकों में घाव हो जाता है। जैसा ऊपर बताया गया है कि कार्बन मोनोआक्साइड के चलते ऊतकों को प्राणवायु नहीं मिल पाती। इससे सामान्य चयापचय की क्रिया बाधित होती है। इसके दुष्परिणामों के रूप में भ्रम, अनिर्णय, घबराहट, कोमा तथा हृदयाघात जैसी स्थितियां उत्पन्न होती हैं। श्वास-नलिकाओं में अवरोध से उनमें सूजन आती है तथा फेफड़ों की फूलने और पिचकने की सामान्य गति बिगड़ जाती है और फेफड़े पिचक कर रह जाते हैं। इसकी वजह से सांस लेने में बड़ी कठिनाई तथा घबराहट होती है। धुएं के अम्ल तथा एल्डीहाइड से श्वासनली का अस्वाभाविक संकुचन, फेफड़ों का पिचक कर रह जाना, उनमें घाव हो जाना और श्वास के आने-जाने में कठिनाई होना पाया जाता है।

## 12.1.1 धूम्रपान : कुछ कडुवे तथ्य

संसार में समय-समय पर विभिन्न कारण मानव विनाश के लिए उत्तरदायी रहे हैं। इस शताब्दी के शुरू के दशकों में महामारियां, जैसे चेचक, प्लेग, टीबी, मलेरिया और निमोनिया सबसे अधिक अकाल मौतों का कारण बनीं। दूसरें एवं पांचवें दशक में मृत्यु के सबसे बड़े कारण विश्व-युद्ध रहे। छठे दशक से अब तक असामयिक मृत्यु का सबसे बड़ा कारण रहा है जर्दा-धूम्रपान। पिछले चार दशकों से संसार में तम्बाकू पीने व खाने से हुई बीमारियां मानव को मृत्यु मुख में ले जाने में प्रमुख रही हैं। अकाल मृत्यु के सबसे बड़े कारण जर्दा-धूम्रपान को यमदूत की संज्ञा दी जा सकती है। निम्न आंकड़े इस कथन की पुष्टि करते हैं—

1. प्रथम विश्व-युद्ध के चार सालों में जितने लोगों की मृत्यु हुई, उतने लोग तम्बाकू से सिर्फ 1.5 वर्ष में काल-कवलित हो जाते हैं।

2. भयंकर बीमारी एड्स से पिछले एक दशक में संसार में जितने लोगों की मृत्यु हुई, उतने लोग तो तम्बाकू से हुई बीमारियों से सिर्फ एक माह में मर जाते हैं।

3. जर्दा-धूम्रपान से भारत में रोजाना 3,000 लोग मरते हैं अर्थात् सड़क-दुर्घटनाओं से 20 गुना व हत्याओं से 21 गुना अधिक लोग रोजाना जर्दा-धूम्रपान जनित बीमारियों से मरते हैं। देश के समाचार-पत्रों में हत्याओं एवं दुर्घटनाओं से हुई मृत्यु के त्रासद समाचार मुखपृष्ट पर छपते हैं, किन्तु मानव-मृत्यु के इनसे कहीं बड़े कारण सिगरेट या बीड़ी से हुई मौत का उल्लेख भी नहीं होता। आलोचना तो दूर समाचार-पत्रों में तो जर्दा बीड़ी और सिगरेट के प्रचार-प्रसार के लुभावने विज्ञापन छपते हैं।

4. कई प्रकार के कैन्सर पैदा करने वाले तत्त्व जो कारसीनोजन कहलाते हैं, सीगरेट या बीड़ी के धुएं में होते हैं। मुंह, गले व फेफड़े के कैंसर के हर दस रोगियों में से 9 व्यक्ति वे होते हैं जो जर्दा- धूम्रपान के आदी होते हैं। मूत्राशय, गुर्दे, पेन्क्रियाज, पेट व गर्भाशय का कैंसर भी धूम्रपान करने वालों के अधिक होते हैं। मुंह, गले व भोजन नली का कैंसर आमंत्रित करने में शराब धूम्रपान का सहयोग करती है।

5. जर्दा-धूम्रपान लेने वालों में हृदय-रोग की संभावना 15 गुना अधिक होती है।

6. क्रॉनिक ब्रांकाइटिस व एम्फीसेमा जैसे खतरनाक रोगों के भी दस में से नौ रोगी धूम्रपान करने वाले व्यक्ति होते हैं।

7. भारत में धूम्रपान करने वाले व्यक्तियों में से 30 प्रतिशत लोग क्रॉनिक ब्रांकाइटिस नामक श्वास रोग से पीड़ित होते हैं।

8. जर्दा-धूम्रपान लेने वालों में ब्रेन हेमरेज और लकवे की बीमारी जर्दा-धूम्रपान न लेने वालों से कहीं अधिक होती है।

9. जर्दा-धूम्रपान के साथ डायबिटीज की संभावना बढ़ जाती है।

10. धूम्रपान से रीढ़ की हड्डी के विकार पैदा हो जाते हैं।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Dehradun

11. जर्दा-धूम्रपान करने वाले के चेहरे पर झुर्रियां, उसके द्वारा किए जाने वाले जर्दा-धूम्रपान की मात्रा के अनुपात में बढ़ती जाती है।

12. यदि कोई व्यक्ति 40 सिगरेट पीता है, और उसके बगल में बैठा व्यक्ति सिगरेट नही पीता, फिर भी 3 सिगरेट के बराबर धुआं वह ग्रहण करता है।

13. चिन्ताओं से घिरे लोगों के लिए जर्दा-धूम्रपान अधिक खतरनाक होता है, इनसे हृदयाघात (हार्ट अटैक) की संभावना बहुत बढ़ जाती है।

14. जर्दा-धूम्रपान से उच्च रक्तचाप जैसी घातक बीमारी हो जाती है।

15. लगातार जर्दा-धूम्रपान का प्रयोग करने से व्यक्ति को खाना कम स्वादिष्ट लगता है।

16. गर्भावस्था में बीड़ी या तम्बाकू के सेवन या सिगरेट पीने से गर्भ के बच्चे पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यदि गर्भ का बच्चा लड़का है तब उस कुप्रभाव की आशंका अधिक होती है।

17. बीड़ी एवं सिगरेट के धुएं में 5 प्रतिशत घातक गैस कार्बन मोनोऑक्साइड होती है, जो कि खून के आवश्यक तत्त्व हीमोग्लोबिन से मिलकर कार्बोक्सी-हीमोग्लोबीन नामक विषैला पदार्थ बनाती है। इससे प्रतिरोधात्मक शक्ति कम होती है तथा शरीर में पोलिसाइथेमिया की बीमारी हो जाती है और नर्वस सिस्टम की कार्य-क्षमता में विकार आ जाता है। धूम्रपान करने वाले व्यक्ति की शारीरिक क्षमता में भी कमी आ जाती है और थोड़ा परिश्रम करने के पश्चात् ही ऐसे लोगों को थकान आने लगती है।

18. एक सिगरेट पीने से धूम्रपान करने वाले व्यक्ति का जीवन पांच मिनट कम हो जाता है, अर्थात् कोई व्यक्ति यदि 12 सिगरेट रोजाना पीता है, तब उसकी उम्र एक घंटा प्रतिदिन घटती जाती है।

19. एक पैकेट सिगरेट पीने वाला व्यक्ति यदि सिगरेट के बजाय इस धन को लगातार 25 वर्ष तक बैंक में संचित करता रहे तो इस अवधि के उपरान्त 3.5 लाख रुपये बैंक में जमा होंगे। जबकि 25 वर्ष तक धूम्रपान करते रहने के पश्चात् शरीर को स्वस्थ रखने हेतु 500–1000 रुपये प्रति माह चिकित्सा पर खर्च करने पड़ते हैं।

## 12.2 शराब की लत

एक बार हम दर्शन और तर्क को छोड़ दें, नैतिकता और समाज-व्यवस्था को भी भूल जायें तो भी शराब मनुष्य के स्वयं के स्वास्थ्य के लिए कितनी भयानक है, इस पर जरा ध्यान दें। स्वास्थ्य-समस्याओं में हृदय-रोग और कैंसर के बाद तीसरा स्थान शराब के दुर्व्यसन का है।

शराब शरीर और मन पर कितने भयंकर प्रभाव डालती है, इसकी जानकारी के लिए चिकित्सा- व्यवस्था में लगे लोगों, वैज्ञानिकों, मनोवैज्ञानिकों, मनोरोग-विशेषज्ञों, शरीरक्रिया एवं औषधि विज्ञान-वेत्ताओं की राय महत्त्वपूर्ण होती है। इस दृष्टि से अमेरिका में आयोजित मानस-चिकित्सक और नाड़ी-तंत्र विशेषज्ञों के राष्ट्रीय सम्मेलन का प्रस्ताव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने कहा है—इस सम्मेलन की सम्मति में यह निश्चित रूप से सिद्ध हो चुका है कि शरीर के भीतर ली गई शराब मस्तिष्क और अन्य तंतुओं के लिए विष के रूप में काम करती है। इसके प्रभाव से प्रत्यक्ष रूप से पागलपन, मिर्गी, मन की दुर्बलता और अन्य इसी प्रकार की अनेक मानसिक बीमारियां आती हैं।

स्ट्रासबर्ग में आयोजित इण्टरनेशनल फिजीओ-लॉजिकल कांग्रेस में औषधि-निर्माण विभाग के डॉक्टर ओटटो श्मेइडरबर्ग ने अपने निबन्ध में कहा था—शराब क्लोरोफार्म और ईथर की तरह अवसादक है। इसके सम्पर्क से व्यक्ति के शरीर के प्रत्येक तन्तु की शक्ति निर्बल हो जाती है।

इंग्लैण्ड में पागलपन पर नियुक्त मशीन की रिपार्ट में कहा गया है कि पागलपन के विषाक्त कारण की सूची में शराब मुख्य है। सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं के सर्जन जनरल डॉक्टर थॉमस पाईन ने भी कहा है—पागलपन का मुख्य कारण शराब है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अल्कोहल एण्ड अल्कोहलिज्म पुस्तक के पृष्ठ 14 पर लिखा है—अत्यधिक शराब पीने की वजह से प्रतिवर्ष कई मिलियन डालर खर्च हो जाते हैं। मानवीय कष्ट का मूल्य तो किसी प्रकार नहीं आंका जा सकता।

ह्विस्की, ब्रांडी आदि शराब सम्बन्धी विशेष पेय जब पेट में डाले जाते हैं तब जिगर, छोटी आंत और छोटी नसों द्वारा मद्यसार शीघ्रता से रक्त की सहायता से शरीर के सब भागों में पहुंच जाता है। मुश्किल से ही शराब बड़ी अंतड़ियों तक पहुंचती है। भोजन-रहित पेट में अंतड़ियों द्वारा मद्यसार को शीघ्रता से अपने में खपा लेना असाधारण गति से होता है। 10 से 30 मिनट के भीतर यह रक्त में उच्च स्तर तक पहुंच जाती है। जिस मात्रा में शराब ली जाती है उसी मात्रा में यह हानि पहुंचाती है। प्रबल शराब का पेट के साथ संपर्क होने से वहाँ सूजन हो जाती है, जिससे पाचक-यंत्रों को स्थायी रूप से हानि होती है। यह एक प्रकार का प्रवाहशील विष है जो जिगर, दिल और गुर्दों को क्षति पहुंचाता है। इससे पेट में दीर्घकालीन सूजन हो जाती है।

शराब का पेट पर जो सीधा उत्तेजक प्रभाव पड़ता है वह मुख्यत: रक्त के जमा और संकुचित हो जाने का है। कभी-कभी इससे पेट में फोड़े हो जाते हैं। प्रतिदिन आदतन शराब पीने से पेट के अन्दर सूजन रहने लगती है। पुराने मद्यपायी वातनाड़ी शोथ, मस्तिष्क-ज्वर, चमड़ी फटने का रोग, रक्ताल्पता आदि अनेक बीमारियों से घिर जाते हैं।

वैज्ञानिक खोजों से पता लगा है कि दीर्घकाल तक मद्य पीने से हृदय की नसें बेकार हो जाती हैं। इससे अनेक प्रकार के विकार प्रकट हो जाते हैं। इसी प्रकार मद्यपान से अप्रत्यक्ष रूप से गुर्दे पर भी भारी प्रभाव पड़ता है। शराबी के मूल-अम्ल का निकलना कम हो जाता है, जिससे मूत्र के रक्तसारों में कमी हो जाती है। उससे मेग्नेशियम की भी कमी हो जाती है।

नशीले पेय शराब आदि कैंसर के भी मुख्य कारण हैं। उन समस्त देशों में जहाँ शराब अधिक पी जाती है, कैंसर का प्रसार अधिक है।

यकृत (Liver) शरीर में प्रविष्ट विषों को निकालने में महत्वपूर्ण योगदान देता है। मद्यात्यय (over-intoxication) से शरीर की कोशिकाएं असामान्य रूप से विषाक्त बन जाती हैं, जिन्हें निर्विष बनाने के लिए यकृत को अतिरिक्त श्रम करना पड़ता है। इस प्रकार मद्यात्यय से मस्तिष्क और यकृत को अपूरणीय क्षति होती है। युवावस्था में मौत तक हो सकती है।

सवाल होता है—शराब से जब इतना नुकसान है तो लोग इसका प्रयोग क्यों करते हैं? इसका कारण यह है कि साधारण आदमी समझता है कि शराब पीने से वह चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। ऐसा केवल बीमार आदमी ही नहीं समझते हैं, अपितु दिनभर की मेहनत से थका हुआ हर आदमी यही सोचता है। पर यह बात ध्यान रखने की है कि नशे से न तो शक्ति आती है और न उनसे चिन्ताएं मिटती हैं; अपितु नशे के बाद कार्यक्षमता घटती है तथा चिन्ताएं और अधिक बढ़ जाती हैं।

अल्कोहल के लगातार सेवन से आदमी के शरीर में अनेक बीमारियां घर कर लेती हैं। आंखें जलने लगती हैं, मितली-सी आने लगती है, भूख खत्म हो जाती है, थकावट आने लगती है, पसीना ज्यादा छूटने लगता है, शरीर में कंपकंपी शुरू हो जाती है। आदमी उसे दूर करने के लिए फिर ज्यादा शराब पीता है। परिणामत: परेशानियां भी बढ़ने लगती हैं और आदमी एक दुश्चक्र में उलझ जाता है।

सुप्रसिद्ध ब्रिटिश सर्जन सर लाउडर ब्रुटन ने कहा है—शराब धीरे-धीरे निर्णय को पंगु बनाती है, उसका यह कार्य प्रथम जाम के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है।

डॉक्टर क्वैनसैल का अभिमत है—मद्यसारयुक्त पेय की लघु मात्रा भी मूत्राशय की थैली की कार्य-प्रणाली में भारी परिवर्तन कर सकती है। विचार को पंगु बना सकती है, अनुभूति की स्वच्छता में कमी तथा निर्णय लेने की शक्ति को घटा सकती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## 12.2.1 मद्यपान और आयु

इटली के प्राध्यापक लोम्बोजो के निष्कर्ष के अनुसार शराब मानव जीवन को घटाने वाली प्रमुख चीजों में से एक है। मद्यपान करने वाला 20 वर्ष की आयु वाला व्यक्ति 15 वर्ष और जिएगा जबकि न पीने वाला 44 वर्ष जी सकता है।

अनेक बीमा कंपनियों ने शराब और मृत्यु-संबंध के बारे में अनेक महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किये हैं। मेडिकल एक्एरिल मोर्टलरी इन्वेस्टिगेशन के केन्द्रीय ब्यूरो के अध्यक्ष ने 25 वर्षों तक 20 लाख लोगों के जीवन-वृत्तों के सम्बन्ध में एक जांच का परिणाम देते हुए कहा है—यह सुनिश्चित है कि मद्यपायियों की अपेक्षा मद्यपान न करने वाले 50 वर्ष अधिक जीते हैं।

कानेक्टीकट म्युच्युअल के अध्यक्ष जैकब ग्रीने का कथन है—मैं इस बहु प्रचलित धारणा का विरोध करता हूं कि बीयर हानिरहित है। यदि शराबमुक्त लोगों की मृत्यु-संख्या 100 है तो यदा-कदा पीने वालों की मृत्यु संख्या 122, संयमित पीने वालों की मृत्यु-संख्या 142 तथा नियमित पीने वालों की मृत्यु-संख्या 212 है। इतना ही नहीं, शराब के धंधे में लिप्त व्यक्तियों की मृत्यु-दर भी बढ़ जाती है। यह सब कुछ होते हुए भी आज मद्यपान का प्रवाह बढ़ रहा है।

जहाँ पहले नशाबंदी का कानून था, अब वह समाप्त कर दिया गया है। इसके पीछे शराब-प्रसारकों के व्यापक विज्ञापन अभियान एक मुख्य भूमिका निभाते हैं। इससे लोगों पर मनोवैज्ञानिक असर होता है और मद्यपान के प्रति अनैतिकता की धारणा टूट गयी है। आज तो सुरापान सभ्य-समाज में सामाजिक प्रतिष्ठा का परिचायक समझा जाने लगा है। उसके बिना अतिथि-सत्कार भी अधूरा समझा जाता है। सामाजिक उत्सवों आदि में आजकल मद्यपान के लिए लोगों को विवश किया जाता है। बहुत लोग इच्छा न होते हुए भी केवल मजाक के पात्र बनने के डर से इन्कार नहीं करते। पर बहुत लोग चाहकर वैसा करते हैं। वे नहीं जानते कि मद्यपान-सेवन उन्हें मानसिक परावलम्बिता तथा अत्यन्त खतरनाक दुर्व्यसन की ओर तेजी से धकेल रहा है।

विज्ञापन करने वाले लोग करोड़ों रुपये इस बात का प्रसार करने में लगाते हैं कि सीमित मात्रा में शराब पीना बुरा नहीं है। पर सीमित मात्रा में मद्यपान ही अपरिमितता की ओर प्रथम पग है। इसका कभी-कभी उपयोग भी अन्ततः एक आदत बन जाती है। आज जो लोग भयंकर पियक्कड़ हैं उन्होंने भी शराब पीना कभी-कभी पीने से ही शुरू किया होगा। प्रारम्भ में उन्होंने भी यही सोचा होगा कि सीमित मात्रा में शराब पीते हैं या कभी-कभार पीते हैं। पर धीरे-धीरे उनके शरीर का ढांचा ही ऐसा बन जाता है कि वे पिये बिना रह ही नहीं सकते।

चिकित्सा विज्ञान के अनुसार शराब केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र (Central Nervous System), जिसमें हमारे शरीर के नियंत्रक मस्तिष्क एवं सुषुम्ना आते हैं, को कुचल देता है, उसके कार्यों को दबा देता है। इसको बेहोशी, नींद और मूर्च्छा प्राप्त करने के लिए प्रयोग में लिया जाता है। गैर चिकित्सकीय मान्यताओं के अनुसार इसका उपयोग तनाव मुक्ति, चिन्ता से छुटकारा पाने, मौजमस्ती तथा अच्छी निद्रा के लिए किया जाता है। बार-बार इसको प्रयोग में लाने से यह शराब के प्रति सहनशक्ति (Tolerence) बढ़ाता है और प्रत्यक्ष शारीरिक/भौतिक एवं मनोवैज्ञानिक निर्भरता (Dependance) को प्रोत्साहन मिलता है।

अधिक मात्रा में शराब का सेवन करने से केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र की अनेक अनियमितताएं और दुष्परिणाम सामने आते हैं, उदाहरण के लिए कमजोर नियंत्रण और संयोजन की क्षमता, त्वरित निर्णय की क्षमता में अत्यधिक कमी, भावावेश की बारम्बारता तथा शांतिप्रिय गंभीर व्यक्ति में अचानक से क्रोध और हिंसात्मक व्यवहार का प्रकट हो जाना। शराब के नशे में व्यक्ति को यह भी ध्यान में नहीं रहता कि वह कब, किससे और कहां, क्या और कैसा व्यवहार कर रहा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शराब सेवन का दुष्प्रभाव व्यक्ति के शारीरिक संगठन, सेवन की गई शराब की गुणवत्ता, पीने की कुल अवधि और अन्तराल, सहनशक्ति, पीते समय पेट भरा होना या फिर खाली पेट होना तथा कई अन्य कारकों पर निर्भर करता है। यद्यपि प्रत्येक शराबखोर में शराब के कुपरिणाम भिन्न-भिन्न होते हैं फिर भी वैज्ञानिक अनुसंधानों से कुछ मानक पैमाने सामने आये हैं। यदि रक्त में शराब की मात्रा न्यूनतम 2000 मिली./लीटर है तो उसका दुष्प्रभाव अवश्य दिखाई देगा परन्तु पीने वाला इस मात्रा तक होश में ही रहेगा। जब यह स्तर 4000 मिली./लीटर तक पहुंचता है तो बेहोशी आ जाती है और यदि शराब की मात्रा 5000 मिली. प्रति एक लीटर तक पहुंच जाए तो मृत्यु निश्चित है। रक्त में शराब की मात्रा मृत्यु होने के स्तर तक धीरे-धीरे पहुंचने के पहले बेहोशी अवश्य लाती है। परन्तु एक साथ अत्यधिक मात्रा में पी लेने से मृत्यु हो जाती है क्योंकि ऐसी स्थिति में मस्तिष्क में स्थित श्वसन नियंत्रण केन्द्र काम करना बन्द कर देता है अथवा बेहोशी के आलम में ही वमन करते समय वमन पदार्थ श्वास नली में चले जाते हैं और श्वास पूरी तरह अवरुद्ध हो जाता है।

शरीर में शराब का विषैला प्रभाव पीना बंद करने के 8 से 10 घंटे तक व्याप्त रहता है। पी गई कुल शराब की 95 प्रतिशत मात्रा यकृत कोशिकाओं में आक्सीकरण के द्वारा एसीटिल एल्डीहाइड और कोएन्जाइम 'ए' में परिवर्तित कर दी जाती है। यह क्रिया अत्यन्त धीमी गति से होती है। इसीलिए दुष्प्रभाव लम्बे समय तक बना रहता है। लगातार पीने वालों के लीवर को यह कार्य बार-बार करना पड़ता है। इसलिए लीवर की कोशिकाएं धीरे-धीरे मरने लगती हैं।

वैज्ञानिक अनुसंधानों से यह तथ्य भी सामने आया है कि शराब का एल्कोहल तत्त्व न्यूरानों की प्लाज्मा झिल्ली से क्रिया करता है। यह क्रिया सामान्य रिसेप्टर्स की मदद से न होकर प्लाज्मा झिल्ली की प्रोटीनों और वसा से सीधे होती है। इस क्रिया से गाबा (GABA) रिसेप्टर्स की मदद से क्लोराइड आयन न्यूरोन कोशिका में अन्दर प्रवेश करते हैं, परिणाम स्वरूप उनकी कार्यक्षमता दब जाती है और मस्तिष्क की सामान्य नियंत्रण क्षमता प्रभावित होती है। शराब में पाये जाने वाले बेन्जोडाइजेपीन (लेब्रियम और वेलियम) गाबा (GABA) रिसेप्टर्स से क्रिया करते हैं और कोशिकाओं की उनके प्रति सहनशक्ति और निर्भरता बढ़ाते हैं। इन प्रतिक्रियाओं के कारण ही व्यक्ति शराब का आदी बन जाता है। जब उसे शराब नहीं मिलती तो वह औषधियों के रूप में बाजार में उपलब्ध इन रसायनों का सेवन कर अपने नशे का पोषण करता है।

### 12.2.2 प्रेक्षा योग से नशामुक्ति

1. यौगिक क्रियाएं—पेट एवं मस्तक की यौगिक क्रियाएं।
2. आसन—अर्द्धमत्स्येन्द्रासन, शंशाकासन, योगमुद्रा, कायोत्सर्ग।
3. प्राणायाम—चंद्रभेदी।
4. प्रेक्षा—विशुद्धि केन्द्र पर नीले रंग का ध्यान।
5. अनुप्रेक्षा—नशे के परिणामों का अनुचिंतन।
6. आहार संयम—गरिष्ठ एवं तामसिक भोजन का वर्जन, मांसाहार-वर्जन।

## 12.3 नशीली दवाओं की लत

नशीली दवाईयों के कारण राष्ट्रीय सुरक्षा, स्वास्थ्य, चरित्र तथा संस्कृति खतरे में हैं। विगत कुछ ही वर्षों में अमेरिका, इंग्लैण्ड, चीन, जापान, हिन्दुस्तान, पाकिस्तान यानि अमीर-गरीब सभी देश नशे के व्यापारियों के चंगुल में फंसकर छटपटा रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की संस्था इन्टरनेशनल नारकोटिक ड्रग कन्ट्रोल बोर्ड ने चेतावनी दी है कि नशीली दवाईयों की तेजी से बढ़ रही खपत के कारण कुछ देशों की सुरक्षा के लिए खतरा पैदा हो गया है। इन दवाईयों का धंधा करने वाले माफिया गिरोहों के ताकतवर लोग विभिन्न राजनीतिक दलों तथा सरकारों के उच्च पदों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पर आसीन हैं। बोर्ड ने यहां तक कहा कि विभिन्न देशों की सुरक्षा के लिए तैनात सैनिकों, पुलिस कर्मियों तथा नौकरशाहों को भी इन गिरोहों ने अपने जाल में फंसा रखा है। नशे के सौदागरों के माफिया गिरोह इतने सशक्त हैं कि वे कई सरकारों को बदलने की क्षमता रखते हैं। जापान का ड्रग माफिया ''याकुना'', ताइवान का ''पैग'' तथा चीन का ''फोर्टीन'' काफी कुख्यात रहे हैं।

सिर्फ अमेरिका में लगभग ग्यारह करोड़ से भी अधिक लोग नशीली दवाईयों के शिकार हैं। अमेरिका की ''नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ ड्रग एब्यूस'' की एक रिपोर्ट के अनुसार 30 से 40 प्रतिशत बच्चे नशीली दवाईयों का उपयोग करने लगे हैं। वर्ष 1981-83 के दौरान 1.4 खरब डॉलर नशीली दवाईयों से बचाव पर खर्च किये गये। अमेरिका में करीब 50 लाख लोग कोकीन, 2 करोड़ लोग मारिजुआना तथा 50 लाख लोग हेरोइन का प्रयोग करते हैं। अनुमानत: भारत में दस से पन्द्रह करोड़ लोग भांग, गांजा, चरस, हेरोइन, एल.एस.डी. आदि नशीली औषधियों के आदि हैं। कुल आबादी का 50 से 60 प्रतिशत लोग किसी न किसी दुर्व्यसन, जैसे-बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, पान मसाला आदि से ग्रस्त हैं।

कथित नियंत्रण के बावजूद भी माफिया सरदारों के व्यवस्थित तंत्र के अन्तर्गत हेरोइन तथा स्मैक आदि नशीली दवाईयों ढाबों, कॉलेज-स्कूल की कैन्टीनों, होस्टलो तथा झुग्गी-झोंपड़ियों में धड़ल्ले से बिकती हैं। शहरों में रहने वाले गरीब अपने बच्चों तथा परिवार का पेट काटकर अपने पसीने की गाढ़ी कमाई का बहुत बड़ा हिस्सा नशे पर खर्च कर रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों में विश्वविद्यालय, महाविद्यालय से प्रारम्भ होकर प्राथमिक शालाओं के विद्यार्थियों तक नशे की लत पहुंच चुकी है।

आयुर्वैज्ञानिक विश्व शब्द कोष के अनुसार नशीली औषधियां मूर्च्छा, बेहोशी, जड़ता तथा संवेदन-हीनता पैदा करती हैं। दर्द, पीड़ा एवं शूल से मुक्ति तथा जटिल समस्याओं एवं विषम परिस्थितियों से जूझने का भ्रम पैदा करती हैं। नशीली औषधियों का उपयोग प्राय: अफीम तथा अर्फीम से बनी अन्य नशीली दवाईयों के संदर्भ में किया जाता है। ये मस्तिष्क, तंत्रिका कोशिकाओं तथा मांसपेशियों को प्रभावित करती हैं। नशीली औषधियों के रूप मे अफीम, हेरोइन, मैक्सिन, कैक्टस, भांग, गांजा, चरस, एल., एस.डी., कोकीन, तरल हेरोइन मुख्य हैं जो नशेड़ियों के लिए आराध्य आहार हैं। अफीम समूह की औषधियों मार्फिन, पैथेडिन, हेरोइन समूह की दवा बारबिचुरेट्स, मनोदैहिक एवं नींद लाने वाली दवा कम्पोज, लारपोज, लिबरियम, वेलियम आदि का उपयोग भी नशेबाज धड़ल्ले से करते हैं।

अफीम से सोलह रसायन जिनमें मार्फिन, हेरोइन, नारकोटिन, कोडीनथीमेन, पपेवेराइन, लार्डनाइन तथा नासीन मुख्य नशीले पदार्थ प्राप्त किये गये हैं। इनका उपयोग औषधियों में किया जाता है। आयुर्वेद के अनुसार अफीम तथा मार्फिन उष्ण, रुक्ष, तिक्त, निद्राजनक, शामक, मादक, कामघ्न, शोथघ्न, रक्त स्तम्भन, वातारक्तकारक, रक्तादि धातुओं के शोषक तथा पुरुषत्व नाशक होते हैं। भांग, गांजा तथा चरस में अत्यन्त नशीला रसायन कन्नाबिनोन होता है। इनमें मादक नारकोटिक तेल पाया जाता है। इसमें घातक रसायन केन्नाविनॉल होता है। भांग उत्तेजक, प्रशान्तक, निरोधक, गर्भाशय संकोचक, मूत्र संग्राही, बाजीकर, मोह, मद, वाणी तथा जठराग्नि वर्द्धक है। गांजा कामुकता वर्द्धक है। इसके प्रयोग से आंखें लाल हो जाती हैं। चेहरे पर सूजन, स्मृतिनाश, अनिद्रा, प्रलाप, कभी-कभी हृदय गति रुकना, शिर:शूल आदि लक्षण दिखते हैं।

शोध किया हुआ अफीम ही मार्फिन है। अफीम का थीमेन तीव्र विष है। यह रीढ़ के स्नायुओं को उत्तेजित तथा विषाक्त बनाता है। इसके प्रयोग से हाथ-पैर की मांसपेशियों में ऐंठन तथा छटपटाहट महसूस होती है। कोडीन का प्रभाव कमोवेश अफीम की तरह होता है। नार्कोटिन एवं पपेवेराइन का सीधा प्रभाव सांस केन्द्र पर होता है। श्वसन केन्द्र उत्तेजित हो जाता है। सांस रुकने लगती है। यह आंत्रिक मांसपेशियों को शिथिल कर कब्ज पैदा करता है। नार्कोटिन तथा पपेवेराइन दोनों मिलकर मार्फिन नामक तीव्र मादक पदार्थ बनाते हैं। कोडिन तथा नार्कोडिन अत्यन्त विषाक्त मादक प्रभाव डालते हैं। 3 मि.ग्रा. नार्कोटिन तथा 3 मि.ग्रा. मार्फिन मिलकर 60 मि.ग्रा. मार्फिन जितने मादक हो जाते हैं। नशेड़ी अफीम की गोली लेते हैं या इसे घोलकर पीते हैं। मार्फिन का इन्जेक्शन लेते हैं। मार्फिन सफेद पाउडर के रूप में तथा हेरोइन द्रव के रूप मे होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## 12.4 नशे का दुष्प्रभाव

नशे का दुष्प्रभाव वेगस नर्व, स्वेद ग्रन्थियों, गुर्दे, पाचन संस्थान तथा केन्द्रीय स्नायु संस्थान पर होता है। इनके प्रभाव से ज्ञान, सुख-दु:ख की पीड़ा की अनुभूति तथा रोग प्रतिरोधक क्षमता कम हो जाती है। बेहोशी, सिर दर्द, श्वसन अवरोध, घात, तीव्र पसीना आना, गले तथा चेहरे की तरफ खून का दौरा तेज होना, कान में उष्णता तथा कब्ज के लक्षण परिलक्षित होते हैं।

किसी प्रकार के नशे में कोई स्वाद नही होता है। प्राय: सभी प्रकार के नशे स्वाद में कड़वे होते हैं। सर्वप्रथम खाने से मिचली तथा उल्टी हो जाती है। प्रकृति इन्हें न लेने के लिए सावधान करती है। फिर भी प्रकृति की इस मौन भाषा को हम अनसुना कर देते हैं। हर प्रकार के नशे से सिर घूमना, चक्कर आना, सिर में भारीपन, बेहोशी तथा अचेतन नींद के कारण दर्द में राहत महसूस होती है। नाड़ी की गति धीमी हो जाती है। आंख की पुतलियां छोटी हो जाती हैं, सिकुड़ जाती हैं। होंठ नीले हो जाते हैं। मुंह तथा होठों पर पसीना छलकता है। नींद खुलने पर भूख मंद हो जाती है, मिचली तथा उल्टी होती है। अफीम आदि मादक औषधियों के ज्यादा सेवन से अचेतन नींद में प्रति मिनट 3 से 4 बार गहरी सांस छोड़ने तथा उसमें अफीम की गंध के लक्षण दिखते हैं। शरीर बर्फ की तरह शीतल होता चला जाता है। समय पर उपचार नहीं होने पर व्यक्ति निरीह जानवर की तरह बेमौत मर जाता है।

नशे के प्रभाव से अनेक शारीरिक, मानसिक तथा स्नायुविक बीमारियां पैदा होती हैं। गर्भवती महिलाओं द्वारा कोकीन लिए जाने पर नवजात शिशु हृदय रोग के साथ पैदा होते हैं। इन शिशुओं को कोकीन बेबीज कहा जाता है। नशा करने से शारीरिक, मानसिक तथा स्नायुविक रोग प्रतिरोधक क्षमता इतनी कमजोर हो जाती है कि हर प्रकार के रोगाणु शरीर के अन्दर प्रवेश कर नाना प्रकार के रोग पैदा करते हैं। नशेबाज लोग एक-दूसरे की सिरिंज उपयोग करते हैं। फलत: एड्स जैसे घातक रोग से ग्रस्त हो जाते हैं।

## 12.5 नशे की चिकित्सा

### 12.5.1 नशे के दुष्प्रभाव का निसर्गोपचार

नशीली औषधियों से मुक्ति के लिए सर्वप्रथम उसका सम्पूर्ण इतिहास, पारिवारिक, सामाजिक एवं पर्यावरणीय परिवेश जानना आवश्यक है। नशेड़ी व्यक्तियों का पाचन संस्थान तथा तंत्रिका तंत्र विशेष रूप से दूषित पदार्थों से आक्रान्त होते हैं। उपचार देते समय शारीरिक अवयवों के साथ इन अंगों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। नशीली औषधि का प्रयोग करने वालों का शरीर विजातीय, दूषित पदार्थों से इस कदर लद जाता है कि उनकी सांस, पसीना तथा पेशाब से औषधियों की बदबू आती है। इन विशेष संस्थानों को दूषित विकारों से मुक्त कर सारे शरीर को सशक्त एवं स्वस्थ बनाने का प्रयास करना चाहिए। नशेड़ी लोगों के पेट की सर्पिल गति (पेरिस्टालसिस) अस्त-व्यस्त होती है। सर्वप्रथम इन्हें पेट का गरम, ठण्डा सेक क्रम से तीन बार देकर मिट्टी की पट्टी पेट, सिर तथा रीढ़ पर एक साथ दें। मिट्टी की पट्टी के अभाव में कपड़े को भिगोकर ठण्डी पट्टी काम में लें। रीढ़, पेट तथा पिण्डलियों की मालिश करें। डेढ़ लीटर गुनगुने पानी में नींबू निचोड़कर अथवा नीम के पत्ते उबालकर गुनगुने पानी का एनीमा दें। पेट साफ हो जाने पर छाछ तथा गेहूं के पत्ते के रस का एनीमा 10 दिन तक लगातार दें। रोगी की स्थिति के अनुसार रीढ़ का 3 मिनट गरम, 2 मिनट ठण्डा सेक क्रम से पांच बार करें। ठण्डा रीढ़ स्नान, गरम-ठण्डा कटि स्नान, गीली चादर लपेट, पूर्ण टब एमरसन स्नान मय अण्डरवाटर मसाज, गीले तौलिये से सारे शरीर का घर्षण स्नान, सर्वांग मिट्टी का लेप, सौम्य धूप स्नान तथा वायु स्नान रोगी की जीवनी शक्ति, उम्र, लक्षणों की उग्रता को ध्यान में रखते हुए बदल-बदल कर दिया जाता है। इन उपचारों से शरीर का दूषित पदार्थ पसीने तथा पेशाब में घुल-घुल कर बाहर निकल जाता है। शरीर की रोग-प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि होती है। हृदय, फेफड़े, यकृत, गुर्दे, त्वचा तथा आंतों की खोयी हुई शक्ति पुन: प्राप्त होती है। इनकी क्रियाशीलता बढ़ने से शरीर विषमुक्त हो जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## 12.5.2 आहार चिकित्सा

रोगी को धीरे-धीरे अन्न आहार कम करते हुए 5 दिन तक फलाहार, 5 दिन रसाहार तथा एक-डेढ़ माह तक मट्ठा या छाछ कल्प कराना चाहिए। छाछ कल्प की दृष्टि से सोयाबीन की छाछ भी देना चाहिए। सोयाबीन की छाछ में लेसिथिन पाया जाता है जो नशीली औषधियों का एण्टीडोट्स होता है। फलों के रस में संतरा, मौसम्मी, अंगूर, अनार, चकोतरा, जामुन, अन्नानास तथा तरबूजे का रस नशीली औषधियों के दुष्प्रभाव को कम करता है। शरीर के कोषों में जमे नशीले रसायनों को निकालकर उन्हें पुन: जीवन प्रदान करता है। सब्जियों के रस में गाजर, पालक, टमाटर, लौकी तथा पेठे का रस अत्यंत उपयोगी होता है। गाजर में स्थित कैरोटिन तथा टमाटर में स्थित लाइकोपिन कारिटिनॉयड पिगमेंट है जो नशे के घातक प्रभाव को दूर करते हैं। ये आहार नशीली औषधियों को लेने की इच्छा को भी समाप्त करते हैं। सामान्य स्थिति में नशेबाज लोगों का आहार क्रम इस प्रकार रखें।

प्रात:काल उठते ही 3-4 गिलास जल पीना। प्रात:काल खाली पेट जल पीने से शरीर के जहरीले एवं नशीले पदार्थों की धुलाई, सफाई हो जाती है। एक घंटे बाद 24 घंटे पूर्व भीगे गेहूं तथा चने का एन्जाइमेटिक रेजुवेलक पेय एक गिलास, एक नींबू अथवा 10 ग्राम आंवले का पानी तथा 3 चम्मच शहद मिलाकर दें। रेजुवेलक इन्जाइमेटिक पेय में डेक्सिट्रन्स, सैकराइन्स, लैक्टोबैसिली, सैकरामाइसेस, एसपेरिगिल्लस ओराइजे, एमाइलेसेस, प्रोटीन तथा कार्बोहाइड्रेट पाये जाते हैं जो शक्ति देने के साथ नशे की लत से भी छुटकारा दिलाते हैं।

**नाश्ते में :** अंकुरित अनाज तथा सोयाबीन की छाछ अथवा सब्जियों का रस एक गिलास दें।

**दोपहर के भोजन में :** 5 घंटे पूर्व पालक के रस में गूंथी हुई मोटे आटे की 2-3 रोटी, सब्जी, सलाद, दही, अंकुरित अनाज।

**मध्याह्न काल में :** फलों का रस या फल मौसमानुसार।

**सायंकालीन भोजन :** दोपहर की तरह।

इस आहारचर्या से कुपोषण से ग्रस्त नशाखोर लोगों की हालत भी सुधरती है। रात्रि को सोते समय 8 से 10 खजूर, 3-4 केले, 20 से 25 मुनक्का या किशमिश अथवा मीठे फल अवश्य खिलायें। मीठे फलों से मस्तिष्क में सेरोटोनिन नामक न्यूरोट्रांसमीटर्स का स्राव बढ़ जाता है। जिससे नशे की लत से छुटकारा मिलता है। जो हम नशे में खोजते हैं, वह हमें सेरोटोनिन हार्मोन के स्राव से मिल जाता है। नशेड़ी लोगों के दिमाग में सेरोटोनिन, बीटा एंडोर्फिन, फिनाइल, इथाइल एमिन, डोपामिन, एसिटाइल कोलीन आदि न्यूरोट्रांसमीटर्स की संभवत: काफी कमी हो जाती है जिसकी आपूर्ति उपरोक्त आहारचर्या से की जा सकती है।

## 12.5.3 योग चिकित्सा

नशीली औषधियों से मुक्ति में विशेष रूप से इनके घातक प्रभावों को उदासीन एवं निष्प्रभावी करने में योग चिकित्सा का विशेष महत्त्व है। जैसे ही यह ज्ञात हो व्यक्ति ने नशीली औषधियों का सेवन किया है तुरन्त गरम नमकीन पानी पिलाकर कुंजर या बाघी क्रिया 3-4 बार करायें ताकि सारा मादक पदार्थ निकल जाये। पहले नमकीन तथा बाद में सादा गरम पानी से कुंजल करायें। नियंत्रित नशेड़ी लोगों की स्थिति एवं आवश्यकतानुसार षटकर्म में वस्त्र धोति, दण्डधोति, जलनेति, शंख प्रक्षालन करायें। सूक्ष्म व्यायाम एवं आसनों में बुद्धि, धृति, स्मरण तथा मेधा शक्ति विकासक, उदर शक्ति विकासक, पाद हस्तासन, जानुशिरासन, अर्द्धमत्स्येन्द्रासन, वज्रासन, योगमुद्रा, सुप्तवज्रासन, पद्मासन, ज्ञानमुद्रा, गोमुखासन, पक्षी आसन, उत्तानपादासन, पवनमुक्तासन, शलभासन, भुजंगासन, नौकासन, मत्स्यासन, सर्वांगासन, हलासन, पश्चिमोत्तानासन, शवासन तथा स्वकल्प भावना का अभ्यास विशेष उपयोगी होता है। प्राणायाम में दीर्घ श्वसन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भ्रामरी तथा अनुलोम-विलोम प्राणायाम नशेड़ी की स्थिति के अनुसार कराने चाहिए।

आते-जाते स्वाभाविक श्वास के प्रति सजग रहते हुए अवलोकन यानि आनापान सति ध्यान का अभ्यास सुबह-शाम 20-20 मिनट के लिए करें। सांस न तो अतीत की स्मृतियों में है और न भविष्य के सपनों में। सांस के प्रति न तो राग होता है न द्वेष, न मोह, न ईर्ष्या, न दु:ख न सुख, न वैराग्य न क्षोभ, न त्याग न लोभ। सांस वर्तमान क्षण की सच्चाई है। सांस को जानना रागातीत वितरागता की स्थिति है। सहज स्वाभाविक सांस की सतत् स्मृति रहने से नशीली औषधियों से मुक्ति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मिलती है। मंगल मैत्री कामना तथा चिकित्सा भी नशीली औषधियों से मुक्ति दिलाने का कारगर उपाय है। सुबह-शाम सैर करने का भी अभ्यास करना चाहिए।

अष्टांग योग चिकित्सा के विविध प्रयोगों तथा सैर करने से दिमाग की तंत्रिका कोशिकाओं में बीटा एंडोर्फिन, डोपामिन आदि जैव रासायनिक अभिक्रियाओं की धारा फूट पड़ती है। रक्त में इनका स्राव बढ़ने से अपूर्व ताजगी, पूर्ण उद्दीपन, आह्लाद एवं आनन्द की लहरें मन में हिलोरें लेने लगती हैं। बीटा एडोर्फिन जो ध्यान, आसन, प्राकृतिक एवं आहार चिकित्सा के विविध प्रयोगों से उत्सर्जित होता है, अफीम (मार्फिन) जैसा पीड़ानाशक एवं सुखदायी रसायन है। परन्तु इस नैसर्गिक रसायन का कोई दुष्प्रभाव नहीं है। इससे शरीर की मांसपेशियों एवं स्नायुओं में शांति एवं शक्ति महसूस होती है। योग प्राकृतिक चिकित्सकीय प्रयोगों से सुबह की मंद, मीठी, प्यारी उषा की लालिमा की तरह जीवन में सौहार्द्र, परिपक्वता, पवित्रता, क्षमता, दूरदर्शिता, उदारता, क्षमाशीलता, स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य बोध की जगमगाहट फूटने लगती है।

**बोध प्रश्न 1:**

*1. धूम्रपान क्या है?*

*2. मद्यपान और आयु का क्या सम्बन्ध है?*

*3. नशे की आहार चिकित्सा लिखें।*

## 12.5.4 नशीली दवाईयों से मुक्ति का मानसिक एवं सामाजिक उपचार

''मां की कोख से पैदा होने वाला प्रत्येक शिशु उतना ही प्यारा तथा पवित्र है जितना परमात्मा। यदि वह आगे चलकर नशीली दवाईयों के जाल में फंसता है तो यह बीमार एवं विक्षिप्त समाज तथा विकृत एवं विकलांग कोढ़ ग्रस्त संस्कृति का प्रतीक है। यह मानव विकास का नहीं, बल्कि यह मानवीय पतन का आइना है।''

नशीली औषधियों के लती लोगों में सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि उन्होंने किन परिस्थितियों में नशीली दवाईयों का सेवन प्रारंभ किया है। जब तक मूल कारण दूर नहीं होता तब तक नशीली दवाईयों से मुक्ति दिलाना या पाना असंभव है। प्राय: देखा गया है कि नशीली दवाईयों से मुक्ति के महीनों तथा सालों बाद व्यसनी छोड़ा हुआ व्यसन फिर प्रारम्भ कर देते हैं।

अनेक किशोर कोतुहल के कारण, विषम तथा जटिल समस्याओं से जूझने से असफल होने, यथार्थ की चुनौती को स्वीकार नहीं करने, परिस्थितियों से विद्रोह करने, कुछ अभिनव प्रयोग की ललक, कुछ नया कर दिखाने की तमन्ना, हम भी किसी से कम नहीं की इच्छा, तनाव, आत्म सुरक्षा, कुंठा, आत्महीनता, आत्म प्रवंचना, अपराध भावना, मानसिक अवसाद, अन्तर्जिविता तथा मानसिक अव्यवस्थाओं के कारण नशीली दवाईयों के शिकार हो जाते हैं। कुछ लोग रोब जमाने, पार्टी में, उत्सव में साथ देने तथा बैठे-ठाले बेकार रहने के कारण शौकिया नशीली दवाईयों का सेवन शुरू करते हैं। यह शुरूआत उन्हें नशाखोर बनाकर जीवन का ही नाश कर देती है।

घर के अंदर बच्चे अनुशासित हैं। वे नशीली औषधियों का सेवन नहीं करते हैं, शरारत नहीं करते हैं ऐसा सोचकर निश्चित न हो जायें। घर से बाहर जाते ही ये बच्चे हमजोली बच्चों से मिलते हैं। अपने बाल समाज में अपनी मान्यता सिद्ध करने तथा अहं पुष्टि के लिए नशीली दवाईयों के दुष्चक्र में फंस जाते हैं। अज्ञानतावश जमाने के संग चलने तथा जमाने को दिखाने के चक्कर में वे स्वयं घन चक्कर में फंस जाते हैं। साथ निभाने के लिए उनके मन में यह भाव आता है कि एक बार ले लेने में बुरा ही क्या है। कौनसा परिवार वाले देख रहे हैं। इस चक्कर में कुछ व्यक्ति एक-दो बार लेकर छोड़ भी देते हैं। परन्तु कुछ इसके इस कदर व्यसनी बन जाते हैं कि वे अपना जीवन, मान-सम्मान, सभी कुछ दांव पर लगा देते हैं। ऐसे लोग प्राय: स्वाभिमान की कमी तथा हीन भावना से ग्रस्त हो जाते हैं। वे उस सम्मान को दवाईयों में खोजते हैं। अपने आपको प्रिय लगने तथा अपनी नजर में ऊपर उठने की लालसा से स्वयं के तथा सबकी नजर में इस कदर नीचे गिर जाते हैं कि उन्हें ऊपर उठाना असंभव हो जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नशीली दवाईयों के व्यसनी लोगों का प्रथम उपचार है कि उनमे पुन: आत्म सम्मान पैदा किया जाये। वे अपनी आत्मा की गरिमा को पहचानें। बच्चों में बचपन से ही आत्म सम्मान की भावना जाग्रत की जाए ताकि उनके कदम डगमगाएं नही। उन्हें भरपूर प्यार, दुलार से सोचने के लिए बाध्य किया जाये कि वे हमारे अपने हैं। अभिन्न हैं। आत्मीय तथा प्रिय हैं। हमसे दूर नही हैं। मनोवैज्ञानिक तरीके से उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति की जाये।

कभी-कभी व्यक्ति तथा उसके व्यवहार एवं आचरण में हम अंतर नहीं कर पाते हैं। स्वामी रामतीर्थ ने ठीक ही कहा है कि आदमी से नहीं उसके अपराध एवं पाप से घृणा करो। मूलत: व्यक्ति उद्दण्ड, शैतान, बुरा या अपराधी नहीं होता है। बच्चों द्वारा खिलौने, कपड़े या अन्य चीजें इधर-उधर बिखेरना बाल सुलभ शैतानियां हैं। इसके प्रति बच्चों को सजग करना चाहिए न कि उन्हें हमेशा डांटते-डपटते तथा दंडित करते रहें। ऐसा करने से उनके कोरे मन में यह बात बैठ जाती है कि वे बुरे हैं, वे अपना आत्म गौरव खोने लगते हैं। नशीली औषधियों के सेवन करने वाले आत्म गौरव के जगते ही उनके अन्दर प्रचण्ड शक्ति, आत्म विश्वास, इच्छा शक्ति, स्व-नियंत्रण एवं सुरक्षा का भाव पैदा होता है।

प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार जिस प्रकार से जीवनी शक्ति प्रबल प्रचण्ड होने से वातावरण में व्याप्त असंख्य रोगाणुओं से शरीर स्वयं रक्षा करता है, उसी प्रकार स्वाभिमान, आत्म सम्मान के जाग्रत होते ही समाज में व्याप्त दुर्व्यसनों की संभावनाओं से रक्षा होती है। आत्म गौरव का भाव मादक औषधियों के आकर्षण से मुक्ति दिलाता है। नशीली औषधियों का सेवन करने वालों में सत्य को स्वीकार करने की शक्ति पैदा करनी चाहिए। नशीली औषधियों ने उनके जीवन को तबाह तथा अस्त-व्यस्त कर दिया है, इसे स्वीकार करना चाहिए। अपने आचरण को सही सिद्ध करने के लिए दूसरों पर दोषारोपण करना तथा व्यसन का कारण दूसरों को मानना गलत है। जो समस्याएं उन्होंने खड़ी की हैं वे उनकी अपनी हैं। वे स्वयं इसके जिम्मेदार हैं। वे दूसरे तथा प्रताड़ित, लांछित एवं सताए हुए नहीं हैं बल्कि वास्तविकता यह है कि वे इन औषधियों के गुलाम बन चुके हैं, वे इसके शिंकजे में जकड़े, तड़फड़ाते शिकार हो चुके हैं। इसे स्वीकारते ही इससे निकलने तथा मुक्त होने के लिए युक्तिसंगत विचार प्रारम्भ हो जाता है। चिन्तन में क्रांतिकारी विधायक परिवर्तन होता है।

स्वास्थ्य लाभ करते समय उन लोगों से मित्रता करनी चाहिए जो नशीली दवाइयां छोड़ चुके हैं अथवा सेवन नहीं करते हैं। उनसे आत्मीयता स्थापित करें। सम्पर्क बनाएं, खेलें, मनोरंजन करें। सृजनात्मक कार्य करना, पढ़ना, लिखना, पेंटिंग करना, चित्र बनाना, बागवानी व अन्य कार्यों में लगें। खाली नहीं बैठें। खाली मन में शैतान बसता है और शैतान की खुराक है नशीली औषधियां। इससे आत्म विश्वास एवं नया मनोबल पैदा होता है जो व्यसन से मुक्त करता है।

अविश्वास, कुंठा, असफलता तथा द्वेष की स्थिति में व्यसनों का सहारा नहीं लें, बल्कि उसका सहारा लें जो ऊर्जा, सुख, प्रेम एवं आनन्द के उच्चतर स्रोत हैं। अपनी इच्छा को उस दिव्य ईश्वरीय शक्ति से जोड़कर नयी दिशा प्रदान करें। ऐसे असहाय क्षणों में उस परम सखा परमात्मा को आवाज दें। सहारा मिलेगा। अभिप्सा पैदा करें, तृप्त होंगे। वह सर्वशक्तिमान हमारे आगे-पीछे, बाएं-दाएं, भीतर-बाहर, हमसे ओत-प्रोत तथा हमसे परे न होकर सर्व व्यापक विद्यमान है। ज्योतिर्मय प्रकाशमान है। इन असहाय क्षणों में जब हम पुकारते हैं तो वह ज्योति चमक उठती है। हमें राह दिखाती है। जीवन आनन्द आह्लाद स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य से आलोड़ित एवं आलोकित हो उठता है। प्रेम की अभिव्यक्ति से नशे से मुक्ति मिलती है। जब कोई व्यक्ति नशे का आदि हो चुका है तो उसे डांटने, फटकारने या दोषी ठहराने की अपेक्षा चिकित्सा दी जानी आवश्यक है। उन्हें उपचार एवं सुधरने का अवसर देना आवश्यक है। भाषणबाजी की अपेक्षा उनके अन्दर सच्ची लगन, निष्ठा, ईमानदारी, संकल्प तथा इच्छाशक्ति जाग्रत करें। नशा करने वाले व्यक्ति को यह अहसास होना चाहिए कि उसे भरपूर समय और प्यार मिल रहा है, क्योंकि वह अन्दर से टूट चुका होता है। प्यार ही उपचार है। यदि किसी कारणवश उसमें आक्रोश, अपने सगे-संबंधियों को दण्डित करने के लिए नशा कर स्वयं को दंडित कर रहा है, तो उसे बोध कराना चाहिए कि वह जो कर रहा है वह गलत है। प्यार करने या देने का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं है। व्यक्ति तथा व्यक्ति का आचरण दोनों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अलग-अलग हैं। उसे अहसास दिलायें कि उसे तो भरपूर प्यार मिल रहा है परन्तु उसके आचरण से हम दु:खी एवं चिन्तित हैं। किशोरों की इच्छाओं के प्रति सदैव सजग रहें। उनकी इच्छा इस हद तक नहीं लायें कि उनके गलत आचरण को भी महिमा मंडित किया जाये।

## 12.6 अभ्यासार्थ नमूने प्रश्न

1. शराब के दुष्प्रभावों का वर्णन कीजिए।
2. ड्रग्स (नशीली दवाएं) किसे कहते हैं? ये कितने प्रकार की होती हैं, इनके सेवन से होने वाली घातक हानियों की विवेचना कीजिए।
3. धूम्रपान से शरीर का कौनसा तंत्र सर्वाधिक प्रभावित होता है उसके हानिकारक परिणामों का वर्णन कीजिए।
4. ''एम्फीसेमा'' किस कारण होती है?
5. ''ट्रालेस्स'' किसे कहते हैं?

## 12.7 सन्दर्भ पुस्तकें


(i) Human Physiology-Vander Sherman and Luciano

(ii) Principles of Anatomy and Physiology—G. J. Tortora and P. A. Anagnastokas

(iii) Preksha Yoga for Common Ailments—J.P.N. Mishra

(iv) प्राकृतिक आयुर्विज्ञान — डॉ. राकेश जिन्दल

(v) रोगों की सही चिकित्सा — डॉ. मन्जू नीरज एवं डॉ. नागेन्द्र नीरज


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# संवर्ग 4 मन–मस्तिष्क संचार सम्बन्ध एवं आरोग्यता

# इकाई : 13 – मनोशरीरक्रिया विज्ञान की प्रकृति, अर्थ, क्षेत्र एवं महत्त्वपूर्ण कार्य

**संरचना**


13.0 उद्देश्य
13.1 मनोशरीरक्रिया विज्ञान का परिचय
13.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
13.3 मनोशरीरक्रिया विज्ञान का अर्थ एवं परिभाषाएं
13.4 शारीरिक मनोविज्ञान की प्रमुख विशेषताएं
13.5 मनोशरीरक्रिया विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र
13.5.1 संवेदी कार्य
13.5.2 कार्यवाही क्रियाएं
13.5.3 संवेग तथा प्रेरणा का दैहिक विज्ञान
13.5.4 सीखना तथा स्मृति
13.5.5 बुद्धिमतापूर्ण व्यवहार
13.5.6 निद्रा तथा जागृतावस्था के आधार
13.6 मनोशरीरक्रिया विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता एवं लाभ
13.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
13.8 संदर्भ ग्रंथ


## 13.0 उद्देश्य

इस पाठ का अध्ययन करने के पश्चात् विद्यार्थी—

1. मन और शरीर के कार्य सम्बंधों को समझ सकेंगे।
2. मन और शरीर के कार्यक्षेत्रों का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
3. मनोशरीरक्रिया विज्ञान के अध्ययन के महत्त्व का आकलन एवं इसकी उपयोगिता का समुचित अध्ययन कर सकेंगे।

## 13.1 मनोशरीरक्रिया विज्ञान का परिचय

शरीर-विज्ञान का अध्ययन करने वाले शारीरिक अंगों की रचना और उसके कार्यों का अध्ययन करते हैं। वे विभिन्न प्रकार की संस्थान सम्बन्धी समस्याओं को अपने अध्ययन की प्रमुख सामग्री मानते हैं। जीव किस प्रकार भोजन को पचाता है, किस प्रकार रक्त में ऊर्जा का विलय होता है, किस प्रकार रक्त संचार के द्वारा सम्पूर्ण शरीर अपनी गतिविधि पूर्ण करता है, किस प्रकार अपने अंगों में रासायनिक परिवर्तन होते हैं और किस प्रकार पेशियां गति प्रदान करती हैं आदि उनके कार्यक्षेत्र होते हैं। जबकि मनोविज्ञान के अन्तर्गत जीव की सम्पूर्ण क्रियाओं से उत्पन्न होने वाले व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। मनोविज्ञान की अध्ययन सामग्री में सीखना, व्यक्तित्व, अभिप्रेरणा आदि विषय प्रमुख होते हैं, लेकिन दोनों विषयों के मध्य कोई विशेष सीमा क्षेत्र निश्चित नहीं है। मनोवैज्ञानिक शारीरिक क्रियाओं का अध्ययन अंशों में करते हैं, जैसे आंख के विभिन्न भागों की रचना और उसके कार्यों का अध्ययन जबकि शरीर-विज्ञान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

शास्त्री जीव की क्रियाओं का अध्ययन समग्र रूप में करते हैं। इस प्रकार शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान में जो अन्तर है वह केवल विधेयात्मक है। एक शरीर-शास्त्री नाड़ी-क्रियाओं की विद्युतीय रिकार्डिंग कर सकता है, नाड़ी-क्रियाओं से उत्पन्न होने वाले पदार्थों और ऊर्जा का अध्ययन कर सकता है तथा पाचन क्रिया में उत्पन्न होने वाले एन्जाइम्स (Enzymes) के प्रभाव का अध्ययन कर सकता है। इसी भांति एक मनोवैज्ञानिक सीखने सम्बन्धी क्रियाओं का मापन कर सकता है, पशुओं पर शारीरिक क्रियाओं के प्रभाव को मालूम कर सकता है, प्रमस्तिष्कीय कार्टेक्स के केन्द्रों का अध्ययन कर सकता है, आदि। कुल मिलाकर शरीर-विज्ञान शास्त्री और मनोवैज्ञानिक दोनों का मूल उद्देश्य तो एक ही होता है। वे दोनों ही कार्यात्मक अध्ययन में रुचि रखते हैं। शरीर- विज्ञान शास्त्री मानव की क्रियाओं को समझने के लिए जीव के अंगों की संरचना और उनके कार्यों का अध्ययन करता है, उसी प्रकार मनोविज्ञान मानव व्यवहार का अध्ययन करने के लिए उद्दीपक के साथ-साथ शारीरिक अंगों की संरचना और उनके कार्यों का अध्ययन करता है।

शरीर और मन दोनों ही व्यक्तित्व के अविभाज्य अंग होते हैं। किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के अध्ययन की दृष्टि से इन दोनों घटकों का अध्ययन न केवल सम्पूर्णता की ओर ले जाता है बल्कि उसकी सही स्थिति का आकलन करने में सहायक होता है। सामान्य रूप से मन की कोई रचना तो होती नहीं, मन का अध्ययन व्यवहार और व्यावहारिक कार्यों से ही किया जा सकता है। इस दृष्टि से शरीर क्रिया मनोविज्ञान का विस्तृत अध्ययन एवं विश्लेषण, स्वास्थ्य एवं व्यक्तित्व विकास के लिए आवश्यक प्रतीत होता है।

## 13.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रो. आर. के. ओझा ने अपनी पुस्तक "शारीरिक मनोविज्ञान" में लिखा है कि रेने डेकार्टे (1649) ने सर्वप्रथम व्यवहार के शारीरिक लेखे-जोखे को सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया। उसने पशुओं के ज्ञान-तंतुओं की यान्त्रिक क्रियाओं का कारणीयकरण (ascription) किया। परन्तु वह मनुष्य की विवेकात्मा से सम्बन्धित मानसिक क्रियाओं के विषय में कोई खोज नहीं कर सका। जेन स्वमरडम (1674) के द्वारा किये गये मांसपेशीय-खिंचाव (Muscular contraction) सम्बन्धी निरीक्षण और थोमस विलीज (1707) के द्वारा मस्तिष्क के विभिन्न भागों के क्षय सम्बन्धी किये गये शोध अध्ययन से लोगों को स्नायु सम्बन्धी परीक्षणात्मक कार्यों को समझने में बहुत अधिक सहायता मिली। जौन अनजर (1771) तथा जार्ज प्रोकस्का (1784) ने प्रतिवर्ती क्रिया (Reflex action) और मस्तिष्क के विभिन्न भागों के कार्यों का अध्ययन किया। इन दोनों ने ज्ञान के अर्थ को स्पष्ट व सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया। चार्ल्स बैल (1811) ने संवेदी और गतिवाही नाड़ियों का अन्तर स्पष्ट किया और पेरी फ्लोरेन्स (1824)ने स्नायु-संस्थान से सम्बन्धित क्रियाओं पर खोज की।

पॉल ब्रोका (1861) ने मानसिक आघातों के सम्बन्ध में बताया कि वाणी दोष के कारण मस्तिष्क के अगले भाग पर जोर पड़ता है, जिससे मानसिक आघात हो जाते हैं। जी. फ्रिट्श और ई. हिटजिंग (1870) ने मस्तिष्क के एक-सूत्रीय सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया व व्यवहार को स्नायु-क्रियाओं पर आश्रित बताया। साथ ही इन्होंने इस बात को भी स्पष्ट किया कि ऐच्छिक क्रियाओं (Voluntaty movements) से गतिवाही कार्टेक्स (Motor cortex) पर घात हो सकता है। इस प्रकार के वैज्ञानिक अनुसंधानों से स्नायु-संस्थान के अध्ययन में दिन दूनी और रात चौगुनी प्रगति होने लगी। तत्पश्चात् विलहेम वुण्ट (1874) ने शारीरिक मनोविज्ञान से सम्बन्धित प्रथम पुस्तक लिखी और परीक्षणों के लिए एक प्रयोगशाला की स्थापना की। वुण्ट का अधिकतर कार्य शरीरविज्ञान (Physiology) और मानव चिकित्सा से सम्बन्धित है। चार्ल्स एम. शैरिंगटन ने पुन: स्थापना के जटिल सम्बन्धों तथा परावर्ती में निषेध (Intricate relations of reinforcement and inhibition in reflexes) पर कार्य करके उनका विश्लेषण किया। रूस के प्रसिद्ध शारीरिक मनोवैज्ञानिक पैवलॉव तथा डब्ल्यू. वॉनबैक्ट्रैव ने परावर्ती सिद्धांत में सीखने की क्रिया और प्रमस्तिष्कीय क्रियाओं के योग को समझाया।

इस प्रकार से मानसिक क्रियाओं और व्यवहार का अध्ययन शारीरिक विषय के सम्पर्क में आकर धीरे-धीरे नया रूप धारण करने लगा। अठारहवीं शताब्दी में भौतिकवादियों ने डेकार्टे के मस्तिष्क-शरीर के पृथकीकरण सिद्धांत पर प्रहार किया। इन लोगों का कहना था कि पशु तथा मनुष्य के स्नायु संस्थान के कार्यों और रचना में समानता पायी जाती है, इसलिए पशुओं पर किये गये परीक्षणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मानसिक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और शारीरिक कार्य अलग-अलग नहीं होते हैं। एक समय तो ऐसा आया कि गोटफीड लिबनिट्ज (1765) द्वारा प्रस्तुत सर्वप्रथम मनोभौतिक सिद्धान्त (Phycho-physical parellelism) अत्यन्त लोकप्रिय हो गया और माना जाने लगा कि मस्तिष्क व शरीर आंशिक रूप से ही स्वतंत्र होते हैं। अत: इन दोनों के व्यवहारों का एक-दूसरे पर प्रभाव रहता है, परन्तु निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि मानसिक क्रियाओं का अत्यधिक हाथ रहता है।

समय व विचारों के प्रवाह-परिवर्तन ने इस प्रकार से शारीरिक विश्लेषण के द्वारा मस्तिष्क के विचित्र सिद्धान्त की जड़ें शीघ्रता से काटनी शुरू कर दी। वुण्ट तथा उसके अनुयायियों ने अनुभव की संवेदना तथा भावना में परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। ओसवाल्ड कूल्पे ने बताया कि विचारों का सम्मिश्रण तथा क्रियाओं का प्रभाव पूर्णरूप से अचेतन होता है, जिसे केवल अमानसिक क्रिया ही माना जा सकता है। इस प्रकार के शारीरिक अध्ययन से निष्कर्ष यह निकला कि मानसिक अवस्थाएं और क्रियाएं केवल शरीर के विभिन्न अंगों, जिनमें मस्तिष्क भी शामिल है, पर आधारित हैं तथा इस प्रकार के संगठन को मस्तिष्क की दैनिक कार्यप्रणाली से पृथक करके जीवित नहीं रखा जा सकता है। इसके थोड़े दिनों बाद मनोविज्ञान के क्षेत्र में भौतिक विज्ञान के आगमन से दैहिक विज्ञान की समस्याएं कुछ कम हो गयीं। मनोभौतिकी के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिकों ने उद्दीपक तथा संवेदना की मात्रा जानने का सफल प्रयत्न किया। इस प्रकार के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकला कि संवेदना की तीव्रता उद्दीपक की मात्रा की भिन्नता के साथ-साथ घटती तथा बढ़ती है, जिसका कोई न कोई स्थिर अनुपात (Constant ratio) अवश्य होता है। गैस्टाव फैकनर जिसने मापन सिद्धान्त का विकास किया, का विश्वास था कि उद्दीपक तथा अनुक्रिया में भी मात्रात्मक सम्बन्ध होता है। इस प्रकार से फैकनर का कार्य मनोभौतिक क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह सिद्धान्त आलोचना से परे था।

मनोशरीर क्रिया विज्ञान सर्वप्रथम स्नायुसंस्थान से सम्बन्धित था। फिर भी व्यवहार में शारीरिक क्रियाओं के प्रभाव पड़ने के दृष्टान्त देखने को मिलते थे, जिनकी जानकारी स्नायु कार्यप्रणाली की शब्दावली में अर्द्ध बीसवीं शताब्दी तक भी न मिल पायी। व्यवहार पर प्रभाव डालने वाली वस्तुओं व क्रियाओं के कुछ उदाहरण हैं, ऑक्सीजन की कमी, थकान, गहन आन्तरिक स्राव (Concentration of internal secretions), जीवन शक्ति की कमियां (Vital deficiencies) व नशीले द्रव्य (Toxic drugs) इत्यादि। इन सबका मानसिक और शारीरिक व्यवहार पर क्या फर्क पड़ता है, आज इस बात का अध्ययन किया जा सकता है तथा व्यावहारिक परिणामों को स्नायु-संस्थान के जाने बिना भी क्रियान्वित किया जा सकता है। अब शारीरिक मनोविज्ञान मुख्य रूप से इसी प्रकार के साधनों से सम्बन्धित हो गया है, जिसका प्रभाव दिखाई तो दिया परन्तु उसका पूर्ण अर्थ क्या था—इसकी व्याख्या न हो सकी। इस प्रकार, अन्त में यह कहा जा सकता है कि मनोशरीरक्रिया विज्ञान कई स्रोतों व साधनों का सम्मिश्रण है, जैसे—जीव-रसायनिक विज्ञान (Bio-Chemistry), शारीरिक रचना शास्त्र (Anatomy), शरीरक्रिया विज्ञान (Physiology), नैदानिक नाड़ी शास्त्र (Clinical neurology), मनोविज्ञान (Psychology) तथा मनोचिकित्सा (Psychiatry), जिनका कार्य व्यवहार से सम्बन्धित समस्याओं के सम्भव कारणों का पता लगाना व उपचार करना है।

अत: उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट है कि मनोशरीरक्रिया विज्ञान का जन्म केवल एक शताब्दी पूर्व शरीर विज्ञान से हुआ क्योंकि कुछ शरीर शास्त्री मस्तिष्क कार्यों के अध्ययन में रुचि रखते थे, अतएव उनके लिए मानवीय व्यवहार को समझना तथा विभिन्न मस्तिष्क भागों में दोष आने के कारण व्यवहार परिवर्तन का अध्ययन करना ही उद्देश्य था। अतएव शनै:-शनै: शारीरिक मनोविज्ञान का जन्म हुआ, वैबर फैकनर, हैल्महोज आदि के कार्यों को भी इसी क्षेत्र के अन्तर्गत रखा गया। सन् 1874 में वुण्ट की पुस्तक 'प्रिंसीपल ऑफ फिजियोलोजीकल साइकोलोजी' का प्रकाशन हुआ जिसमें कि संवेदना, मस्तिष्क के कार्यों एवं अन्य क्षेत्रों को शामिल किया गया। इसके ऐतिहासिक विकास के संदर्भ में हार्थवे (1942) लिखते हैं, ''शारीरिक मनोविज्ञान कोई भिन्न विज्ञान नहीं है बल्कि जैसा कि इसके नाम से इंगित है, यह दो आधारभूत सदृश विज्ञानों—शरीर विज्ञान तथा मनोविज्ञान के मध्य एक कड़ी है। जेम्स ड्रेवर (1952) के शब्दों में ''शारीरिक मनोविज्ञान या मनोशरीरक्रिया विज्ञान ऐतिहासिक रूप से प्रकृति एवं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अध्ययन में प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के सदृश है, आज इस विषय को प्राय: मनोविज्ञान एवं नाड़ी शास्त्र के मध्य का सीमा-प्रदेश (Borderland) समझा जाता है।''

## 13.3 मनोशरीर क्रियाविज्ञान का अर्थ एवं परिभाषाएं

मनोशरीर क्रियाविज्ञान वह विज्ञान है जो व्यवहार से सम्बन्धित तथा शरीर के विभिन्न अंगों से सम्बन्ध रखने वाली मानसिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। इसके इस स्वरूप में मुख्यत: दो बातें पाई जाती हैं, जिनके स्वभाव की भिन्नता के कारण इस विज्ञान की परिभाषा अन्य विज्ञानों की अपेक्षा अधिक जटिल हो जाती है। यह दो बातें हैं—(अ) व्यवहार तथा (ब) शरीर के विभिन्न अंगों से सम्बन्धित मानसिक प्रतिक्रियाएं। व्यवहार चाहे कैसा भी क्यों न हो वह सदैव मांसपेशीय कार्यशीलता से निर्मित होता है। यहां तक कि बोलना व विचारों के संप्रेषण (Transmission) के तौर तरीके भी पेशीय-कार्यशीलता पर आधारित होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यवहार शरीर के किसी विशिष्ट अंग की क्रिया से सम्बन्धित होता है। दूसरी ओर मानसिक स्थिति तथा शारीरिक क्रिया के सह-संबंध के अध्ययन ने बहुत से अध्ययनकर्ताओं के सामने अनेक प्रकार की समस्याएं उत्पन्न कर दी हैं। आज मस्तिष्क शरीर के सम्बन्ध की समस्या मनोदर्शनात्मक परिकल्पना का विषय बन रही है, जिसने निश्चय ही मनोविज्ञान के क्षेत्र में होने वाली गवेषणाओं को प्रभावित किया है। मनोशरीर क्रिया विज्ञान अंग्रेजी शब्द फिजियोलॉजिकल साइकलॉजी (physiological psychology) का पर्याय है, और दोनों का अभिप्राय एक ही है। अत: इसे इसके बहुप्रचलित नाम शारीरिक मनोविज्ञान के रूप में अध्ययन करना ज्यादा सहज एवं सर्वग्राह्य है। परिभाषा देने में पहले इन दोनों शब्दों के वैज्ञानिक अर्थ को समझ लेना चाहिए। शरीर विज्ञान (physiology) जीव विज्ञान की एक शाखा है, जिसके द्वारा जीव और मनुष्य के विभिन्न अंगों और तन्तुओं की रचना और उनके कार्यों का अध्ययन किया जाता है। मनोविज्ञान के द्वारा जीव और मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। शारीरिक मनोविज्ञान की परिभाषा दोनों विज्ञान की परिभाषाओं से मिलकर अपना स्वरूप व्यवस्थित करती है। इसलिए मनोविज्ञान की परिभाषा देने के लिए इन दोनों विषयों (शरीर विज्ञान तथा मनोविज्ञान) को एक साथ मिला दिया जाए और यह देखा जाए कि किस प्रकार मनुष्य की कार्य विधियां उसकी शारीरिक और व्यवहारात्मक व्यवस्था से सम्बन्धित हैं।

## 13.4 शारीरिक मनोविज्ञान की प्रमुख विशेषताएं

यह पहले ही बताया जा चुका है कि आंगिक क्रियाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान शरीर-विज्ञान तथा व्यवहार एवं अनुभव का अध्ययन करने वाला विज्ञान मनोविज्ञान कहलाता है। इन दोनों का समन्वय करते हुए मार्गन एवं स्टैलर (1950) ने शरीर विज्ञान को आंगिक कार्यों का विज्ञान माना जिसका सम्बन्ध शरीर के अंगों और तंतुओं की प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करना है तथा मनोविज्ञान को मानव व्यवहार का विज्ञान माना है जिसके अन्तर्गत यह अध्ययन किया जाता है कि व्यक्ति एवं पशु किस प्रकार अपने पर्यावरण के साथ समायोजन स्थापित करता है। समन्वय करने के पश्चात् इन दोनों विद्वानों ने शारीरिक मनोविज्ञान की परिभाषा इस प्रकार दी है—''शारीरिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत विषयों—शरीर विज्ञान एवं मनोविज्ञान को मिश्रित कर यह अध्ययन किया जाता है कि किस प्रकार शारीरिक क्रियाएं व्यवहार सम्बन्धी समायोजन से सम्बन्धित होती हैं।'' (In physiological phychology, two subjects-physiology and psychology put together and see how the physiological processes of the body are related to behavioural adjustments"—Morgan and Steller) अर्थात् मार्गन एवं स्टैलर के अनुसार, शारीरिक मनोविज्ञान के द्वारा जीव के उस व्यावहारिक समायोजन का अध्ययन किया जाता है, जिनका नियन्त्रण एवं संचालन आंगिक क्रियाओं के द्वारा होता है।

**वैन्गर तथा जोन्स** ने शारीरिक मनोविज्ञान की परिभाषा को अत्यन्त ही सूक्ष्म रूप में स्पष्ट किया है। उनके विचारों में, शारीरिक मनोविज्ञान आंगिक प्रक्रियाओं और व्यवहारों के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन है।'' ("Physiological psychology is the study of relationship between bodily processes and behaviour.") अर्थात् वैन्गर एवं जोन्स के अनुसार शारीरिक मनोविज्ञान के अन्तर्गत आंगिक क्रियाओं तथा व्यवहार के मध्य सम्बन्ध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ों का अध्ययन किया जाता है किन्तु यह मानव को एक इकाई मानकर चलता है, अत: मानव के पूर्ण व्यवहार का अध्ययन करना आवश्यक है।

इस संदर्भ में सबसे उपयुक्त परिभाषा फ्रीमेन (1940) की प्रतीत होती है। उसके अनुसार, ''समन्वित व्यवहार एवं जीव की आंगिक प्रक्रियाओं के मध्य सम्बन्ध का अध्ययन शारीरिक मनोविज्ञान द्वारा किया जाता है।'' ("Physiological psychology is the study of relationship between integrated behaviour and the bodily processes of the intact organism."—Freeman) अर्थात् शारीरिक मनोविज्ञान सम्पूर्ण प्राणी की शारीरिक प्रक्रियाओं एवं संगठित व्यवहार के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन है। यहां कुछ मुख्य बातें यह है कि यह सम्पूर्ण प्राणी की शारीरिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है एवं इन प्रक्रियाओं का सम्बन्ध व्यवहार की उच्चतम स्थिति, अर्थात् तंत्रिका तंत्र के साथ जोड़ता है। चूंकि व्यवहार की उच्चतम स्थिति, जिसे संगठित व्यवहार कहा जाता है, केवल नाड़ीय संस्थान पर आधारित है, इसलिए मानव के अन्य संस्थान यथा-पाचन संस्थान का अध्ययन नहीं करता है। संक्षिप्त रूप से इस परिभाषा को संरचना कार्यात्मक सम्बन्ध (Structure-functional relationship) के रूप में रखा जा सकता है अर्थात् शारीरिक मनोविज्ञान शरीर की संरचना और कार्यों के सम्बन्धों का अध्ययन भी करता है।

ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार, ''शारीरिक मनोविज्ञान वह विज्ञान है जो व्यवहार तथा मानसिक क्रियाओं का शरीर के विभिन्न अंगों की शारीरिक क्रियाओं से सम्बंध स्थापित करता है।'' शारीरिक मनोविज्ञान के द्वारा तंत्रिका तंत्र (N.S.) की कार्यप्रणाली का अध्ययन किया जाता है, जो कि मानव व्यवहार, चेतना एवं अन्त:स्रावी ग्रन्थियों को संचालित करती रहती हैं। बोलना, विचारों को प्रकट करना यह क्रियाएं भी व्यवहार का ही रूप हैं। इस व्यवहार के साथ बहुत-सी आंगिक क्रियाएं भी होती हैं जैसे बोलते समय मुख-मुद्रा और हाथों आदि अंगों को चलाना, चेहरे से गम्भीरता का आभास होना इत्यादि। इसी प्रकार मनुष्य की प्रत्येक मानसिक स्थिति और क्रिया का सम्बन्ध उसकी शारीरिक क्रिया से होता है। ऐसी बहुत सी समस्याओं का अध्ययन करना शारीरिक मनोविज्ञान का मूल उद्देश्य है।

निष्कर्ष हेतु परिभाषा सम्बन्धी निचोड़ के संदर्भ में यह कह सकते हैं कि शारीरिक मनोविज्ञान एक ऐसा अध्ययन शास्त्र है, जिसके अन्तर्गत उन सभी समस्याओं का अध्ययन किया जाता है, जो मनुष्य के व्यवहार और शारीरिक गतिविधियों के आपसी संबंध के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती हैं।

## 13.5 मनोशरीरक्रिया विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र

शारीरिक मनोविज्ञान की समस्याएं प्राय: शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान की साझी और सम्मिलित समस्याओं से मिलती-जुलती होती हैं। समस्याओं के अध्ययन से शारीरिक मनोविज्ञान के विषय-क्षेत्र में पूरी जानकारी हो जाती है। इसलिए इस भाग के अन्तर्गत शारीरिक मनोविज्ञान की महत्त्वपूर्ण समस्याओं का वर्णन किया जा रहा है।

यह बात निश्चित है कि मनोविज्ञान का अध्ययन करने वाले अध्येता प्राय: शारीरिक मनोविज्ञान में कम ही रुचि लेते हैं, जिसके कारण उनका ज्ञान सीमाबद्ध बना रहता है। इसके साथ-साथ शारीरिक मनोविज्ञान का ज्ञान तब तक पूर्ण नहीं कहा जा सकता जब तक कि इस विषय के साथ-साथ शरीर-रचना (Anatomy), शरीरक्रिया (Physiology), और जीव-रसायन (Bio-chemistry) जैसे विषयों का अध्ययन न किया गया हो।

शारीरिक मनोविज्ञान का अध्ययन करने से पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि संक्षेप में मनुष्य की शारीरिक रचना और उसकी कार्य-प्रणाली का ज्ञान प्राप्त कर लिया जाए, अर्थात् किस प्रकार आन्तरिक वातावरण शारीरिक कार्य-प्रणाली को प्रभावित करता है और अनुक्रिया यन्त्र का क्या महत्त्व है। अनुक्रिया यंत्र (response mechanism) के अन्तर्गत ज्ञानेन्द्रियों (sense organs), नाड़ियों (nerves), तंत्रिका तंत्र nervous system) तथा पेशियों और ग्रन्थियों (muscles and glands) का अध्ययन किया जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## 13.5.1 संवेदी कार्य (Sensory functions)

इस भाग के अन्तर्गत ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित समस्याओं और उनके कार्यों का अध्ययन किया जाता है। साथ ही साथ तुलनात्मक अध्ययन के लिए आवश्यक हो जाता है कि मनुष्य और पशु किस प्रकार विभिन्न संवेदी-उद्दीपकों (Sensory stimuli) के अन्तरों को पहचानते हैं और किस रूप में यह उन्हें प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार के अध्ययन द्वारा संवेदी तंत्रों के तथ्यों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। जैसे किस प्रकार ज्ञानेन्द्रियां कार्य करती हैं और किस प्रकार की उनकी संरचना है, कौन-कौनसी संवेदी नाड़ियां इन ज्ञानेन्द्रियों से निकलती हैं और वे मस्तिष्क के किस केन्द्र में जाकर समाप्त होती हैं और किस प्रकार मस्तिष्क के केन्द्र, आन्तरिक परिवेश की बदलती दशाओं से प्रभावित होते रहते हैं। इस ज्ञान के पश्चात् प्रयोगों की सहायता से यह देखना चाहिए कि यदि पशु के मस्तिष्क में दृष्टि सम्बन्धी केन्द्र (Visual centre) को समाप्त कर दिया जाय तो वह बाहरी वस्तुओं को क्यों नहीं देख पाता और उसे किसी भी प्रकार का प्रत्यक्षीकरण क्यों नहीं होता? इस प्रकार संवेदी कार्यों के अध्ययन द्वारा यह मालूम पड़ता है कि किस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाओं का संबंध संवेदी तंत्र से होता है और जीव के व्यवहार के उद्गम का स्रोत क्या होता है।

संवेदना की विशेषताओं से सम्बन्धित चार पक्ष होते हैं—मात्रा (Intensity), गुण (Quality), विस्तार (Space) और समय (Time)। उद्दीपक की इन चार विशेषताओं को समझने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जैसे कभी प्रकाश की तीव्रता का अनुभव होता है तो कभी धुंधलेपन का, कभी रेडियो की ध्वनि तीव्र सुनाई देती है और कभी मन्द। इसी प्रकार शरीर के किसी भाग में होने वाली पीड़ा का अनुभव कभी बहुत होता है और कभी-कभी बहुत कम। संवेदना के इस अन्तर को संवेगात्मक मात्रा कहा जाता है। मात्रा की भांति उद्दीपकों के गुण होते हैं। प्रकाश लाल, हरा, पीला, नीला आदि किसी भी रंग का हो सकता है। यदि एक सुई किसी एक अंगुली में छुआई जाय तो कभी दबाव का अनुभव होगा और कभी पीड़ा का। दबाव और पीड़ा का गुणात्मक भेद होगा जिसे उद्दीपक का गुण कहा जाएगा। प्रत्येक वस्तु की अपनी एक आकृति, आकार और स्थिति होती है, जो उसके विस्तार (space) का आभास कराती है। अन्त में, उद्दीपक का समय देखा जाता है, अर्थात् उद्दीपक कितने समय तक दिया गया।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि प्रत्येक प्रकार की संवेदना का अनुभव ज्ञानेन्द्रियों से होता है। जैसे प्रत्यक्षीकरण नेत्रों द्वारा, सुनने का अनुभव कानों द्वारा, स्वाद का अनुभव जिह्वा द्वारा, गंध का अनुभव नाक द्वारा और स्पर्श संबंधी अनुभव त्वचा द्वारा। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया जाना बहुत आवश्यक है।

ज्ञानेन्द्रियों के अध्ययन के साथ-साथ मस्तिष्क, तंत्रिका तंत्र आदि नाड़ियों का अध्ययन भी शारीरिक मनोविज्ञान की प्रमुख समस्या है। किसी विशेष क्रिया के क्या कारण हैं, किस परिस्थिति में वह असामान्य हो जाती है और किस प्रकार आन्तरिक वातावरण उसे प्रभावित करता है, आदि का अध्ययन भी इसी समस्या के अन्तर्गत किया जाता है।

## 13.5.2 कार्यवाही क्रियाएं (Motor functions)

जिस प्रकार संवेदनात्मक क्रियाओं का ज्ञानेन्द्रियों के अनुसार वर्गीकरण कर दिया जाता है, उसी प्रकार कार्यवाही क्रियाओं का संचालकों (Effectors) के अनुसार वर्गीकरण करना कठिन है। इसलिए कार्यवाही क्रियाओं की गति और अनुक्रिया (Response) का वर्गीकरण करना भी एक कठिन समस्या है, क्योंकि अनुक्रिया यन्त्र मस्तिष्क में पाई जाने वाली संवेदी और चालक नाड़ियों के केन्द्र एवं अभिवाही और अपवाही न्यूरोन (Afferent and efferent neuron) तथा संवेदना के किसी संवेदी और कार्यवाही रास्ते (Sensory and motor pathways) आपस में इतने निकट और एक-दूसरे से संबंधित हैं कि अलग-अलग उनके कार्यों का अध्ययन करना कठिन-सा लगता है।

शरीर रचना शास्त्रियों और स्नायुविशेषज्ञों के अनुसार इस समस्या के अन्तर्गत विभिन्न क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। उदाहरण के लिए प्रतिवर्ती क्रियाएं (Reflexes) जो कि एक प्रकार से स्वयं होने वाली क्रियाएं होती हैं। एक और प्रकार की अनुक्रियाएं होती हैं जो कम स्वचालित होती हैं, जिनकी प्रकृति में सामंजस्य पाया जाता है। जैसे घूमना, दौड़ना, तैरना और प्रहस्तन। संवेगात्मक अनुक्रियाओं के क्या कारण हैं और उनका मस्तिष्क एवं शारीरिक अंगों से क्या संबंध है, इसका अध्ययन इस समस्या के अन्तर्गत किया जाता है। प्रतिवर्त (Reflex) और सामान्य सिद्धांत का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कार्यवाही संस्थान का अध्ययन करते हैं जिसके

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अन्तर्गत पेशी (Straited muscle) केन्द्र और स्नायु-संस्थान के सुषुम्ना के मेरुदण्ड तक के मार्ग आते हैं। संक्षेप में इस समस्या के अन्तर्गत हमें निम्नलिखित पक्षों का अध्ययन करना होता है—(क) नाड़ी-पेशीय सम्बन्ध (Neuro-muscular relations (ख) मेरुदण्डीय यन्त्र क्रियाविधि (Spinal mechanism) (ग) मस्तिष्क के कार्यवाही या चालक संस्थान—(i) सूच्याकार चालक संस्थान (The pyramidal motor system), (ii) अतिरिक्त सूच्याकार संस्थान (The extra-pyramidal system), (घ) अन्य बाह्य चालक संस्थान (Other cortical motor system)।

## 13.5.3 संवेग तथा प्रेरणा का दैहिक विज्ञान (Physiology of emotion and motivation)

संवेग की स्थिति में हमें प्राय: बाह्य शारीरिक परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। सामान्य रूप से हृदय गति व श्वास क्रिया में परिवर्तन आ जाता है। त्वचा सुर्ख हो जाती है, रक्तचाप घट या बढ़ जाता है तथा मांसपेशियों में गतिरोध या अकड़न पैदा हो जाती है। संवेगों के बारे मे विलियम जेम्स का विचार था कि संवेगात्मक स्थिति शारीरिक परिवर्तनों से उत्पन्न होती है। इस सम्बन्ध में विशिष्ट संवेगों का अध्ययन किया गया है, जिससे जेम्स के विचार की सत्यता किसी हद तक प्रमाणित होती है। अन्य लोगों ने भी इस दिशा में खोज की है। हंसना, रोना जो कि शायद सर्वाधिक सामान्य व जटिल प्रकार की अभिव्यक्तियां हैं, पर भी शोधकार्य किये गये हैं जिनसे पता चलता है कि इनमें भी किसी विशेष प्रकार की मांसपेशियों की क्रिया सन्निहित होती है। यह बात जेम्स के सिद्धांत के विरुद्ध की गयी आलोचना का स्पष्टीकरण है। विभिन्न गवेषणाओं से एकत्रित की गयी सामग्री से पता चलता है कि संवेग स्नायु-संस्थान से उत्पन्न हुई दशाओं का परिवर्तित बाह्य रूप हैं। वाल्टर बी. कैनन ने एक नये सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उसका कहना था कि तीव्र संवेग की स्थिति में प्रयुक्त शारीरिक परिवर्तन से उद्यमी क्रिया उत्पन्न होती है जो एक प्रकार से ऊर्जा चंचलता (Energy mobilization) का प्रारम्भिक रूप है। हाइपोथैलेमस का कार्य तथा अन्य नाड़ी रचना का कार्य इससे सम्बन्धित विषय शीर्षक में पूर्ण रूप से समझाया गया है।

संवेगात्मक मनोवृत्तियां व्यवहार की मनोवृत्ति पैदा करने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसलिए संवेगों, इससे सम्बन्धित समस्याओं तथा रुचि व प्रेरणा का अध्ययन इस समस्या के अन्तर्गत किया जाता है। अभी तक संवेग की समस्याएं पूर्ण रूप से शरीर विज्ञान की समस्याएं नहीं हो पायी हैं। अभी तक भूख, प्यास व कामेच्छा और इसी प्रकार के प्रधान प्रोत्साहक (Incentives) का अध्ययन ही शारीरिक मनोविज्ञान की विशेष सामग्री के अन्तर्गत आ पाया है। इस प्रकार के अध्ययन में बहुत-सी व्यावहारिक क्रियाओं का पता चलता है, जैसे विशिष्ट रासायनिक प्रभाव, कामेच्छा या निम्न श्रेणी के पशुओं के हार्मोन्स से उत्पन्न प्राकृतिक व्यवहार की प्रत्यक्ष क्रिया, रक्त में शर्करा की कमी के कारण और विभिन्न प्रकार की क्रियाएं जो स्नायु-संस्थान पर अपना प्रभाव डालती हैं। इस प्रकार इस समस्या के अन्तर्गत हम मनुष्य के प्रेरणात्मक एवं संवेगात्मक व्यवहार का अध्ययन करते हैं और निरीक्षण करते हैं कि कहां तक ये क्रियाएं मनुष्य की शारीरिक रचना और विभिन्न कार्य प्रणालियों से सम्बन्धित हैं।

## 13.5.4 सीखना तथा स्मृति (Learning and memory)

सीखने की क्रिया के अन्तर्गत जो स्नायु-संस्थान में परिवर्तन होते हैं, उनसे कई समस्याएं व शंकाएं पैदा हो गयी हैं, जिनका अध्ययन भी शारीरिक मनोविज्ञान ने किया है। इन कई शंकाओं में से एक शंका उस सिद्धान्त के सम्बन्ध में है कि सीखने की क्रिया स्नायु कोष्ठों के विकास के सिद्धान्त से सम्बन्धित है जिसके अनुसार स्नायु कोष्ठ दूसरे कोष्ठों द्वारा एकत्रित किये गये रसायन को छिपाये गये भाग से अलग कर देते हैं। यह क्रिया चोरी-छिपे ही हुआ करती है। परन्तु इस सिद्धांत के पक्ष या विपक्ष में कोई ठोस प्रमाण नहीं मिल सके। शारीरिक अध्ययन के विषय की अभी तक खोज नहीं हो पायी है। आयु, लिंग, प्रेरणाओं की सामर्थ्य, आहारी तथा अन्त:स्रावी कमियां, थकान, द्रव्य तथा स्नायु-संस्थान के विभिन्न संघातों से जो प्रभाव पड़ता है उन सब पर काफी खोज की जा चुकी है। यद्यपि इसके परिणाम स्पष्ट न होकर जटिल ही निकले हैं और कोई भी सामान्य या समुचित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सका है,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अलावा इसके कि कोई भी स्रोत-सूत्र जो विकास या ह्रास में सहायता प्रदान करता है वह मस्तिष्क के सामान्य रासायनिक परिवर्तनों के सीखने की क्रियाओं में ढील डाल देता है जिससे स्मृति धूमिल पड़ जाती है।

किस प्रकार से सीखने और स्मृति की क्रियाएं मनुष्य के मस्तिष्क से संचालित होती हैं और वह किस प्रकार मस्तिष्क और शरीर से सम्बन्धित है, इसका अध्ययन इस समस्या के अन्तर्गत किया जाता है।

---

**बोध प्रश्न 1:**

---

*1. मनोशरीरक्रियाविज्ञान की पृष्ठभूमि बताएं।*

*2. संवेदी कार्य क्या हैं?*

## 13.5.5 बुद्धिमतापूर्ण व्यवहार (Intelligent behaviour)

शारीरिक अध्ययन मुख्यत: आक्रामक विचारों की अव्यवस्था और अपसामान्य या वैचारिक दशाओं से उत्पन्न व्यवहार तक ही सीमित है। वे स्रोत, जो मस्तिष्क के विकास में बाधा उत्पन्न करते हैं या ढील डालते हैं, जैसे कुछ विरोधी दशाओं में एक्स-किरणों (X-rays) के पड़ने से या बचपन में थाइराइड के विकास की कमी से, मानसिक विकास में बाधा पड़ती है। मादक द्रव्यों के सेवन से कुछ विशिष्ट प्रकार के मानसिक लक्षण पैदा हो जाते हैं, जैसे भिन्न-भिन्न प्रकार के विष देकर मार डालने के प्रयत्नों के द्रव्य का उत्पन्न होना या हर समय मादक पदार्थों के सेवन करने का भूत सवार होना इत्यादि। इसके अतिरिक्त विचारों की अकर्मण्यता, ढीलापन और शरीर में शिथिलता का होना इत्यादि भी हो सकता है। मानसिक व्याघातों से बौद्धिक दोष उत्पन्न हो जाते हैं जिनमें से कई तो गम्भीर रूप धारण कर लेते हैं। उदाहरण के लिए, हल्की सी भूल की दशा में शब्दों का न मिलना, जिसके कारण सटपटाहट का पैदा होना या मानसिक स्तर का गिर जाना अथवा किसी कार्य को पहले ही आंपने या उसका निर्णय देने में कमी का होना इत्यादि। छोटे परन्तु तीखे आघातों से भी विशेष प्रकार के दोष उत्पन्न हो सकते हैं जैसे क्रियाशील व्यवहार का अत्यन्त जटिल हो जाना। शारीरिक विज्ञान ने इन सब बातों के कारणों का पता लगाने व विश्लेषण करने में अपेक्षाकृत कम प्रगति की है, अत: इस दिशा में और अधिक कार्य करने की आवश्यकता है। इस कारण हमें इस समस्या के अन्तर्गत बौद्धिक पक्षों का दैहिक विज्ञान के दृष्टिकोण से अध्ययन करना बहुत आवश्यक है।

## 13.5.6 निद्रा तथा जागृतावस्था के आधार (The basis of sleep and activity)

विश्राम, निद्रा तथा कार्य के सुहावने घण्टे उच्चकोटि के प्राणियों के सामान्य गुण हैं। मस्तिष्क के कुछ विशिष्ट अंगों के क्षय से निद्राभ्रमण (Somnambulism) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिससे व्यक्ति को कई बार कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इससे यह पता चलता है कि इन निचले केन्द्रों की पुनरावृति से सामान्य कार्य-प्रणाली स्थिर हो सकती है। ऐसे समय में यदि संकेत ठीक हैं तो भी सामान्य निद्रा की स्थिति में पुनरावृत्ति का दूर होना आवश्यक है। थकान का होना निद्रा का कारण माना गया है, परन्तु इसके प्रभाव का अभी तक निरीक्षण नहीं किया जा सका है। संवेदी उत्तेजनों में कमी व कार्य करने की सुन्दर आदत को निद्रा आव्हान का महत्त्वपूर्ण कारण माना गया है।

कई शारीरिक परिवर्तन जैसे विभिन्न अन्त:स्रावी ग्रन्थियों का कार्य-स्तर का सामान्य कार्य करने की क्रिया को सरल बना देने में सहायता करता है। इनका कार्य नाड़ी कोष्ठकों की जीव-रस क्रिया में परिवर्तन पैदा कर देना है, परन्तु अभी तक इसके बारे मे पूर्ण ज्ञान उपलब्ध नहीं हो सका है। इसलिए शारीरिक मनोविज्ञान में निद्रा तथा अन्य शारीरिक कार्यों के आधार जैसी समस्याओं का अध्ययन किया जाना बहुत आवश्यक है।

# 13.6 मनोशरीरक्रिया विज्ञान के अध्ययन की उपयोगिता एवं लाभ

मनोशरीरक्रिया विज्ञान का अध्ययन क्षेत्र इतना विस्तृत है कि इसके अन्तर्गत शरीर और मन दोनों के कार्य-व्यवहार का आकलन एवं नियोजन किया जा सकता है। शारीरिक क्रियाओं के कार्यक्षेत्र को कोशिकीय, ऊतकीय, अंगीय एवं तंत्रीय स्तरों में विभाजित किया जा सकता है। ये सारे स्तर अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं। इसके

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अतिरिक्त समस्त शारीरिक गतिविधियों को मस्तिष्क एवं जैवरासायनिक वर्गों में बांटा जा सकता है। स्थिति यह है कि इनमें से किसी एक के अव्यवस्थित हो जाने से उसका प्रभाव स्पष्ट रूप से हमारे व्यक्तित्व और व्यवहार पर पड़ता है। शारीरिक संरचना के रूप में मस्तिष्क और अन्त:स्रावी ग्रन्थियों से निकलने वाले हार्मोन्स इन समस्त गतिविधियों का नियमन करते हैं। मन का स्वरूप अनिश्चित होते हुए भी समस्त शारीरिक, यांत्रिक एवं जैव रासायनिक क्रियाओं पर मन का प्रभाव एवं हस्तक्षेप स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। मन द्वारा कतिपय शारीरिक क्रियाओं के नियोजन का अध्ययन आप इसी पत्र में करेंगे। अत: यह कहा जा सकता है कि यदि समूचे व्यक्तित्व के स्वरूप, उसमें होने वाले परिवर्तनों, उसके विकास तथा उसके उत्कर्ष की विशिष्टताओं की जानकारी प्राप्त करनी हो तो शरीर और मन दोनों घटको की क्रियाओं एवं इनके अन्त:सम्बन्धों का अध्ययन आवश्यक होता हैं। मनोशरीरक्रिया विज्ञान का अध्ययन इस दिशा में एक प्रभावकारी कदम सिद्ध होता है। यही उसके अध्ययन का मुख्य लाभ भी है।

## 13.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

### I निबंधात्मक प्रश्न

1. मनोशरीरक्रिया विज्ञान के सिद्धांतों का विवरण दीजिए।
2. मनोशरीरक्रिया विज्ञान के प्रमुख अध्ययन क्षेत्र कौन-कौन से हैं?

### II लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. मनोशरीरक्रिया विज्ञान की दो प्रमुख परिभाषाएँ दीजिए।
2. कार्यवाही क्रियाओं से क्या आशय है?

### III वस्तुनिष्ठ प्रश्न—एक वाक्य में उत्तर लिखें:—

1. मनोशरीरक्रिया विज्ञान को परिभाषित करने वाले महत्त्वपूर्ण व्यक्ति का नाम बताइये।
2. मनोशरीरक्रिया विज्ञान में जीव विज्ञान की किन दो शाखाओं का अध्ययन प्रमुखता से किया जाता है, नाम बताइये।

## 13.8 संदर्भ पुस्तकें


1. आधुनिक शारीरिक मनोविज्ञान-प्रो. आर. के. ओझा
2. Physiological Psychology—C.T. Morgsn and E. Steller
3. Physiological Psychology—G.L. Freeman


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई : 14 संवेगात्मक एवं अभिप्रेरणात्मक व्यवहार की दैहिकी

**संरचना**


14.0 उद्देश्य

14.1 संवेगात्मक व्यवहार की दैहिकी

14.1.1 संवेग एक चेतना के रूप में

14.1.2 संवेग व्यवहार के रूप में

14.1.3 संवेगीय अनुभव

14.1.4 संवेग एक मानसिक एवं शारीरिक घटना के रूप में

14.1.5 हम संवेग से क्यों ग्रस्त हैं?

14.1.6 संवेग की प्रकृति और आयाम

14.2 संवेग का सिद्धान्त

14.2.1 सामान्य ज्ञान का सिद्धान्त

14.2.2 जेम्स लांगे का परिधीय संवेग का सिद्धान्त

14.2.3 कैनन तथा वार्ड का सिद्धान्त

14.2.4 वाटसन का व्यवहारिक सिद्धान्त

14.2.5 संवेगों का स्वचालित प्रत्युत्तर सिद्धान्त

14.2.6 पेपज मेकलिन संवेग सिद्धान्त

14.3 संवेगात्मक व्यवहार के शारीरिक एवं स्नायुविक आधार

14.3.1 अन्त:स्रावी ग्रन्थियां

14.3.2 स्वचालित तन्त्रिका तंत्र

14.3.3 मैड्यूला

14.3.4 मध्य मस्तिष्क

14.3.5 लघु थैलेमस

14.3.6 प्रमस्तिष्कीय कार्टेक्स

14.4 संवेग और प्रेक्षाध्यान

14.5 अभिप्रेरणात्मक व्यवहार

14.5.1 जैविक अभिप्रेरक

14.6 जन्मजात आधारभूत प्रेरणात्मक स्थितियां

14.6.1 भूख

14.6.2 प्यास

14.6.3 ऑक्सीजन

14.6.4 दबाव-तनाव की स्थितियां

14.6.5 तापक्रम

14.6.6 काम

14.6.7 अभिप्रेरणा की समस्थिति

14.6.8 मनोवैज्ञानिक अभिप्रेरक

14.6.8.1 प्रेम


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

14.6.8.2 आत्म गौरव
14.6.8.3 सामाजिक अनुमोदन
14.6.8.4 पर्याप्तता एवं कुशलता
14.6.8.5 सुरक्षा
14.7 अभ्यासार्थ नमूने प्रश्न
14.8 संदर्भ ग्रंथ

## 14.0 उद्देश्य

(1) संवेग की अवधारणा को समझ सकेंगे।
(2) अभिप्रेरणा की प्रक्रिया को जान सकेंगे।
(3) संवेग और अभिप्रेरणा की स्थितियों में शरीर के अन्दर होने वाले परिवर्तनों को समझ सकेंगे तथा उसका अनुभव कर सकेंगे।

## 14.0 संवेगात्मक व्यवहार की दैहिकी

संवेग वह मानसिक अवस्था है जिसमें व्यक्ति (प्राणी) अति तीव्रता से उत्तेजित हो उठता है। इस प्रकार से उत्तेजित मानसिक अवस्था के समय व्यक्ति (प्राणी) का व्यवहार एवं व्यक्तित्व अस्त-व्यस्त हो जाता है तथा विभिन्न शरीर के विभिन्न अंग विशेष प्रकार से अपना कार्य करने लगते हैं। अर्थात् संवेग की स्थिति में मानव शरीर एवं मस्तिष्क के विभिन्न अंग प्रभावित होकर कुछ विशेष प्रकार के कार्य करते हैं। यही नहीं, संवेग से प्रभावित व्यक्ति को अपनी मानसिक अवस्था के उत्तेजित होने का अनुभव भी होता है।

संवेग एक प्रेरित व्यवहार है जिसमें (मानवों में) उच्च प्रकार की चेतना विद्यमान होती है और उसमें आकर्षण एवं विकर्षण व्यवहार परिलक्षित होता है और सम्पूर्ण केन्द्रीय स्नायु मण्डल में स्वतंत्र क्रियाएं तथा विस्तृत क्रियाएं होती हैं। उदाहरण के लिए भय, क्रोध एवं आनन्द के संवेगों में उच्चस्तरीय प्रेरणा निहित होती है तथा आकर्षण (आनन्द में), विकर्षण (भय में) तथा आक्रामक (क्रोध में) व्यवहार होता है।

सामान्य रूप से संवेग की व्याख्या तीन रूपों में की जा सकती है—

### 14.1.1 संवेग एक चेतना अवस्था के रूप में (Emotion as a conscious)

विभिन्न दार्शनिकों एवं मनोवैज्ञानिकों के अनुसार, बाह्य घटनाओं के प्रत्यक्षीकरण के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार की जागृत अवस्थायें (awareness) विभिन्न चेतन अवस्थाओं के कारण होती है अर्थात् यही चेतन अवस्थाएं संवेग कहलाती हैं जो कि जन्म से विभिन्न प्रकार के संवेगात्मक व्यवहार का कारण होती हैं। यह इस बात को इंगित करती हैं कि संवेगात्मक व्यवहार के लिए चेतन घटनायें आवश्यक हैं।

### 14.1.2 संवेग व्यवहार के रूप में (Emotion as a behaviour)

अन्य विद्वान् संवेग को एक या दूसरे प्रकार का व्यवहार मानते हैं। उनके अनुसार विभिन्न संवेगों की अनुभूति में व्यक्ति का व्यवहार भी भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है। संवेग में विभिन्न प्रकार के व्यवहार शामिल हैं जैसे मानवों में मुस्कुराहट, हंसना, चिल्लाना, भय के कारण भागना और संवेग के समय अन्य मुखाकृति सम्बन्धी व्यवहार। पशुओं में पूंछ हिलाना, गुर्राना, श्वास लेना आदि। इसके अतिरिक्त मानव तथा पशुओं में कुछ स्वसंचालित व्यवहार संवेग के कारण होते हैं। जैसे भय के समय रक्त का एकत्र होना, मूर्छा के समय चेतना में एवं रक्तचाप में परिवर्तन होना। संवेग की अवस्था में ग्रन्थि स्राव का आधिक्य होना या शिथिल होना। ये स्वसंचालित संवेगीय प्रतिक्रियाओं के उदाहरण हैं। आक्रमणात्मक व्यवहार एवं भय के कारण भागने व आनन्द के संवेग पर हंसी आना कुछ संवेगीय प्रतिक्रियाओं के उदाहरण हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 14.1.3 संवेगीय अनुभव (Emotion Experience)

व्यक्ति संवेगीय अनुभवों की शाब्दिक व्याख्याएं देते हैं जैसे भय का अनुभव, शांत, उत्तेजित होना। ये अनुभव इतने जटिल एवं मिश्रित होते हैं कि इनको दैहिक आधार पर वैज्ञानिक रूप से समझना कठिन है। इनका अनुभव विभिन्न प्रकार के संग्राहकों द्वारा जैसे सुख, दु:ख के प्रभावक; त्वचीय प्रभावकों द्वारा पेशीय एवं आन्तरिक नाड़ियों पर प्रभाव आदि से होता है।

## 14.1.4 संवेग एक मानसिक एवं शारीरिक घटना के रूप में (Emotion as a mental and physiological event)

आधुनिक दैहिकशास्त्री एवं मनोवैज्ञानिक संवेग की व्याख्या मानसिक एवं शारीरिक घटना के रूप में करते हैं। उनके अनुसार, संवेगात्मक जाग्रतावस्था तथा संवेगात्मक व्यवहार शारीरिक एवं मानसिक घटनाओं के फलस्वरूप होता है। संवेगात्मक व्यवहार पर स्वचालित तंत्रिका तंत्र (ANS) तथा अन्त:स्रावी ग्रंथियां मुख्य रूप से अपना प्रभाव डालती हैं। जब व्यक्ति को संवेग की अनुभूति होती है तो उसके हृदय की धड़कन (heart-rate) तेज हो जाती है, रक्तचाप (BP) बढ़ जाता है, पेट में गड़बड़ होने लगती है तथा सिर के बाल व शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अतएव संवेग के लिए आवश्यक एवं पर्याप्त स्थिति यह है कि संवेग कुछ निश्चित स्वचालित क्रियायें मस्तिष्क के केन्द्रों में रखता है जो कि स्वचालित क्रियाओं तथा व्यवहार दोनों को नियंत्रित करती हैं।

अब हम इस व्याख्या के अन्तर्गत संवेग की कुछ परिभाषाओं का उल्लेख करेंगे क्योंकि प्रस्तुत अध्याय में हम संवेग का अध्ययन केवल मानसिक एवं शारीरिक घटना के रूप में करेंगे—

(i) कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार, "संवेग व्यवहार का प्रतिमान है जो कि अंतरंग तथा शरीर के अन्य भागों में घटित होता है।" (Emotion is a behaviour pattern that occur in the viscera and other bodily parts)

(ii) अन्य विद्वानों की दृष्टि में, "संवेग एक कॉर्टिकल संबंधी घटना है जो कि किसी भी स्थान—अंतरांग (viscera), कंकाल पेशी (skeletal muscle), थैलेमस (thalamus) या तीनों के मिश्रण पर प्रकट होने वाले प्रत्युत्तर प्रतिमानों पर निर्भर रहती है।" ("Emotion is a cortical event which depends upon response patterns that have occured elsewhere in the Viscerem, in the hypothalamus or in some combination of three.")

(iii) कुछ व्यक्तियों के मत में, "संवेग एक शारीरिक प्रतिमान है जो या तो मनोवैज्ञानिक घटना के कारण या उससे संबंधित मानसिक घटना के कारण होता है।" ("Emotion is a bodily pattern which is preceded either by psychological event or subsequent mental events.")

(iv) विलियम्स जेम्स ने संवेग की व्याख्या करते हुए लिखा है, "संवेग एक मानसिक घटना है। यह अंतरांग तथा कंकाल पेशियों में प्रकट होने वाले परिवर्तनों का प्रदर्शन है जिसमें कि परिवर्तन एक उपयुक्त उद्दीपक के प्रत्यक्षीकरण द्वारा सीधे दृष्टिगोचर होते हैं।" ("Emotion is a mental event. It is the feeling of change occuring in the viscera and the skeletal muscles. Which changes have been initiated directly by perception of an appropriate stimulus.")

(v) लांगे के मत में, "संवेग वासो-प्रेरक विघ्न है।" ("Emotion is a vasomotor disturbances.")

(vi) कैनन एवं वार्ड के अनुसार, "संवेग एक मानसिक घटना है। यह एक उपयुक्त स्थिति में घटित होने वाले होइपाथैलेमस के परिवर्तन पर निर्भर होती है।" ("Emotion is a mental event. It depends upon change in the hypothalamus which have been initiated by an appropriate situation.")

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## 14.1.5 हम संवेगों से ग्रस्त क्यों हैं?

एक प्रश्न यह भी उठता है कि कोई ऐसा भी है जिसे कभी संवेगों की पीड़ा झेलनी नहीं पड़ी हो? इसका स्पष्ट उत्तर होता है कोई नहीं। संवेग तो मानव जीवन की अनेक शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं में से एक होता है। हर उम्र और वर्ग के व्यक्तियों को संवेग आते ही हैं। इन परिस्थितियों के चलते यह भी कहा जाता है कि संवेग शरीर और मन दोनों के लिए न तो लाभकारी होते हैं और न ही उपयोगी। संवेगों की स्थिति शरीर के संतुलन का नकारात्मक पक्ष होता है। यह तभी उत्पन्न होती है जब परिस्थितियों से तालमेल बिठाने में सामंजस्य स्थापित करने में कतिपय कठिनाइयां आती है। उदाहरण के लिए भय का संवेग तभी उत्पन्न होता है जब ''फ्लाइट अथवा फाइट'' की क्षमता कमजोर पड़ जाती है।

संवेगों का एक प्रमुख कार्य बाह्य उद्दीपनों के परिणामस्वरूप हमारी व्यावहारिक नम्यता में बढ़ोतरी करना है। संवेगों की स्थिति में उद्दीपनों के परिणामस्वरूप घिसी-पिटी त्वरित प्रतिक्रिया के स्थान पर हम विशेष रूप से प्रतिक्रिया के लिए सक्षम होते हैं क्योंकि इस प्रतिक्रिया का निर्धारण तात्कालिक परिस्थितियों के आधार पर होता है। यह बात और है कि यह प्रतिक्रिया सकारात्मक न होकर प्राय: नकारात्मक होती है। संवेगों की तीव्रता एवं प्रकृति के अनुसार शारीरिक परिवर्तन घटित होते हैं और उन्हीं के आधार पर उनके परिणामों का आकलन किया जाता है।

## 14.1.6 संवेगों की प्रकृति और आयाम

हम संवेगों को प्रकट करने अथवा उन्हें छिपाने की कला सीख सकते हैं परन्तु एक बात निर्विवाद रूप से सत्य है कि संवेगों की परिणति किसी न किसी रूप में अवश्य होती है। चित्र संख्या (1) के अनुसार जन्मजात और मूलभूत संवेग बताये गये हैं जिनके चार जोड़ी विरोधी गुण होते हैं—उदाहरण के लिए सुख-दु:ख, भय और क्रोध, आश्चर्य और अनुमान, स्वीकार्यता और निराशा। इसके अतिरिक्त अन्य सारे संवेग इनके ही परिवर्तित अथवा विस्तारित रूप हैं। उदाहरण के लिए प्रेम, सुख और स्वीकार्यता का संयोग है, जबकि विस्मय भय और आश्चर्य का सम्मिश्रण है। नवीनतम विश्लेषणों से यह स्पष्ट होता है कि संवेगों में जन्मजात और बाद में धारण किए गए दोनों ही कारक सम्मिलित होते हैं।

**संवेग के आयाम**

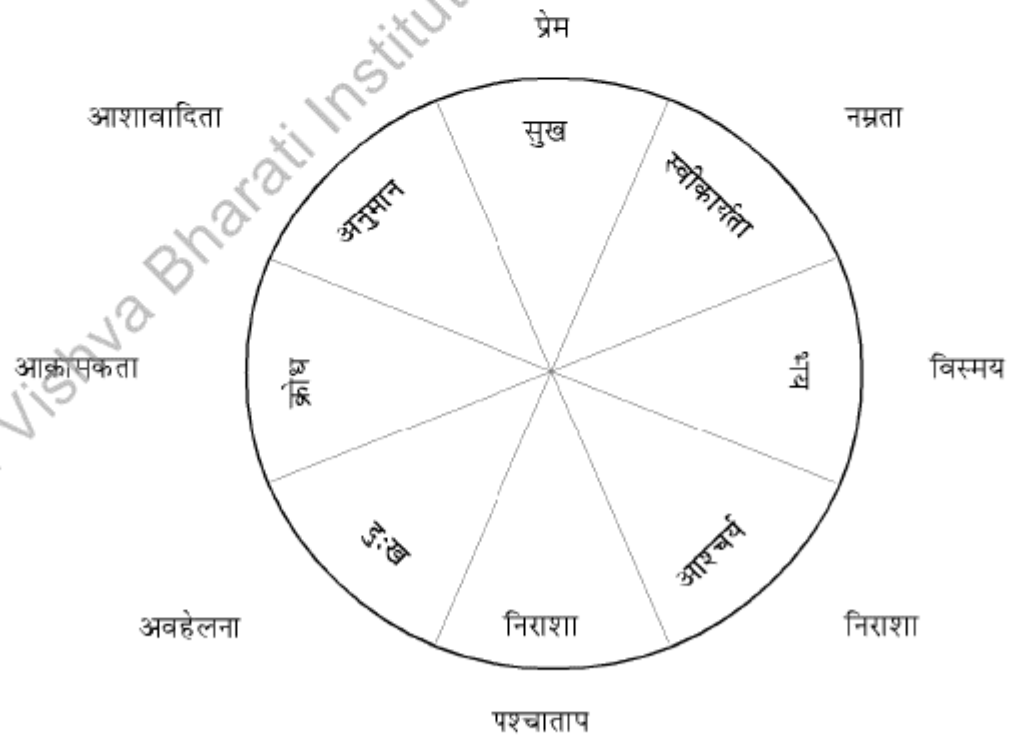


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## 14.2 संवेग का सिद्धान्त

संवेग के सिद्धान्त का विषय अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। प्राचीन यूनानी दार्शनिकों से लेकर आधुनिक समय तक इसके सिद्धांत के विषय में पर्याप्त चर्चा होती रही है। संवेग के सिद्धान्तों ने इसके दैहिक पहलू पर मुख्य रूप से जोर दिया। अन्य शब्दों में, सभी सिद्धांतों ने संवेगों के प्रदर्शन होने में दैहिक तथ्यों का विशेष महत्त्व माना है। संवेगों के कई आधुनिक सिद्धांत प्रचलित हैं किन्तु सभी दैहिक पहलुओं को मानने में एक-दूसरे से भिन्न हैं। जहाँ कैनन तथा वार्ड जैसे मनोवैज्ञानिक यह सोचते हैं कि संवेग का मुख्य स्थान उपथैलेमस है वहीं जेम्स तथा लांगे जैसे मनोवैज्ञानिक संवेगों को सीमान्त तत्त्वों (Pheripheral factors) के कारण बताते हैं। अन्य शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि संवेग के उत्पन्न होने में मानसिक व शारीरिक परिवर्तन होने लगते हैं। किन्तु यहां प्रश्न उठता है कि इन दोनों प्रकार के परिवर्तनों में से कौन-सा पहले आरम्भ होता है या दोनों में से कौनसा अधिक प्रधान है, यह निश्चय करने के लिए विभिन्न दैहिक शास्त्रियों या मनोवैज्ञानिकों ने संवेग के कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिनका कि दैहिक आधार था। अब हम कुछ प्रमुख आधुनिक संवेग सिद्धान्तों की व्याख्या करेंगे—

### 14.2.1 सामान्य ज्ञान का सिद्धान्त (Common sense theory)

सामान्य सिद्धान्त के अनुसार सामान्य रूप में व्यक्तियों का यह विश्वास है कि संवेग का प्रभाव पहले मानसिक क्रियाओं पर पड़ता है तत्पश्चात् शारीरिक क्रियाओं में परिवर्तन आने लगते हैं। संवेगात्मक परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण से पहले मानसिक परिवर्तन होते हैं फिर शारीरिक परिवर्तन होते हैं इस प्रकार संवेगों का अनुभव प्रदर्शन से पूर्व होता है किन्तु इसकी कोई वैज्ञानिक पुष्टि नहीं है इसलिए यह कोई प्रामाणिक सिद्धान्त नहीं है, बल्कि यह तो विभिन्न व्यक्तियों का मत है जिसे उन्होंने अपने अनुभवों द्वारा निर्धारित किया है। चूंकि आधुनिक मनोविज्ञान का प्रयोगात्मक रूप होने के कारण घटनाओं के सरल वर्णन को स्वीकार करना असंभव है।

### 14.2.2 जेम्स लांगे का परिधीय संवेग का सिद्धांत (James Lange's Perpheral theory of emotion)

संवेग के सभी सिद्धान्तों में जेम्स लांगे का संवेग सिद्धान्त कई वर्षों से प्रमुख माना जाता रहा है तथा आज भी संवेग के मनोविज्ञान में, इसका स्थान एवं महत्त्व किसी भी रूप में कम नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार, संवेग एक चेतन अवस्था (concious state) है जो कि संवेगात्मक व्यवहार का कारण होती है। उसने क्रोध, भय व खुशी उद्दीपक के प्रति शरीर की प्रतिक्रियाओं में चेतन अवस्था को कारण माना। उसका सिद्धान्त यह बताने का प्रयास करता है कि किस प्रकार से संवेगात्मक व्यवहार तथा संवेगात्मक अनुभव दैहिक रूप से संबंधित है। इस सिद्धान्त का प्रमुख नारा यह था कि संवेगात्मक प्रत्युत्तर पहले आता है तथा संवेगात्मक अनुभव उस संवेगात्मक प्रत्युत्तर के फलस्वरूप ही होते हैं।

इस सिद्धांत का प्रतिपादन 1880 के लगभग अमेरिकन मनोवैज्ञानिक जेम्स तथा डेनमार्क के शरीरशास्त्री लांगे के सहयोग से हुआ। उनका यह सिद्धांत सामान्य ज्ञान के सिद्धान्त का विरोध था। जेम्स ने 'Mind' नाम की पत्रिका में 1884 में एक लेख प्रकाशित किया जिसमें संवेगों तथा उनके प्रदर्शनों के आपसी संबंध को बताने का प्रयत्न किया था। उसका विश्वास था कि संवेगों की उत्पत्ति प्रमुख रूप से अन्तःस्रावों तथा पेशियों की प्रबल शारीरिक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप होती है। इस प्रकार की विचारधारा को लांगे ने स्वतंत्र रूप से 1885 में प्रकाशित किया उसने अपने अध्ययनों के आधार पर यह सिद्ध किया कि संवेग पूर्ण रूप से केवल शारीरिक परिवर्तनों के द्वारा होते हैं। अतः इन दोनों ही विचारधाराओं के मिश्रण को जेम्स लांगे के सिद्धान्त का नाम दे दिया गया।

कोई उत्तेजना या घटना जिसे हम संवेग परिस्थिति कहते हैं उपस्थित होती है। शारीरिक आधार पर इसके कारण पेशीय एवं ग्रन्थि संबंधी प्रतिक्रिया होती है। फलस्वरूप, यह प्रतिक्रिया कुछ तंत्रों को तंत्रिका तंत्र संस्थान में संचालित करता है और कॉर्टेक्स में पहुचते हैं और संवेगीय प्रतिक्रियाओं को प्रकट रूप से प्रदर्शित करते हैं और

Vishva Bharat Institute (Deemed University) Ladnun

संवेग को चेतन अनुभव प्रदान करते हैं। इस सिद्धान्त का मुख्य बिन्दु यह है कि हमारा संवेगात्मक अनुभव कहां से आता है, पेशीय ग्रन्थि क्रियाओं की उत्तेजना से या अंतरंग शारीरिक अवयवों से।

फ्रीमेन के अनुसार, ''यह सिद्धांत निर्धारित करता है कि अंतरांग क्रियाएं संवेगात्मक चेतना को उत्पन्न करती हैं तथा उद्दीपक सहज रूप से शारीरिक क्रियाओं को उत्पन्न कर देता है तथा इन परिवर्तनों के फलस्वरूप ही हमें संवेगात्मक अनुभव होते हैं। संक्षेप में, शारीरिक परिवर्तनों की भावना ही संवेगात्मक अनुभव है।''

**दैनिक जीवन में संवेग उत्पत्ति की रूपरेखा**

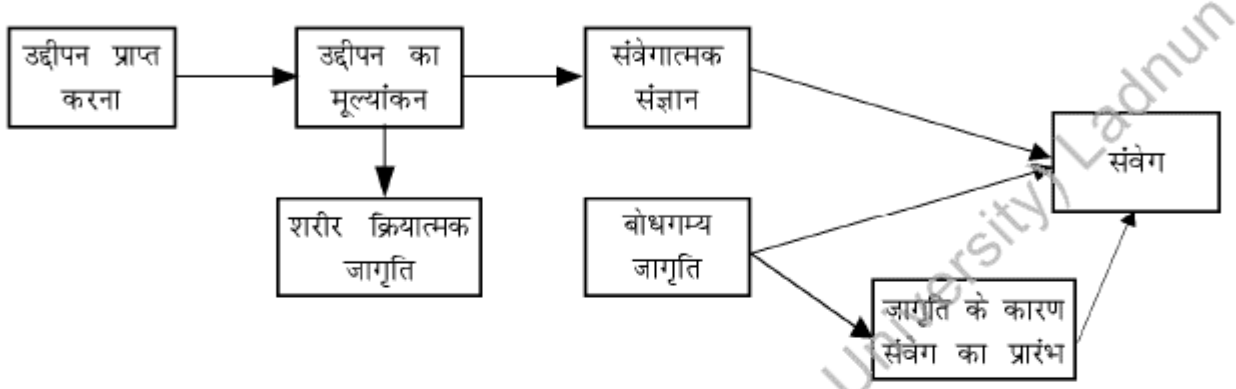


**अवर्गीकृत (अन्जान) कारणों से उत्पन्न संवेग की रूपरेखा**

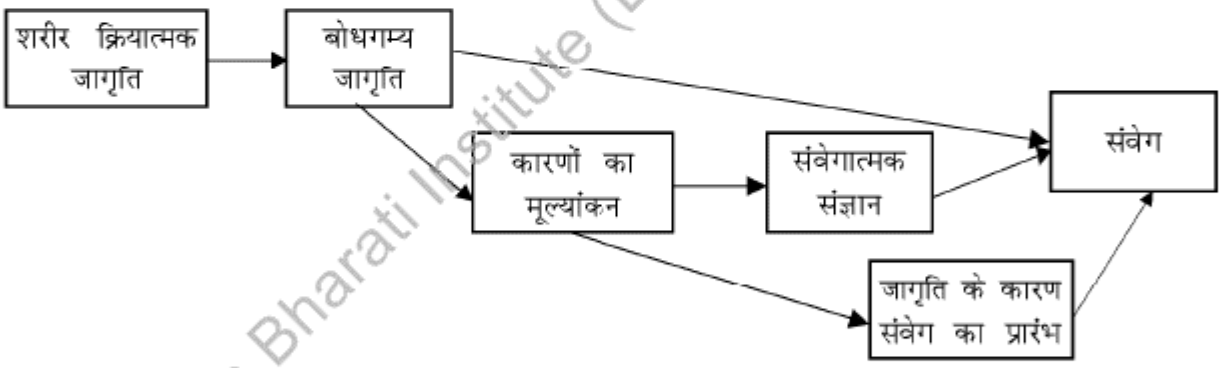


अतएव इस सिद्धान्त के अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि संवेगात्मक परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण द्वारा सीधे शारीरिक तथा व्यावहारिक परिवर्तन उत्पन्न होते हैं और फिर उनकी भावनाएं उठती हैं। अत: संवेग का प्रधान कारण शारीरिक तथा व्यावहारिक क्रियाएं हैं, मानसिक क्रियाएं नहीं। जेम्स का कहना है कि हम डरते हैं, क्योंकि हम भागते तथा क्रोधित होते हैं। हम चिल्लाते हैं इसलिए दु:खी होते हैं डरते हैं इसीलिए क्रोधित होते हैं। उदाहरणस्वरूप, इस सिद्धांत के अनुसार जब हम सांप या शेर को जंगल में देखते हैं तो पहले हम संवेगात्मक प्रत्युत्तर देते हैं तथा बाद में संवेगात्मक अनुभव महसूस करते हैं। शेर देखने के पश्चात् हम भागते हैं तथा अन्य शारीरिक क्रियाओं को करते हैं। संवेग के समय हमारे रक्त-दाब में वृद्धि, श्वास गति में परिवर्तन, पाचन क्रिया में गड़बड़ी, आंख की पुतली का फड़फड़ाना तथा अन्य आंतरिक व बाह्य शारीरिक परिवर्तनों के पश्चात् ही हम शेर से डरते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इस प्रकार से जेम्स लांगे के अनुसार, शारीरिक तथा व्यावहारिक परिवर्तनों के बिना संवेग का विचार नहीं किया जा सकता। यदि संवेगों में से इन परिवर्तनों को निकाल दिया जाय तो संवेगात्मक परिस्थिति का केवल आभास ही होगा, वास्तविक संवेग की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। इस सम्बन्ध में जेम्स कहता है, ''तब भालू को देखकर हम भागने का ही सबसे अच्छा निर्णय करेंगे, अपनानित होने पर पीटना अपना अधिकार समझेंगे, पर वास्तव में न हम भयभीत होंगे न क्रोधित।''

इस प्रकार भय, क्रोध आदि संवेगों की उत्पत्ति बिना शारीरिक व मानसिक परिवर्तनों के नहीं हो सकती। जब तक ये परिवर्तन नहीं होंगे, संवेग सम्बन्धी भावनाएं उत्पन्न नहीं होगी। अत: जेम्स के अनुसार, संवेग की उत्पत्ति मस्तिष्क की क्रियाओं द्वारा नहीं बल्कि प्रान्तिक क्रियाओं के द्वारा होती हैं।

जेम्स लांगे सिद्धांत के अनुसार संवेग को निम्न रूप में निष्कासित किया जा सकता है—

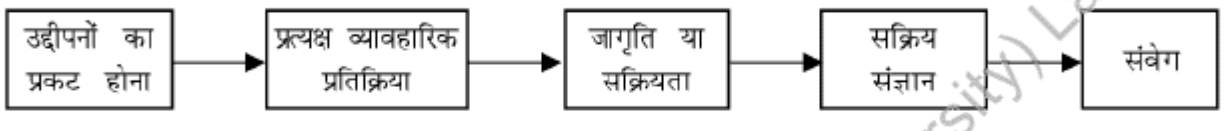


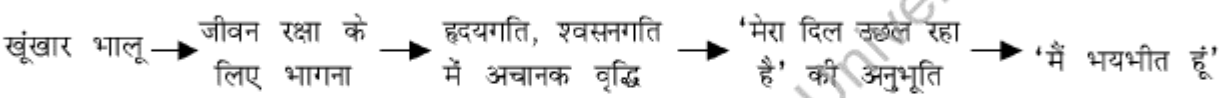


## 14.2.3 कैनन तथा वार्ड का केन्द्रीय सिद्धांत

संवेग के केन्द्रीय सिद्धान्त का प्रतिपादन कैनन तथा वार्ड ने मिलकर किया। इसे थैलेमस का सिद्धांत (Thalamic theory) भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार संवेगात्मक उद्दीपन के प्रत्यक्षीकरण के द्वारा संवेगात्मक अनुभव तथा आंतरिक अवयवों की क्रियाएं एक साथ स्वतंत्र रूप से उठती हैं। ग्राहकों में जो उत्तेजनाएं उठती हैं वे सीधे थैलेमस में जाती हैं और वहाँ से एक ओर कार्टेक्स व दूसरी ओर प्रभावकों (effectors) में जाती हैं। इस प्रकार कार्टेक्स में पहुंची उत्तेजनाएं संवेग का अनुभव और प्रभावकों की उत्तेजनाएं शारीरिक तथा व्यावहारिक क्रियाओं का अनुभव प्रदान करती हैं। इन दोनों क्रियाओं के एक-दूसरे से स्वतंत्र रहकर उत्पन्न करने में थैलेमस भी सहायक होता है। इस प्रकार से इस सिद्धांत का यह विश्वास है कि संवेग की उत्पत्ति लघु थैलेमस (Hypothalamus) की उत्तेजना द्वारा होती है, अन्तरावयविक क्रियाओं तथा प्रयोगों द्वारा भी पता चलता है कि लघु थैलेमस का संवेगों के अनुभवों और प्रदर्शनों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। फिर निर्विवाद रूप से यह सत्य नहीं माना जा सकता कि यह सिद्धांत पूर्णत: सत्य है। इसका सबसे प्रमुख दोष इसका आवश्यकता से अधिक सरल (Simple) होना है। दूसरे, यह संवेगात्मक अनुभव और संवेगात्मक व्यवहार में संतोषजनक संबंध नहीं बताता।

अतएव संवेग के दोनों ही सिद्धांत एक-दूसरे के विरोधाभास में है। जहाँ संवेग के सिद्धान्त के अनुसार पहले संवेगात्मक प्रत्युत्तर होता है तथा बाद में संवेगात्मक अनुभव होते हैं, वही केन्द्रीय सिद्धांत के अनुसार संवेगात्मक अनुभव पहले होते हैं तथा बाद में संवेगात्मक प्रत्युत्तर होता है।

## 14.2.4 वाटसन का व्यावहारिक सिद्धान्त (Watson's behaviouristic Theory of emotion)

संवेगात्मक व्यवहार में वाटसन ने चेतना को अस्वीकार किया बल्कि उनके अनुसार व्यवहार उद्दीपक का प्रत्यक्षीकरण क्रिया द्वारा होता है जिसमें कि इन्द्रियों तथा तंत्रिका तंत्र द्वारा होता है जिसमें कि इन्द्रियों तथा तंत्रिका तंत्र द्वारा कार्य करता है। वाटसन के लिए, क्रोध, आक्रमण, भय, भागना तथा आनन्द (कामुक) व्यवहार हैं। अपने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवेग कार्य में उसने यही अनुभव किया कि इन तथा अन्य संवेगात्मक प्रत्युत्तरों में से कौन-से जन्मजात हैं, किस रूप में वे प्रकट होते हैं तथा किन-किन उद्दीपकों द्वारा वे नियंत्रित किये जाते हैं।

वाटसन ने अपने प्रयोगों के आधार पर यह निश्चित किया कि बालकों में संवेगों के तीन व्यवहार वंशानुगत हैं, ये हैं—भय, क्रोध, काम क्रमशः Patern X, Y, Z। उनके अनुसार जटिल संवेगात्मक व्यवहार अनुबंधन के कारण होता है। शिक्षण के अनुसार भय, क्रोध में स्वाभाविक क्रियाओं आदि का नियमन मस्तिष्क के केन्द्रों द्वारा होता है जैसा कि झगड़े व आक्रमण की स्थिति में होता है तथा कामुक संवेगों में भी होता है।

## 14.2.5 संवेगों का स्वचालित प्रत्युत्तर सिद्धान्त (Autonomic response theories of emotion)

कई विद्वानों ने स्वचालित तंत्रिका तंत्र प्रत्युत्तरों को संवेग से सम्बन्धित माना है उनमें से अधिकांश विद्वानों का अध्ययन है कि परानुकम्पी तंत्रिका तंत्र (Parasypathetic N.S.) की प्रतिक्रियाएं गुणात्मक अथवा सुखान्त (Positive or Pleasurable) संवेगों के लिए आवश्यक हैं जबकि अनुकम्पी तंत्रिका तंत्र (Sympathetic N.S.) की प्रतिक्रियाएं क्रोध तथा भय के संवेगों के लिए आवश्यक है। अन्य विद्वान् प्रत्येक स्थायी संवेग के लिए सीखने के माध्यम से अन्य स्वचालित प्रतिमानों को मानते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिको का विचार है कि विभिन्न स्वचालित प्रतिमान जन्मजात होते हैं। दूसरे शब्दों में इस सिद्धांत के अनुसार यह भी कहा जा सकता है कि स्वचालित प्रतिक्रियायें ही संवेग हैं तथा संवेगों के लिए यह सदैव आवश्यक होती हैं। कुछ लेखकों का विश्वास है कि स्वचालित प्रतिक्रियायें केवल प्रारम्भ में ही आवश्यक होती हैं किन्तु जब सीखने की क्रिया होती है तो केवल मस्तिष्क केन्द्र में क्रिया होना आवश्यक होता है जो कि सामान्य रूप से स्वचालित तंत्रिका तंत्र पर नियंत्रण रखता है।

## 14.2.6 पेपज मेकलिन संवेग सिद्धान्त (Papaz-MecLean theory of emotion)

इस संवेग सिद्धान्त के अनुसार तंत्रिका-केन्द्र (nervous centers) संवेगात्मक व्यवहार तथा अनुभवों को व्यवस्थित करने के स्थान पर नियन्त्रित करते हैं। इन संवेगात्मक व्यवहारों के नियन्त्रण में विभिन्न केन्द्र (centers) तथा मार्ग (Path-ways) निहित रहते हैं, जैसे-(Septal area of the cortex, the cortical cingulate and entorninal areas, the hippocampus, and most of the amygdaloid nuclei. पेपज (Papaz) ने इन केन्द्रों तथा मार्गों का एक circuit इस प्रकार बताया, the entorhinal cortex to the hippocampus, thence to the hippocampus, thence to the hypothalamus via the fornix, from here to the anterior thalamus, and finally to the cingulate gyrus. यद्यपि इनमें से अधिकतर संरचनाएं सूंघने की आन्तरिक रचना से जुड़ी होती हैं फिर भी पेपज (Pepaz) के अध्ययनों के आधार पर ये सभी संवेगात्मक अनुभवों में भी निहित रहती हैं। बाद में पेपज के विचारों को मेकलिन ने बढ़ावा दिया तथा उसने यह भी बताया कि संवेगात्मक व्यवहार की व्यवस्था diencephalon के हाइपोथैलेगस वाले भाग तथा मस्तिष्क की संरचनाओं में होती है।

---

**बोध प्रश्न 1:**

---

*1. संवेग किसे कहते हैं?*

*2. जेम्स लांगे का परिधीय संवेग का सिद्धांत समझाइये।*

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 14.3 संवेगात्मक व्यवहार के शारीरिक एवं स्नायुविक आधार

अब हम संवेगात्मक व्यवहार के कुछ शारीरिक आधारों की व्याख्या करेंगे-

1. अन्तस्रावी ग्रन्थियां (Endocrine glands),
2. स्वचालित तन्त्रिका तंत्र (Autonomic nervous system),
3. दैहिक तथा अन्तरांग संस्थान (Somatic and visceral system),
4. अंगिक संस्थान (Limbic system),
5. मैड्यूला (Medulla),
6. मध्य मस्तिष्क (Mid-brain),
7. लघु थैलेमस (Hypothalamus),
8. थैलेमस (Thalamus),
9. प्रमस्तिष्कीय कार्टेक्स (Cerebral cortex),
10. हिपोकैम्पस (Hippocampus) एवं
11. वातायक (Amygdala).

यहां हम केवल महत्त्वपूर्ण आधारों का ही उल्लेख करेंगे–

### 14.3.1 अन्त:स्रावी ग्रन्थियां (Endocrine glands)

मानव के संवेगात्मक व्यवहार का सबसे प्रमुख दैहिक आधार अन्त:स्रावी ग्रन्थियों को माना जाता है। क्योंकि विभिन्न अन्त:स्रावी ग्रन्थियां भिन्न-भिन्न रूप से संवेगात्मक क्रियाओं को प्रभावित करती हैं। प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि थाइराइड ग्रन्थि भय, क्रोध आदि संवेगात्मक स्थिति में ठीक से कार्य नहीं करती है जिससे स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता हैं तथा इसके विपरीत हर्ष तथा उत्साह के संवेग में इसके अधिक सक्रिय होने से स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। पैराथाइराइड ग्रन्थि व्यक्ति के संवेगात्मक व्यवहार को शान्त रखती है। एड्रीनल मैड्यूला ग्रंथि से एड्रनेलिन नाम का तरल पदार्थ निकलता है जो रक्त में संचारित होकर अनुकम्पी आवेगों की भांति संवेगों को तथा संवेगात्मक व्यवहार को प्रभावित करता है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि यह ग्रंथि संवेगों से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित रहती है। इसके ठीक प्रकार से कार्य न करने पर व्यक्ति के व्यक्तित्व में शिथिलता सी आ जाती है तथा उसका संवेगात्मक व्यवहार असन्तुलित हो जाता है। यह सभी प्रकार के संवेगों विशेष रूप से क्रोध, भय, हर्ष में अधिक रूप से सक्रिय होती है। जब क्रोध, भय या किसी भी संवेग के समय हमारे शरीर को अतिरिक्त शक्ति की आवश्यकता होती है तब यह ग्रन्थि एड्रनेलिन हार्मोन को रुधिर धारा में मिलाती है जिससे हृदय की गति बढ़ जाती है। थकान कम होती है, पाचन क्रिया का कार्य रुक जाता है, रक्त परिभ्रमण व श्वास गति तेज हो जाती है तथा व्यक्ति को असामान्य स्थिति में भी सन्तुलित बनाये रखती है, पीयूष ग्रन्थि भी अन्य समस्त ग्रन्थियों पर अपना प्रभाव बनाये रखते हुए संवेगात्मक व्यवहार में सहायक होती है। यदि एड्रीनल कार्टेक्स को यह ग्रन्थि उद्दीप्त न करे तो मनुष्य में कमजोरी तथा स्वभाव में क्रोध तथा चिड़चिड़ापन आ जाता है। इसी प्रकार लिंग ग्रन्थियां भी संवेगों पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव रखती हैं। ये सुख, आनन्द के संवेगों का प्रदर्शन करती हैं जब दो विपरीत लिंग के व्यक्ति मिलते हैं। अतएव यह स्पष्ट ही है कि विभिन्न अन्त:स्रावी ग्रन्थियों के रासायनिक स्राव संवेगात्मक व्यवहार में सहायक होते हैं।

### 14.3.2 स्वचालित तन्त्रिका तन्त्र (Autonomic nervous system)

स्वचालित तंत्रिका तंत्र के दोनों भाग अनुकम्पी तंत्र तथा परानुकम्पी तंत्र संवेगात्मक क्रियाओं में विशिष्ट रूप से भाग लेते हैं। जब संवेग संकटकालीन स्थिति में उत्पन्न होते हैं तो अनुकम्पी तंत्र प्रभावित होता है। क्रोध व

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भय की स्थिति में यह हृदय गति, रक्त प्रवाह, रक्त-चाप व नाड़ी गति में वृद्धि कर देता है। पाचन क्रिया में विघटन डालता है, रुधिर दबाव को बढ़ाता है तथा एड्रीनल ग्रन्थि को उत्तेजित करता है। अतएव संवेगात्मक व्यवहार में होने वाले आपत्तिकालीन कार्यों पर यह तन्त्र अपना नियन्त्रण रखता है। संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं में यह तंत्र भोजन के रासायनिक तथा अन्त:स्रावी सन्तुलनों को भी बनाए रखता है। इसका दूसरा भाग परानुकम्पी तन्त्र संवेगात्मक क्रियाओं में शरीर की चिकनी पेशियों तथा उत्तेजित अंगों पर नियन्त्रण रखता है। यह संवेगों के समय हृदय की गति मन्द कर देता है। यह संवेगात्मक व्यवहार में शांतिपूर्ण ढंग से नियन्त्रण रखता है। इस प्रकार से स्वचालित तन्त्रिका तन्त्र संवेगात्मक व्यवहार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

## 14.3.3 मैड्यूला (Medulla)

मैड्यूला संवेगात्मक व्यवहार में निहित हृदय गति का संचालन, रक्तचाप, पुतली के प्रत्युत्तर, बातों की आवाज तथा कई स्वचालित प्रतिक्रियाओं के करने में कार्य करता है। यह स्वचालित प्रत्युत्तरों का नियमन करने के लिए कई प्रतिवर्त केन्द्रों को रखता है जो कि मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों विशेषतया लघु थैलेमस के प्रभाव में कार्य करते हैं। मैड्यूला में पाये जाने वाले प्रतिवर्त नियमन समस्थिति में सहायक होते हैं जिससे कि आंतरिक पर्यावरण स्थिर बना रहे। इसके अतिरिक्त, संवेगात्मक उत्तेजना का प्रतिबल (Stress) स्थिति में जो अन्तरांग परिवर्तन (visceral change) होते हैं, वे भी मैड्यूला के द्वारा ही किये जाते हैं। इस क्रिया से मैड्यूला आंतरिक पर्यावरण में भी परिवर्तन ला देता है।

## 14.3.4 मध्य मस्तिष्क (Mid-barin)

मध्य मस्तिष्क से कार्टेक्स तक स्थानीय उद्दीपक तक शरीर का बकार भाग संवेगात्मक व्यवहार में परिवर्तन ला देता है। स्थानीय उद्दीपक मध्य मस्तिष्क के किसी एक भाग के उच्च केन्द्रों को जाने वाले मार्गों को उद्दीप्त कर देते हैं। जहाँ कि व्यवहार व्यवस्थित होता है जबकि दूसरी ओर केवल उच्च केन्दों में पहुंचने वाले मार्गों को बाधित कर देता है जहाँ कि व्यवहार व्यवस्थित होता है। उदाहरणार्थ मध्य मस्तिष्क में उद्दीपक वेदना के सांवेदिक मार्गों को उद्दीप्त कर देते हैं जिससे संवेगात्मक व्यवहार होने लगते हैं। मध्य मस्तिष्क के विभिन्न स्थानों में केन्द्रीय भूरे पदार्थ का उद्दीपन करने से क्रोध व्यवहार, भय व्यवहार तथा भागने का व्यवहार उद्दीप्त होता है। एक अध्ययन के आधार पर यह ज्ञात किया जा चुका है कि मध्य मस्तिष्क कुछ सुरक्षात्मक संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं को व्यवस्थित करता है।

## 14.3.5 लघु थैलेमस (Hypothalamus)

लघु थैलेमस को संवेग का प्रमुख केन्द्र माना जाता है। कुछ मनोवैज्ञानिक एवं भौतिकशास्त्री जैसे कैनन एवं वार्ड लघु थैलेमस को ही संवेग का स्थान समझते हैं। संवेग का यह दैहिक पहलु तीन प्रकार से कार्य करता है—सर्वप्रथम, इसके माध्यम से आवेग (impulses) ग्राहकों से प्रमस्तिष्क कॉर्टेक्स में पहुंचकर संवेगात्मक व्यवहार उत्पन्न कर देते हैं। द्वितीय ये प्रमस्तिष्कीय कार्टेक्स आवेगों को लाते हैं तथा तृतीय लघु थैलेमस के द्वारा ही आवेग अन्तरांग एवं पेशियों को भेजे जाते हैं। इस प्रकार संवेगों के सम्बन्ध में मस्तिष्क के इस उच्च केन्द्र का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण भाग रहता है। लघु थैलेमस क्रोध, भय, सुरक्षा तथा पुरस्कार के संवेगों का एकीकरण अत्यन्त ही महत्पूर्ण ढंग से करता है। इसका अग्रभाग (anterior hypothalamus) क्रोध व्यवहार तथा पार्श्विक एवं पृच्छ भाग (Lateral and posterior hypothalamus) भागने के व्यवहार को उद्दीप्त कर देता है। कैनन एवं वार्ड के अनुसार तो समस्त संवेगात्मक क्रियायें इसी भाग में उद्दीप्त होती हैं।

## 14.3.6 प्रमस्तिष्कीय कार्टेक्स (Cerebral cotex)

संवेगात्मक व्यवहार में प्रमस्तिष्कीय कार्टेक्स क एक निश्चित तथा प्रमुख भाग होता है। इस सम्बन्ध में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने दो उपमाओं के आधार पर कई प्रयोग करके स्पष्ट किया है कि प्रमस्तिष्कीय कार्टेक्स का संवेगात्मक व्यवहार में क्या महत्त्व है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## 14.4 संवेग और प्रेक्षाध्यान

तंत्रिका तंत्र और अन्त:स्रावी ग्रन्थि तंत्र शरीर के दो प्रमुख नियन्त्रक तंत्र हैं। जो मिलकर सभी शारीरिक क्रियाओं का नियन्त्रण एवं नियोजन करते हैं। इन दोनों के बीच क्रिया-कलापों का ऐसा विलक्षण पारस्परिक सम्बन्ध है कि वैज्ञानिकों ने इसे नाड़ी-ग्रंथि-तन्त्र (Neuro-endocrine system) का नाम दे दिया है। संवेग की अवस्था में शरीर के अन्दर विभिन्न अंगों में भी परिवर्तन घटित होते हैं उनका नियोजन इसी तन्त्र के द्वारा होता है। नाड़ी तंत्र विभिन्न न्यूरोनों एवं तंत्रिकाओं (Nerves) के अन्दर जैवविद्युत के प्रवाह को यथावश्यक बढ़ाकर संबंधित अंगों में उत्तेजना पैदा करता है जिसके चलते शरीर में चयापचय की दर कई गुना बढ़ जाती है। इसके साथ-साथ हाइपोथैलेमस के माध्यम से पीयूष ग्रंथि की सक्रियता बढ़ती है और फिर अन्य अन्त:स्रावी ग्रंथियां अपने हार्मोनों का स्राव कर उस चयापचय की दर को बढ़ाये रखने में सहयोग करती हैं। इन दोनों के सम्मिलित प्रयास से संवेगों का संवर्द्धन होता है।

प्रेक्षा पद्धति में चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा के अन्तर्गत जब हम नाड़ी-ग्रंथि तंत्र के शक्ति संस्थानों की प्रेक्षा करते हैं तो उससे मुख्यतया तीन निष्पत्तियां मिलती हैं—पहली तंत्रिकाओं में प्रवाहित विद्युत धारा और उनसे सम्बद्ध विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र में शुद्धता आती है। तंत्रिकाओं से निकलने वाले न्यूरोट्रांसमीटर्स की मात्रा एवं गुणवत्ता में आवश्यक शुद्धता आती है। इसके परिणामस्वरूप इनके प्रभावों में भी परिवर्तन आ जाता है। इसका दूसरा परिणाम है आनन्द केन्द्र का जागरण। आनन्द केन्द्र की जागृति से प्रतिक्रिया की दर में उल्लेखनीय कमी आती है जिससे समता, साम्यता, अनुकूलता और शालीनता के भाव उत्पन्न होते हैं। चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का तीसरा प्रभाव है शक्ति का जागरण। उद्दीपन के कारण चयापचय की दर में अनावश्यक वृद्धि हो जाती है। और ऊर्जा का अपव्यय होता है। शक्ति के जागरण के परिणामस्वरूप हमारे शरीर के वे सभी केन्द्र सक्रिय हो उठते हैं जो एन्टीडेंट का कार्य करते हैं तथा अनावश्यक शक्ति-क्षय को रोकते हैं। परिणामस्वरूप संवेगों की तीव्रता में कमी आने के साथ-साथ उनकी आवृति भी घटने लगती है।

श्वास प्रेक्षा तथा कायोत्सर्ग के प्रयोग भी शरीर के ऊर्जा केन्द्रों को नियन्त्रित करते हैं। मानसिक एकाग्रता में अभिवृद्धि और शारीरिक चंचलता में कमी से संवेगों की आवृत्ति पर अंकुश लगता है।

## 14.5 अभिप्रेरणात्मक व्यवहार

अभिप्रेरणा शब्द इतना व्यापक है कि विद्वानों ने इसका प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया है। सर्वमान्य एवं व्यावहारिक व्याख्या के अनुसार अभिप्रेरणा व्यक्ति की वह जन्मजात तथा अर्जित प्रवृत्ति है, जिसमें वह किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए क्रियाशील हो जाता है और लक्ष्य प्राप्त होने पर ही संतुष्ट होता है। अभिप्रेरणा के अध्ययन का अर्थ होता है, जीवित प्राणी के शारीरिक यन्त्र की उस अभिप्रेरक ऊर्जा (motive energy) का अध्ययन करना जिसके कारण विशेष प्रकार की अवस्थाएं उसको व्यवहार के लिए प्रोत्साहित करती हैं। वुडवर्थ (Woodworth) अभिप्रेरक की परिभाषा इस प्रकार देते हैं, ''अभिप्रेरक व्यक्ति की वह अवस्था है जो उसे किसी प्रकार का व्यवहार करने के लिए तथा किन्हीं लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए निर्देशित करता है।'' इस प्रकार अभिप्रेरणा क्रिया करने की एक प्रवृत्ति है जो आन्तर्नोद द्वारा संचालित होती है और समायोजन द्वारा पूर्ण होती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अभिप्रेरणा किसी मनुष्य में किसी विशेष लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कोई क्रिया उत्पन्न करती है, क्रिया को किसी दिशा विशेष में प्रभावित करती है और जब तक कोई लक्ष्य प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक उसे जारी रखती है अर्थात् क्रिया उत्पन्न करना, उसे दिशा विशेष में प्रभावित करना, लक्ष्य की प्राप्ति तक क्रिया को बनाये रखना अभिप्रेरणा की प्रमुख विशेषता है। अत: व्यक्ति की जिस आन्तरिक अवस्था में यह विशेषताएं पायी जाती हैं, उसी को अभिप्रेरणा कहते हैं।

किसी क्रिया को उत्तेजित करने वाले ऊर्जा स्रोतों (Energy sources) का अध्ययन अभिप्रेरणा के अन्तर्गत किया जाता है। इसी प्रकार इन ऊर्जा स्रोतों को एक निश्चित दिशा की ओर निर्देशित करने वाली प्रत्युत्तर क्रियाओं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

का भी अध्ययन अभिप्रेरणा के माध्यम से किया जाता है। यह अभिप्रेरक शक्ति और उससे सम्बन्धित शारीरिक रचनाएं प्राय: साथ-साथ उत्पन्न होती हैं, जैसे भूख की प्रेरक-शक्ति एवं भोजन प्राप्त करने की क्रियाशीलता प्राय: साथ-साथ देखी जाती है इस अवस्था के लिए 'अभिप्रेरक' शब्द का प्रयोग किया जाता है। अभिप्रेरणात्मक शक्तियां जीव की आंतरिक दशाएं हैं जिनके द्वारा ग्रंथियों और पेशियों के तंतुओं की आवश्यकता की पूर्ति होती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार जेम्स ड्रेवर (James drever) अभिप्रेरणा की व्याख्या इस प्रकार करते हैं, ''अभिप्रेरणा शब्द को प्रोत्साहन या अन्तर्नोद (drives) कार्य प्रणाली के संदर्भ में प्रयुक्त किया जाता है। यह ऊर्जा तंत्र (Energy system) की वह आंतरिक दशा है जो व्यक्ति को व्यवहार करने के लिए और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रोत्साहित करते हुए लक्ष्य की ओर अग्रसर करती है।

अभिप्रेरक की व्याख्या आवश्यकताओं के संदर्भ में की जाती है। भूख एक अभिप्रेरक है और भोजन आवश्यकता है। प्यास अभिप्रेरक है और 'पानी' आवश्यकता है। इसी प्रकार प्रत्येक अभिप्रेरक की पूर्ति के लिए आवश्यकता (Need) एक माध्यम के रूप में होती है। विशेषकर शारीरिक अभिप्रेरकों के लिए जैविक स्तर (Biological needs) की आवश्यकताएँ होती हैं।

## 14.5.1 जैविक अभिप्रेरक

जैविक अभिप्रेरक आन्तरिक आवश्यकताओं से सम्बन्धित होते हैं। यह स्वाभाविक और जन्मजात होते हैं। मैक्डूगल ने इन्हें जन्मजात प्रवृत्ति (Instincts) से सम्बन्धित माना है। ये अभिप्रेरक प्राण रक्षा और सामान्य जीवन के लिए अति आवश्यक हैं। शरीर के अन्दर कुछ प्रक्रियाएं स्वत: ही होती रहती हैं, जैसे पाचन और रक्त संचार प्रक्रियाएं (Digestive and cirentatory process)। ये स्वचालित होती हैं और शारीरिक सन्तुलन को बनाए रखती हैं। इन स्वचालित प्रक्रियाओं को 'समस्थिति' (Homeostasis) भी कहा जाता है। समस्थिति की क्रिया द्वारा शरीर के हार्मोन्स आदि अपने अनुपात को संतुलित बनाये रखते हैं। शरीर को जब आवश्यक तत्त्व प्राप्त नहीं होते हैं तो समस्थिति प्रभावित होती है। पुन: शारीरिक साम्यावस्था को सक्रिय करने के लिए शरीर को भोजन, जल, वायु आदि दिए जाते हैं। इन्हें ही जैविक आवश्यकता कहा जाता है। इससे सम्बन्धित अभिप्रेरकों का लगभग उसी प्रकार वर्णन किया जाता है जिस प्रकार आवश्यकताओं का अध्ययन किया जाता है और अधिक मानव अभिप्रेरणा सम्बन्धी जानकारी के लिए अभिप्रेरकों का अध्ययन कुछ महत्त्वपूर्ण मूलभूत आवश्यकताओं के सन्दर्श में करना ही उपयोगी है। व्यक्ति इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जीवन भर संघर्ष करता है और लक्ष्य को प्राप्त करने की आकांक्षा में ही वृद्धावस्था में पहुंच जाता है। कौलमेन ने सभी आवश्यकताओं को चार भागों में बांटा है—

**1 आन्तरांग आवश्यकताएं (Visceral Needs)**—भूख और प्यास के अभिप्रेरक इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इन आवश्यकताओं के अन्तर्गत भोजन, पानी, ऑक्सीजन, नींद, मल-मूत्र निष्कासन तथा अन्य पदार्थ, जो जीवन के लिए आवश्यक होते हैं, आते हैं।

**2 सुरक्षात्मक आवश्यकताएं (Saftey Needs)**—शारीरिक क्षति और हानि से शरीर को बचाये रखने के लिए जिन स्थितियों और वस्तुओं की आवश्यकता होती है उनको सुरक्षात्मक आवश्यकताएं कहते हैं।

**3 काम सम्बन्धी आवश्यकताएं (Sex Needs)**—जननेन्द्रियों से उदित कामेच्छा की तृप्ति और कामोत्तेजना इसके अन्तर्गत आते हैं।

**4 संवेदी और गतिवाही (Sensory and Motor Needs)**—इसके अन्तर्गत आने वाली आवश्यकताओं का संबंध शारीरिक विकास के तथा संवेदी अंगों और ग्रन्थियों और पेशियों की कार्य प्रणाली से होता है। वृद्धावस्था में संवेदनात्मक क्रियाओं और गतिशीलता में जो ह्रास होता है वह इन्हीं आन्तरिक और स्वाभाविक आवश्यकताओं से सम्बन्धित होता है, इसलिए वृद्धावस्था में किसी न किसी प्रकार के कार्य में व्यस्त रहना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 14.6 जन्मजात आधारभूत प्रेरणात्मक स्थितियां

अभिप्रेरणा की मनोदैहिकी के अध्ययन के अन्तर्गत सर्वप्रथम उन विभिन्न शारीरिक ऊतकों (Tissues) की आधारभूत स्थितियों का अध्ययन किया जाता है जो कि प्राणी के व्यवहार के लिए शक्ति प्रदान करते हैं। फ्रीमैन के अनुसार, बाह्य उत्तेजनाएं इस शक्ति को प्रवाहित करने का काम करती हैं। प्रमुख प्रेरक शक्तियां आन्तरिक ऊतकों की क्रियाशीलता से उत्पन्न होती है तथा नाड़ी पेशीय तंत्र (Neuromuscular) को क्रिया करने के लिए उत्तेजित करती है। यहां पर विभिन्न आधारभूत प्रेरणात्मक स्थितियों—भूख, प्यास, काम आदि का उल्लेख किया जाएगा जो कि प्राणी के सम्पूर्ण व्यवहार को समायोजना के लिए अभिप्रेरित करती हैं।

### 14.6.1 भूख (Hunger)

भूख वह स्थिति है जिसके द्वारा व्यक्ति का समस्त शारीरिक और मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाता है। भूख एक शारीरिक स्थिति है जो कि प्राणी की मानसिक स्थिति को तुरन्त प्रभावित करती है। यही कारण है कि भूखा प्राणी खूंखार और चिड़चिड़ा हो जाता है। यह मानसिक स्थिति संवेगात्मक भी होती है जिसके कारण शारीरिक कार्यक्षमता बढ़ जाती है। इस प्रकार भूख के द्वारा होने वाले शारीरिक परिवर्तन मानसिक प्रक्रियाओं पर प्रभाव डालते हैं। यह मानसिक प्रक्रियाएं संवेगों को जन्म देती हैं जो पुन: क्षीण शारीरिक क्रियाओं को उत्तेजना प्रदान करते हैं। भूख की स्थिति में सम्पूर्ण आमाशय एक विशेष प्रकार की हरकत करने लगता है। मनोवैज्ञानिकों ने इस हरकत का मापन करने के लिए एक विशेष प्रकार के यन्त्र की खोज की, और प्रयोग भी किए हैं। प्रयोगात्मक तथ्यों के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भूख की स्थिति में होने वाली हरकत प्रति दस मिनट से लेकर पच्चीस मिनट तक होती है। अन्य प्रयोगों के द्वारा मनोवैज्ञानिकों ने और बहुत से निष्कर्ष निकाले, जिनके द्वारा उन्होंने भूख के प्रभाव का अध्ययन विभिन्न पहलुओं से किया है। भूख की स्थिति में रक्त के रासायनिक परिवर्तनों पर एक विशेष प्रकार का प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए जब खाना नहीं खाया जाता तो भोजन के साथ प्राप्त किये जाने वाले शर्करा तत्त्व की कमी के कारण भूख की संवेदनाओं का अनुभव होने लगता है। यदि रक्त में इन्जेक्शन के द्वारा शर्करा पहुंचा दी जाए तो भूख का लगना बन्द हो जाता है। इसी प्रकार यदि शरीर में चर्बी, कार्बोहाइड्रेटस, प्रोटीन और विटामिन की कमी हो जाती है तो बहुत अधिक भूख लगती है।

### 14.6.2 प्यास (Thirst)

पानी की कमी के कारण उत्पन्न होने वाली आंतरिक उत्तेजनाओं में प्यास से सम्बन्धित उत्तेजनाएं अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हैं। शरीर में पानी के तत्त्वों की अत्यधिक कमी हो जाने के साथ ही रक्त में अनेक नमकीन पदार्थों की मात्रा में वृद्धि देखी जाती है, जिससे रक्त का घनत्व बढ़ जाता है एवं लारवाही ग्रन्थियों (Salivary gland) के कोषों में स्थित पदार्थों का घनत्व प्राय: समान हो जाता है। जैसे-जैसे रक्त का घनत्व बढ़ता जाता है लार ग्रंथि का प्रवाह घटता जाता है। विशेष रूप से गले के पिछले भाग में म्यूकस झिल्ली में जब पानी की मात्रा की कमी हो जाती है एवं लार ग्रंथि के प्रवाह द्वारा नमी नहीं मिलती है तब वहाँ के अन्त:ग्राहकों में खुश्की की व्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। इन अन्त:ग्राहकों में संवेदनात्मक उत्तेजनाएं केन्द्रीय तंत्रिका तक जाती है तथा प्राणी को इस कमी की पूर्ति के लिए बेचैन कर देती है। यह बेचैनी की स्थिति तब तक बनी रहती है जब तक कि व्यक्ति की प्यास तृप्त न हो जाए।

### 14.6.3 ऑक्सीजन (Oxygen)

दूसरी महत्त्वपूर्ण कमी ऑक्सीजन की कमी है। यह कमी प्राणी को नाड़ी पेशीय क्रियाएं करने के लिए बाध्य करती है। फेफड़ों में ऑक्सीजन की पर्याप्त मात्रा न पहुंचने पर घबड़ाहट या दम घुटने की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इन अवस्थाओं में आवेग किस प्रकार से कार्य करते हैं—यह तो अभी तक स्पष्ट नहीं हो पाया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

यद्यपि इस सम्बन्ध में दो प्रकार की व्याख्या की जा सकती है—या तो श्वास नलिका में होने वाली कमी या अधिकता के कारण यह कार्य करते हैं। इनमें से बाद की व्यवस्था अधिक सम्भावित प्रतीत होती है। श्वास गति में तीव्रता मैड्यूला ओंबलेगेटा में स्थित उन केन्द्रों के द्वारा संचालित होती है जो कि रासायनिक परिवर्तनों के प्रति अति संवेदनशील होते हैं। रक्त में एसिडिटी की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार ही इस केन्द्र की श्वास पेशियों के लिए, आवेग विसर्जित करने की गति निर्धारित होती है तथा यह गति बाह्य परिवेश में वायु के औसत दबाव के अनुकूल होने का प्रयास करती है। ऊंचे स्थानों में रक्त में Alkanity बहुत कम हो जाती है तथा ऐसी दशाएं समान व उपयुक्त बनाए रखने के लिए श्वास लेने की क्रिया तेज व गहरी होने लगती है। तीव्र गति से श्वास लेने की क्रिया के अधिक हो जाने के कारण फेफड़ों से निकलने वाली ऑक्सीजन की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। एसिडिटी की वृद्धि न्यूरल उत्तेजना के द्वारा रक्त संचार की गति में भी वृद्धि कर देती है तथा इस प्रकार शरीर के अन्तिम ऊतकों के लिए ऑक्सीजन पहुंचने की क्रिया में वृद्धि हो जाती है। ऑक्सीजन की कमी से मस्तिष्क का भूरा पदार्थ विशेष रूप से प्रभावित होता है। इसी कारण ऊंचे स्थानों पर हवा की कमी के कारण मानसिक क्रियाएं प्राय: ठप्प हो जाया करती हैं।

## 14.6.4 दबाव-तनाव की स्थितियां (Pressure-Tension Conditions)

केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र को उत्तेजित करने वाली अन्य तीव्र उत्तेजनाएं (Viscere) शरीर के कुछ अंगों में उपस्थित पदार्थों के निरन्तर दबाव से उत्पन्न होती हैं। इन उत्तेजनाओं में ब्लेडर (Bladder) तथा कॉलन (Colon) सम्बन्धी तनाव एवं दबाव—उत्तेजनाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जब ब्लेडर अपने भीतर उपस्थित पदार्थों से भरकर फैल जाता है तब उसकी दीवारों में स्थित दबाव संवेदना के ग्राहकों में दबाव के आवेग अनुभव होने लगते हैं और यह स्थिति उस समय तक रहती है जब तक कि उनको पोषण के द्वारा दूर न किया जाये। इसी प्रकार कॉलन में उपस्थित पदार्थों के दबाव के कारण मल त्याग के दबाव की उत्तेजनाएं शुरू हो जाती हैं। शैशवावस्था में इन ऊतक स्थितियों की मुक्ति के समय प्राणी पर्यावरण का ध्यान नहीं रखता है किन्तु बाद में प्रशिक्षण के द्वारा प्राणी उपयुक्त बाध्य वातावरण में ही इन दबाव की अवस्थाओं से मुक्ति पाना सीख लेता है और जब तक प्राणी को इन दबाव की अवस्थाओं से मुक्ति पाने के लिए उपयुक्त पर्यावरण प्राप्त नहीं होता है वह बेचैन रहता है तथा उसकी आन्तरिक शारीरिक क्रिया प्रणाली असन्तुलन की अवस्था में बनी रहती है। इससे सम्बन्धित अन्य दबाव-तनावों का उल्लेख भी किया जा सकता है जो कि प्राणी के तंत्रिका तंत्र को अपनी मुक्ति के लिए निरन्तर उत्तेजित करते रहते हैं। पेट एवं आंतों में गैस की उपस्थिति अथवा किसी अन्य आन्तरिक पीड़ा से पीड़ित व्यक्ति उस समय तक बेचैन रहता है जब तक कि वह उस पीड़ा से मुक्ति नहीं पा लेता है।

## 14.6.5 तापक्रम (Temperature)

शरीर के तापक्रम को एक सामान्य अवस्था में रखना एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्थित्यात्मक क्रिया है। शरीर का सामान्य तापक्रम 98.6° F है जो कि समुचित ऑक्सीजन गति के लिए उपयुक्त एवं शारीरिक ऊतकों की चयापचय क्रिया (Metabolism) के लिए आवश्यक है। यह सामान्य तापक्रम की अवस्था त्वचा के द्वारा ऊर्जा के उपयुक्त विनिमय द्वारा जारी रहती है। इस विनिमय की क्रिया को ताप नियन्त्रण (Heart regulation) की क्रिया भी कहा जाता है जिसके अन्तर्गत ताप की उत्पत्ति एवं मुक्ति दोनों प्रकार की क्रियाएं सम्मिलित हैं। जब बाह्य वातावरण का तापक्रम शरीर के तापक्रम से अधिक हो जाता है तब ताप मुक्ति की मात्रा बढ़ जाती है एवं ताप उत्पत्ति की मात्रा कम हो जाती है। वातावरण के तापक्रम या शरीर के तापक्रम के अचानक परिवर्तन होने पर त्वचा में ताप नियन्त्रण की अपर्याप्त अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण प्राणी में बेचैनी की अवस्था तथा क्रियाएं प्रकट होने लगती हैं। यह उस समय तक बनी रहती है जब तक कि त्वचा में उपयुक्त तापक्रम की अवस्था समुचित रूप में नहीं हो जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 14.6.6 काम (Sex)

प्रेरक उत्तेजनाओं से सम्बन्धित अवस्थाओं का विवेचन करते समय अब तक केवल उन अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है जिसका सम्बन्ध केवल स्निग्ध पेशियों से था। ये प्रेरक इस प्रकार के असन्तुलन की अवस्था उत्पन्न करते हैं जो कि किसी बाह्य क्रिया के रूप में प्रकट होती है। काम (Sex urge) को छोड़कर अन्य सभी ग्रन्थियों से संबंधित उत्तेजक अवस्थाएं व्यवहार को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित करती हैं। यह एक प्रकार की सामान्य प्रेरक स्थिति को उत्पन्न करती है जो कि किसी विशिष्ट प्रकार के पुन: समायोजन प्रत्युत्तर के रूप में प्रकट नहीं होती बल्कि अनेक विभिन्न रूपों में प्रकट होती है।

यौन क्रिया प्रणाली को नियन्त्रित या समायोजित करने वाले केन्द्र सुषुम्ना तथा मस्तिष्क दोनों में स्थित रहते हैं। वे केन्द्र विभिन्न प्रकार से प्राप्त होने वाली संचयी उत्तेजना को उस समय तक एकत्रित करते हैं एवं शान्त बने रहते हैं जब तक कि उनकी केन्द्रीय उत्तेजना की अवस्था (Central Excitatory State) एक उचित अथवा निर्धारिक सीमा तक नहीं पहुंच जाती है। विभिन्न पदार्थों या स्थितियों के द्वारा प्राप्त साधारण मात्रा वाली उत्तेजनाएं इन नियंत्रण केन्द्रों को उत्तेजित नहीं कर पाती हैं। जब किसी एक पदार्थ के द्वारा उत्पन्न उत्तेजनाएं एक निश्चित सीमा से अधिक हो जाती हैं, तब वे विभिन्न पदार्थों के द्वारा उत्पन्न तीव्रता वाली उत्तेजनाओं के साथ प्रतिक्रिया करती हैं।

यौन व्यवहार को मुख्य रूप से हार्मोनल एजेन्सियां प्रभावित करती हैं। स्पाइल केन्द्रों को प्रभावित करने के साथ-साथ ये आन्तरिक यौन उत्तेजक विभिन्न क्रियाओं या व्यवहारों को उत्पन्न या नियंत्रित करते हैं। ये क्रियाएं प्रारम्भ में अव्यवस्थित एवं बाद में सुनिश्चित हो जाती हैं जो कि अन्त में स्पाइनल केन्द्र की उत्तेजनाओं को Critical point तक उत्तेजित करने की विधि का रूप ले लेते हैं। मनुष्य के संबंध में इस प्रकार की उत्पन्न बाह्य उत्तेजनाएं पूर्णत: सीखी हुई होती है। समयौनि प्रेम (Homosexuality) तथा हस्तमैथुन (Masturbation) की व्यापकता इस बात का प्रमाण है कि विषम यौनि प्रेम का एक प्रमुख कारण सामाजिक प्रभाव तथा यौन तनाव को शान्त करने के लिए एक साधन है।

## 14.6.7 अभिप्रेरणा एवं समस्थिति (Motivation and Homeostasis)

मानव के शरीर सन्तुलन को बनाये रखने के लिए प्राणी मात्र के शरीर में विभिन्न प्रकार के भौतिक एवं रासायनिक परिवर्तन सदैव होते रहते हैं। यदि यह भौतिक और रासायनिक परिवर्तन कुछ समय के लिए मन्द या अधिक तीव्र हो जाए तो व्यक्ति का शारीरिक सन्तुलन बिगड़ जाता है एवं उनकी समस्त प्रक्रियाएं प्रभावित होने लगती हैं। उदाहरणार्थ यदि पानी या ऑक्सीजन आदि की उचित मात्रा शारीरिक सुरक्षा के लिए आवश्यक या सामान्य संतुलन की मात्रा कम-अधिक हो जाती है, तब इस संतुलन की पुनर्स्थापनार्थ अपने आप ही कुछ विशिष्ट शारीरिक प्रणालियां क्रियाशील हो उठती हैं। यदि वह विशिष्ट आंगिक प्रणालियां पुन: समायोजन स्थापित करने में समर्थ नहीं हो पाती हैं, तब प्राणी का समस्त नाड़ीय तंत्र (Neuromuscular system) संतुलन स्थापित करने के लिए पूर्णरूपेण क्रियाशील हो उठता है। इस संतुलन की प्रक्रिया को समस्थिति (Homeostasis) कहा जाता है। यह भी मनुष्य की एक विशिष्ट शारीरिक संतुलन की अवस्था है।

उदाहरणार्थ रक्त में नमक की कमी होने पर एक लम्बे समय तक एड्रीनल कॉर्टेक्स अपने में पहले से संचित नमक में से इस कमी की पूर्ति करती रहती है किन्तु जब नमक की मात्रा प्राय: समाप्त हो जाती है तब प्राणी का समस्त नाड़ी पेशीय तंत्र (Neuromuscular system) क्रियाशील हो उठता है। तब उसके सम्पूर्ण व्यवहार का लक्ष्य नमक की प्राप्ति करना होता है। नमक संतुलन के संबंध में कई महत्त्वपूर्ण प्रयोग किए गये हैं। रिचटर (Richter) के प्रयोग में एड्रीनल कार्टेक्स को हटा देने पर पीने के लिए चूहों ने सामान्य पानी की अपेक्षा नमक का घुला हुआ पानी चुना। अन्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अध्ययनों में यह भी पाया गया कि पशु प्राय: उन भोजन तत्वों को चुनता है जिसकी कमी उसके अन्दर होती है। एक अन्य प्रयोग में यह पाया गया कि अधिक तापक्रम वाले भागों में काम करने वाले व्यक्ति अपनी सामान्य अवस्था की अपेक्षा तीन या छह गुना अधिक पानी पीते हैं जिससे कि त्वचा के द्वारा अधिक मात्रा में निकल जाने वाले पानी की पूर्ति हो सके। इसी प्रकार शरीर में अन्य आवश्यक शारीरिक तत्त्वों—पानी, ताप, कैल्सियम, ऑक्सीजन, प्रोटीन, चर्बी, कार्बोहाइड्रेटस, या किसी विशेष प्रकार के अम्लों की कमी होने लगती है तो शारीरिक संतुलन बिगड़ने लगता है। अत: यह स्पष्ट है कि अभिप्रेरित व्यवहार मुख्य रूप से समस्थिति क्रियात्मक होता है तथा इसी कारण प्रेरणा की समस्या को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(i) वे आधार स्थितियां जो शरीरगत संतुलन या स्थिर अवस्था को भंग करती हैं।

(ii) वे विधियां या क्रिया-प्रणालियां जिनके द्वारा यह संतुलन की अवस्था पुन: स्थापित की जाती है तथा

(iii) पुन: समायोजन करने में पूर्ण या आंशिक सफलता का प्रभाव।

---

**बोध प्रश्न 2:**

---

*1. प्रेक्षाध्यान के द्वारा संवेगों का नियंत्राण कैसे संभव है?*

*2. भूख एक संवेग है। कैसे?*

## 14.6.8 मनोवैज्ञानिक अभिप्रेरक (Psychological Motives)

यह अभिप्रेरक अर्जित होते हैं। जिस प्रकार जैविक अभिप्रेरक शरीर की वृद्धि और विकास के लिए आवश्यक ऊर्जा संचालक होते हैं, उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक अभिप्रेरक मानसिक विकास और संतुलन के लिए आवश्यक हैं। जहाँ शारीरिक आवश्यकताएं मानव जीवन के आधारभूत अभिप्रेरक होती हैं। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति की कुछ मानसिक अवस्थाएं होती हैं। यदि इनकी पूर्ति और तृप्ति नहीं होती है तो व्यक्ति धीरे-धीरे सामान्य व्यवहार से परे हटता जाता है। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति होते रहने के कारण शरीर तो स्वस्थ बना रहता है किन्तु मानसिक आवश्यकताओं से पूर्ति न होने से मानसिक विकृतियां उत्पन्न होने लगती हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं तृप्ति बहुत आवश्यक है। यद्यपि दोनों प्रकार के अभिप्रेरक एक-दूसरे के पूरक हैं।

### 14.6.8.1 प्रेम (Love)

मानव जाति के अस्तित्व में आने वाले दिन से लेकर अब तक यह एक ऐसी अर्जित आवश्यकता है जिसके बिना बालक से लेकर वृद्ध तक कोई भी सामान्य व्यवहार नहीं कर सकता। मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्तियों में सबसे महत्त्वपूर्ण और बलशाली प्रेम की प्रवृत्ति है। प्रत्येक व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक दूसरों से प्रेम करना चाहता है और दूसरे उसको प्रेम करें इसकी अभिलाषा करता है। फ्रायड ने प्रेम को जीवन की मूल प्रवृत्ति (Life instinct) माना है। वह कहता है कि यह एक ऐसी मूल प्रवृत्ति है जिसके द्वारा हम निर्माणकारी कार्यों में रुचि लेते हैं। यह एक ऐसा अभिप्रेरक है जो जीने के लिए प्रोत्साहन देता है। जब यह प्रेम (अभिप्रेरक) मन्द गति में आ जाता है तब उसकी मानसिक अवस्था असन्तुलित होने लगती है। धीरे-धीरे वह हतोत्साहित होने लगता है। तनाव और कुण्ठा से घिर जाता है।

### 14.6.8.2 आत्म गौरव (Self-Esteem)

मनुष्य समाज में रहते हुए यह चाहता है कि समाज के लोग उसका मूल्यांकन करें। अपने सम्मान के लिए वह सब कुछ कर सकता है। वह विश्वास करता है कि वह भी उन चन्द लोगों की तरह महत्त्वपूर्ण है जो समाज

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

का संचालन करते हैं। वह अपने व्यक्तित्व की समाज के विशेष मूल्यों और मानदंडों से तुलना करता है, उदाहरण के लिए वह अपनी आर्थिक स्थिति, शारीरिक दशा और उपलब्धियों को आत्म गौरव की अनुभूति से जोड़ता है। इस प्रकार की अन्य अनुभूतियों के आधार पर वह दूसरों से सम्मान प्राप्त करने की इच्छा रखता है। अपनी मान-मर्यादा, प्रतिष्ठा और सम्मान को सुरक्षित रखने के लिए वह सब कुछ कर सकता है। दूसरों के सामने हीन और हारे हुए व्यक्ति के सामने वह कभी नहीं आना चाहता है। सदैव आत्म सम्मान के साथ जीना उसके जीवन का लक्ष्य होता है।

### 14.6.8.3 सामाजिक अनुमोदन (Social Approval)

जन्म से बालक यह महसूस करता है कि उसे अपने संरक्षण के लिए व्यक्तियों की सहायता प्राप्त करनी चाहिए विकास के प्रथम महीनों और वर्षों में वह मां पर निर्भर करता है और धीरे-धीरे यह निर्भरता पिता या अन्य परिवारजनों तक बढ़ जाती है। निर्भरता की भावना बाद में चलकर सामाजिक अनुमोदन में परिवर्तित हो जाती है। प्रत्येक सामान्य व्यक्ति चाहता है कि वह जो अच्छे कार्य करता है उसके लिए समाज के लोग उसका अनुमोदन करें तथा उसको पुरस्कृत करें। इस प्रकार समाज के सहारे के बिना और कार्यों के अनुमोदन के बिना वह उन्नति नहीं कर सकता है। कम से कम समाज में उसे मान-प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हो पाती। जो लोग समाज की परवाह किये बिना अपने वैयक्तिक कार्यों को सम्पन्न करते हैं वे सफल नहीं हो पाते। समाज की उपेक्षा का अर्थ है भविष्य में अपना बहिष्कार। यह बात दूसरी है कि समाज प्रत्यक्ष में आपका बहिष्कार न करे, परन्तु अप्रत्यक्ष में आपके रास्ते अवश्य रोक देता है, जिसके कारण लक्ष्य तक पहुंचने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

### 14.6.8.4 पर्याप्तता एवं कुशलता (Adequacy and Competency)

यह एक ऐसा अभिप्रेरक है जिसका सम्बन्ध मनुष्य की उस सामर्थ्य से होता है जिसके द्वारा वह विषम तथा विपरीत परिस्थितियों में वातावरण के साथ अपना समायोजन बनाये रखकर अपने व्यवहार को सन्तुलित बनाये रखता है, उदाहरण के लिए अचानक कहीं आग लग जाए और आपके घर को भी खतरा उत्पन्न होता नजर आये तो अपने धैर्य को बनाये हुए और बिना घबराहट के किस प्रकार परिस्थिति से निबटते हैं, यह आपकी कुशलता और क्षमता पर निर्भर करेगा। इस प्रकार जब व्यक्ति को यह विश्वास हो जाता है कि वह कठिन से कठिन परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर सकता है तो उसे यह अनुभूति होती है कि वह एक कुशल और उपयुक्त (या पर्याप्त) व्यक्ति है। इस अनुभूति से वह अपने को कुशल, समर्थ, बुद्धिमान् और मूल्यवान् समझता है। यह विचार जीवन के लिए प्रोत्साहन है जो सफलता के नजदीक ले जाता है।

### 14.6.8.5 सुरक्षा (Security)

यह बड़ा महत्त्पूर्ण अभिप्रेरक है। एक व्यक्ति जो नौकरी कर रहा है वह वेतन कम ले सकता है यदि ये गारण्टी है कि उसकी नौकरी सुरक्षित है, अर्थात् अकारण ही उसे निकाल नहीं दिया जायेगा। किन्तु वेतन दुगुना मिले और नौकरी की गारण्टी न हो तो असुरक्षा की भावना हर समय बनी रहेगी। सुरक्षा की अभिप्रेरणा ऐसी है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने आपको सन्तुलित बनाये रखता है। समाज में रहकर वह चाहता है कि आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक स्तर पर वह पूर्णत: सुरक्षित रहे। वह नहीं चाहता कि अन्य लोग उसकी किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता में बाधा डालें। इस स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए वह अधिक से अधिक सामाजिक संबंध बनाता है, धन संचय करता है, धार्मिक और राजनैतिक नेता बनना चाहता है। इस प्रकार अपनी प्रत्येक क्षेत्र की सुरक्षा के लिए वह हर सम्भव प्रयास करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 14.7 अभ्यासार्थ नमूने प्रश्न

**I. निबन्धात्मक प्रश्न**

1. संवेग के सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।
2. अभिप्रेरणा की जन्मजात स्थितियों का वर्णन कीजिए।

**II. लघुरात्मक प्रश्न** (100 शब्दों में उत्तर दीजिए)

1. संवेगों की प्रकृति और आयाम बताइये।
2. अभिप्रेरणा का समस्थिति से क्या सम्बन्ध है?

**III. एक शब्द में उत्तर दीजिये—**

1. संवेग की अनुभूति होने पर हृदय की गति का क्या होता है?
2. स्वचालित तंत्रिका तंत्र के कितने नाम होते हैं?
3. प्रेरणा की समस्या को कितने भागों में विभक्त किया जा सकता है?

## 14.8 संदर्भ पुस्तकें


1. फिजियोलोजिकल साइकोलोजी—एफ. ल्यूकेल
2. शारीरिक मनोविज्ञान—प्रो. आर.के. ओझा
3. प्रेक्षाध्यान : थ्योरी एंड प्रेक्टिस—आचार्य महाप्रज्ञ
4. प्रेक्षाध्यान—मुनि महेन्द्रकुमार


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई 15 : मन द्वारा स्वनियन्त्रित तंत्रिका तंत्र का नियोजन एवं प्रेक्षाध्यान का प्रभाव

**संरचना**


15.0 उद्देश्य

15.1 स्वनियंत्रित तंत्रिका तंत्र की मूल संरचना एवं क्रियाविधि

15.1.1 अनुकम्पी अनुभाग

15.1.1.1 अनुकम्पी अनुभाग के कार्य

15.1.2 परानुकम्पी अनुभाग

15.1.2.1 परानुकम्पी अनुभाग के कार्य

15.2 मन द्वारा स्वनियंत्रित तंत्रिका तंत्र के कार्यों का नियोजन

15.3 अभ्यासार्थ प्रश्न

15.4 संदर्भ ग्रंथ


## 15.0 उद्देश्य

(1) स्वनियंत्रित तंत्रिकातंत्र की क्रियाविधि को समझ सकेंगे।

(2) मन और स्वनियंत्रित तंत्रिका तंत्र के सम्बन्ध की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

(3) प्रेक्षाध्यान के द्वारा मन-स्वनियंत्रित तंत्रिका तंत्र के अन्तर्सम्बन्धों को पुष्ट करने की प्रविधि सीख सकेंगे।

## 15.1 स्वनियन्त्रित तंत्रिका तंत्र की मूल संरचना एवं क्रिया विधि

शरीर के भीतर कुछ ऐसी भी तंत्रिकाएं हैं जिनकी क्रियाओं का संबंध मस्तिष्क से नहीं रहता, परंतु ऐसी तंत्रिकाएं केंद्रीय तंत्रिका तंत्र से ही उत्पन्न होती हैं। क्रियाओं की भिन्नता के कारण वह एक अलग भाग बन जाता है। इस भाग की तंत्रिकाएं हमारे मस्तिष्क को न तो सूचना ही भेजती हैं और न तो मस्तिष्क से कोई सूचना ग्रहण करती हैं। इनकी क्रिया स्वत: होती है। फुफ्फुस, हृदय की धड़कन, आमाशय की पेशियों में संकुचन तथा प्रसरण, वृक्क, मूत्राशय, गर्भाशय आदि की क्रियाएं हमारी इच्छाओं द्वारा नहीं होतीं। वे स्वत: कार्यरत रहती हैं। इनको नियंत्रित करने वाली तंत्रिकाओं का मस्तिष्क के केंद्रों से कोई संसर्ग नहीं रहता। आंतरिक अंगों को नियंत्रित करने वाली तंत्रिकाओं का स्वतंत्र समूह होता है, जिसे एक पृथक् मंडल के रूप में रखा गया है। इस तंत्र में भी तंत्रिका कोशिका की गंडिकाएं (Ganglion) तथा तंतु होते हैं। यह तंत्र केंद्रीय तंत्रिका तंत्र के तंतुओं द्वारा संबंधित रहते हुए भी स्वतंत्र कार्य करता है, इसीलिए इसे स्वायत्तशाषी तंत्रिका-तंत्र कहा जाता है।

क्रियाओं तथा रचना के आधार पर इस तंत्र को दो भागों में विभाजित किया गया है—

1. अनुकंपी (Sympathetic) 2. परानुकंपी (Parasympathetic)।

### 15.1.1 अनुकंपी अनुभाग

अनुकंपी तंत्र को 'वक्ष-कटि-विभाग' भी कहा जाता है; क्योंकि इसकी गुच्छिकाएं मेरुरज्जु के कटि और वक्ष खंडों के धूसर द्रव्य में से निकलती हैं। यदि वक्ष तथा उदर को खोल कर देखा जाए तो यह प्रतीत होगा कि पृष्ठवंश के दोनों ओर श्वेत रंग की छोटी-छोटी गंडिकाओं की लंबी श्रृंखला निकली हुई है, जो कपाल के नीचे से प्रारंभ होकर अनुत्रिकास्थि के अंत तक चली गई हैं। ये गंडिकाएं माला की तरह लटकी रहती हैं। मेरुरज्जु के दोनों ओर गुच्छिकाओं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

की इस श्रृंखला को 'अनुकंपीश्रृंखला' कहते हैं। गंडिकाएं आपस में तंत्रिका तंतुओं द्वारा संबंधित रहती हैं और प्रत्येक गंडिका से तंतु निकल कर सुषुम्ना से मिले रहते हैं। ऐसे तंतुओं को 'गंडिका पूर्व तंतु' कहते हैं। इस प्रकार कशेरुकों के पार्श्व में 22 गंडिकाओं की एक-एक श्रृंखला दाहिनी तथा बायीं दोनों ओर स्थित हैं। इन्हें 'पार्श्व कशेरुकी गंडिकाएं' (Lateral Vertebral Ganglion) कहते हैं। इन गंडिकाओं से गंडिका पश्च तंतु निकलते हैं जो रक्तवाहिकाओं के साथ मिलकर शरीर के विभिन्न अंगों में तंतु के रूप में फैले रहते हैं। इन गंडिकाओं तथा उनके तंतुओं को 'अनुकंपी तंत्रिका' कहते हैं।

मेरुरज्जु से निकलने वाले तंतु धूसर भाग के पार्श्व श्रृंगों में स्थित कोशिकाओं से अक्षतंतु के रूप में निकलकर अग्रमूल के साथ बाहर आते हैं। फिर ये मूल से अलग होकर पार्श्व गंडिका में चले जाते हैं। ये चमकीले तथा श्वेत रंग के होते हैं। इन्हें 'श्वेत संयोजनी तंतुकाएं' (White rami communicates) कहते हैं। कुछ तंतु गंडिका से निकल कर मेरु-तंत्रिका में चले जाते हैं। ये कुछ मटमैले धूसर रंग के होते हैं, जिन्हें 'धूसर संयोजनी तंतुकाएं' (Grey rami communicates) कहते हैं।

वास्तव में अनुकंपी तंत्र में दो गंडिकायुक्त रज्जु का सूत्र रहता है, जो खोपड़ी के आधार से कशेरुकदंड (मेरुदंड) के अग्र भाग से होते हुए नीचे की ओर श्रोणि में अनुत्रिक के विपरीत भाग में एकांत गंडिका के रूप में समाप्त होता है। गंडिकाएं जोड़े के रूप में व्यवस्थित रहती हैं, जिनका विवरण इस प्रकार रहता है—

**ग्रीवा में :** तीन जोड़े ग्रीवा गंडिका (Cervical ganglia),

**वक्ष में :** ग्यारह जोड़े वक्षीय गंडिका (Thoracic gnaglia),

**कटि में :** चार जोड़े कटि गंडिका (Lumber ganglia),

**श्रोणि में :** चार जोड़े त्रिक गंडिका (Sacral ganglia) तथा

**अनुत्रिक के अग्रभाग में :** एकांत गंडिका।

उपर्युक्त रूप में 22 जोड़ी गंडिकाएं व्यवस्थित रहती हैं, जो केंद्रीय तंत्रिका तंत्र से मेरुरज्जु के माध्यम से जुड़ी रहती हैं। अन्य अनुकंपी गंडिकाएं अपने तंतुओं द्वारा इन्हीं दोनों गंडिकायुक्त रज्जु से जुड़ी रहती हैं और अनुकंपी जालिका बनाती हैं।

1. हार्दिकी जालिका (Cardiac Plexus): यह हृदय के आधार के पास रहती है और अपनी शाखा हृदय तथा फेफड़ों में फैलाए रहती है।
2. कुक्षि जालिका (Coeliac Plexus): यह आमाशय के पृष्ठ भाग में रहती है और आमाशयिक गुहा में फैली रहती है।
3. अधोजठर जालिका (Hypogastric Plexus): यह त्रिक के अग्रभाग में व्यवस्थित और श्रोणि में फैली रहती है।

### 15.1.1.1 कार्य

अनुकंपी तंत्रिकाओं द्वारा अनेक अंगों की क्रियाओं का नियंत्रण तथा नियमन होता है। इनकी क्रियाएं अधिक हैं। त्वचीय तंत्रिकाओं के साथ मिलकर ये त्वचा की अनैच्छिक पेशियों से क्रिया करवाती हैं। त्वचा स्थित रक्त-वाहिकाएं इनकी सक्रियता से ही संकुचित होती हैं और हृदय, मस्तिष्क तथा पेशियों को अधिक रक्त मिलता है, परिणामस्वरूप रक्त का दाब बढ़ जाता है। स्वेद ग्रंथियों में अधिक स्वेद बनता है। उदर के भीतर के अंगों में अंत्रानुगा (Splanchnic) तंत्रिकाओं के साथ पहुंचकर अंत्रियों की गति का नियमन करते हैं। इसके द्वारा ही यकृत में ग्लायकोजिन बनता है, फिर वह ग्लूकोज में परिवर्तित हो जाता है। पाचकक्षेत्र की चरता और स्राव अनुकंपी आवेगों से घटता है। इसके ही आवेगों से हृदय की गति बढ़ती है। मूत्राशय की भित्तियां ढीली पड़ती हैं तथा संवरणी पेशी संकुचित होती हैं। श्वसन की दर भी बढ़ जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

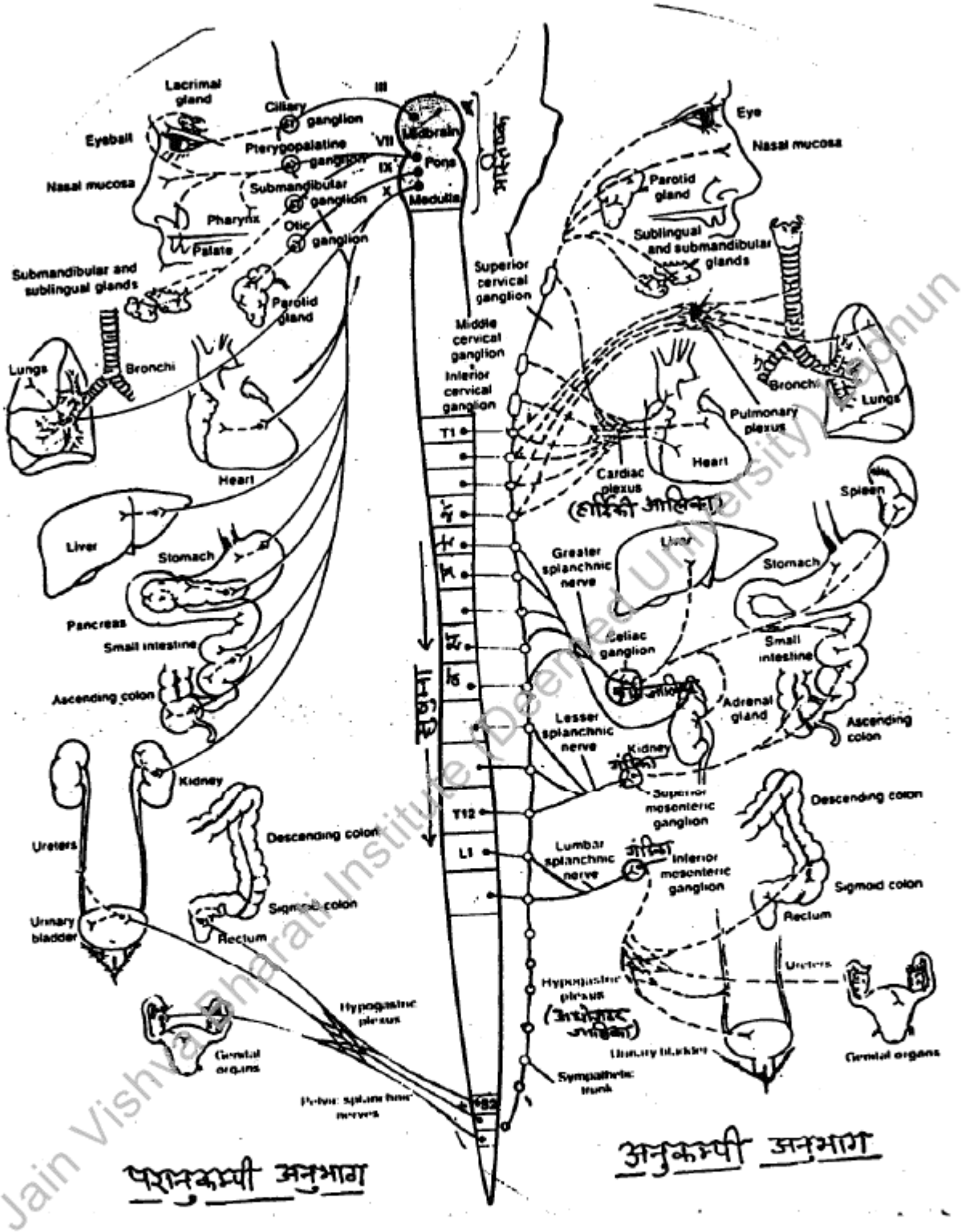


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

(नोट – इस चित्र में अनुकम्पी को दायीं और परानुकम्पी को बायीं ओर दिखाया गया है। वास्तविकता में सुषुम्ना के दोनों ओर ही अनुकम्पी तथा दोनों ओर ही परानुकम्पी तंत्रिकाऐं पायी जाती हैं।

## चित्र संख्या – 1. स्वायत्तशाषी तंत्रिका तंत्र

अधिवृक्क ग्रंथियों में 'एड्रिनेलिन' नामक रसायन इसकी क्रिया से ही बनता है, जिससे शरीर के ताप का नियंत्रण तथा नियमन होता है। इस रसायन के साथ मिलकर सहायक तंतुओं की क्रिया यकृत पर होती है, जिससे रक्त में ग्लूकोज की मात्रा बढ़ जाती है और जिसका प्रभाव रक्तवाहिनियों पर पड़ता है। यह रक्तवाहिनियों के भीतर रक्त तथा उनके चारों ओर ऊतकों में उपस्थित जल की मात्रा का नियमन करता है। जब ऊतकों में जल की कमी होती है तब रक्त से जल ऊतकों में चला जाता है। जब ऊतकों में जल की मात्रा अधिक होती है, तब जल ऊतकों से रक्त में चला आता है। आवश्यकता पड़ने पर अवसर के अनुकूल शरीर में शक्ति आ जाती है। यह शक्ति इसी रसायन तथा अनुकंपी तंत्रिका की क्रिया से उत्पन्न होती है। प्राय: यह देखा जाता है कि किसी के आक्रमण करने पर हम आक्रमणकारी का विरोध करने को तैयार हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में शरीर की पेशियां तन जाती हैं, रक्त-संचार बढ़ जाता है, मुख लाल हो जाता है, त्वचा में रोमहर्ष हो जाता है और नथुने फूल जाते हैं आदि। यह सब अनुकंपी तंत्रिका की सक्रियता के फलस्वरूप ही होता है।

## 15.1.2. परानुकंपी अनुभाग

इस तंत्र को 'कपाल त्रिक विभाग' भी कहते हैं; क्योंकि इसकी गुच्छिका तंत्रिका-कोशिकाएं, मस्तिष्क और मेरुरज्जु के त्रिक खंडों में पायी जाती हैं। इसके दो भाग हैं—1. ऊर्ध्व और 2. अधो। ऊर्ध्व भाग (Cranial Outflow) के सूत्र मध्य मस्तिष्क, सेतु और मेरुशीर्ष के विशेष केंद्रों से निकलते हैं। अधो भाग (Sacral Outflow) के तंतु त्रिक प्रांत में स्थित मेरू के तृतीय, चतुर्थ और पंचम खंडों में स्थित कोशिकाओं से निकलते हैं। मस्तिष्क से जो इसके सूत्र निकलते हैं, वे अलग तंत्रिका के रूप में नहीं रहते। इनके तंतु तीसरी, सातवीं और दसवीं कपाल-तंत्रिका के साथ निकलते हैं।

इन तंतुओं का अंत किसी गंडिका या जालिका में होता है। किंतु, दसवीं या वेगस के तंतु शरीर में बहुत दूर-दूर तक जाते हैं। सबसे ऊपर मध्य मस्तिष्क से आने वाले तंतु नेत्र-चालकी या तृतीय कपाल तंत्रिका के केंद्र से निकलते हैं और परितारिका में समाप्त हो जाते हैं। इसके द्वारा ही उत्तेजनाएं परितारिका में पहुंचती हैं, जिससे पेशियों में संकुचन होता है और नेत्र का तारा संकुचित तथा प्रसारित होता है। इसी प्रकार सेतु में स्थित कोशिकाएं आनन-तंत्रिका के केंद्र से संबंधित हैं। इनसे जो पूर्व गुच्छिका (गंडक) तंतु निकलते हैं, वे आनन-तंत्रिका के मौखिकी तंत्रिका (Chordatympanic) दो शाखा में होकर जिह्वाधर और उपजंभिका (Submaxillary) ग्रंथियों के पास स्थित गुच्छिकाओं में चले जाते हैं तथा वहाँ से लार ग्रंथियों में पहुंच कर वहाँ की रक्त नलिकाओं को प्रसारित करते हैं और ग्रंथियों के स्राव को बढ़ाते हैं।

वेगस-तंत्रिका का शरीर में अधिक दूर तक विस्तार रहता है। इसमें अधिकतर परानुकंपी तंतु होते हैं। मेरुशीर्ष से इसके पूर्व गंडक तंतु तंत्रिका के रूप में धमनी और शिरा के साथ-साथ ग्रीवा से होते हुए वक्ष में पहुंचते हैं, जहाँ से ये फुप्फुसीय जालिका में फैले रहते हैं। वहाँ से इसके तंतु वायु-प्रणालिकाओं की भित्तियों में जाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि पूर्व गंडक तंतु हार्दिकी जालक तक तथा फिर जालक से तंतु हृदय में जाते हैं। फिर यह तंत्रिका उदर में चली जाती है, जहाँ से इसके तंतु आमाशय, क्षुद्रान्त्र, वृहदान्त्र, यकृत, पित्ताशय, पित्तनलिकाओं तथा अग्नाशय में फैले रहते हैं। इन तंतुओं की जालिका समस्त प्रांत की भित्तियों में रहती है। पूर्वगंडिका-तंतु जालिका तक जाते हैं। पश्चगंडिका-तंतु अंगों की भित्ति में जाकर वितीर्ण हो जाते हैं और अंगों की क्रियाओं को नियंत्रित करते हैं।

त्रिक तंत्रिका वृहदांत्र (Large Intestine) के शेष भाग और श्रोणि (Pelvis) में स्थित अंगों का नियंत्रण करती है। यह तंत्रिका मेरुरज्जु के दूसरे, तीसरे और चौथे कटि-खंड से अग्र मूलों के साथ बाहर निकलती है। मूलों से पृथक् होने के बाद यह आपस में मिलकर श्रोणिगा-तंत्रिका बनाती है। इससे वृहदांत्र का शेष दो तिहाई भाग और मूत्राशय के प्रेरक तंतु मिलते हैं। इसके तंतु मूत्राशय तथा गुदा की पेशियों के संकुचन को नियंत्रित करते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 15.1.2.1 कार्य

परानुकंपी तंत्र के ऊर्ध्व भाग के तंतुओं की उत्तेजना के फलस्वरूप नेत्र का तारा संकुचित होता है, कर्णमूल, जिह्वाधर तथा अधोहनवीय ग्रंथियों से अधिक सुख उत्पन्न होता है। इससे हृदय की गति मंद होती है तथा श्वासनलिकाओं का संकुचन होता है। आमाशय, आंत्र तथा अग्नाशय से अधिक स्राव बनता है। त्रिक से निकलने वाले तंतुओं की उत्तेजना से मलाशय, मूत्राशय, गुदा आदि का संकुचन बढ़ता है।

इस तंत्र द्वारा ऐसिटिलकोलीन (Acetylcholine) नामक रासायनिक पदार्थ उत्पन्न होता है। तंत्रिका कोशिकाओं और अक्षतंतु के संगम स्थानों के द्वारा जो उत्तेजना एक ओर से दूसरी ओर जाती है, वह एसिटिलकोलीन के ही कारण होती है। ऐच्छिक पेशियों का संकुचन भी इसके कारण ही होता है। नेत्र की परितारिका, लार ग्रंथियां, आमाशय, अंत्रियां, मूत्राशय आदि में जाने वाले परानुकंपी तंतु इस रासायनिक पदार्थ को उत्पन्न करते हैं।

अनुकंपी तथा परानुकंपी दोनों तंत्रों में गंडिकापूर्व तथा गंडिकापश्च तंतु होते हैं। परानुकंपी के गंडिकापूर्व तथा गंडिकापश्च तंतु परानुकंपी होते हैं। अनुकंपी में भी गंडिकापूर्व तंतु परानुकंपी तथा गंडिकापश्च अनुकंपी होते हैं। शरीर के जिन अंगों में इन दोनों भागों के तंतु जाते हैं, वहाँ की क्रिया एक-दूसरी के विपरीत होती है। इसका तुलनात्मक विवरण इस प्रकार है—

| शरीर के अंग | अनुकंपी का प्रभाव | परानुकंपी का प्रभाव |
|---|---|---|
| हृदय | नाड़ी-स्पंदन-गति बढ़ना | नाड़ी-गति मंद करना |
| आहारनाल | आंत्र-गति को शिथिल करना | गति तीव्र करना |

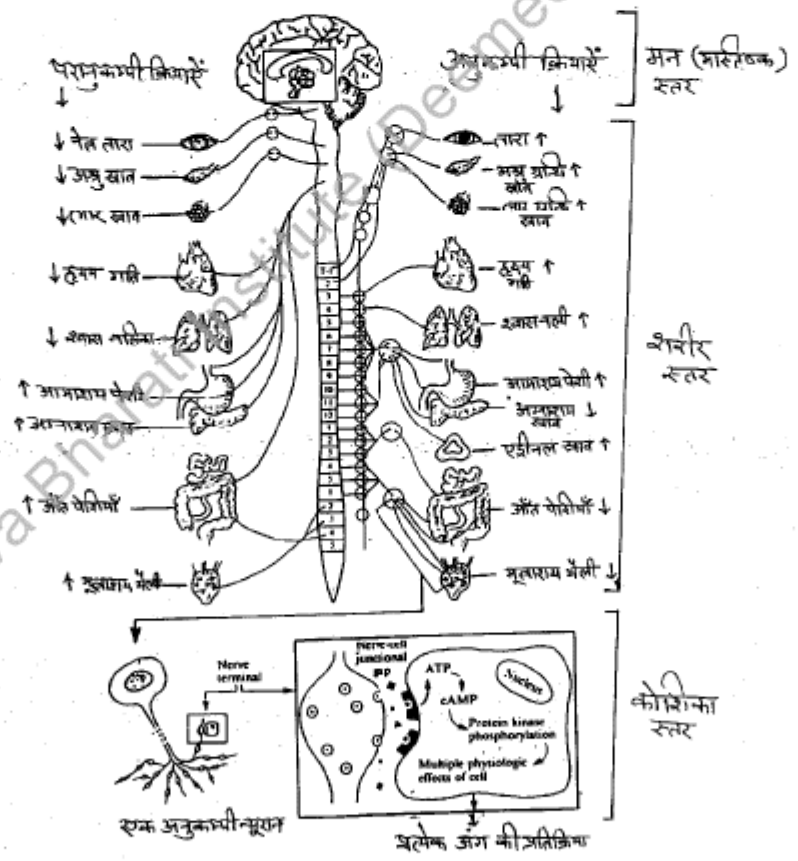


**चित्र संख्या – 2. मन द्वारा स्वायत्तशाषी तंत्रिका तंत्र के नियोजन की प्रक्रिया**

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

| | | |
|---|---|---|
| आंखें | पारितारिका प्रसारित करना | प्रकुंचित करना |
| पाचक क्षेत्र | चरता और स्राव घटाना | बढ़ाना |
| त्वचा तथा उदर | | |
| गुहा की रक्त-प्रणाली | संकुचित करना | प्रसारित करना |
| पेशियों की रक्त-प्रणाली | प्रसारित करना | संकुचित करना |

**बोध प्रश्न :**

1. *अनुकम्पी अनुभाग में कुल कितनी गंडिकाएं होती हैं?*
2. *परानुकम्पी अनुभाग के कार्य लिखें।*

## 15.2 मन द्वारा स्वनियंत्रित तंत्रिका तंत्र के कार्यों का नियोजन

शरीर के समस्त महत्त्वपूर्ण आन्तरिक अंग स्वायत्तशाषी तंत्रिका तंत्र के अनुकम्पी और परानुकम्पी अनुभागों से जुड़े हैं, यह इसकी रचना से स्पष्ट दृष्टिगोचर है। अनुकम्पी और परानुकम्पी दोनों अनुभागों की तंत्रिकाएं क्रियावाही प्रकृति की होती हैं इसलिए ये केवल आदेश इन अंगों तक ले जाती हैं। पूर्व में यह धारणा थी कि स्वायत्तशाषी तंत्रिका तंत्र बिल्कुल स्वतंत्र रूप से कार्य करता है। इसके कार्यों पर मस्तिष्क या सुषुम्ना का कोई हस्तक्षेप नहीं होता। परन्तु नवीनतम अन्वेषणों एवं शोध के परिणाम स्वरूप इस धारणा में परिवर्तन हो गया है। स्वतंत्र रूप से कार्य करते हुए भी इसके कार्यों का नियोजन मस्तिष्क के द्वारा ही किया जाता है। इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया का संचालन किस प्रकार होता है यह चित्र संख्या 2 में दिखाया गया है। पांच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जब भी कोई सूचना या संदेश या उद्दीपन मस्तिष्क तक पहुंचाया जाता है तो सर्वप्रथम मस्तिष्क में उसका विश्लेषण होता है। तत्पश्चात् उसके लिए आवश्यक कार्यवाही हेतु प्रतिक्रिया तैयार की जाती है। प्रतिक्रिया की क्रियान्विति के लिए यदि शरीर के आन्तरिक अंगों की आवश्यकता पायी जाती है तो उसका संदेश सुषुम्ना के रास्ते अनुकम्पी तंत्र में जाता है जहाँ से उसे समस्त आन्तरिक अंगों में प्रसारित कर दिया जाता है। अनुकम्पी अनुभाग की प्रकृति के अनुसार इन सभी अंगों की सक्रियता में आशातीत तीव्रता उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए भय संबंधी किसी उद्दीपन के परिणाम स्वरूप आंखों की पुतलियों का फैल जाना, हृदयगति बढ़ जाना, श्वास की गति बढ़ जाना आदि क्रियाएँ होने लग जाती हैं। इस प्रकार जो कुछ मन (मस्तिष्क) में तय किया गया था वह स्वायत्तशाषी तंत्रिका तंत्र के द्वारा शरीर के सभी महत्त्वपूर्ण अंगों तक पहुंचाया जाता है। यदि उत्तेजनात्मक संदेशों की प्रतिक्रिया स्वरूप मन (मस्तिष्क) में ऐसा आदेश तैयार किया जाता है जिसकी क्रियान्विति परानुकम्पी अनुभाग द्वारा की जानी है तो वह आदेश अनुकम्पी में नहीं जायेगा और तब निश्चित रूप से अनुकम्पी निष्क्रिय बना रहेगा और शरीर के आन्तरिक अंगों में भी सामान्य स्थिति बनी रहेगी। अनुकम्पी या परानुकम्पी दोनों के तंत्रिका तन्तुओं का सम्पर्क जहाँ-जहाँ अंगीय कोशिकाओं से होता है वहाँ एक जंक्शन बनता है। जब भी इन तंत्रिका तन्तुओं से जंक्शन गैप में न्यूरोट्रांसमीटर निकलते हैं, जो अंगीय कोशिका में प्रवेश कर जाते हैं। अन्दर जाकर वे न्यूरोट्रांसमीटर ऊर्जा का नियोजन करके सम्बन्धित सक्रियता और क्रिया का सम्पादन करने का उपक्रम प्रारम्भ कर देते हैं। इसके परिणाम स्वरूप उक्त अंगों की क्रिया सम्पन्न होती है।

आवश्यकतानुसार शरीर क्रियाओं को चलाने के लिए वैसे तो शरीर के समस्त अंग निर्धारण मानक गति से काम करते ही रहते हैं। उनकी कार्यगति में परिवर्तन किन्ही बाह्य उद्दीपनों के कारण ही होता है और बाह्य उद्दीपन इन आन्तरिक अंगों तक स्वायत्तशाषी तंत्रिका तंत्र द्वारा ही पहुंचते हैं। इसका एक अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू भी है कि कोई भी बाह्य उद्दीपन, संदेश या सूचना जिस रूप में ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त की जाती है। उसी रूप में इन अंगों तक न पहुंच कर उसकी प्रतिक्रिया के रूप में पहुंचते है। प्रतिक्रिया तैयर करने का गुरूत्तर दायित्व केवल मस्तिष्क का होता है। इसलिए यह भी सिद्ध करता है कि स्वायत्तशाषी तंत्रिका तंत्र के द्वारा किये जाने वाले कार्यों का नियोजन मूलत: मन (मस्तिष्क) के द्वारा ही किया जाता है।

Kaivalyadhama Institute (Deemed University), Ladnun

## 15.3 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. स्वायत्तशाषी तंत्रिका तंत्र की रचना लिखिए।
2. अनुकम्पी और परानुकम्पी अनुभागों के कार्य परिणाम बताईये।
3. एसिटिलकोलीन नाम रसायन किस अनुभाग में बनता है।
4. अनुकम्पी अनुभाग में कितनी तंत्रिकाएं सुषुम्ना से निकलती हैं।
5. अनुकम्पी तंत्रिकाओं द्वारा निर्मित तीन जालिकाओं का विवरण दीजिए।

## 15.4 संदर्भ पुस्तकें

(1) Principles of Anatomy and Physiology - G.J Tortora and N.P. Anagnastokas
(2) शरीर क्रिया विज्ञान- कान्तिपाण्डेय, प्रमिला वर्मा
(3) Psychobiology of Mind Body Healing - E.L. Rossi

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई–16 रोग प्रतिरोध क्षमता एवं प्रेक्षाध्यान द्वारा इसका संवर्धन

**संरचना**


16.0 उद्देश्य
16.1 परिचय
16.2 रोग प्रतिरोध की प्रक्रिया
16.2.1 प्राकृतिक रोग प्रतिरोध
16.2.1.1 त्वचा और श्लेष्मा झिल्लियां
16.2.1.2 फेगोसाइटोसिस
16.2.1.3 इन्फ्लेमेशन
16.2.1.4 ज्वर
16.2.1.5 इन्टरफ़ेरॉन
16.2.2 रोग प्रतिरोधी श्वेत रक्त कणिकाओं का विवरण
16.2.3 अर्जित रोग प्रतिरोध
16.3 रोग प्रतिरोध का मन द्वारा नियोजन
16.4 प्रेक्षाध्यान द्वारा रोगप्रतिरोध क्षमता का संवर्धन
16.5 अभ्यासार्थ प्रश्न
16.6 संदर्भ ग्रंथ


## 16.0 उद्देश्य

(1) रोग प्रतिरोध की प्रक्रिया की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
(2) रोग प्रतिरोध एवं मन के सम्बन्धों को समझ सकेंगे।
(3) प्रेक्षाध्यान के अभ्यास द्वारा रोग–प्रातरोध को बढ़ाने की प्राक्रिया जान सकेंगे ।

## 16.1 परिचय

मस्तिष्क शरीर की सभी गतिविधियों का नियंत्रण करता है चाहे वे भौतिक क्रियाएं हों या रासायनिक क्रियाएं। इस नियंत्रण की प्रक्रिया में सबसे पहला काम होता है, ज्ञानवाही तंत्रिकाओं द्वारा, शरीर के विभिन्न हिस्सों से बाह्य और आंतरिक सूचनाओं को मस्तिष्क तक पहुँचाने का। ये ज्ञानवाही तंत्रिकाएं और ये सारे संकेत मुख्यत: पांच विशेष ज्ञानेन्द्रियों से संबद्ध होते हैं। ये ज्ञानेन्द्रियां हैं — कान, आंख, नाक, मुँह और त्वचा। इन ज्ञानेन्द्रियों से जब संकेत मस्तिष्क के सेरिब्रम तक पहुँचता है तो सर्वप्रथम वहाँ उसका विश्लेषण किया जाता है। इस कार्य में मस्तिष्क के लिम्बिक सिस्टम एवं हाइपोथैलेमस का महत्त्वपूर्ण योगदान होता हैं। विश्लेषण के पश्चात् प्रतिक्रिया का रूप निर्धारित किया जाता है। चूंकि प्रतिक्रिया को कार्य रूप देने के लिए शरीर के किसी भी तंत्र या अंग की मदद ली जा सकती है इसलिये मस्तिष्क से प्रतिक्रिया के मुख्य रूप से तीन मार्ग निकलते हैं। पहले मार्ग में सेरिब्रम से प्रतिक्रिया या ऊत्तर की क्रियान्विति स्वायत्त–शाषी तंत्रिका तंत्र के अनुकंपी भाग द्वारा की जाती है। अनुकंपी तंत्रिकाओं से जो न्यूरो–ट्रांसमीटरस् निकलते है वे इस तंत्र से सम्बद्ध समस्त अंगों को कार्य करने की तात्कालिक प्रेरणा देते हैं। परिणामत: उनमें सक्रियता बढ़ जाती है। उत्तर संप्रेषण के दूसरे मार्ग में प्रतिक्रिया का संकेत सेरिब्रम से निकलकर हाइपोथैलेमस से होता हुआ पिट्यूटरी तक जाता है। जो आगे चलकर विभिन्न अन्त:स्रावी ग्रंथियों को उद्दीप्त करता है और वे हार्मोन का स्त्राव करती हैं और वह स्राव रक्त में मिल जाता है। जिससे विभिन्न अंगों में सक्रियता उत्पन्न होती है। उत्तर संप्रेषण के तीसरे मार्ग में प्रतिक्रिया की क्रियान्विति रोग–प्रतिरोध प्रक्रिया को सक्रिय बनाने में होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

शरीर के अंदर घटित होने वाले किसी भी परिवर्तन के लिए मस्तिष्क प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार होता है। यदि हम इस प्रकार कहें कि मस्तिष्क की सक्रियता और सशक्तता के बिना तथा उसके हस्तक्षेप के बिना विभिन्न शारीरिक क्रियाओं का नियोजन संभव नहीं है तो अनुचित नहीं होगा। इन क्रियाओं में स्वायत्तशासी तंत्रिका तंत्र, अन्त:स्रावी ग्रंथि तंत्र और रोग प्रतिरोधी तंत्र की महत्त्वपूर्ण तथा जीवन दायिनी प्रक्रियाएं भी शामिल हैं।

## 16.2 रोग-प्रतिरोध की प्रक्रिया

मानव शरीर रचना के अंतर्गत प्रकृति द्वारा निर्मित शरीर के अंदर पाये जाने वाले विभिन्न तंत्रों में एक तंत्र है—रोग-प्रतिरोधी तंत्र। वास्तव में रचना की दृष्टि से यह कोई अलग से तंत्र नहीं है। बल्कि रक्त-परिवहन तंत्र और लसीका तंत्र की कुछ विशिष्ट कोशिकाएं मिलकर के शरीर के अंदर रोग-प्रतिरोध की प्रक्रिया का संचालन करती हैं। उन्हें ही रोग-प्रतिरोधक तंत्र की संज्ञा दी जाती है। बहुत सारी वैज्ञानिक खोजों के बाद भी अब तक रोग-प्रतिरोध की पूरी प्रक्रिया जटिल बनी हुई है। रोग-प्रतिरोधी तंत्र का कार्य उन जीवाणुओं, रोगाणुओं, बैक्टीरिया, वाइरस और विषैले पदार्थों से शरीर की रक्षा करना है, जो शरीर में प्रवेश के बाद किसी न किसी रूप में शरीर को नुकसान पहुँचाते हैं। रोग-प्रतिरोधी क्षमता मुख्यतया दो प्रकार की होती हैं—

I. प्राकृतिक (जन्मजात) एवं II. अर्जित।

### 16.2.1 प्राकृतिक रोग-प्रतिरोध

जन्मजात रोग-प्रतिरोध क्षमता जिसे सामान्य सुरक्षा भी कहते हैं, के अंतर्गत त्वचा, शरीर के कई अन्य स्त्राव, कुछ एन्जाइम्स आदि आते हैं। इसके अतिरिक्त रक्त में पाई जाने वाली कुछ श्वेत रक्त कणिकाएं, लाइसोसोम, पॉलीपेप्टाइड्स और कुछ विशेष प्रकार के प्रोटीन भी इसी प्रकार की रोग-प्रतिरोधी क्षमता रखते हैं। ये सारे शरीर में बाहर से प्रवेश करने वाले विजातीय तत्त्वों के ऊपर आक्रमण करके उन्हें रक्त की धारा में ही नष्ट कर देते हैं और फिर ये नष्ट हुए पदार्थ उत्सर्जन प्रक्रिया के द्वारा शरीर से बाहर निकाल दिये जाते हैं। इसमें श्वेत रक्त कणिकाओं का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। एक स्वस्थ व व्यस्क व्यक्ति में श्वेत रक्त कणिकाओं की संख्या लगभग 7 हजार प्रति घन मिलीमीटर रक्त होती हैं। ये सारी श्वेत रक्त कणिकाएं पांच प्रकार की होती हैं। इनमें से कुल श्वेत रक्त कणिकाओं की 62% न्यूट्रोफिल; 2.3% इस्नोफिल; 0.4% बेसोफिल्स; 5.3% मोनोसाइट; 30% लिम्फोसाइट होती हैं। इस प्राकृतिक और जन्मजात रोग प्रतिरोध क्षमता में बाहर से प्रवेश करने वाले बैक्टीरिया, वाइरस और दूसरे विषैले पदार्थों को नष्ट करने की प्रक्रिया में सर्वाधिक योगदान न्यूट्रोफिल्स और मोनोसाइट का होता है। न्यूट्रोफिल्स परिपक्व श्वेत रक्त कणिकाएं होती हैं और इन विजातीय रोगाणुओं को रक्त प्रवाह में ही नष्ट कर देती हैं जबकि मोनोसाइट्स अपरिपक्व श्वेत रक्त कणिकाएँ होती हैं और वे उन रोगाणुओं के घाव के स्थान पर पहुंचकर अपने आकार में पांच गुणा वृद्धि करके मेक्रोफेज का रूप ले लेती हैं और उस स्थान पर जो कोई भी रोगाणु या विजातीय पदार्थ बाहर से प्रवेश करने का प्रयास करता है उसे निगलकर नष्ट कर देती हैं और स्वयं भी नष्ट हो जाती हैं।

मानव शरीर लगातार साम्यावस्था बनाए रखने का प्रयत्न करता है। उसके अन्तर्गत रोग पैदा करने वाले जीवाणुओं, जिन्हें पेथोजन्स् कहा जाता है और उनके विषों से शरीर की सुरक्षा का काम भी होता है। प्राकृतिक रोग प्रतिरोध क्षमता के अन्तर्गत निम्न प्रकार की प्रकृतिदत्त सुरक्षा के उपाय हमारे शरीर में पाए जाते हैं-

I. त्वचा और श्लेष्मा झिल्लियाँ, II. फेगोसाइटोसिस,

III. इन्फ्लेमेशन, IV. ज्वर एवं

V. प्रतिजीवाणु रासायनिक पदार्थ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## 16.2.1.1 त्वचा और श्लेष्मा झिल्लियां

त्वचा और श्लेष्मा झिल्लियां शरीर की पहली सुरक्षा पंक्ति है। इनके द्वारा अनेक प्रकार की यांत्रिक रासायनिक क्रियाओं के फलस्वरूप रोगाणुओं से शरीर की सुरक्षा में मदद मिलती है। यांत्रिक प्रक्रिया के अन्तर्गत त्वचा शरीर के चारों तरफ एक मजबूत आवरण के रूप में इसकी सुरक्षा करती है। इसके दोहरे आवरण जिन्हें एपिडर्मिस और डर्मिस कहा जाता है और जिनके साथ किरेटिन नामक अस्तर लगा होता है, एक मजबूत बाधा के रूप में जीवाणुओं को शरीर में प्रवेश करने से रोकते हैं। इसके अतिरिक्त त्वचा के एपिडर्मिस नामक स्तर से कोशिकाओं के निरन्तर क्षरण के कारण उससे चिपके हुए रोगाणु स्वत: ही शरीर से अलग हो जाते हैं तो उसके द्वारा रोगाणुओं का शरीर में प्रवेश संभव नहीं होता।

श्लेष्मा झिल्लियां त्वचा के ठीक नीचे स्थित संयोजी ऊतक के साथ उपकला कोशिका स्तर के रूप में पाई जाती हैं। इनके द्वारा एक अत्यन्त चिकने पदार्थ जिसे श्लेष्मा कहा जाता है, का स्राव होता है जिसकी वजह से आंतरिक और बाह्य दोनों स्तर नम रहते हैं। श्लेष्मा के करण बहुत सारे रोगाणु और बैक्टीरिया इसमें उलझ कर रह जाते हैं और शरीर की सुरक्षा होती है। हमारी नासागुहा में पाए जाने वाले रोमों से भी एक प्रकार का श्लेष्म पदार्थ निकलता है जिसके कारण नासागुहा में प्रवेश करने वाली वायु से जीवाणुओं, धूल के कणों और अन्य प्रदूषण उत्पन्न करने वाले कणों को छान लिया जाता है। इसी कारण श्वास नलिका के ऊपरी भाग में छोटे-छोटे रोम पाए जाते हैं जो इस प्रकार तेजी से गति करते हैं जिससे श्वास के द्वारा अंदर आए धूलकण एवं अन्य जीवाणुओं को नीचे फेफड़ों की ओर जाने से रोका जाता है। हमारी आंखों के अंदर अश्रु ग्रंथियों का प्रावधान होता है। जिनसे एक जलीय पदार्थ निकलता है जिसे आंसू कहा जाता है। यह तरल पदार्थ न केवल आंखों को नम रखता है बल्कि धूल, मिट्टी के कण और सूक्ष्म जीवाणुओं को अंदर जाने से रोकता है तथा आंखों की सफाई में मदद करता है। आंखों में किसी बड़े कण के पड़ जाने पर अश्रु ग्रंथियां स्वत: ही सक्रिय हो जाती हैं और अधिक मात्रा में आंसूओं का निर्माण होने लग जाता है जिससे वे कण बाहर निकल जाते हैं। अश्रु ग्रंथियों में आंसूओं के निर्माण एवं निकलने के अनुपात में अंतर होता है। आंसूओं का बनना और इकट्ठा रहना अधिक एवं निकलना अपेक्षाकृत कम होता है। जिससे आंखों के अंदर किसी संभावित रोगाणु को अपने साथ बाहर निकालने में अधिक मदद मिलती है।

रासायनिक प्रक्रियाओं के अंतर्गत त्वचा में पाई जने वाली सिबेसियस ग्रन्थियों (तैल ग्रंथियों) से एक तैलीय पदार्थ निकलता है जिसे सीबम कहते हैं। यह त्वचा को चिकना और मुलायम बनाकर रखता है तथा फटने से बचाता है। इसके अंदर असंतुष्ट वसा अम्ल पाया जाता है। जो अनेक रोगाणु, बैक्टीरिया और फफूंद को त्वचा के ऊपर पनपने से रोकता है। इसी प्रकार त्वचा के अंदर पाई जाने वाली स्वेद ग्रंथियां, पसीने का स्राव करती हैं, जो शरीर के तापमान को नियंत्रित करने एवं अनेक सूक्ष्म जीवाणुओं को शरीर से बाहर निकालने में मदद करता है। स्वेद के अंदर लाइसोजाइम नामक एक एन्जाइम होता है जो अनेक बैक्टीरिया को कष्ट करने में सहायक होता है।

## 16.2.1.2 फेगोसाइटोसिस

त्वचा की बाह्य सुरक्षा को भेदकर यदि कोई रोगाणु, जीवाणु शरीर के अन्दर प्रवेश कर जाता है और रक्त प्रवाह में पहुंच जाता है तो उसे फेगोसाइटोसिस प्रक्रिया के द्वारा नष्ट किया जाता है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत सूक्ष्म जीवाणुओं अथवा नुकसान पहुंचाने वाले विजातीय पदार्थों को फेगोसाइट नामक कोशिकाओं के द्वारा निगलकर नष्ट कर दिया जाता है। फेगोसाइट कोशिकाएं जो फेगोसाइटोसिस की प्रक्रिया में भाग लेती हैं वे दो प्रकार की होती हैं-

1. ग्रेनुलोसाइट (माइक्रोफेजेज) एवं 2. मेक्रोफेजेज।

न्यूट्रोफिल नामक श्वेत रक्त कणिका फेगोसाइटोसिस प्रक्रिया में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। जबकि इस्नोफिल्स कुछ सीमा तक ही इस प्रक्रिया में भाग लेती हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

### 16.2.1.3 इन्फ्लेमेशन

जब रोगाणुओं के आक्रमण या किसी बाहरी घात अथवा किसी रासायनिक पदार्थ के कारण शरीर की कोशिकाएं घायल हो जाती हैं। तो इन्फ्लेमेशन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। यह एक सुरक्षा का उपाय है। जिसके अन्तर्गत निम्नांकित चार प्रमुख लक्षण दिखाई देते हैं।

1. चोट या घायल स्थान का लाल हो जाना, 2. दर्द होना,
3. अत्याधिक गर्म होना एवं 4. सूजन आना।

कई बार पांचवे लक्षण के रूप में उस स्थान विशेष का काम भी बंद हो जाता है। इन्फ्लेमेशन एक प्रकार की सुरक्षा और संरक्षा का उपाय है जिसके द्वारा घायल स्थान से जीवाणुओं, विषैले पदार्थों तथा बाहरी विजातीय पदार्थों को चोट वाले स्थान से बाहर किया जाता है ताकि वे शरीर के अन्दर न फैल सके। इस प्रक्रिया के तत्काल बाद धीरे-धीरे ये सारे लक्षण समाप्त हो जाते हैं और उस स्थान के टूटे-फूटे और कटे हुए ऊतकों का पुनर्निर्माण हो जाता है।

### 16.2.1.4 ज्वर

शरीर में ज्वर उत्पन्न होने का प्रमुख कारण किसी बैक्टीरिया अथवा वाइरस का संक्रमण ही होता है। इसमें शरीर का तापमान असाधारण रूप से बढ़ जाता है, जिसके फलस्वरूप रोगाणुओं का पनपना रूक जाता है। और शरीर के अंदर पुनर्निमाण के लिए आवश्यक क्रियाएं तेज हो जाती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्वर अपने आप में कोई बीमारी नहीं है बल्कि शरीर के अन्दर छिपी हुई बीमारी को बाहर लाने का संकेत है और शरीर के सुरक्षा तंत्र को सक्रिय बनाने का माध्यम है।

### 16.2.1.5 प्रतिजीवाणु रासायनिक पदार्थ

उपरोक्त यांत्रिक और रासायनिक सुरक्षा के अतिरिक्त शरीर के द्वारा अनेक ऐसे जीवाणु रोधी पदार्थों का स्राव भी किया जाता है जो अलग-अलग तरह से शरीर की सुरक्षा करते हैं। कुछ प्रमुख प्रतिजीवाणु रासायनिक पदार्थ इस प्रकार हैं—1. इन्टरफ्रेरॉन, 2. कॉम्प्लीमेन्ट, 3. प्रोपर्डीन।

**(i) इन्टरफ्रेरॉन**—कतिपय वायरस और बैक्टीरिया से संक्रमित कोशिकाएं एक विशेष प्रकार की प्रोटीन का उत्पादन करती हैं। जिन्हें इन्टरफ्रेरॉन कहा जाता है। ये तीन प्रकार के होते हैं- एल्फा, बीटा और गामा। मनुष्यों में इनका उत्पादन मुख्यतया लिम्फोसाइट नामक श्वेत रक्त कणिकाओं के द्वारा किया जाता है। ये विशेष प्रकार के प्रोटीन उन कोशिकाओं के संपर्क में आती हैं जो संक्रमित नहीं होती हैं और उन्हें विशेष प्रकार की प्रतिवाइरस प्रोटीन बनाने को प्रेरित करती हैं। जिससे वायरस की वृद्धि रूक जाती है और संक्रमण समाप्त हो जाता है।

**(ii) कॉम्प्लीमेन्ट**—यह रासायनिक पदार्थ 20 ऐसे प्रोटीनों का समूह है जो सामान्य और स्वस्थ रक्त में पाया जाता है। रोगाणुओं के शरीर में प्रवेश के पश्चात् कॉम्प्लीमेन्ट नामक विशेष प्रोटीन उनके साथ बंध बनाती है और उन्हें विकसित होने से रोक देती है।

**(iii) प्रोपर्डीन**—कॉम्प्लीमेन्ट की तरह ही ये भी तीन प्रोटीनों का एक जटिल समूह है जो आक्रमणकारी रोगाणुओं से मिलकर उनके विकास को रोकती है।

## 16.2.2 रोग प्रतिरोधी श्वेत रक्त कणिकाओं का विवरण

| | | |
|---|---|---|
| I कुल श्वेत रक्त कणिकाओं की संख्या | - | 7000 प्रति घन मिलीमीटर रक्त |
| II कुल श्वेत रक्तकणिकाओं का | - | न्यूट्रोफिल = 62% |
| | | इस्नोफिल = 2.3% |
| | | बेसोफिल = 0.4% |
| | | मोनोसाइट = 5.3% |
| | | लिम्फोसाइट = 30% |

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

III जन्मजात रोग प्रतिरोध क्षमता के अन्तर्गत –

1. न्यूट्रोफिल और मोनोसाइट– आक्रमणकारी बैक्टीरिया और वाइरस को नष्ट करती है।
2. न्यूट्रोफिल बैक्टीरिया और वाइरस को रक्त प्रवाह में ही नष्ट कर देती हैं।
3. मोनोसाइट, बैक्टीरिया और वाइरस के रक्त प्रवाह से ऊतकों में प्रवेश करने के पश्चात् आकार में बड़ी होकर उन्हें निगलती हैं।

## 16.2.3 अर्जित रोग प्रतिरोध

अर्जित रोग प्रतिरोध क्षमता शरीर के अंदर विकस्ति विशिष्ट रोग प्रतिरोध क्षमता है जो उन विशेष प्रकार के घातक बैक्टीरिया, वाइरस एवं विषैले पदार्थों को नष्ट करने के लिए काम में लाई जाती है। इस प्रक्रिया का विकास तब तक नहीं होता जब तक शरीर में उस प्रकार के विशिष्ट बैक्टीरिया, वाइरस एवं विषैले पदार्थ प्रवेश नहीं करते। इन सभी घातक पदार्थों को सामूहिक रूप से एन्टीजन कहा जाता है। इस विशेष रोग प्रतिरोध क्षमता के अंतर्गत इन घातक पदार्थों की पहचान करके उनको नष्ट करने के लिए दो विशेष प्रकार की क्षमता का विकास शरीर के अंदर ही किया जाता है।

1. कोशिकीय रोग प्रतिरोध क्षमता एवं 2. ह्यूमोरल रोग प्रतिरोध क्षमता।

कोशिकीय रोग प्रतिरोध क्षमता के अन्तर्गत श्वेत रक्त कणिकाओं में से एक लिम्फोसाइट, T-Cell के रूप में विकसित होती है। जिसे T-Cell लिम्फोसाइट कहा जाता है। ऐन्टीजेन के सम्पर्क में आते ही मैक्रोफेज उन्हें टी (T) कोशिका के सम्पर्क में लाता है जिसके परिणाम स्वरूप यह टी कोशिका अप्रत्याशित रूप से उत्तेजित होकर आकार में बढ़ती है और फिर विभाजित होकर विभिन्न प्रकार की टी कोशिकाओं में बदल जाती है। इस प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाली मुख्य टी कोशिकाओं का विवरण इस प्रकार है–

| | | |
|---|---|---|
| 1. एम्प्लीफायर टी कोशिका | – | दूसरी अन्य टी कोशिकाओं की कार्य क्षमता को बढ़ाती है। |
| 2. मेमोरी टी कोशिका | – | एन्टीजन की पहचान करती है। |
| 3. हेल्पर टी कोशिका | – | एन्टीबाडी के उत्पादन में सहायक होती है। |
| 4. सप्रेसर टी कोशिका | – | एन्टीबाडी के उत्पादन को रोकती है। |
| 5. किलर टी कोशिका | – | एन्टीजन पर सीधे वार करके नष्ट करती है। |
| 6. एलर्जी टी कोशिका | – | एलर्जी उत्पन्न करती है। |

संशोधित और परिवर्धित T-Cell कोशिकाएँ रक्त प्रवाह के द्वारा सारे शरीर में फैल जाती हैं और एन्टीजन्स् की तलाश करके उनसे सीधे टकराती हैं और उन्हें नष्ट कर देती हैं।

कतिपय लिम्फोसाइट बी कोशिकाओं (B-Cell) के रूप में परिवर्तित होती हैं। जब ये बी. कोशिकाएं एन्टीजन के सम्पर्क में आती हैं तो इनके पुनर्परिवर्धन की प्रक्रिया शुरू होती है। बी. कोशिकाएं परिवर्धित होकर आकार में बड़ी हो जाती हैं और फिर विभाजित होकर प्लाज्मा बी कोशिका और मेमोरी बी. कोशिका के रूप में बदल जाती हैं। प्लाज्मा बी. कोशिकाएँ एन्टीबॉडी नामक रासायनिक पदार्थों का उत्पादन करती हैं जो एन्टीजन के साथ संयोग करके उसे नष्ट कर देता है जबकि मेमारी बी. कोशिकाएँ रक्त में मौजूद सारे एन्टीजन्स की पहचान कर उन्हें नष्ट करवाने में सहायता करती हैं।

**बोध प्रश्न :**

*1. त्वचा रोग प्रतिरोधक कैसे हैं?*

*2. श्वेत रक्त कणिकाओं का विवरण दें।*

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## 'टी' सेल रोग प्रतिरोध की प्रक्रिया

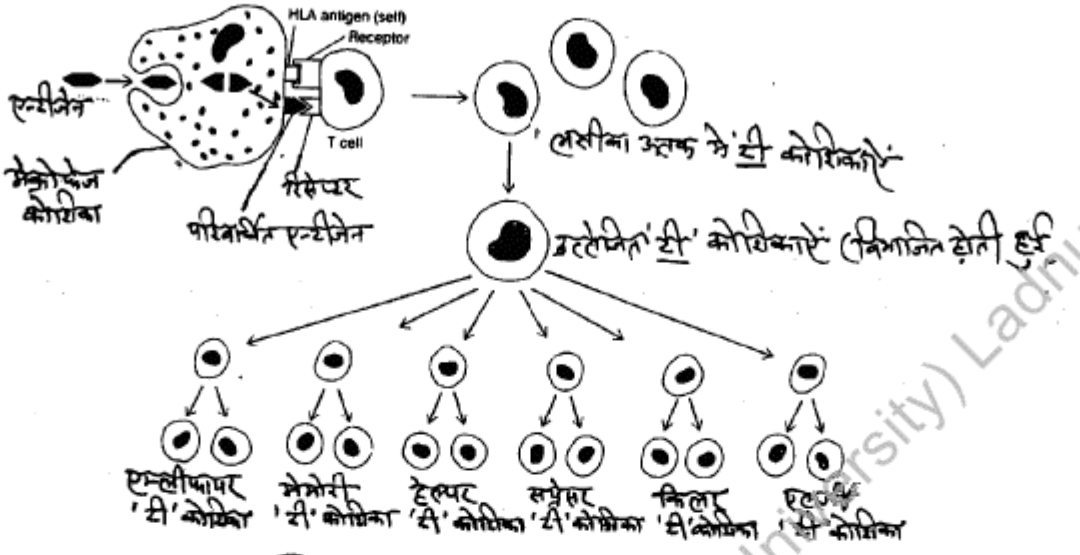


## 'बी' सेल रोग प्रतिरोध की प्रक्रिया

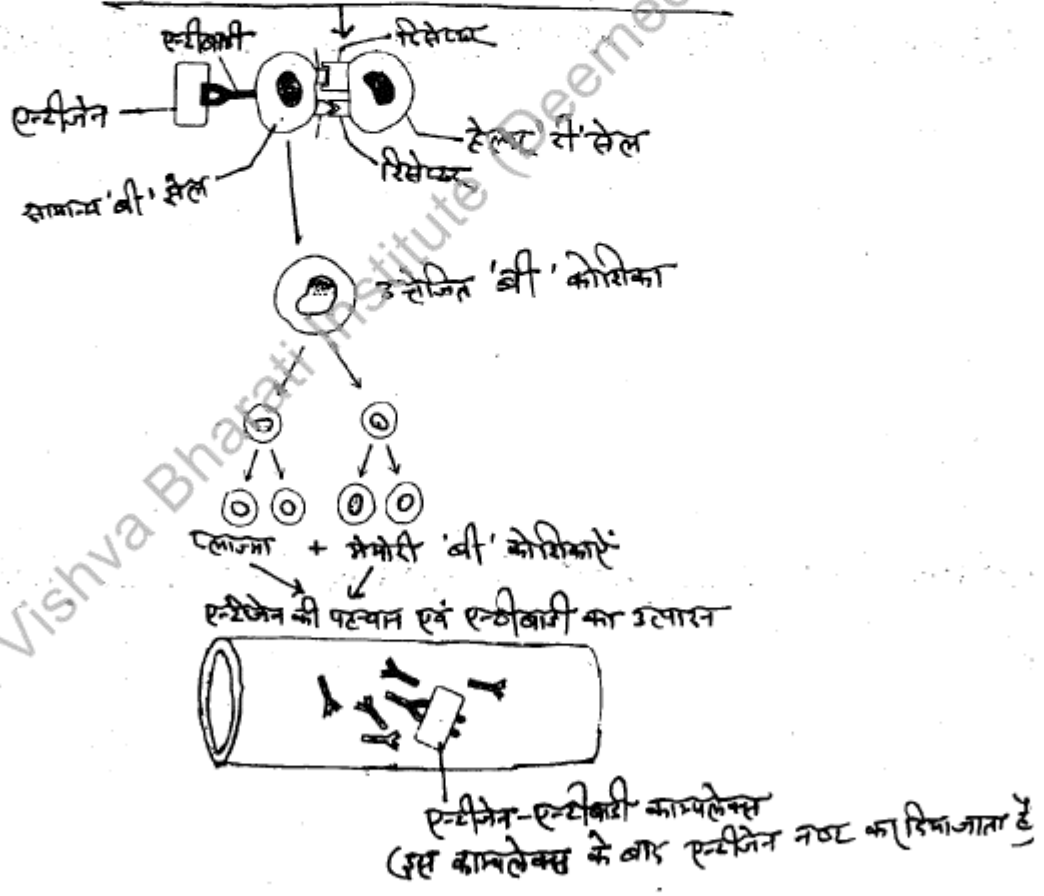


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

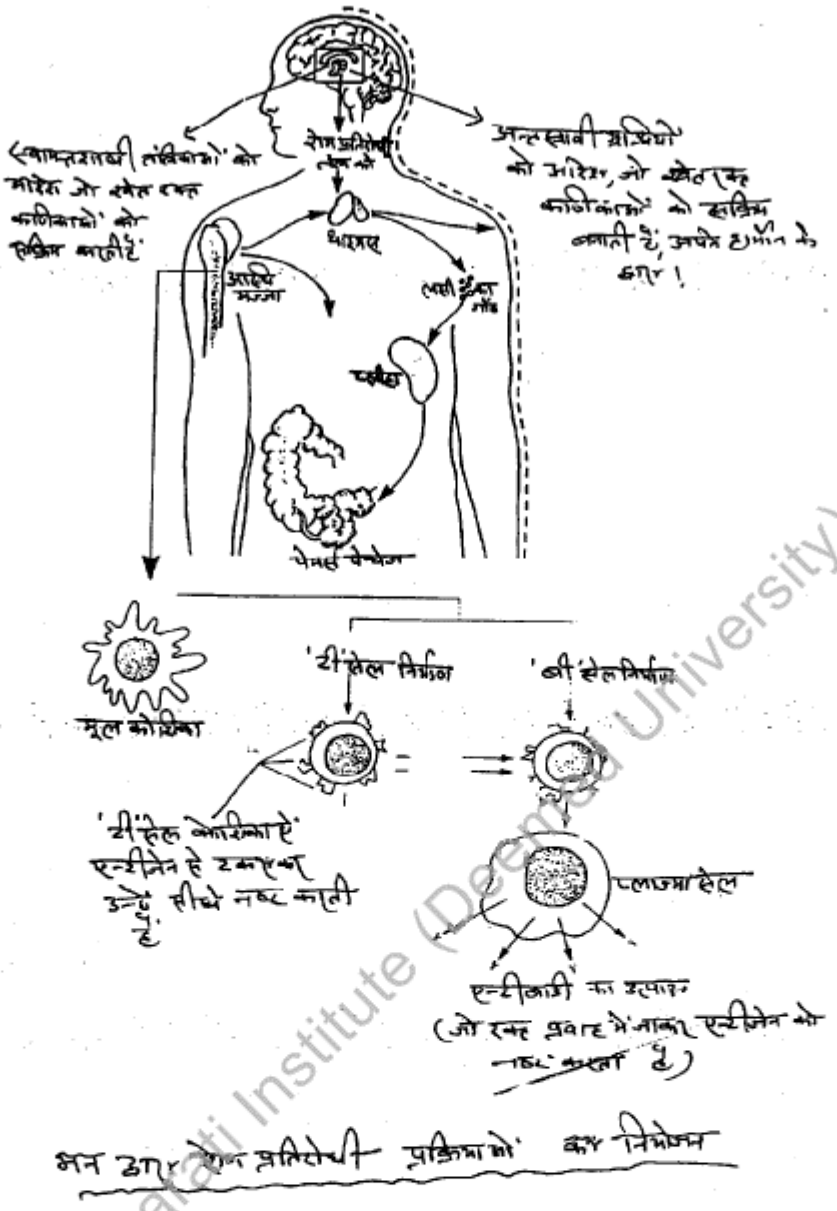


## 16.3 रोग प्रतिरोध का मन द्वारा नियोजन

रोग प्रतिरोध क्षमता के मन द्वारा नियोजन के क्रम में एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि मस्तिष्क से सुरक्षा रूपी प्रक्रिया के जो तीन मार्ग निकलते हैं, उसमें सीधे रोग-प्रतिरोध तंत्र को आदेश प्राप्त होने के अतिरिक्त स्वायत्तशासी तंत्रिका तंत्र एवं अन्त:स्रावी तंत्र भी अहम् भूमिका निभाते हैं। स्वायत्तशासी तंत्रिकाओं से निकलने वाले प्रमुख न्यूरोट्रांसमीटर-एसिटिल कोलीन, नारएपीनेफ्रीन, एनसिफौलीन आदि रोग-प्रतिरोधी तंत्र की टी कोशिकाओं के साथ सम्पर्क बनाते हैं क्योंकि उन पर इन हार्मोनों के ग्राही तत्व (receptors) मौजूद होते हैं। इस सम्पर्क के द्वारा वे टी कोशिकाओं की क्षमता का संवर्धन करते हैं। इसी प्रकार अन्त:स्रावी ग्रंथियों से निकले हुए हार्मोन, जिनमें ए.सी.टी.एच, वेसोप्रेसिन, ऑक्सीटोसिन और एड्रीनल हार्मोन प्रमुख हैं, अपने रिसेप्टर्स के द्वारा रोग प्रतिरोधी कोशिकाओं को प्रेरणा देते हैं। रोग प्रतिरोधी तंत्र में उपरोक्त वर्णित टी कोशिका और बी कोशिका के द्वारा संवर्धन के पश्चात् या तो विजातीय एन्टीजन सीधे नष्ट कर दिये जाते हैं अथवा एन्टीबाडी का उत्पादन करके उन्हें नष्ट किया जाता है। इस क्रिया के साथ इन कोशिकाओं से विशेष प्रकार के स्राव भी निकलते पाये गये हैं जिन्हें इम्यूनो-ट्रांसमीटर कहा जाता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है। ये इम्यूनोट्रांसमीटर पुनश्च मस्तिष्क के हाइपोथैलेमस तथा स्वायत्तशासी तंत्रिका तंत्र को फीडबैक संदेश भेजते है जिससे यह क्रिया तब तक जारी रहती है जब तक सारे एन्टीजेन या विजातीय हानिकारक तत्त्व नष्ट नहीं कर दिये जाते। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि टी और बी कोशिकाओं के संवर्धन से लेकर एन्टीजेन को नष्ट करने की जटिल प्रक्रिया में स्वायत्तशासी तंत्रिकातंत्र और हाइपोथैलेमस तथा पीयूष ग्रंथि के द्वारा मस्तिष्क का सीधा हस्तक्षेप होता है। मस्तिष्क की सक्रियता एवं उसके सहायकों की तरलता अर्जित रोग प्रतिरोध क्षमता को न केवल प्रभावित करती है बल्कि उसे अप्रत्यक्ष रूप से नियंत्रित भी करती है।

## 16.4 प्रेक्षाध्यान द्वारा रोगप्रतिरोध क्षमता का संवर्धन

प्रेक्षाध्यान अभ्यास के अन्तर्गत रोगप्रतिरोधी क्षमता बढ़ाने हेतु अभ्यास की निम्नांकित प्रक्रिया कारगर सिद्ध होती है-

कायोत्सर्ग
↓
श्वासप्रेक्षा
↓
ज्योतिकेन्द्र प्रेक्षा
↓
अनुप्रेक्षा (रोग प्रतिरोध संवर्धन की)

बार-बार अनुप्रेक्षा के अभ्यास के परिणामस्वरूप मस्तिष्क के अधिगम एवं स्मृति प्रकोष्ठ में रोग-प्रतिरोध क्षमता में अभिवृद्धि के नवीन विचार संचित होने लगते हैं और उनसे निकलकर उन विचारों की सूचना न्यूरोट्रांसमीटर एवं इम्यूनोट्रांसमीटर तक पहुंचती है। इम्यूनोट्रांसमिटर को श्वेतरक्त कणिकाएं ग्रहण करती हैं। जिसके कारण उनकी क्षमता में अपेक्षित अभिवृद्धि संभव होती है। इस पूरी प्रक्रिया को निम्नलिखित ढंग से समझा जा सकता है—

**अनुप्रेक्षा के प्रयोग**
↓
**मस्तिष्क में रोगप्रतिरोध की क्षमता अभिवृद्धि के विचारों का संचय**

**निर्देश**
तंत्रिका तंत्र की विभिन्न तंत्रिकाओं से न्यूरोट्रांसमिटर्स स्राव का रक्त प्रवाह में पहुंचना
↓
श्वेत रक्त कणिकाओं के ग्राही (रिसेप्टर्स) द्वारा न्यूरोट्रांसमीटर के संदेशों को ग्रहण करना
↓
श्वेत रक्तकणिकाओं की क्षमता में अभिवृद्धि
↓
अन्तःस्रावी ग्रन्थियों से कतिपय हार्मोन स्रावित होकर रक्त में पहुंचना

**निर्देश**
श्वेतरक्त कणिकाओं द्वारा इसे ग्रहण कर उत्तेजित होना
↓
इम्यूनोट्रांसमिटर्स नामक रासायनिक पदार्थों का स्राव
↓
अस्थिमज्जा से अधिक मात्रा में श्वेत रक्त कणिकाओं का उत्पादन एवं लिम्फोसाइट के रूप में परिवर्धन
↓
रोग प्रतिरोध क्षमता में अभिवृद्धि

प्रेक्षाध्यान पद्धति में रोगप्रतिरोध क्षमता के संवर्धन के लिए वैसे तो अनुप्रेक्षा के प्रयोग ही प्रमुखता रखते हैं परन्तु इसके अतिरिक्त भावक्रिया, खाद्यसंयम एवं जीवन शैली में सकारात्मक परिवर्तन भी रोगप्रतिरोध क्षमता की अभिवृद्धि में सहायक होते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 16.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. रोग प्रतिरोध प्रक्रिया का वर्णन कीजिए
2. अर्जित रोग प्रतिरोध का विवरण दीजिए।
3. श्वेत रक्त कणिकाओं का विवरण दीजिए।
4. टी सेल कितने प्रकार की होती है?
5. एन्टीजेन किसे कहते है?

## 16.6 संदर्भ पुस्तकें


(1) शरीर क्रियाविज्ञान – कान्तिपाण्डेय, प्रमिला वर्मा

(2) Human Physiology- A.J. Vander, J.H. Sherman & D.S. Luciano.

(3) Principales of Anatomy and Physiology-G.J. Tortora and N.P. Anagnostakos

(4) Psychobiology of Mind Body Healing - E.L. Rossi


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# संवर्ग 5 प्राकृतिक उपचार एवं स्वास्थ्य

# पाठ–17 : प्राकृतिक उपचार की अवधारणा, सिद्धान्त एवं प्रकार

**संरचना**


17.0 उद्देश्य

17.1 प्राकृतिक चिकित्सा का परिचय

17.2 प्राकृतिक चिकित्सा का इतिहास

17.3 प्राकृतिक चिकित्सा दर्शन

17.4 प्राकृतिक चिकित्सा के आयाम

- 17.4.1 नींद
- 17.4.2 सूर्य का प्रकाश
- 17.4.3 वायु
- 17.4.4 जल
- 17.4.5 भोजन
- 17.4.6 जीवन शैली

17.5 प्राकृतिक चिकित्सा के दस आधारभूत सिद्धान्त

- 17.5.1 सभी रोग एक, उनके कारण एक, उनकी चिकित्सा एक
- 17.5.2 रोग के कारण किटाणु नहीं
- 17.5.3 तीव्र रोग शत्रु नहीं, मित्र होते है
- 17.5.4 प्रकृति स्वयं चिकित्सक है
- 17.5.5 चिकित्सा रोग की नहीं रोगी के पूरे शरीर की होती है
- 17.5.6 रोग निदान की विशेष आवश्यकता नहीं
- 17.5.7 जीर्ण रोग के रोगियों के आरोग्य लाभ में समय लग सकता है
- 17.5.8 प्राकृतिक चिकित्सा से दबे रोग उभरते है
- 17.5.9 मन, शरीर तथा आत्मा तीनों की चिकित्सा साथ-साथ
- 17.5.10 प्राकृतोपचार में उत्तेजक औषधियों के दिये जाने का प्रश्न ही नहीं

17.6 प्राकृतिक चिकित्सा के प्रकार

17.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

17.8 संदर्भ ग्रंथ


## 17.0 उद्देश्य

(1) प्राकृतिक चिकित्सा के मूल सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

(2) प्राकृतिक चिकित्सा के आयाम तथा प्रकार से परिचित हो सकेंगे।

(3) प्राकृतिक चिकित्सा को प्रयोग में लाने की दक्षता हासिल कर सकेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 17.1 प्राकृतिक चिकित्सा का परिचय

प्राकृतिक चिकित्सा वस्तुत: तत्त्व चिकित्सा है जिसका शाब्दिक अर्थ है षट् तत्वों द्वारा त्रितापों (आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आधिआध्यात्मिक) का निदान एवं चिकित्सा। शारीरिक रोग भी इसी में सम्मिलित कर लिए जाते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि प्राकृतिक चिकित्सा के अन्तर्गत महत्तत्त्व, आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी तत्त्वों की मदद से सभी प्रकार की विकृतियों एवं रोगों का उपचार किया जाता है। प्राकृतिक चिकित्सा को अनेक नामों से जाना जाता है और अनेक रूपों में इसे प्रयोग में लाया जाता है। इनमें से कुछ प्रमुख नाम हैं—प्रकृति चिकित्सा, प्राकृतिक चिकित्सा, नैसर्गिक चिकित्सा, प्राकृतोपचार, जलचिकित्सा, स्वाभाविक चिकित्सा, निसर्गोपचार, कुदरती इलाज, Nature-cure, Naturopathy, Naturotherapy आदि-आदि। वस्तुत: इनमें से कोई भी नाम इस चिकित्सा पद्धति की उपादेयता की दृष्टि से परिपूर्ण नहीं है। संभवत: इसी कारण कुछ विद्वान इस विधा को जीवन विज्ञान या जीने की कला कहते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा महज रोगों के इलाज की एक पद्धति नहीं है बल्कि यह जीवन यापन करने की, केवल जीवनयापन ही नहीं दीर्घायुक्त, स्वस्थ एवं आनन्दमय जीवन बिताने की एक कला है। विशेषता इसकी यह है कि जो नियम और सिद्धांत स्वास्थ्य को बनाए रखने और उसके संवर्द्धन में प्रयोग में लाए जाते हैं वही सिद्धांत उस समय भी कारगर होते हैं और उन्हें ही उस समय प्रयोग में लाया जाता है जब शरीर रुग्ण हो जाता है। दोनों ही अवस्थाओं में नियम एक जैसे ही होते हैं। एक ही प्रकार के सर्वथा प्राकृतिक नियमों का पालन करके इस चिकित्सा प्रणाली में व्यक्ति अपने स्वास्थ्य को सुरक्षित भी रख सकता है और उन नियमों का पालन न करने पर रोग की पीड़ा उठाता है तथापि उन्हीं प्राकृतिक नियमों का समझदारी से सहारा लेकर पुन: स्वास्थ्य लाभ भी कर सकता है।

## 17.2 प्राकृतिक चिकित्सा का इतिहास

प्राकृतिक चिकित्सा की तकनीक एवं विधियों का उपयोग सदियों से चला आ रहा है। हिप्पोक्रेटस्, जो ईसा पूर्व 460-377 में हुए और जिन्हें आधुनिक चिकित्सा विज्ञान का जनक माना जाता है, के समय से ही इस पद्धति का उपयोग रोग निदान के लिए होता आया है। हिप्पोक्रेटस की उक्ति जिसमें उसने कहा था कि प्रकृति ही हमारी सबसे बड़ी चिकित्सक है। उसके अनुसार औषधियों से कहीं अधिक आवश्यकता सन्तुलित एवं समुचित आहार की होती है रोग निदान के लिए। परन्तु प्राकृतिक चिकित्सा के जनक विन्सेन प्रिसनिज थे जिन्होंने सिलेसियन पहाड़ों की तलहटी में लगभग दो शताब्दी पूर्व एक प्राकृतिक चिकित्सालय की स्थापना की थी। वे अत्यन्त कम पढ़े-लिखे परन्तु शिक्षित किसान थे जिनको प्रकृति ने प्रखर बुद्धि एवं तर्क क्षमता दी थी। अपनी तर्क क्षमता के आधार पर ही उन्होंने सर्वप्रथम ''शीत स्नान'' की आरोग्यवर्धन क्षमता की खोज की थी। बाद में उनका औषधालय प्राकृतिक चिकित्सा का तीर्थस्थान बन गया। जब भी कोई नयी खोज या सिद्धान्त प्रस्तुत किया जाता है तो उसका तीखा विरोध होता है। प्रिसनिज को उसी प्रकार कड़े विरोध का सामना करना पड़ा। उनके विरोधियों ने उन्हें अभद्र, अशिष्ट और मूर्ख तक कहा, अपमानित किया। उन्हें झूठे सिद्धान्त खोजने के आरोप में अदालत के कटघरे तक में खड़ा किया गया। परन्तु इन सब प्रताड़नाओं ने उनको और प्रसिद्धि दिला दी। उन्होंने अपने चिकित्सालय के पास एक पत्थर लगवाया जिस पर लिखा था, "YOU MUST BE PATIENT" अर्थात् ''धैर्य बनाए रखें''। उनका मत था कि केवल धैर्य ही आपको हठी रोगों से मुक्ति दिला सकता है। अपने अनुभवों और तर्क क्षमता के सहारे उन्होंने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि दीर्घकालीन एवं कठिन रोगों से मुक्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है शरीर की अपनी प्रतिरोध क्षमता को बढ़ाना। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत शरीर त्रुटिपूर्ण जीवन शैली के कारण अन्दर जमा हुए मल एवं विषैले त्याज्य पदार्थों को धीरे-धीरे बाहर निकालता है।

प्रिसनिज के बाद जोहान्स स्क्राथ ने उनके सिद्धान्तों को आगे बढ़ाया। इस काम में आगे बढ़ते हुए उसने अपने अनुभवों के आधार पर प्राकृतिक पद्धति को नया आयाम दिया। प्रिसनिज की तरह स्क्राथ को भी कड़े विरोध का सामना करना पड़ा। सुयोग से स्क्राथ के समय में ही विन्टसवर्ग के ड्यूक के पांव में गहरा जख्म हो गया जो

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अनेकानेक प्रकार के इलाज के बाद भी नहीं भरा और वैद्यों-हकीमों तथा शल्यचिकित्सकों के अनुसार उस जख्म की पीड़ा से निजात पाने का एकमात्र उपाय पैर काटना ही था। ड्यूक ने स्क्राथ के अनुरोध पर उन्हें भी एक मौका दिया। एक चमत्कार हुआ और ड्यूक के पैर का जख्म पूरी तरह भर गया। इससे प्रभावित होकर ड्यूक ने स्क्राथ की पूरी पद्धति को छपवाकर खूब प्रसारित किया जिससे न केवल स्क्राथ की प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति को मान्यता मिली वरन् इस पद्धति के विरोधियों का मुंह सदा के लिए बंद हो गया। प्राकृतिक चिकित्सा के विकास क्रम में पादरी सेबेस्टियन नीप, जर्मनी के डा. हेनरिक लेहमैन एवं कुन्हे एवं एडोल्फ जस्ट के योगदान सर्वथा स्मरणीय हैं। अमरीकन चिकित्सक जे. सी. जैक्सन ने सर्वप्रथम जलचिकित्सा (Hydortherapy) को नया रूप एवं नया आयाम दिया। डॉ. रसेल टी. ट्राल ने फ्लोरेंस में हाइजिनिक थिरेप्यूटिक कालेज की स्थापना की जिसमें केवल प्राकृतिक चिकित्सा की शिक्षा दी जाती थी। डॉ. जे. एच. केलाग और डॉ. हेनरी लिंडलार तथा डॉ. जे. एच. टिलडेन ने प्राकृतिक चिकित्सा का भरपूर पोषण किया। डॉ. टिलडेन ने आदत एवं व्यवहार परिवर्तन के माध्यम से कई जीर्ण एवं घातक बीमारियों का इलाज बताया। ''इम्प्रेयर्ड हेल्थ'' नामक पुस्तक में उनकी तमाम विधियों का वर्णन है। डॉ. बेनेडिक्ट लस्ट जो डॉ. नीप की शिष्या थी, ने आहार नियोजन के द्वारा रोग-निदान की पद्धति का सूत्रपात किया। इसके अतिरिक्त अनेक चिकित्सकों ने प्राकृतिक चिकित्सा को अपने श्रम से सींचा तथा उसे नयी दिशा दी। आज प्राकृतिक चिकित्सा का जो भी स्वरूप हमारे सामने है उसमें अनेक सुयोग्य भारतीय चिकित्सकों का योगदान भी कम नहीं है।

## 17.3 प्राकृतिक चिकित्सा दर्शन

प्राणी प्रकृति के करीब रहकर, प्रकृति के निर्दिष्ट नियमों पर निरन्तर चलकर कभी अस्वस्थ नहीं हो सकता। जंगली पशु-पक्षियों का शरीर बड़ा ही सुन्दर, सुगठित तथा मोहक बना रहता है, आखिर क्यों? इस प्रश्न का सहज उत्तर है कि वे हमसे कहीं ज्यादा प्रकृति के नजदीक रहते हैं। वे भूमि पर सोते हैं, प्राकृतिक शीतल जल पीते हैं, खुले आकाश में शुद्ध हवा में सांस लेते हैं, पर्याप्त सूर्य प्रकाश ग्रहण करते हैं, खाद्य-पदार्थों के रूप में फल-फूल, पत्ते, घास जैसे प्रकृतिप्रदत्त पदार्थों को ही ग्रहण करते हैं। परिणाम यह होता है कि वे कभी अस्वस्थ नहीं होते। जब कभी उनके स्वास्थ्य में कोई गड़बड़ी उत्पन्न होती है तो प्रकृति ही वैद्य बनकर, चिकित्सक बनकर उनको रोगमुक्त करती है। इसके ठीक विपरीत थोड़ा सा भी अस्वस्थ होने पर, जो कि सर्वथा संभव होता है क्योंकि हम प्राकृतिक शक्तियों की न तो परवाह करते हैं न ही उनका सहयोग लेते हैं, तत्काल तीव्रतम औषधियों का उपयोग करने के लिए तत्पर होने लगते हैं। ये औषधियां और आसवारिष्ट, जो कि नितान्त कृत्रिम रूप से तैयार किये जाते हैं, रक्त में मिलकर जितना रोग को दूर करने में सहायक होती हैं उससे कहीं अधिक विषयुक्त रसायन के रूप में काम करते हुए शरीर के ऊतकों, अवयवों और कोशिकाओं को नष्ट करती हैं।

प्राकृतिक चिकित्सा का रहस्य वास्तव में प्रकृति ने ही दिया है। समस्त ब्रह्माण्ड की रचना प्रकृति में मुक्त अथवा संयुक्त रूप में पाये जाने वाले तत्त्वों से होती है। रसायन शास्त्र (Chemistry) की भाषा में कहें तो इन तत्त्वों की कुल संख्या 107 है। उदाहरण के लिए सोडियम, पोटेशियम, केल्सियम, फास्फोरस, आइरन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन आदि। वैज्ञानिकों के अनुसार इस ब्रह्माण्ड में जितनी भी वस्तुएं हैं चाहे वह किसी भी रूप में हैं, चाहे जीवित हैं या मृत, सबकी रचना इन्हीं तत्त्वों के आपसी संयोग से होती है। पत्थर, गैस, पानी, पशु-पक्षी, चौपाये, मिट्टी, वनस्पतियां, पेड़-पौधे, मनुष्य आदि सभी कुछ इन्हीं तत्त्वों के मेल से उत्पन्न होते हैं। एक निश्चित दशा और निश्चित अनुपात में हाइड्रोजन और ऑक्सीजन तत्त्व मिलते हैं तो पानी बनता है, निश्चित अनुपात में सोडियम और क्लोरीन तत्त्व मिलते हैं तो नमक बनता है, निश्चित अनुपात में कार्बन, ऑक्सीजन और हाइड्रोजन मिलते हैं तो प्रोटीन का निर्माण होता है, निश्चित अनुपात में जब कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन तथा वसा अम्ल मिलते हैं तो वसा बनती है। मनुष्य की इकाई कोशिका होती है और कोशिका की रचना में महत्त्वपूर्ण भागीदारी प्रोटीन तथा वसा की होती है। कोशिका भित्ति, जीवद्रव्य (Cytoplasm) और केन्द्रक कोशिका के अविभाज्य अंगक हैं और इन सबका निर्माण प्रोटीन और वसा से होता है। कोशिका को जीवन देने वाले ''जीन्स'' की रचना डी.एन.ए. से होती है और डी.एन.ए. के निर्माण में फिर वही प्रोटीन तथा अन्य अकार्बनिक रसायनिक पदार्थ अग्रणी भूमिका निभाते हैं। जब तक इन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

रसायनिक यौगिकों का संयोग संतुलित और मानक रूप एवं स्तर में होता है शरीर ठीक ढंग से काम करता है। किन्हीं कारणों से जब इन यौगिकों और तत्त्वों के अनुपात में, इनके संयोग में असन्तुलन उत्पन्न होता है तो बीमारी उत्पन्न होती है। एक बार बीमारी या रोग उत्पन्न होने के बाद यदि रोग का उपचार सही ढंग से करना है तो इन प्राकृतिक घटकों के असन्तुलन को दूर करना श्रेयस्कर होता है, वह भी सर्वथा प्राकृतिक ढंग से। यही प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति का दर्शन भी है और सिद्धान्त भी।

## 17.4 प्राकृतिक चिकित्सा के आयाम

बहुत पुरानी कहावत है चिकित्सा या उपचार से रोकथाम कहीं बेहतर होती है। रोकथाम का सम्बन्ध हमारी आदतों एवं क्रिया-कलापों से होता है। कोई बीमार तभी होता है जब उसकी आन्तरिक रोग प्रतिरोध क्षमता का क्षय होता है। दूसरे शब्दों में जब जीवनी शक्ति का ह्रास होता है अथवा वह अत्यन्त क्षीण होती है तब रोगों से लड़ने की क्षमता घटती है। जीवनी शक्ति मूलत: भौतिक क्षमता, मानसिक-शारीरिक बल, जोश और उल्लास जैसे गुणों का संचय रूप है। जीवनीशक्ति की मात्रा और इसका स्वरूप तथा इसका प्रवाह ही स्वास्थ्य का परिचायक होता है। बीमार सा पीला चेहरा, लगातार सिर-हाथ-पैर में दर्द, अपच और कब्ज आदि निम्न स्तर की जीवनीशक्ति के द्योतक हैं। यदि हम जीवनीशक्ति के संवर्धन में सफल हो सकें तो निश्चित रूप से अपने आपको बचा सकेंगे। इसके लिए कतिपय दैनिक एवं प्राकृतिक क्रियाओं का नियोजन करना अपरिहार्य होता है। इन सभी को प्राकृतिक चिकित्सा के आयाम की संज्ञा दी जाती है। प्रकृति प्रदत्त जीवनीशक्ति के संवर्धन हेतु हमें निम्नांकित आयामों पर ध्यान देना चाहिए—

(1) नींद, (2) सूर्य का प्रकाश, (3) वायु,
(4) जल, (5) भोजन एवं (6) जीवन शैली।

### 17.4.1 नींद

भरपूर निद्रा लेना जीवनीशक्ति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारक है। नींद से केवल थकावट ही दूर नहीं होती बल्कि जैविक ऊर्जा की कमी की पूर्त्ति भी होती है। नींद की अवस्था में ऊर्जा की खपत न्यूनतम होती है परन्तु तनावग्रस्त व्यक्ति की नींद भी भरपूर लाभ नहीं दे पाती ऐसी स्थिति में यौगिक निद्रा का उपयोग किया जाना श्रेयस्कर होता है। शिशु और छोटे बच्चे जितना अधिक सोते हैं उतने ही स्वस्थ होते हैं। वयस्क व्यक्ति यदि 6 से 8 घटे की गहरी नींद लेते हैं तो उनका स्वास्थ्य (मानसिक एवं शारीरिक दोनों) बेहतर होता है। अंग्रेजी की उक्ति "Early to bed and early to rise, makes a man healthy, wealthy and wise" आज भी उतनी ही प्रासंगिक है। हां नींद के पहले स्वयं को पूरी तरह रिलैक्स करना आवश्यक है। चिंता और चिता दोनों ही सगी बहिनें हैं, इन्हें चैतन्य अवस्था में ही अपनाएं।

### 17.4.2 सूर्य का प्रकाश

नींद से उठने के बाद सबसे पहली आवश्यकता है खिले हुए सूर्य की रोशनी का सेवन। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से वंचित पौधे सूख जाते हैं ठीक उसी प्रकार स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए सूर्य का प्रकाश अनिवार्य है। इसका स्थान कोई अन्य प्रकाश नहीं ले सकता। सूर्य के प्रकाश से वंचित व्यक्ति हमेशा के लिए रुग्ण हो जाएगा-इसकी पूरी संभावना है। सूर्य संपूर्ण सृष्टि के लिए ऊर्जा का अक्षुण्ण स्रोत है। इसका अंश लेकर पौधे हमारे लिए भोजन बनाते हैं। हमारे शरीर की तमाम जैव-रासायनिक क्रियाएं इसके अधीन होती हैं। अत: प्राकृतिक चिकित्सा के दूसरे आधार के रूप में सूर्य के प्रकाश को स्थापित किया जाता है।

### 17.4.3 वायु

जीवन के महत्त्वपूर्ण गुणों में से एक है चयापचय की क्रिया। चयापचय की क्रिया दो भागों में विभक्त होती है। भोजन के रूप में ग्रहण किये गये जटिल यौगिक रूप खाद्य पदार्थों को तोड़कर उसके अवयवों को अलग-अलग करना। इसे अपचय कहते हैं। भोजन के रूप में हम विविध खाद्य पदार्थ ग्रहण करते हैं परन्तु वे अन्दर जाकर मांस,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मज्जा, हार्मोन, न्यूरोट्रांसमीटर, रक्त, आंसू, जीवद्रव्य जैसे अनेकानेक पदार्थ बन जाते हैं। चयापचय के साथ अन्य सभी जैविक, यान्त्रिक तथा रासायनिक क्रियाओं के समायोजित संचालन के लिए भी ऊर्जा की आवश्यकता होती है जिसका उत्पादन कोशिकाओं में ही होता है। इसके लिए वायु (ऑक्सीजन) की अपरिहार्य आवश्यकता होती है अत: हर हाल में हमारे लिए, हमारे जीवन और स्वास्थ्य के लिए शुद्ध वायु की, जिसमें पर्याप्त मात्रा में ऑक्सीजन हो, महती आवश्यकता होती है। अत: इसे प्राकृतिक पोषण का अगला सोपान माना जाता है।

### 17.4.4 जल

जल ही जीवन है, यह एक सर्वमान्य सत्य है। इसके पीछे कारण यह है कि हमारे शरीर का 70 प्रतिशत भाग जल के रूप में ही है। यह पोषक भी है और स्वच्छता के लिए अनिवार्य भी। यह विभिन्न रासायनिक पदार्थों, रसों एवं स्रावों का अभिन्न एवं अनिवार्य घटक है। शरीर में इसकी मात्रा संतुलित रहनी ही चाहिए अन्यथा जीवन और स्वास्थ्य दोनों के लिए कठिनाई उत्पन्न होती जाती है इसीलिए इसे प्राकृतिक चिकित्सा का महत्त्वपूर्ण आयाम माना जाता है।

### 17.4.6 जीवनशैली

जीवन तो सभी प्राणी जीते हैं कुछ स्वस्थ रहकर कुछ रुग्ण रहकर। यह एक स्थापित सत्य बन चुका है कि जीवनशैली स्वास्थ्य पर अमिट छाप छोड़ जाती है। हमारा उठना-बैठना, खाना-पीना, हमारा व्यवहार, हमारी वेश-भूषा, दैनिक स्वास्थ्य पर हर पल असर डालते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा का अटूट संबंध है स्वास्थ्य से या यूं कहें कि स्वास्थ्य के पटरी से उतर जाने पर ही किसी चिकित्सा के हस्तक्षेप की आवश्यकता और उपयोगिता महसूस होती है इसलिए कहा जा सकता है कि जीवनशैली भी प्राकृतिक चिकित्सा का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है।

## 17.5 प्राकृतिक चिकित्सा के दस आधारभूत सिद्धान्त

### 17.5.1 सभी रोग एक, उनके कारण एक, उनकी चिकित्सा भी एक

प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान एक दर्शन है। इसके सिद्धान्तानुसार समस्त रोग वस्तुत: एक ही हैं, उनका कारण एक ही है, तथा उनकी चिकित्सा भी एक ही है।

एक सत्य वस्तु जिस प्रकार विभिन्न रूपों में प्रकट होती है, एक स्वर्ण जिस प्रकार विविध नाम और रूप के आभूषणों में प्रदर्शित होता है, उसी प्रकार प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान का यह एक अटल सिद्धान्त है कि मानव शरीर में स्थित एक ही विजातीय द्रव्य अनेक रोगों के रूप में तथा विभिन्न नामों से प्रकट और विख्यात होता है।

उपर्युक्त भारतीय संस्कृति के सिद्धान्तानुसार मानव शरीर एक और अभिन्न होता है। समूचा मनुष्य एक और अभिन्न है। सारा विश्व एक और अभिन्न है। अखिल ब्रह्माण्ड एक और अभिन्न है। सारे ब्रह्माण्ड को एक नियम सूत्र में बांधने वाली सत्ता की शक्ति एक और अभिन्न है और यही 'सर्वखल्विदं ब्रह्म' का अर्थ है। एकता का यही दार्शनिक सिद्धान्त, प्राकृतिक चिकित्सा दर्शन का भी प्रमुख सिद्धान्त है।

सूक्ष्म रूप से देखने और विचार करने से मनुष्य को सताने वाले विभिन्न प्रकार के रोगों में एकरूपता प्रत्यक्ष रूप से परिलक्षित होगी। सारे रोग अनेक होते हुए भी वस्तुत: एक ही होते हैं। केवल उनके रूप और प्रकार में ही विभिन्नता होती है। इस तथ्य को एक दृष्टांत देकर स्पष्ट किया जाता है—

एक घर में चार प्राणी रहते हैं। चारों अप्राकृतिक जोवन व्यतीत करते हैं। उत्तेजक और मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं। ठूंस-ठूंस कर अनाप-शनाप खाते हैं। कसरत नहीं करते तथा निर्मल जल, सूर्यप्रकाश तथा स्वच्छ वायु आदि प्राकृतिक उपादानों का उचित रूप में सेवन नहीं करते। फलस्वरूप उन चारों प्राणियों के शरीर का रक्त विषाक्त हो उठता है। उनका शरीर दूषित मल, जिसको प्राकृतिक चिकित्सा की भाषा में 'विजातीय द्रव्य' कहते हैं, से भर जाता है। परिणाम यह होता है कि उन चारों प्राणियों को कभी-न-कभी बीमार पड़ना ही पड़ना है ताकि प्रकृति को रोगों के रूप में उनके भीतर स्थित उस विजातीय द्रव्य को निकालने और उन्हें स्वस्थ बना देने का मौका मिले।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

परिस्थिति, आयु, प्रकृति आदि के अनुसार उन चारों प्राणियों में से प्रत्येक एक ही रोग से आक्रांत नहीं हो सकते, हालांकि चारों के रोगों का कारण एक ही है, उनके शरीरों में अप्राकृतिक जीवन-यापन जनित विजातीय द्रव्य की उपस्थिति। उनमें से किसी को दस्त आना शुरू हो सकता है, किसी को ज्वर आना, तो किसी को गठिया रोग और किसी को बवासीर हो सकती है। ये सभी रोग एक-दूसरे से भिन्न हैं, पर वस्तुतः वे एक ही हैं अर्थात् शरीर में उपस्थित विजातीय द्रव्य का बहिष्करण विभिन्न तरीकों से होना। अब प्रकृति के इस मल बहिष्करण कार्य में रोगी और उसके चिकित्सक का क्या कर्त्तव्य होना चाहिए। केवल प्रकृति के उस कल्याणकारी कार्य में सहूलियत पैदा करना, उसे मदद देना। अर्थात् उपवास या युक्ताहार से जीवनीशक्ति को बढ़ाना तथा जलोपचार, मिट्टी की पट्टी, सेंक, मर्दन, एनिमा आदि से शरीर के मल मार्गों को पूर्णतः खोलकर उनको क्रियाशील कर देना ताकि वे शरीर के मल का बहिष्करण करने में सफल हों। इस तरह देखेंगे कि संसार के सभी रोग वास्तव में एक ही हैं तथा उनके कारण, निदान एवं चिकित्सा भी एक ही है।

बहुधा ऐसा देखा गया है कि रोगी अपने किसी एक रोग का उपचार कराने प्राकृतिक चिकित्सक के पास आता है, पर प्रकृतोपचार करने पर उस एक रोग के साथ-साथ रोगी के अन्य तमाम छोटे-मोटे विभिन्न नामधारी रोग भी सदैव के लिए उससे विदा हो जाते हैं। यह इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि सभी रोग एक होते हैं और वे सब के सब एक ही प्रकार के इलाज से जाते भी हैं, क्योंकि उन रोगों के होने का कारण केवल एक ही होता है—शरीर में मल का एकत्र हो जाना।

## 17.5.2 रोग के कारण कीटाणु नहीं

उपर्युक्त विवेचन द्वारा शरीर में एकत्र दूषित मल को रोगों का मात्र कारण मान लेने के बाद, इस बात की शंका ही नहीं रह जाती कि वस्तुतः कीटाणु रोगों के कारण नहीं होते जैसा कि आधुनिक एलोपैथ डाक्टरों की धारणा ही नहीं उनका सिद्धान्त भी है।

असलियत यह है कि यदि हम नियमित और सही आहार करने के अभ्यासी हैं तो कीटाणु-परमाणु जो सारे संसार में फैले हुए हैं हमारे शरीर में प्रविष्ट होकर वहाँ रह ही नहीं सकते, अपितु वे हमारे शरीर के अनगिनित स्वस्थ कोषों के रूप में बदल जाएंगे जिनसे शरीर का निर्माण हुआ है, किन्तु यदि हमारा खान-पान अनियमित एवं अप्राकृतिक हैं तो वे ही सर्वव्यापी परमाणु हमारे शरीर में असंख्य कीटाणुओं का रूप धारण करके हमें अवश्य रोगी बना देंगे।

यह एक प्राकृतिक नियम है कि सृष्टि में जितने पदार्थ हैं, सबके सूक्ष्म परमाणु अनवरत रूप से गतिशील रहते हैं। जिन वस्तुओं के परमाणु एक सी गति रखते हैं, उनमें परस्पर आकर्षण होता है, और विरुद्ध गति वाले परमाणु एक-दूसरे से दूर भागते हैं। अतः इस सिद्धान्तानुसार रोग के कीटाणुओं का अस्तित्व उन्हीं शरीरों में संभव है जिनमें पहले से ही रोग का कारण विजातीय द्रव्य विद्यमान होता है या जो रोगग्रस्त हैं या जिनमें रोग के ग्रहण करने की योग्यता है। लेकिन जिन शरीरों के भीतर, कीटाणुओं के विपरीत पोषक तत्त्व विद्यमान होंगे अर्थात् जो विजातीय द्रव्य से सर्वथा मुक्त होंगे और सही मायने में जो स्वस्थ होंगे, उन पर उपर्युक्त प्राकृतिक नियम के अनुसार कीटाणुओं का आक्रमण होना असंभव है। और यदि यह कार्य संभव मान भी लिया जाए तो ऐसे शरीरों में निषेधक शक्ति पहले से ही विद्यमान होने के कारण रोगाणुओं का विषकृत प्रभाव भी नष्ट हो जायेगा और वे स्वयं नाश को प्राप्त हो जाएंगे। निर्मल शरीर में संसार के सारे रोगाणु एक साथ मिलकर भी रोग उत्पन्न नहीं कर सकते। परन्तु जिस शरीर में कीटाणुओं के पोषण योग्य मल विद्यमान है उसमें रोगाणु अवश्य उत्पन्न होंगे, पनपेंगे तथा वृद्धि को प्राप्त होंगे। इस तरह हम देखते हैं कि कीटाणु रोग के कारण नहीं होते बल्कि रोग ही कीटाणु के कारण हैं।

## 17.5.3 तीव्र रोग शत्रु नहीं, मित्र होते हैं

एक प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक का कहना है—तुम मुझे ज्वर दो, मैं तुम्हें स्वास्थ्य देता हूं। अर्थात् मल पूरित शरीर को मल रहित करने के लिए ज्वरादि तीव्र रोग ही एकमात्र सच्चा उपाय है। शरीर में सदैव विजातीय द्रव्य (मल)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उत्पन्न होता रहता है, जिसको हमारे शरीर के मल मार्ग (रोमकूप, गुर्दे, गुदा आदि) प्रतिदिन निकालते रहते हैं। यदि किसी कारण से उस मल को बाहर निकल जाने का रास्ता न मिले तो वह शरीर में बीमारी उत्पन्न करके बाहर निकल जाने की प्रकृतित: कोशिश करता है। इसी स्थिति को रोग होना कहते हैं। इस तथ्य को समझ लेने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि आवश्यकता पड़ने पर मनुष्य को रोग होना कितना आवश्यक है। अथवा दूसरे शब्दों में, रोग हमारे शत्रु नहीं, मित्र होते हैं जो हमें स्वास्थ्य देने आते हैं, लेने नहीं। दृष्टान्तस्वरूप मान लीजिये कि प्रकृति को पेट जनित मल को धोना है, तो इस कार्य को वह उल्टी या दस्त की बीमारी पैदा करके कर सकती है, साथ में पानी की प्रबल प्यास भी उत्पन्न हो सकती है और यदि उसे मस्तिष्क के विकार को साफ करना है तो जुकाम होगा, प्यास लगेगी और नाक के रास्ते परनाले बहेंगे, आदि।

हम जिस रोग कहते हैं, वह वास्तव में चिकित्सा है। रोग होने पर हमें अपनी गलतियों की तरफ निगाह दौड़ानी चाहिए। सोचना चाहिए कि हमने जो अपराध किये हैं उनका प्रायश्चित्त हमें रोगी बन कर करना पड़ रहा है जो अपने भले के लिए ही है। क्योंकि विकार शरीर में रह जाते और अपनी गलतियों का सिलसिला भी जारी रहता तो भविष्य में उसका कितना भयंकर परिणाम होता, कौन जानें। जीवन बेकार हो जाता, अकाल मृत्यु हो जाती अथवा जाने क्या अनिष्ट होकर रहता। अत: हमें रोग से डरने का कोई कारण नहीं है, अपितु उसका हर हालत में स्वागत करना ही बुद्धिमानी है।

प्रश्न हो सकता है कि यदि रोग विशेषकर तीव्र रोग यदि शरीर की सफाई के लिए होने वाले प्रकृति के प्रयत्न के रूप में होते हैं तो उनके कारण लोग मरते क्यों हैं? इसका उत्तर यह है कि रोगी में या तो जीवन शक्ति बहुत कम बची रही होती है या शरीर स्थित विजातीय द्रव्य की मात्रा अत्यधिक होती है, या उपचार अपर्याप्त या हानिकारक हुआ है। ऐसे वक्तों में प्रकृति अपनी सफाई का कार्य करने में असफल रह जाती है और रोगी मर जाता है।

थक कर सोने में जो सुख मिलता है, भूख में आहार जो आनन्द देता है तथा विपत्ति में ईश्वर और धैर्य का आश्रय लेने से जो शान्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार की सुख-शांति मनुष्य को रोग से मुक्त हो जाने के बाद मिलती है और मिलनी चाहिए। यदि रोग को दबा नहीं दिया गया तो रोग के चले जाने के बाद रोगी को इस तरह की अनुभूति होनी चाहिए कि उसका शरीर हल्का हो गया है, नया हो गया है और एक बोझा सिर से उतर गया है। यदि यह अनुभूति नहीं होती तो समझना चाहिए कि प्रकृति, रोग द्वारा शरीर का जो कल्याण करना चाहती थी, उसमें विघ्न पड़ गया है।

## 17.5.4 प्रकृति स्वयं चिकित्सक है

प्राकृतिक चिकित्सा में यह माना जाता है कि जीवन का संचालन एक विचित्र, आश्चर्यजनक एवं सर्वशक्तिमान शक्ति द्वारा होता है जो प्रत्येक जीवन के पार्श्व में रहकर उसके जन्म, मरण, स्वास्थ्य, रोग आदि सभी बातों की देखभाल करती है। उस महान् शक्ति को प्राकृतिक चिकित्सक, जीवन-शक्ति 'ईश्वरवादी', ईश्वरीशक्ति एवं अनीश्वर वादी 'प्रकृति' कहते हैं। यही शक्ति जब हमारे शरीरों में रोग उत्पन्न करने की जरूरत समझती है तो रोग उत्पन्न करती है। और फिर वही शक्ति उस रोग से मुक्ति देकर आरोग्य भी प्रदान करती है। चिकित्सा केवल वही शक्ति है जो हमारे भीतर वास करती है। केवल वही हमारे स्वास्थ्य को कायम रख सकती है और रोग को दूर कर सकती है। भगवान ने श्री गीता में कहा है—

**अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रित:।**
**प्राणापान समायुक्त: पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।**

अर्थात् मैं ही समस्त प्राणियों की देह में वैश्वानर अग्निरूप होकर प्राण और अपान—समीकरण और बहिष्करण—इन दो प्राणधारक क्रियाओं से युक्त हुआ चार प्रकार के अन्न (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य) को पचाता हूं। अत: शरीर की समस्त क्रियाएं और अवस्थाएं एकमात्र उसी अन्तर्भूत शक्ति की ही उपस्थिति के फलस्वरूप होती हैं। वह न केवल शारीरिक विकारों को अपितु मानसिक विकारों को भी दूर करने वाली होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

हम मंत्रमुग्ध होकर रह जाते हैं जब सोचते हैं कि प्रकृति ने किस कौशल और बुद्धिमानी से मानव शरीर की रचना की है। मस्तिष्क, नाड़ी संस्थान, हृदय, यकृत, उत्पादन संस्थान—चाहे जिस अंग को लें उसके निर्माण और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए व्यवस्था करने में जो महान् कौशल दिखाया गया है उसे देख समझ कर चकित रह जाना पड़ता है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि परमात्मा ने इस छोटे शरीर के भीतर ही उसकी साज संभाल के लिए सारी आवश्यक वस्तुएं प्रस्तुत कर रखी हैं, जीवन शक्ति इन्हीं वस्तुओं के योग से रोग होने पर रोगों का शमन करती है और जन्म से लेकर मृत्यु तक यही शक्ति शरीर के निर्माण और सुधार का काम करती रहती है। यही शक्ति अपने प्रयोग में तभी विफल होती है जब हम स्वयं अथवा मिथ्योपचारक अज्ञानवश उसके रास्ते में रोड़े अटकाते हैं या उसके कार्य में हस्तक्षेप करते हैं।

## 17.5.5 चिकित्सा रोग की नहीं रोगी के पूरे शरीर की होती है

चिकित्सा की अन्य पद्धतियों में रोगी के रोग की चिकित्सा पर जोर दिया जाता है। परन्तु प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति में रोगी के समूचे शरीर की चिकित्सा करके उसे नया बनाया जाता है। जिससे रोग के चिन्ह अपने आप गायब हो जाते हैं। जिस चीज को चिकित्सा की अन्य पद्धतियों को अपनाने वाले रोग का नाम देते हैं उसे प्राकृतिक चिकित्सा की परिभाषा में रोग नहीं रोग का चिह्न कहते हैं। वास्तविक रोग तो शरीर के भीतर इकट्ठा हुआ विजातीय द्रव्य या विष होता है जो समय पाकर रोग विशेष द्वारा निकल जाने का प्रयत्न करता है। अत: चिकित्सा, रोग नामधारी रोग चिह्नों की न होकर वास्तविक रोग की ही होनी युक्तिसंगत है और यह प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली में किया जाता है। सिर दर्द होने पर सिर दर्द की दवा नहीं होनी चाहिए, अपितु सिर दर्द के कारण स्वरूप पाचन प्रणाली के दोष या समूचे शरीर के रक्त दोष की होनी चाहिये जिसके करने से सिर दर्द अपने आप चला जाएगा।

प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली से प्रत्येक रोग अच्छा किया जा सकता है पर प्रत्येक रोगी नहीं। प्रत्येक रोगी इसलिए नहीं, क्योंकि रोगी का अच्छा होना या न होना नीचे लिखी पांच बातों पर निर्भर करता है—

(1) रोगी के शरीर में विजातीय द्रव्य (मल) की मात्रा कितनी है?

(2) रोग निवारण के लिए यथेष्ट जीवनशक्ति उसमें है या नहीं?

(3) रोगी किस हद तक चिकित्सा कर चुका है या कर रहा है? वह धैर्य को खो तो नहीं रहा है?

(4) प्राकृतिक चिकित्सा आरम्भ करने से प्रथम रोगी को घातक औषधियां तो नहीं दी गई थी या कोई बड़ा ऑपरेशन तो नहीं हुआ था?

(5) रोगी प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली में विश्वास करता है या नहीं?

## 17.5.6 रोग-निदान की विशेष आवश्यकता नहीं

जैसा कि ऊपर की पंक्तियों से स्पष्ट है प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली में रोग की चिकित्सा नहीं होती है अपितु रोगी की होती है। ऐसी दशा में इस चिकित्सा में रोग के निदान का प्रश्न ही नहीं उठता। रोग-निदान की अनावश्यकता इस बात से और पुष्ट हो जाती है कि यदि प्रकृति को स्वीकार होता कि रोग या निरोग अवस्था में डॉक्टर निदान के लिए मनुष्य शरीर के भीतरी अवयवों (हृदय, वृक्क, आंतों आदि) को और उनमें होने वाली स्पन्दन आदि प्राकृतिक क्रियाओं का होना देख सके तो वह मनुष्य के शरीर पर अपारदर्शी चमड़े और मांस का खोला चढ़ा कर उसे दृढ़ता के साथ न जकड़ती बल्कि मानव शरीर पर एक ऐसी पारदर्शी झिल्ली लगा करके रखती जिसके जरिये डॉक्टर लोग आसानी से देख पाते कि शरीर के भीतर के अंगों में क्या गड़बड़ी है और इस तरह रोग के निदान (Diagnosis) करने में उन्हें सुविधा होती। इससे सिद्ध होता है कि प्रकृति यह कभी नहीं चाहती कि कोई रोगों के निदान के लिए माथा-पच्ची करे जबकि चिकित्सा के लिए वह बिल्कुल अनावश्यक है और इस बात के कहने की तो जरूरत नहीं मालूम होती कि निदान की खींचातानी के लिए मानव बुद्धि ने आज जितने यंत्र बना रखे हैं वे प्राकृतिक और परमात्मा के गूढ़ रहस्यों का पता लगाने में अक्षम हैं अत: उनसे पूर्ण रूप से रोग निदान की आशा कैसे की जा सकती है। और यही कारण है कि 90 प्रतिशत निदान सरासर गलत होते हैं और 10 प्रतिशत जो सही होते हैं वे केवल दैवयोग या

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अकस्मात्। अब यह आसानी से समझा जा सकता है कि इन गलत निदानों पर आधारित गलत चिकित्सा करके डॉक्टर लोग मानव समाज का कितना अहित करते हैं, कितनी बड़ी जिम्मेदारियां अपने सिर पर लेते हैं। निश्चय ही परिणाम भयानक होता है जिसे रोगियों को भुगतना पड़ता है।

थोड़ी देर के लिए मान लिया जाए कि रोग का सही निदान भी हो गया, पर केवल निदान हो जाने से तो रोग चला नही जाता। इस सम्बन्ध में बड़े-बड़े डॉक्टरों का अनुभव बताता है कि औषधोपचार पद्धति में सही निदान हो जाने पर भी बहुत से रोगों पर चिकित्सा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता उल्टे बहुत से रोग जीर्णावस्था में परिणत हो जाते हैं और उनमें से कुछ तो असाध्य भी करार दे दिये जाते हैं।

ऐसी अवस्था में प्राकृतिक चिकित्सा ही एक ऐसी पद्धति है जिसमें निदान की विशेष आवश्यकता नहीं समझी गई और जो थोड़ा बहुत नाममात्र का निदान होता है उसमें किसी प्रकार की भूल के कारण रोग के बढ़ने की कोई संभावना ही नहीं रहती।

इस प्रकार कह सकते हैं कि रोगी के शरीर में विजातीय द्रव्य का एकत्र होना ही रोग है। निदान के लिए एक प्राकृतिक चिकित्सक को केवल यह देखना होता है कि वह दुर्द्रव्य (बादीपन) शरीर के किस भाग में स्थित है सामने, बगल में या पीछे अथवा समस्त शरीर में व्याप्त है जिसके उदाहरण मोटे आदमी होते हैं। यदि बादीपन सामान्य हुआ तो उसे प्राकृतोपचार से शीघ्र दूर किया जा सकता है यदि बगल वाला हुआ तो सामने वाले बादीपन की अपेक्षा उसे जरा कठिनाई से दूर किया जा सकता है और यदि पीछे का या समस्त देह का बादीपन हुआ तो समस्या जटिल समझी जाती है। इसके अतिरिक्त रोगी के मुख और गर्दन की रूपान्तर दशा और त्वचा के अनेक तरह के बुरे रंगों को देखकर तथा उसकी अस्वस्थता की कहानी उसके मुख से सुनकर भी निदान कर लिया जाता है। सिद्धांत हर हाल में यही रहता है कि यह पता लगाया जाए कि रोगी के शरीर के किस भाग में किस अंग विशेष पर विजातीय द्रव्य (बादीपन) का भार अधिक होता है। जिसे सूक्ष्म दृष्टि से देखने से न केवल एक प्राकृतिक चिकित्सक अपितु कोई भी देख सकता है और देखकर उचित उपचार सोच सकता है। इस तरह हम देखते हैं कि प्राकृतिक चिकित्सा की निदान विधि भटकने और बहकने का भय ही नहीं है।

डॉक्टरों के रोग-निदान और प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति के रोग-निदान में एक अन्तर और है। वह यह है कि डाक्टर लोग मुख्यतया मुर्दों को चीर-फाड़ कर निदान का ज्ञान प्राप्त करने का मुद्दतों तक यत्न करते हैं, जबकि एक प्राकृतिक चिकित्सक जीवित शरीर में होने वाली कार्यवाहियों पर दृष्टिपात करके मिनटों में अपना काम निकाल लेता है।

## 17.5.7 जीर्ण रोग के रोगियों को आरोग्य लाभ में समय लग सकता है

डाक्टर लिण्डल्हार से प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली पर आक्षेप करते हुए उसके किसी विरोधी ने कहा—प्राकृतिक चिकित्सा से तो रोगी बहुत देर में अच्छे होते हैं यहां तक कि तबियत उकता जाती है। डाक्टर साहब ने छूटते ही कहा—बिल्कुल नहीं, प्राकृतिक चिकित्सा से तो रोगी बहुत जल्दी अच्छे हो जाते हैं इतना ही नहीं संसार में जितनी चिकित्सा-पद्धतियां आजकल प्रचलित हैं, प्राकृतिक चिकित्सा उन सबमें सबसे तेज रफ्तार वाली चिकित्सा है मगर हमारी परेशानी तो यह है कि हमको सिर्फ असाध्य रोग के रोगी ही जो सब जगह से निराश हो चुके होते हैं, उपचार के लिए मिलते हैं।

वास्तव में सब तरफ से निराश हुए रोगी प्राकृतिक चिकित्सा की शरण ग्रहण करते हैं, उस वक्त वे रोग से ग्रस्त ही नहीं रहते, उनके शरीर में सिर्फ रोग का असर और जहर ही नहीं होता, वरन् दवाओं का भी जहर होता है। इस तरह प्राकृतिक चिकित्सक को वास्तविक रोग का ईलाज ही नहीं करना पड़ता, बल्कि उन दवाओं के विषों को भी उनके शरीरों से निकालना पड़ता है, जिसमें महीना, दो महीना से लेकर सालों तक लग सकता है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली में रोग अच्छा होने का मतलब सिर्फ रोग का दूर होना ही नहीं, बल्कि नवजीवन प्राप्त करना, पूर्ण रूप से तन्दुरुस्त, मजबूत और शक्तिशाली होना भी है। अत: स्वास्थ्य लाभ की इस प्रकार की प्रक्रिया में 'छूमंतर' जैसी कोई बात पैदा नहीं की जा सकती है और उसके लिए काफी समय लग सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसमें संदेह नहीं कि कष्ट, पीड़ित रोगी का रोग से जल्दी छुटकारा न मिलने के कारण धैर्य छूट जाना सर्वथा स्वाभाविक है। किन्तु उसकी उस अधीरता को भी हमें उसके रोग का ही अंग समझ कर उसको धैर्य बंधाना चाहिए और चिकित्सा क्रम जारी रखकर उसको स्वस्थ बनाना चाहिए।

## 17.5.8 प्राकृतिक चिकित्सा से दबे रोग उभरते हैं

जहाँ औषधोपचार से उभरे रोग दब जाते हैं, वहाँ प्राकृतिक उपचार से दबे रोग उभरते हैं और उभरकर सदा के लिए चले जाते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा के इस स्वर्ण सिद्धान्त को समझने के लिए पहले हमे यह समझना होगा कि रोगोपचार में उभार से हमारा क्या मतलब होता है।

'उभार' को चिकित्सा की भाषा में रोग का तीव्र रूप, रोग की अपकर्षावस्था, पुराने रोग का प्रत्यावर्तन, आरोग्यप्रद दारुण स्थिति, रोग उपशम संकट Healing Crisis तथा Curative Crisis आदि कई नामों से पुकारते हैं। इसका सीधा-साधा मतलब है, जीर्ण रोग के उपचार काल में किसी समुचित समय पर उस रोग की तीव्र प्रतिक्रिया का होना, या दबे रोग का प्राकृतोपचार द्वारा अर्जित प्रबल जीवनी शक्ति के प्रभाव के कारण जड़ से उखड़ कर सदा के लिए चले जाने के लिए प्रस्तुत हो जाना और थोड़े समय तक अपना जलवा दिखाकर रोगी का पिंड हमेशा के लिए छोड़ देना। उभार साधारणत: दो-चार दिन या हद से हद एक सप्ताह रहकर शांत हो जाता है और शरीर को निरोगी दशा में छोड़ जाता है। उभार की क्रिया में यह एक विलक्षण बात है कि रोगी के शरीर में जिस क्रम से जो-जो रोग पहले से दबे हुए रहते हैं, उभार काल में उनके विपरीत क्रम से एक-एक रोग उभरते हैं और नाश को प्राप्त होते चले जाते हैं।

सृष्टि के संचालन में मुख्यत: प्रकृति की दो शक्तियां रचनात्मक (Constructive) और (Destructive) विनाशक विशेष रूप से कार्य करती हैं, जिनका उदाहरण संसार में हम सर्वत्र देख सकते हैं। प्राकृतिक रोगोपचार में प्रकृति की उपर्युक्त रचनात्मक शक्ति का कार्य होता है रोगी में 'रोग उपशम संकट' (Curative crisis) उत्पन्न करके रोग मुक्त कर देना, स्वस्थ बना देना और विनाशक शक्ति का काम होता है रोगी में 'विध्वंसकारक रोग संकट' (Desturctive Disease Crisis) पैदा करके रोगी की मृत्यु का कारण बनना। यह पिछली अवस्था उस समय पैदा होती है जब रोगी के शरीर में भरा विजातीय द्रव्य (मल) शरीर के मल बहिष्करण मार्गों—पेशाब, पाखाना, रोमकूपादि द्वारा किसी प्रकार शरीर से बाहर नहीं निकलता और परिणामत: उस रोगी का निधन हो जाता है। किसी की मृत्यु तभी होती है जब रोग उसके शरीर की विकार निवारक शक्ति से बहुत अधिक बढ़ जाता है।

जैसाकि कहा जा चुका है कि 'उभार' या 'दारुण स्थिति' के उदाहरण न केवल रोग के संबंध में ही, अपितु संसार में सर्वत्र मिलते हैं। डॉक्टर लिण्डलार ने समर और क्रांतियों को बड़े-बड़े राज्यों का जीवन संबंधी आरोग्यप्रद दारुणस्थिति माना है, सुधारों को धर्म संबंधी तथा जनता की हड़ताल और बलवा को व्यवसाय और वाणिज्य संबंधी।

इस प्रकार गर्मियों में किसी-किसी दिन बड़े जोरों से गर्मी होकर उमस बढ़ जाती है। उसे ऋतु उपशम संकट कह सकते हैं क्योंकि उसके थोड़ी देर बाद निश्चित रूप से हवा तेजी से बहने लगती है या आंधी आ जाती है अथवा कुछ फुहारें पड़ने लगती हैं या तेज बारिश होने लगती है और शांति मिल जाती है।

जाड़ा बीत जाने के बाद पतझड़ से पेड़ों की पत्तियां गिर पड़ती हैं और वे नंगे-बूचे हो जाते हैं। प्रकृति ऐसा करके उन पेड़ों के लिए रोग उपशम संकट (Curative crisis) उपस्थित करती है क्योंकि उसके बाद थोड़े ही अर्से में वे पहले से भी अधिक हरे-भरे और पल्लवित दिखने लगते हैं।

मल-मूत्र निकलने के पहले जो थोड़ी-सी तकलीफ के साथ हाजत महसूस होती है। वह प्रकृति का 'उभार' क्रिया के अतिरिक्त और क्या है? क्योंकि उस हाजत के बाद तबियत पहले से कितनी हल्की हो जाती है।

स्त्रियों का प्रतिमास मासिक धर्म होना, उसकी प्रसव वेदना, पके हुए फोड़े की असह्य पीड़ा और टीसन तथा चुभे हुए कांटे को निकालते समय की वेदना आदि सभी प्राकृतिक 'उभार' क्रिया के उदाहरण हैं।

सभी तीव्र रोग जैसे हैजा, ज्वर, दस्त, चेचक आदि हमारे मलपूरित शरीर से शरीर की जीवनशक्ति द्वारा, मल को अति वेग के साथ निकाल फेंकने में शीघ्रता करते हैं। उसे हम रोग का तीव्र रूप, या तीव्र उपशम संकट कह सकते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस तरह हम देखते है कि उपचार काल में रोग उभार होना कितना कल्याणकारी, मंगलमय और आवश्यक है, जिसमें घबराने और डरने की जगह प्रसन्न होना चाहिए। यह आवश्यक है कि उभार को जल्दी बुलाना या उसे विकट रूप देना बुद्धिमानी नहीं है। इस काल में जल्दबाजी से काम लेना हानि कर सकता है। प्रकृति द्वारा शनैः शनैः कार्य सम्पादन होने का नियम यहां भी लागू होने देना चाहिए। यही उत्तम है परेशान करने वाले उभार उन्हीं रोगियों की चिकित्सा में अक्सर होते देखे गये हैं जो चिकित्सा के पहले बहुत सी विषाक्त औषधियां लिए रहते हैं और जिसको निकालने में प्राकृतिक चिकित्सक बहुधा जल्दी करते हैं। जो प्राकृतिक जीवन व्यतीत करते हैं और दवाओं से बचे रहते है उनके बीमार पड़ने पर निसर्गोपचार काल में या तो उभार होता ही नहीं है या बहुत हल्का होता है और इतने ही से वे पूर्ण रूप से स्वस्थ हो जाते हैं।

**बोध प्रश्न :**

1. सबसे पहले जल चिकित्सा को नया आयाम किसने दिया?
2. प्राकृतिक चिकित्सा के आयाम कौन-कौनसे है?
3. प्रकृति स्वयं चिकित्सक है, समझाइए।

## 17.5.9 मन, शरीर तथा आत्मा-तीनों की चिकित्सा साथ-साथ

शरीर, मन और आत्मा-तीनों के स्वास्थ्य-सामंजस्य का नाम पूर्ण स्वास्थ्य है। प्राकृतोपचार में इन तीनों की स्वास्थ्योन्नति पर बराबर ध्यान रखा जाता है। यह प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता है। प्राकृतिक चिकित्सक, मनुष्य के मानसिक स्वास्थ्य को उसके शारीरिक स्वास्थ्य से अधिक आवश्यक और गुरुतर समझते है और आत्मिक स्वास्थ्य या आत्मबल को सर्वोपरि एवं गुरुतम। एक प्राकृतिक चिकित्सक की नजर में शारीरिक स्वास्थ्य का अर्थ केवल रोगरहित शरीर ही नहीं होता, अपितु वह यह भी जानता है कि मनुष्य के भीतर के स्वास्थ्य का सम्बन्ध उसके मन और आत्मा से बड़ा घनिष्ट होता है।

सुकरात कहा करता था कि अगर मनुष्य केवल बलवान हो तो इसमें उसकी कोई विशेषता नहीं है, मृतक, मनुष्य नहीं है, शव मात्र है, शरीर ही शरीर है इसके उपरान्त कुछ नहीं है। परन्तु जीवित मनुष्य के शरीर और मन का विच्छेद सम्बन्ध होता है। दोनों को मिलाकर एक समझना होगा और एक को छोड़कर दूसरे का विकास किया भी नहीं जा सकता। मस्तिष्क को उन्नत रखते हुए शरीर को बलशाली करने वाला व्यक्ति सुख के मार्ग पर होता है।

प्राकृतिक जीवन, प्राकृतिक रहन-सहन तथा प्राकृतिक खान-पान हमारे जीवन में सात्विकता लाकर हमें ऊपर उठाते हैं। मन का संयम करके हमें अध्यात्म की ओर ले जाएंगे। यह असत्य नहीं है कि यदि मानवजाति प्राकृतिक चिकित्सा दर्शन का अनुकरण करे, उसे अपनावे तो निर्दयता, पाशविकता, पैशाचिकता संसार से एकदम उठ जाए और पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आवे। रोगी शरीर निर्बल आत्मा और कलुषित मन तीनों की चिकित्सा के लिए ईश प्रार्थना प्राकृतिक चिकित्सा का प्रमुख अंग है, रामबाण चिकित्सा है।

## 17.5.10 प्राकृतोपचार में उत्तेजक औषधियों के दिए जाने का प्रश्न ही नहीं

औषधोपचार प्रणाली का सिद्धान्त है कि रोग बाहरी चीज है, जिसका शरीर पर आक्रमण हुआ करता है, अतः शक्तिशाली से शक्तिशाली साधन का प्रयोग करके उससे लड़ना चाहिए और उसे परास्त करना चाहिए। इसलिए डाक्टर और वैद्य विषैली दवाईयों जैसे—पारा, अफीम, संखिया आदि का प्रयोग करके रोगों से निपटने का यत्न करते हैं और इस बात पर जरा भी ख्याल नहीं करते कि विष आखिर विष ही है, चाहे उसकी मात्रा कम हो या अधिक। वह हर हालत में जीवन के लिए घातक है। जिससे रोग बजाय घटने के दिन-पर-दिन गंभीर ही होता जाता है। इसलिए प्राकृतोपचार में उत्तेजक औषधियों का प्रयोग अनावश्यक ही नहीं अपितु हानिकारक भी समझा जाता है। कारण, प्राकृतिक चिकित्सा का सिद्धांत इस संबंध में औषधोपचार प्रणाली के उपर्युक्त सिद्धांत से एकदम उल्टा है। प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली में रोग बाहरी चीज नहीं अपितु शरीर के भीतर की चीज मानी जाती है। जिसको बिल्कुल उन्हीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्राकृतिक साधनों द्वारा दूर किया जाता है, जिसके प्रयत्न से रोग आवश्यकता पड़ने पर उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में जिन प्राकृतिक तरीकों को अपना करके हम रोगों से बचे रहते हैं, उन्हीं तरीकों को रोग होने पर भी अपना करके हम रोग का निवारण करते हैं ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार से इंजन का चालक उसको एक ही वाष्प शक्ति (Steam) से केवल मशीन घुमाकर आगे भी चला देता है और पीछे भी। शरीर की जो शक्ति हमें उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करती है, वही रोग से मुक्त भी करती है। इंजन पीछे चलता है तो चालक उसको आगे चलाने के लिए कोई बाहरी चीज इंजन की मशीन में नहीं डालता। इसी प्रकार जब हमारा शरीर रोगी होता है तो उसको निरोगी करने के लिए हमें किसी बाहरी चीज (औषधि) की आवश्यकता नहीं होती और न होनी चाहिए।

डॉक्टरों की औषधियों में शरीर के लिए आवश्यक पोषक तत्त्व नहीं होते उनके प्रयोग से शरीर में जो प्रतिक्रिया होती है वह वास्तव में औषधियों की नहीं होती वरन् उस शरीर की होती है जिसमें वे जीवनहीन औषधियां प्रवेश करती हैं। क्या औषधियों का कुछ भी प्रभाव एक मुर्दे पर हो सकता है? अत: प्रश्न यह नहीं है कि बाहर से ली गई औषधियां शरीर पर क्या असर डालती हैं? बल्कि प्रश्न यह है कि बाहर से ली गई उन औषधियों से शरीर कैसे निपटता है। शरीर यही कोशिश करेगा कि वे अनावश्यक दुर्द्रव्य जल्दी से जल्दी शरीर से निकल जाएं और वह निर्मल हो जाए। प्राकृतिक चिकित्सक जीवन-तत्त्व हीन विषैली औषधियों को शरीर के लिए अनावश्यक ही नहीं अपितु घातक भी समझते हैं।

औषधियां, विशेषकर विषैली औषधियों को जब हम तन्दुरुस्ती की हालत में ग्रहण नहीं करते, न कर सकते, पर समझ में नहीं आता वे रोग की दशा में क्यों सेवन कराई जाती हैं और किस आशा से। जो औषधि तन्दुरुस्ती की दशा में आदमी को हानि कर सकती है वही बीमार पड़ने पर उसको लाभ करे यह कैसे मुमकिन हो सकता है?

जैसा कि सिद्धांत नं. 4 में बताया गया है कि प्रकृति ही चिकित्सक है अर्थात् रोग से मुक्ति प्रकृति देती है दवा नहीं। औषधि का काम रोग छुड़ाना नहीं है। औषधि तो वह सामग्री है जो प्रकृति के द्वारा मरम्मत के काम में लगायी जाती है। ऐसा इसलिए कि वह शरीर द्वारा ग्राह्य है और अवयवों के गठन में अथवा आन्तरिक क्रियाओं में जैसे विजातीय द्रव्य के निकालने में लगायी जा सकती है। औषधि की यही वास्तविक परिभाषा है जो औषधि चिकित्सकों की औषधि परिभाषा से भिन्न है। इस तरह सभी सप्राण खाद्य पदार्थ औषधि कहलायेंगे—हवा, धूप, जल से लेकर फल, सब्जी और बहुत सी विषहीन जड़ी-बुटियों तक जो खाद्य वस्तुओं की तरह ही काम में आ सकती है, आती हैं। प्राकृतिक चिकित्सा में ये ही खाद्य भी हैं और औषधियां भी। ये पहले खाद्य हैं फिर औषधियां हैं।

इस तरह काष्ठ औषधियां प्राकृतिक चिकित्सा के अन्तर्गत है। पर शर्त यह है कि वे ताजी हों, अनुत्तेजक हों और अकेली या सजातीय होने पर दो-तीन से अधिक एक साथ न मिलाई जाये साथ-ही-साथ मात्रा भी अधिक न हो और रोगी के स्वभाव के अनुकूल हों। प्राकृतोपचार के काष्ठ औषधोपचार और खाद्योपचार एक वस्तु के दो नाम हैं। प्राय: सभी उद्भिज पदार्थों में जो मनुष्य के भोजन का अंश हो सकते हैं प्राण कणों के लिए अच्छी और ताजी काष्ठौषधियां मौजूद होती हैं जिनका प्रयोग प्राकृतोपचार के रोगी के स्वभाव की सहायता पहुंचाने के लिए धड़ल्ले के साथ करते हैं।

## 17.6 प्राकृतिक चिकित्सा के प्रकार

प्राकृतिक चिकित्सा सम्बन्धी सिद्धान्त अटल, अचूक और अपरिवर्तनशील हैं। कारण कि इसमें जिन छह तत्त्वों को उपकारी या गुणकारी समझकर उपयोग में लाया जाता है वह कल भी और सदा-सर्वदा उपयोगी बने रहेंगे। ईश्वर, उसकी प्रकृति एवं सत्य—तीनों पर्यायवाची हैं और तीनों ही सर्वव्यापक हैं। क्षिति, जल, पावक, गगन तथा समीर सहित प्रकृति से मनुष्य शरीर की रचना होना तथा उसमें परमात्मांश आत्मा का होना भी सत्य है। अत: इन्हीं षट तत्त्वों, जो सर्वव्यापक एवं पृथ्वी पर सर्वत्र प्राप्य हैं, के द्वारा रोगों की प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली भी सत्य है, शाश्वत है। रोगों की उत्तम चिकित्सा प्रणाली वही है जिसमें शोधक, शामक और पूरक—तीनों गुण साथ-साथ हों और ये तीनों गुण प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली में विद्यमान हैं। इस चिकित्सा से रोग का मूल कारण, शरीर के अन्दर स्थित विजातीय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

द्रव्य का उत्सर्जन कराकर शरीर को निर्मल बनाया जाता है। यह इसका शोधक गुण है। तत्पश्चात् इसके सुलभ प्रयोगों से रोगी को तत्काल आराम पहुंचता है यह इसका शामक गुण है। इसके साथ-साथ इस पद्धति से रोगी को आवश्यक पोषक तत्त्वों की आपूर्ति भी होती रहती है, यह इसका पूरक गुण है।

महर्षि सुश्रुत ने कहा कि **''शरीर लाघव करं यद् द्रव्यं कर्म वा पुनः तल्लंघमितिज्ञेयं।''**

अर्थात् लंघण से सभी रोगों का कारण शरीर स्थित दोष (विजातीय द्रव्य) शरीर से निकल जाता है जिससे शरीर हल्का हो जाता है इसलिए एक लंघण सभी रोगों का एकमात्र उपचार है।

इस लंघण शब्द का यहां केवल **'उपवास'** अर्थ ही नहीं है बल्कि वे सभी उपचारात्मक क्रियाएं हैं जो प्राकृतिक चिकित्सा में रोगों के निवारण में प्रयुक्त होतर हैं, जैसे–वमन, विरेचन, एनिमा, भाप-स्नान, जलतत्त्व के प्रयोग, वायुतत्त्व के प्रयोग, अग्नितत्त्व के प्रयोग तथा आकाशतत्त्व के प्रयोग। महर्षि चरक के अनुसार—

**चतुष्प्रकारण संशुद्धि, पिपासा, मारुतातपौ,**

**पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेतिलंघनम्।**

अर्थात् लंघण से तात्पर्य शरीर के संशोधन या शुद्धिकरण हेतु निम्नांकित दस उपायों से है-

(1) वमन (उल्टी) क्रिया, (2) विरेचन (ऊपर से कोई चीज पिलाकर दस्त लाना),
(3) एनिमा, (4) भाप-स्नान,
(5) जल तत्त्व के विविध प्रयोग, (6) वायु तत्त्व के विविध प्रयोग,
(7) अग्नि तत्त्व के विविध प्रयोग, (8) पृथ्वी तत्त्व के विविध प्रयोग (खाद्य और मृत्तिका चिकित्सा सहित),
(9) आकाश तत्त्व के प्रयोग (जैसे उपवास, नींद आदि) एवं (10) व्यायाम।

उपरोक्त सभी क्रियाओं को समेकित रूप से जल चिकित्सा, मिट्टी चिकित्सा, वायु चिकित्सा, अग्नि चिकित्सा और आकाश चिकित्सा के अन्दर समाहित कर लिया जाता है जिनका अगले पाठ में विस्तृत विवरण उपलब्ध कराया गया है।

## 17.7 अभ्यासार्थ प्रश्न

**1. निबन्धात्मक प्रश्न**

1. प्राकृतिक चिकित्सा के दस आधारभूत सिद्धान्तों का विवरण दीजिये।
2. प्राकृतिक चिकित्सा के प्रमुख आयाम बताइये।

**2. लघुत्तरात्मक प्रश्न**

1. प्राकृतिक चिकित्सा का संक्षिप्त इतिहास बताइये।
2. प्राकृतिक चिकित्सा का आधार क्या है?

**3. बहुवैकल्पिक प्रश्न**

1. प्राकृतिक चिकित्सा में उपवास किस तत्त्व के अन्तर्गत आता है—
   (अ) वायु (ब) पृथ्वी (स) आकाश (द) महत्तत्व
2. उत्तम चिकित्सा प्रणाली वह है जिसमें तीन गुण हैं—
   (अ) पूरक, रेचन एवं कुम्भक (ब) श्वास, नींद एवं शमन
   (स) शोधक, शामक एवं पूरक (द) ध्वनि, आकाश एवं वायु

## 17.8 संदर्भ पुस्तकें

(1) प्राकृतिक आयुर्विज्ञान-डॉ. राकेश जिन्दल (इस पुस्तक को ही मुख्य रूप से पाठ का आधार बनाया गया है)
(2) रोगों की सही चिकित्सा-डॉ. नागेन्द्र, नीरज एवं मंजू नीरज
(3) Nature cine for common disease – V. Modi

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई : 18 आकाश, वायु, अग्नि, पृथ्वी एवं जल चिकित्सा

## संरचना


18.0 उद्देश्य

18.1 आकाश तत्त्व चिकित्सा

18.1.1 ब्रह्मचर्य और संयम

18.1.1.1 मन का संयम

18.1.1.2 वाणी का संयम

18.1.1.3 कर्म का संयम

18.1.2 मानसिक अनुशासन एवं संतुलन

18.1.3 मन: शक्ति का रोग निवारण में प्रयोग

18.1.4 विश्राम या शिथिलिकरण

18.1.5 उपवास

18.1.5.1 उपवास क्या और क्यों?

18.1.5.2 उपवास के प्रकार

18.2 वायु तत्त्व चिकित्सा

18.2.1 पवन स्नान या वायु सेवन

18.2.1.1 पवन स्नान करने वाले का भोजनादि कैसा हो?

18.2.2 स्वर साधना

18.2.2.1 स्वर साधना के चमत्कार और उससे स्वास्थ्य प्राप्ति

18.2.3 प्राणायाम

18.2.3.1 प्रत्येक प्राणायाम के तीन क्रम

18.2.3.2 पूरक, कुम्भक रेचक का अनुपात

18.2.3.3 प्राणायाम से लाभ

18.2.3.4 अपानायाम

18.3 अग्नि तत्त्व चिकित्सा

18.3.1 सूर्य द्वारा रोगों का उपचार

18.3.2 सप्त किरण स्नान या धूप स्नान

18.3.3 रोग निवारण के लिए गरम वायु, गरम जल तथा गरम पृथ्वी के प्रयोग

18.4 जल तत्त्व चिकित्सा

18.4.1 ठण्डे जल के बाह्य प्रयोग

18.5 पृथ्वी तत्त्व चिकित्सा

18.5.1 पृथ्वी की शक्ति एवं गुण

18.5.2 मृत्तिका चिकित्सा

18.5.3 रोगों में मिट्टी के प्रयोग

18.5.3.1 मिट्टी की गरम पट्टी और उसकी प्रयोग विधि


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

18.5.3.2 मिट्टी की ठण्डी पट्टी
18.5.3.3 गरम मिट्टी की पट्टी
18.5.3.4 रज स्नान
18.5.3.5 पंक स्नान
18.6 अभ्यासार्थ नमूने प्रश्न
18.7 संदर्भ ग्रंथ

## 18.0 उद्देश्य

(1) प्राकृतिक चिकित्सा की विभिन्न विधियों की सैद्धांतिक जानकारी प्राप्त करना।

(2) विभिन्न प्राकृतिक चिकित्सकीय विधियों के प्रयोग में दक्षता हासिल करना।

## 18.1 आकाश तत्त्व चिकित्सा

आकाश तत्त्व, पंचतत्त्वों में सबसे अधिक उपयोगी एवं प्रथम तत्त्व है। इसको शून्य भी कहते हैं। जिस प्रकार महत्तत्व (ईश्वर) निराकार किन्तु सत्य है, उसी प्रकार आकाश तत्त्व निराकार भी है और सत्य भी है। महत्तत्व अविनाशी है। उसी प्रकार आकाश तत्त्व भी कभी नाश नहीं होता, महाप्रलय में भी नहीं। आकाश विशुद्ध तथा निर्विकार होता है। अत: उससे हमें विशुद्ध एवं निर्मलता (आरोग्य) की प्राप्ति होती है। आकाश में देवताओं का वास माना गया है जो अमर हैं। हम भी आकाश तत्त्व का भरपूर और उचित सेवन करके अमर नहीं तो निरोग और दीर्घजीवी तो अवश्य ही हो सकते हैं।

स्मरण रखना चाहिए कि जिस प्रकार निराकार महत्तत्व को देखने में हमें ठोस या दृश्यमान वस्तु नहीं मिलती अपितु हर ठोस या दृश्यमान वस्तु की प्राप्ति के लिए शक्ति की उपलब्धि होती है। उसी प्रकार निराकार आकाश तत्त्व से भी यही बात संभव है क्योंकि निराकार से निराकार वस्तु की ही प्राप्ति होती है। किन्तु जो शक्ति हमें महत्तत्व अथवा आकाशतत्त्व से मिलती है, वह अमोघ होती है; परमकल्याणकारी होती है; आत्मिक, मानसिक तथा शारीरिक तीनों प्रकार के स्वास्थ्य को उन्नत बनाने वाली होती है।

यह सत्य है यदि आकाश तत्त्व का सृजन न हुआ होता तो न तो प्राणी श्वास ले पाते हैं और न ही प्राणियों की स्थिति और अस्तित्व ही होता। शेष चारों तत्त्वों का आधार भी यही तत्त्व है। आन्तरिक स्फूर्ति एवं स्वर्गीय आनन्द की अनुभूति आकाश तत्त्व से ही संभव होती है।

शरीर का निर्माण : यह शरीर पांच तत्त्वों का बना है, जैसा कि एक कवि ने कहा है—

पवन, पानी, पृथ्वी, प्रकाश और आकाश।
पंचभूत के खेल से, बना जगत का पाश।।

विचित्र यन्त्र : प्रकृति की सब रचनाओं में मानव शरीर एक विचित्र यंत्र है। शरीर ब्रह्माण्ड का एक छोटा सा सम्पूर्ण नमूना है।

''यथा पिंडे तथा ब्रह्माण्डे''

आकाश ब्रह्माण्ड का भी आधार है। उपवास इस तत्त्व की प्राप्ति का एक प्रबल साधन है। वैसे भी प्रतिदिन भूख से थोड़ा कम खाकर हम इस अमूल्य एवं उपकारी तत्त्व का अर्जन करके सुख-शांति के भागी बन सकते हैं। बीमारी पड़ने पर उपवास द्वारा शरीर की जीवनीशक्ति को अन्य शारीरिक कार्यों से अवकाश दिलाकर हम अपने शरीर में आकाश तत्त्व की कमी को पूरा करते हैं। जिसके फलस्वरूप हम अपने आप चंगे हो जाते हैं। शोक, काम, क्रोध, मोह एवं भय आकाश तत्त्व के ही कार्य हैं। शरीर में आकाश तत्त्व के विशेष स्थान—सिर, कण्ठ, हृदय, उदर और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कटिप्रदेश हैं। मस्तिष्क में स्थित आकाश, वायु का भाग है जो प्राण का मुख्य स्थान है। हृदयदेश गत आकाश तेज का भाग है जो पित्त का मुख्य स्थान है, इससे अन्न का पाचन होता है। उदर देश गत आकाश जल का भाग है। इससे सब प्रकार की मल विसर्जन क्रिया संभव होती है। कटि देश गत आकाश पृथ्वी का भाग है, यह अधिक स्थूल होता है और गन्ध का आश्रय है। आकाश की खाली जगह को हमें भरने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। यदि हम अपना दैनिक आहार, जितना चाहिए उतना ही लें और ठूंस-ठूंस कर न लें तो शरीर में मुक्तता रहेगी। इसीलिए सप्ताह में या पखवाड़े में जैसी सुविधा हो, उपवास कर लिया जाए तो सब घट-बढ़ संभल सकती है। पूरा उपवास न हो सके तो एक या अधिक समय का भोजन त्याग देने से भी लाभ होंगे। उपवास के संबंध में आगे विस्तार से लिखा गया है।

हमारी संजीवनी शक्ति की वृद्धि एवं रोग-शोक की निवृत्ति के लिए आकाश तत्त्व की प्राप्ति, उपवास के अतिरिक्त ब्रह्मचर्य और संयम, सदाचार, मानसिक अनुशासन एवं संतुलन, विश्राम अथवा शिथिलीकरण, प्रसन्नता, मनोरंजन तथा गाढ़ी नींद से भी होती है।

## 18.1.1 ब्रह्मचर्य और संयम

शास्त्रों में ब्रह्मचर्य की दो श्रेणियां वर्णित हैं। एक का नाम है 'उपकुर्वाण' और दूसरे का नाम है 'नैष्ठिक' जो विद्यार्थी एक, दो या तीन वेदों का सांगोपांग अध्ययन करके गुरु की आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है उसे उपकुर्वाण कहते हैं तथा जो विद्यार्थी जीवन भर ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर लेता है उसे नैष्ठिक कहते हैं।

ब्रह्मचर्य और संयम का परस्पर अटूट संबंध है। संयम मानव जीवन का सर्वोच्च आदर्श है। खानपान, रहन-सहन, विचार, व्यवहार आदि जीवन के समस्त कार्य-कलापों में इस मर्यादा का पालन कर मनुष्य शरीर और मन दोनों से स्वस्थ और सुखी बना रह सकता है। इस नियम पालन में इन्द्रिय सुख का कोई स्थान प्राप्त नहीं है क्योंकि उच्छृंखल इन्द्रियों का निग्रह करना जीवन कला है। संयमित जीवन का पुनीत मार्ग प्रकट रूप से भले ही नीरस एवं अग्राह्य प्रतीत हो, किन्तु परिणामत: यह कितना कल्याणकारी है, यह कथन का विषय नहीं अपितु सोचने, समझने और व्यवहार में लाकर अनुभव करने का विषय है। वस्तुत: संयम मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है, जिससे च्युत होकर मनुष्य अपने मनुष्यत्व को खोकर, फिर मनुष्य नही रह पाता।

यद्यपि केवल मन:संयम से शेष दो अर्थात् वाणी और कर्म के संयम स्वत: सिद्ध हो जाते हैं, फिर भी मनीषियों ने मन, वाणी एवं कर्म को संयमित करने के उपाय अलग-अलग और विस्तार पूर्वक बताए हैं जिनका संक्षिप्त विवेचन नीचे दिया जा रहा है।

### 18.1.1.1 मन का संयम

मन संयम में इन्द्रियों की गुलामी सबसे बड़ी समस्या है जो चित्त-चांचल्य का मूल कारण है। विविध प्रकार की सांसारिक वासनाओं के हाथों में पड़ा यह मानव कठपुतली की तरह नाचा करता है। वासनाएं जब जैसा नाच नचाना चाहती हैं, मानव तब वैसा ही नाच नाचता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, काम, क्रोध, मोह, लोभ तथा अभिमान के हाथों निरीह मानव गेंद-सा उछलता फिरता है। विडम्बना तो यह है कि इन वासनाओं की पूर्ति न तो कभी होती है और न इनसे कभी तृप्ति ही होती है। चैन कभी नहीं मिलता। विश्राम की आशा, दुराशा मात्र होती है। एक वासना से छुटकारा मिला नहीं कि मन दूसरी वासना का शिकार हो जाता है, फिर तीसरी का और यही क्रम मनुष्य के मरते दम तक चलता रहता है। उसे अपने कल्याण के बारे में सोचने-समझने की छुट्टी ही नहीं मिलती। कारण स्पष्ट है। अर्थात् स्वामी और सेवक में पद-परिवर्तन हो जाने से यह सब अनर्थ होता है। हमने इन्द्रियों का प्रभुत्व तथा बुद्धि विवेक को उनकी दासयता दे रखी है। मनुष्य को आहार-विहार परिश्रम आदि सभी की आवश्यकता जीवन में होती है। पर कौन-कौन सी आहार वस्तुएं श्रेयस्कर हैं और उनका किस सीमा तक सेवन करना चाहिए, विहार कब और कैसे करना चाहिए तथा परिश्रम या विश्राम कितना करना चाहिए आदि बातों का निर्णय अंधी इन्द्रियों पर छोड़ना बुद्धिमानी की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

बात नहीं है। ये काम तो स्वयं बुद्धि का है। बुद्धि को धीरे-धीरे अभ्यास से शुद्ध करते रहने से वह एक दिन इस योग्य अवश्य हो जाएगी कि वह इन्द्रियों पर शासन कर सके। पर यदि उसको इन्द्रियों का दास ही बना रहने दिया जाएगा तो सदैव धोखा ही होता रहेगा।

मन:शुद्धि में एकांत में आत्मपर्यायलोचन से बड़ी सहायता मिलती है। प्रतिदिन सोने से पहले उस दिन किए गए अपने सारे अच्छे-बुरे कामों तथा चेष्टाओं का लेखा-जोखा लेते रहना, आत्मपर्यायलोचन या आत्मनिरीक्षण कहलाता है। यह महापुरुषों का लक्षण है। इससे कालान्तर में मन को चंचलता मिटना संभव हो जाता है। कारण, हम दूसरों से अपने बहुत से दुर्गुण छिपा सकते हैं, पर अपने से तो कुछ छिपाना संभव नहीं होता। अत: जब तटस्थ होकर हम अपने दिनभर के कामों की आलोचना करने लगते हैं तो चित्त के न जाने कितने छिपे दोष-पाप एक-एक करके सामने प्रकट होने लगते हैं। उस वक्त हम अपने दम्भ, कपट, नीचता और कुकर्मों को देखकर स्वयं थर्रा उठते हैं और भविष्य में फिर वैसा न करने का संकल्प करते हैं आत्मपर्यायलोचन के समय का यह ज्ञान, सच्चे वैराग्य, सच्ची उन्नति और सच्चे मन संयम की कुंजी है।

मन संयम का एक दूसरा साधन है—ईश्वरोपासना, जिसका आजकल के कथित शिक्षित समाज में अभाव-सा दिखाई पड़ रहा है जो ठीक नहीं है। प्रत्येक धर्म में जो संध्या, नमाज आदि नित्योपासना करने का आदेश है वह निरर्थक नहीं है, उससे मन-संयम में अथवा अपवित्र मन को पवित्र करने में बड़ी सहायता मिलती है। यदि 20 मिनट भी प्रतिदिन, श्रद्धा भक्ति के साथ तथा सच्चे हृदय से ईश्वरोपासना कर ली जाए तो मन नि:संदेह वश में हो जाएगा और काम बन जाएगा।

### 18.1.1.2 वाणी का संयम

वाणी में इन्द्रियों को चलायमान करने की शक्ति होती है अत: वचन का संयम मनुष्य के लिए अतीव आवश्यक है किसी को ताना मारना, चिढ़ाना, गाली देना, घृणा का भाव प्रदर्शित करना, बुरी निगाह से देखकर भद्दा मजाक करना आदि असंयमित वचन के लक्षण हैं। इनसे बचना, वाणी का संयम कहलाता है। कठोर शब्द वैमनस्य उत्पन्न करते हैं और वर्षों की पक्की मित्रता को क्षणमात्र में तोड़ देते हैं। इसके विपरीत प्रेम भरे मीठे वचन बड़े से बड़े दुश्मन को भी दोस्त बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं। कहा भी गया है—

**''वशीकरण इक मन्त्र है तज दे वचन कठोर।''**

शब्द में अपरम्पार शक्ति होती है। मन्त्र का दूसरा नाम शब्द ही तो है, असंभव कार्य भी मन्त्रोच्चारण के साथ-साथ संभव हो जाता है। परन्तु प्रत्येक शब्द मंत्र नहीं हो सकता। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के मुख से निकला मंत्र (शब्द) अपना प्रभाव नहीं दिखला सकता। जिस मनुष्य को संयम करना आता है केवल उसी की वाणी में वह अद्‌भुत शक्ति होती है जो सुनने वालों को मोह लेती है अथवा उन पर अपना प्रभाव डाल सकती है। संयमी व्यक्ति के भाषण में एक प्रभावोत्पादक विद्युत शक्ति होती है जो उसके सुनने वालों से जो चाहती है, करा लेती है। महापुरुषों, ऋषियों, मुनियों के मुख से निकले प्रत्येक शब्द का महत्त्व होता है। उनका एक-एक शब्द अमोघ मंत्र होता है और अचूक होता है। कारण वे शब्द संयमित होते हैं और उनका आधार सत्यता होता है।

वचन को संयमित करने का एकमात्र उपाय 'मौनावलम्बन' है। मौन में बड़ा बल होता है, मौन का एक नाम शांति भी है, जिससे सृष्टि की सभी वस्तुएं उद्‌भूत हुई हैं, जिसमें वे स्थित रहती हैं और अन्त में जिसमें वे सभी विलीन हो जायेंगी। वेदों में जिस स्थल पर मौन की व्याख्या की गई है वहाँ उसको 'शान्तम्' कहा गया है जिसका अभिप्राय सुख और आनन्द है। 'शान्तम्' को ही प्रणव, ॐ या सोहम् कहते हैं जो सदा हमारे श्वास-प्रश्वास में रमा रहता है। सृष्टि का सारा काम मौनवत् होता है। गर्भ में बच्चे की वृद्धि मौनवत् होती है, वृक्षादि मौनवत् उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं तथा नष्ट हो जाते हैं। जीव ब्रह्मसाक्षात्कार कर लेने के बाद सर्वथा मौन हो जाता है। प्रकृति मौन है ब्रह्म जो अदर्शनीय है, स्वयं मौन है और यही मौन की अमित शक्ति का सबसे बड़ा प्रमाण है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अपनी वाणी को संयमित करने के लिए हमें सप्ताह या महीने में एक दिन बिल्कुल मौन रहना चाहिए। उस दिन एकाग्रचित्त होकर आत्मा और परमात्मा का चिन्तन करना चाहिए। गत सप्ताह या गत मास वचन द्वारा यदि किसी को क्लेश पहुंचाया हो, किसी से लड़ाई की हो तो मौनावस्था में उस पर विचार करना चाहिए, पश्चात्ताप करना चाहिए और भविष्य में उसकी पुनरावृत्ति न होने देने के लिए परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिए।

### 18.1.1.3 कर्म का संयम

सत् कर्म और असत् कर्म को समझना तथा तदनुसार आचरण करना कर्म का संयम कहलाता है। इस कार्य में विवेक, बुद्धि से सहायता लेनी होती है। जब कोई सत् कर्म अपने सामने आए, जिसे बुद्धि अच्छा समझे तो उसमें तुरन्त लग जाना चाहिए। दान करने की इच्छा हुई, दान कर डालना चाहिए क्योंकि हो सकता है देर करने से अवसर निकल जाए या कोई अन्य विघ्न, बाधा उपस्थित हो जाए और पीछे पछताना पड़े। अतः सत् कर्म को पकड़ लो फिर यह कर्म आपको कभी नहीं छोड़ेगा। वास्तव में कर्म करने में एक निश्चित स्वाद होता है। वह स्वाद स्वयं कर्म में है। जो कर्मयोगी हैं, उसके मार्ग में चाहे सैकड़ों विघ्न-बाधा क्यों न हों, वे कर्म मार्ग से विचलित नहीं होते। निष्काम कर्म जीवन यात्रा का एकमात्र सहचर होता है। लोकहित करना चाहिए पर इस भाव से नहीं कि लोक पर कोई उपकार कर रहे हैं, बल्कि यह समझकर कि यह अपना कर्त्तव्य है। कर्म का संयम निष्काम सत्कर्म करने में है। पर निष्काम कर्म करना सरल नहीं है। दम्भ, महत्त्वाकांक्षा, फलाकांक्षा आदि रिपु, निष्काम कर्मयोगी को पग-पग पर दबाते हैं परन्तु अभ्यास से सब कुछ संभव हो जाता है। अपने को कर्म-प्रवाह में छोड़ देना चाहिए। फिर तो ये अपने आप धीरे-धीरे दूर हो जाएंगे। कर्म में आसक्त न होना, कर्म के संयम का दूसरा साधन है। शरीर से कर्म होते रहें, पर चित्त को उनसे तटस्थ रखना चाहिए। कर्म में लिप्त रहने का नाम बन्धन है। कर्म का संयम और कर्मबन्धन दोनों भिन्न चीजें हैं।

## 18.1.2 मानसिक अनुशासन एवं संतुलन

मन की शक्ति अपरम्पार होती है, इसे सभी जानते हैं। वही मन की प्रबल शक्ति मनुष्य के बुरे और अच्छे स्वास्थ्य का भी कारण होती है। अतः रोगावस्था में रोगी की मनोभावना जैसी होती है उसी के अनुसार उसका रोग दूर होता है या बिगड़ता है। रोगी ही क्यों? मृत्यु भी तभी आती है जब मनुष्य का मन उसके स्वागत के लिए तैयार होता है अर्थात् जब मनुष्य मरने की तैयारी कर लेता है तभी वह मरता है। दूसरे शब्दों में जब वह अपने मन में मरने की बात सोच लेता है तभी मरता है। मृत्यु, रोग या उत्तम स्वास्थ्य किसी भी चीज की चाहत करने पर उसके प्राप्त करने का उपयुक्त वातावरण अपने आप उत्पन्न हो जाता है। यह एक प्राकृतिक नियम है। मन एक गुप्त शक्ति केन्द्र है, जिसका अधिष्ठान मस्तिष्क है। मनुष्य की उन्नति-अवनति, सुख-दुःख, मंगल-अमंगल सबका कारण मन है।

बुरी मनोभावनाओं का असर जल्दी अथवा देर से हमारे शरीर पर निश्चय ही पड़ता है और शारीरिक अथवा मानसिक व्याधियों को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार शारीरिक रोगों का प्रभाव भी हमारे मन और मस्तिष्क पर बुरी तरह पड़ता है।

## 18.1.3 मनः शक्ति का रोग-निवारण में प्रयोग

जिस प्रकार रोग का चिन्तन शरीर को धीरे-धीरे रोगी बना देता है, उसी प्रकार स्वास्थ्य संबंधी उत्तम भावनाएं रोगी को निरोग करने की पूरी शक्ति रखती हैं। विचारों का परिवर्तन होते ही शारीरिक परिवर्तन आरम्भ हो जाता है। मनुष्य का स्वास्थ्य उसके अन्तर्मन की स्वास्थ्य संबंधी उत्तम भावना के ऊपर निर्भर करता है। चिकित्सा जब कभी लाभदायक सिद्ध नहीं होती तो उसका कारण बहुधा रोगी के मन का किसी अन्य तरफ लगा रहना तथा निरोग होने की उसकी ख्वाहिश का न होना होता है। ऐसा व्यक्ति अपने रोग की चाहे अच्छी से अच्छी चिकित्सा कर लें, किन्तु यदि वह अपने मन को सदा चिन्ताओं में फंसाये रहेगा तो उसका रोग कदापि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नहीं जाएगा। बार-बार चिन्तन किया गया विचार चाहे वह बुरा हो या भला, आत्म-निर्देशन का रूप धारण कर लेता है और प्रबल आत्मनिर्देश न केवल मनुष्य के स्वभाव में अपितु उसके शरीर में भी चमत्कारपूर्ण परिवर्तन कर देता है। आज केवल आत्मनिर्देश द्वारा असाध्य रोग अच्छे किये जा रहे हैं। चिकित्सा की इस पद्धति को 'मानसिक-चिकित्सा' कहते हैं। मनोविज्ञान का एक सिद्धान्त है कि जो व्यक्ति अपने प्रति जैसा विचार रखता है, वह वैसा ही हो जाता है। (What a man thinks that he becomes) यह सिद्धांत रोग और आरोग्य के संबंध में भी निश्चय ही लागू होता है। जब तक मनुष्य के विचार निराशावादी होते हैं तब तक रोग ही क्यों, जीवन की सभी घटनाएं उसके दु:ख को बढ़ाती हैं। पर जब उसके विचार आशावादी हो जाते हैं तो सभी दु:खद घटनाएं उसका कल्याण करने वाली सिद्ध होती हैं। विचारों की धारा बदल जाने से मनुष्य का भाग्य, स्वास्थ्य आदि सब कुछ बदल जाता है। मन की इच्छा करते ही उसकी सारी शक्तियां सक्रिय होकर स्थिति को बदल देती हैं। मन, विश्वास और संकल्प द्वारा संसार की सारी वस्तुओं में कायापलट कर सकता है, तो क्या मनोबल शरीर के रोगों को दूर नहीं कर सकता? जरूर कर सकता है। आवश्यकता होती है केवल दृढ़ विश्वास और दृढ़ संकल्प की। मनोभावना सच्ची और प्रखर होनी चाहिए फिर तो उसके अनुसार वस्तुस्थिति में रूपान्तरण धीरे-धीरे भले ही हो, तथापि वह अपना असर दिखाए बिना नहीं रह सकती।

अत: सवेरे और सायंकाल को सोने से पहले रोगी विश्वास के साथ और सच्चे मन से संकल्प करे कि उसका अमुक रोग नाश हो जाए और शरीर पर हाथ फेरता जाए और सच्ची भावना से कहता जाए "मैं निरोगी हूं, मेरे अन्दर किसी भी प्रकार का रोग नहीं है" तो वह कुछ ही दिनों में देखेगा कि उसके शरीर पर एक प्रकार की कान्ति झलक रही है और वह निरोगी और सुन्दर बन गया है।

## 18.1.4 विश्राम या शिथिलीकरण

विश्राम का सीधा-सादा मतलब है काम के बाद आराम करना, दिनभर परिश्रम करने के बाद परिश्रमी विश्राम चाहता है, यह स्वाभाविक है। शरीर की थकावट दूर होना और मस्तिष्क की शांति या शरीर और मन को कुछ समय के लिए विराम देना ही विश्राम कहलाता है। विश्राम केवल शारीरिक विश्राम नहीं है। शारीरिक विश्राम का मानसिक विश्राम से मेल होने पर ही शरीर को पूर्ण विश्राम का सौभाग्य प्राप्त होता है पर जब हम आराम करते हैं उस वक्त विश्राम की मानसिक दशा को हम भूले रहते हैं। उस वक्त भी हम दिमाग से काम लेते रहते हैं। शय्या पर पड़े रहने की हालत में भी हमारे शरीर, विशेषकर मस्तिष्क में तनाव बना रहता है जो मन की चंचल अवस्था के कारण होता है। यह विश्राम नहीं है। किसी सोते बच्चे को गौर से देखने से पता चलेगा कि विश्राम वास्तव में कैसे करना चाहिए। बच्चा किस बेफिक्री से देह और मस्तिष्क को शिथिल किए शय्या पर पड़ा रहता है। यही विश्राम का उत्तम प्रकार है। कुछ दिनों की कोशिश से बच्चों की तरह ही सारे शरीर को शिथिल करके विश्राम की आदत डाली जा सकती है। विश्राम के निमित्त शरीर को शिथिल (Relax) करना ही सबसे बड़ी बात है। प्राकृतिक चिकित्सा की भाषा में इसे आरोग्य मूलक शिथिलता (Curative Relaxation) कहते हैं, जो आकाश चिकित्सा का एक साधन है।

रोग और निरोग दोनों अवस्थाओं में विश्राम की यथेष्ट आवश्यकता होते हुए भी यह जानना चाहिए कि विश्राम और आलस्य दोनों एक ही चीज नहीं हैं। मेहनत के बाद आराम करके मेहनत में लगाई गई शक्ति को पुन: प्राप्त करना विश्राम कहलाता है। पर जो आराम मेहनत के बाद नहीं मिलता वह देह और मन की निष्क्रिय अवस्था को बढ़ाता है, अत: आलस्य हो सकता है, विश्राम नहीं हो सकता है यही विश्राम और आलस्य में अन्तर है। आलस्य, शरीर और मन को निष्क्रिय कर देता है, विश्राम शरीर और मन को काम करने के लिए स्फूर्ति और नई शक्ति प्रदान करता है। आलसी व्यक्ति को काम करने की इच्छा ही नहीं होती और विश्राम करने वाला व्यक्ति काम करने के लिए सदा तत्पर रहता है। यह विश्राम के बाद पुन: काम पर नये उत्साह, नये जोश के साथ जुट जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## 18.1.5 उपवास

### 18.1.5.1 उपवास क्या! और क्यों?

उपवास का अभिप्राय, शरीर के पाचन संस्थान को पूर्ण विश्राम देना है। वस्तुत: उपवासकाल में ही उसे विश्राम मिलता भी है क्योंकि साधारणत: हम रोज अपना पेट दो-तीन बार भरा करते हैं, जिससे हमारा पाचन संस्थान हमेशा काम किया ही करता है।

संसार की बात तो नहीं कह सकते परन्तु हमारे भारतवर्ष में आदि काल से उपवास का बहुत अधिक महत्त्व रहा है। हमारी धार्मिक पुस्तकों में उपवास को शारीरिक और मानसिक पवित्रता का एक साध्न माना गया है। उपवास की यह परम्परा जैन धर्मावलम्बियों में विशेष रूप से और अन्य हिन्दुओं में साधारण रूप से आज तक चली आ रही है।

उपवास एक प्राकृतिक स्थिति है। प्रकृति की मांग है। पशु-पक्षी आदि सभी जीवधारियों को उपवास की जरूरत पड़ती है, जो स्वाभाविक है। रोगी पशु, रोगी मनुष्य से अधिक समझदार होता है, जो रोगावस्था में अच्छे-से-अच्छे चारे को खाना तो दूर, उसे देखता तक नहीं। कारण, वह समझता है रोगावस्था में कुछ खाना विष और कुछ न खाकर उपवास करना अमृत तथा रोग की औषधि है। हम जब बीमार पड़ते हैं तो हमारी भूख भी स्वभावत: बन्द हो जाती है। पर हम बुद्धिशील प्राणी होते हुए भी प्रकृति के आदेश को नहीं मानते और रोगी होने पर भी कुछ-न-कुछ खाते रहते हैं, जिससे दु:ख पाते हैं। रोग होने पर रोग के कारण विजातीय द्रव्य को दूर करने का उपवास एक प्रबल साधन है। उपवास काल में शरीर की सारी की सारी जीवनी-शक्ति केवल रोग को दूर करने में लग जाती है और उसे दूर करके ही दम लेती है। यहां पर एक बात समझ लेनी चाहिए, वह यह कि उपवास अपने आप में कोई नवीन शक्ति प्रदान करने वाली क्रिया नहीं है, पर उसके प्रभाव से शरीर स्थित विष जो अस्वस्थता का कारण होता है, अवश्य निकल जाता है और शरीर निरोगी और स्वभावत: शक्तिशाली बन जाता है। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि जो रोगी नहीं है अथवा जिसके शरीर में विष की उपस्थिति नहीं है, उनके लिए उपवास की बिल्कुल जरूरत नहीं है। लेकिन यदि वे भी यदा-कदा छोटा उपवास कर लिया करें तो उनका स्वास्थ्य सदैव एकसा बना रह सकता है।

बहुत से लोग उपवास को भूखों मरना समझकर बड़ी भूल करते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि विष की स्थिति ही शरीर के रोगी होने का कारण होती है हमें जानना चाहिए कि उपवास काल में यही विष सर्वप्रथम नाश को प्राप्त होता है। तदोपरान्त उन संचित पदार्थों से शरीर अपना काम लेने लगता है जो उसकी प्रकृति ने विशेष आवश्यकता पड़ने पर काम में आने के लिए पहले से शरीर में जमा करके रखा होता है। उदाहरणार्थ, ऊंट जो मरुभूमि का जानवर है, जहाँ उसे कभी-कभी हफ्तों भूखा रहना पड़ता है, उपवास काल में अपनी जीवन रक्षा अपनी पीठ पर कोहान में संचित पदार्थ से करता रहता है, और पानी की कमी को अपने पेट में संचित पानी के थैले से करता है। उपवास काल में हमारे दुर्बल होने का यही अर्थ होता है। अर्थात् उस वक्त शरीर का विष (विजातीय द्रव्य) और उसके बाद शरीर का संचित जीवन द्रव्य शरीर के पोषण में प्रकृतित: लग जाता है और शरीर दुबला होता जाता है और तब हमें वास्तविक भूख लगती है। यह उपवास जारी रखा गया तो शरीर का पोषण शरीर स्थित उन आवश्यक जीवन द्रव्यों से होने लगेगा जिनके बिना शरीर खड़ा ही नहीं रह सकता और जिनसे हमारे शरीर का संगठन हुआ है। यहीं से मरण आरंभ होता है। उपवास से मनुष्य तभी मरता है जब शरीर स्थित फालतू पदार्थों के समाप्ति के बहुत बाद उनके शरीर के आवश्यक अंग भी नष्ट हो चुकते हैं। जब तक मनुष्य के शरीर का आवश्यक अंगों से पोषण आरंभ नहीं होता तब तक मनुष्य केवल दुबला ही होता है। परन्तु आवश्यक अंगों से शरीर का पोषण आरम्भ होते ही, शरीर का नाश होना आरंभ हो जाता है, और धीरे-धीरे आदमी मर जाता है। यह उपवास और भूखों मरने में अन्तर है।

चिकित्सा विशेषज्ञ डॉ. कैरिंगटन ने उपवास और भूखो मरने के अन्तर को इन थोड़े से शब्दों में स्पष्ट किया है।

''उपवास प्रथम भोजन छोड़ने से प्रारम्भ होकर वास्तविक भूख लगने पर समाप्त होता है। और भूखों मरना, वास्तविक भूख लगने से प्रारम्भ होकर मृत्यु में समाप्त होता है।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपवास से न केवल शारीरिक विकृति ही दूर होती है, अपितु उसके करने वाले का मन और आत्मा का भी परिष्कार हो जाता है, क्योंकि उसका रुख ईश्वर की तरफ होता है।

एक बार महात्मा गांधी से किसी ने प्रश्न किया—'जब कभी आपके सामने जबर्दस्त मुश्किल आ जाती है तो आप उपवास क्यों कर बैठते हैं?' इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा था—'अहिंसा के पुजारी के पास यही आखिरी हथियार है। जब इन्सानी अक्ल काम नहीं करती तो अहिंसा का पुजारी उपवास करता है। उपवास से प्रार्थना की तरफ मन तेजी से जाता है। यानी उपवास एक आध्यात्मिक चीज है और उसका रुख ईश्वर की तरफ होता है।

उपवास शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वच्छता के लिए अपूर्व एवं एक ही उपाय है, किंतु उसका पूरा-पूरा लाभ वही उठा सकता है जो उपवास कला का पूर्ण मर्मज्ञ हो। उपवास विज्ञान का वास्तविक ज्ञान न होने पर, या इस विद्या के विशेषज्ञों द्वारा मार्ग दर्शन न पाने पर, उपवास के नियमों में व्यतिक्रम होने के कारण अथवा उनका ठीक-ठीक पालन न हो सकने के कारण, कितने ही उपवासियों को जान से भी हाथ धोना पड़ा है। एक प्रसिद्ध चिकित्सक के कथनानुसार उपवास की उपमा दो धारी तलवार से दी जा सकती है अर्थात् यदि उपवास का प्रयोग उसके नियमों के अनुकूल हुआ तो वह अक्सीर बन जाता है और उसका परिणाम अत्यन्त लाभदायक होता है किन्तु वही उपवास, यदि उपवास के नियमों के प्रतिकूल चलाया गया तो वह उल्टे शरीर को बड़ी से बड़ी हानि भी पहुंचा सकता है।

यह धारणा निर्मूल है कि उपवास का काम भोजन की मात्रा घटा देने से भी चल सकता है। सूक्ष्म विवेचन से यह बात सिद्ध हो जाती है कि भोजन की मात्रा घटा देना और ठूंस-ठूंस कर भोजन न करना, दोनों एक ही बात नहीं है। जितनी भूख हो उससे कम खाना प्राकृतिक नियमों में नहीं आता। प्रयोगों से यह बात साबित हो चुकी है कि थोड़ा भोजन करके चाहे कोई कितने ही दिन गुजार दें कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। अन्य आहार पर रहना न केवल व्यर्थ है, बल्कि कष्टदायक भी है। उपवास काल में तो मनुष्य को शुरू के दो-तीन दिनों तक ही कष्ट होता है, किंतु थोड़ा भोजन करने से तो कष्ट प्रतिदिन समान बना रहता है। अनुभव से यह भी जाना गया है कि थोड़ा खाकर रहने से दुर्बलता शीघ्र आती है, जबकि उपवास करने से ऐसी बात नहीं होती। अत: यह मानना पड़ेगा कि उपवास के प्रकार में थोड़े भोजन पर रहना नहीं आ सकता।

### 18.1.5.2 उपवास के प्रकार

**(1) प्रात:कालिक उपवास**—यह सबसे सुगम उपवास है। इसमें केवल सुबह का नाश्ता छोड़ देना पड़ता है और दिन-रात में केवल दो बार ही भोजन करने की व्यवस्था रहती है। अंग्रेजी में इसको 'No Breakfast System' कहते हैं।

**(2) सायंकालिक उपवास**—इसको अर्द्धोपवास या एक समय का उपवास कहते हैं। इसमें रात का भोजन बंद कर देना पड़ता है और रात-दिन केवल एक ही बार भोजन करना होता है। जो लोग पुराने और जटिल रोगों के शिकार होते हैं, उनको इस उपवास से बड़ा लाभ होता है। इस उपवास में जो भोजन किया जाता है, उसका सुपाच्य एवं प्राकृतिक होना जरूरी होता है।

**(3) एकाहारोपवास**—एक बार एक ही चीज खाना, एकाहारोपवास कहलाता है। जैसे सुबह को यदि रोटी खाए तो शाम को केवल तरकारी, दूसरे दिन सुबह को एक प्रकार का कोई फल और शाम को केवल दूध आदि। शरीर की मामूली गड़बड़ी में यह उपवास लाभ के साथ किया जा सकता है। इससे साधारण स्वास्थ्य में असाधारण उन्नति दृष्टिगोचर होती है।

**(4) रसोपवास**—इस उपवास में अन्न तथा फलादि ठोस पदार्थ नहीं ग्रहण किये जाते हैं केवल रसदार फलों के रस अथवा साग-सब्जियों के सूप (जूस) पर ही रहा जाता है। दूध लेना भी वर्जित होता है। क्योंकि दूध की गिनती भी ठोस खाद्य-पदार्थों में की जाती है। इस उपवास में एनिमा लेते रहने से शरीर की सफाई अच्छी होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(5) **फलोपवास**—कुछ दिनों तक केवल रसदार फलों अथवा शाक-भाजी पर रहना फलोपवास कहलाता है। इस उपवास में भी कभी-कभी पेट साफ करने के लिए एनिमा लेते रहना चाहिए। इस उपवास में किसी-किसी को एक फलाहार अनुकूल नहीं पड़ता और पेट में गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है। ऐसे व्यक्तियों को पहले दो-तीन दिनों का पूर्ण उपवास कर लेने के बाद इस फलोपवास को आरम्भ करना चाहिए। फलोपवास में फल आसानी से पच जावें, उन्हीं को काम में लाना उत्तम है। यदि फल बिल्कुल ही अनुकूल न पड़ते हों तो सिर्फ पकी साग-भाजी खाकर रहना चाहिए। तात्पर्य यह कि फलोपवास में जो साग-भाजियां या फल अनुकूल पड़े उन्हीं को व्यवहार में लाना चाहिए क्योंकि कोई भी उपवास हो, उसमें बदहजमी हरगिज न होने देना चाहिए।

(6) **दुग्धोपवास**—इसे 'दुग्ध-कल्प' भी कहते हैं। कुछ दिनों तक दिन में चार-पांच बार केवल दूध पीकर ही रहना दुग्धोपवास कहलाता है। इस उपवास में जिस दूध का उपवास किया जाये वह स्वस्थ गाय का धारोष्ण होना चाहिए।

(7) **मट्ठोपवास**—इसे मट्ठा-कल्प भी कहते हैं। पाचनशक्ति यदि निर्बल हो तो दुग्धोपवास की जगह यह मट्ठोपवास करना चाहिए। इस उपवास में जो मट्ठा लिया जाये वह घी रहित एवं कम खट्टा होना चाहिए।

दुग्धोपवास अथवा मट्ठोपवास आरम्भ करने से पहले यदि एक-दो दिनों का पूर्णोपवास कर लिया जाए तो अधिक लाभ होने की संभावना रहती है। ये उपवास डेढ़-दो महिने आसानी से चलाए जा सकते हैं। इनसे शरीर के छोटे-मोटे रोगों का शमन तो हो ही जाता है, साथ ही साथ सामान्य स्वास्थ्य में भी काफी उन्नति हो जाती है। इन उपवासों में जब कभी पेट भारी मालूम दे तो एनिमा का प्रयोग अवश्य करना चाहिए।

(8) **पूर्णोपवास**—स्वेच्छापूर्वक विशुद्ध ताजे जल के अतिरिक्त किसी प्रकार की खाद्य वस्तु ग्रहण न करना पूर्णोपवास कहलाता है। इसमें उपवास संबंधी अनेक आवश्यक नियमों का पालन करना होता है, जिसके विषय में आगे लिखा गया है।

(9) **साप्ताहिक उपवास**—सप्ताह में केवल एक दिन पूर्णोपवास नियमपूर्वक करना साप्ताहिक उपवास कहलाता है। इससे साधारण स्वास्थ्य ठीक रहता है और शरीर के रोगी होने की संभावना कम रहती है। आफिस में दिन-दिन भर बैठकर लिखने वाले क्लर्कों को तथा अन्य लोगों को भी कम से कम यह उपवास जरूर करना चाहिए। उपवास के दिन एक-दो बार एनिमा भी लिया जाए तो उत्तम है। इस उपवास से अरुचि मिटती है। सिर दर्द, सुस्ती तथा अन्य कई शारीरिक और मानसिक व्याधियां अपने आप अच्छी हो जाती हैं।

(10) **लघु उपवास**—तीन दिन से लेकर सात दिनों के पूर्णोपवास को लघु उपवास कहते हैं।

(11) **कड़ा उपवास**—यह उपवास असाध्य रोगों के लिए है। इसमें पूर्णोपवास के सभी नियमों को कड़ाई के साथ बरतना पड़ता है।

(12) **टूट उपवास**—इसमें दो से सात दिनों का पूर्णोपवास करने के बाद कुछ दिनों तक हल्के प्राकृतिक भोजन पर रहकर पुन: उतने ही दिनों का उपवास करना होता है। उपवास और हल्के भोजन का यह क्रम तब तक जारी रहता है जब तक कि अभीष्ट की सिद्धि न हो जाए। इस उपवास का प्रयोग कष्टसाध्य रोगों में प्राय: किया जाता है।

(13) **दीर्घ उपवास**—इस उपवास में पूर्णोपवास बहुत दिनों तक चलाना होता है जिसके लिए कोई निश्चित समय पहले से निर्धारित नहीं होता। इसमें 21 से लेकर 50-60 दिन भी लग सकते हैं। प्राय: यह उपवास तभी भंग किया जाता है जब स्वाभाविक भूख जान पड़ने लगती है अथवा शरीर के सारे विजातीय द्रव्यों के पच चुकने के बाद जब शरीर के आवश्यक अवयवों के पचने की नौबत आ जाने की संभावना हो जाती है। यह उपवास जब शारीरिक दृष्टि से किया जाता है तो इसका लक्ष्य शरीर के विविध भागों में एकत्र हुए विजातीय द्रव्य के निष्कासन की ओर ही होता है, और जब यह मन्तव्य पूरा हो जाता है तो उपवास तोड़ दिया जाता है। इस प्रकार का लम्बा उपवास बिना तैयारी किए, तथा बिना उपवास-कला का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किये हुए नहीं करना चाहिए। अच्छा तो यह है कि इस प्रकार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के लम्बे उपवास किसी उपवास-विशेषज्ञ की देख-रेख में ही चलाए जाएं, अन्यथा बिना जाने-बूझे लम्बे उपवासों का प्रयोग करने से तकलीफ भी हो सकती है।

जो जीर्ण रोग रोगी हैं, उन्हें चाहिए कि लम्बा उपवास आरम्भ करने के पहले वे अपने भोजन में क्रमश: परिवर्तन करें, तत्पश्चात् धीरे-धीरे लम्बे उपवास का आश्रय लें। जैसे पहले सवेरे का भोजन त्याग दें और केवल सायंकाल को ही भोजन करें। फिर दो-तीन दिन बाद अन्न लेना बिल्कुल ही त्याग दें और केवल फल खाकर रहें। फिर दो-तीन दिन तक फलाहार करने के बाद निश्चित उपवास आरम्भ कर दें। ऐसा करने से उपवास काल में बड़ी सहूलियत हो जाती है।

## 18.2 वायु तत्त्व-चिकित्सा

वायु तत्त्व पंच तत्त्वों में दूसरा आवश्यक तत्त्व है। जल जीवन है और वायु प्राणियों का प्राण ही है। एक मिनट भी हमको वायु न मिले तो हम घबरा उठते हैं, सारे शरीर में बेचैनी फैल जाती है, अधिक देर तक वायु न मिले तो प्राणान्त हो जाता है। अत: यह मनुष्य मात्र का अत्यन्त आवश्यक भोजन तत्त्व है। वास्तव में हम बड़ी मात्रा में वायु का अनवरत भक्षण करते हैं। एक आदमी एक मिनट में 16 से 18 बार श्वास लेता है। एक बार श्वास लेने से 25-30 घन इंच या एक दिन में 32-37 पौंड तक वायु की आवश्यकता होती है। श्वास लेने की प्रत्येक क्रिया का सम्बन्ध शरीर की एक सौ से अधिक मांसपेशियों से होता है। प्रतिदिन हम जितना भोजन करते हैं और जल पीते हैं उससे लगभग सातगुना वायु भक्षण करते हैं। हम श्वास द्वारा जो वायु खींचते हैं वह फेफड़ों में 15 वर्गफुट से अधिक का चक्कर लगाता है। फेफड़ों में लगभग 60 घन इंच वायु सदैव मौजूद रहती है और 25 से 33 घन इंच वायु नि:श्वास के रूप में बाहर निकल जाती है।

विश्व का वायुमण्डल जिसमें हम श्वास लेकर जीवित रहते हैं पृथ्वी के चारों ओर 300 मील तक फैला हुआ है। यह वायु मण्डल कई प्रकार की वायु का मिश्रण है। इसमें जल के वाष्प का बहुत बड़ा अंश विद्यमान है। इसके सिवा इसमें चार भाग नाइट्रोजन और एक भाग ऑक्सीजन है। ये दोनों वायव्य हमारे शरीर के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों के सिवा कार्बन-डाई-ऑक्साइड वायु भी दस हजार में चार अंश तक वायुमण्डल में मौजूद है। अत्यन्त अल्प मात्राओं में कहीं-कहीं रासायनिक क्रिया से उपजे अन्य प्रकार के वायव्य भी मिलते हैं। धूल-कण भी वायुमण्डल में व्याप्त रहते हैं।

जो वायु श्वास द्वारा शरीर के भीतर आती है, उसमें 'नाइट्रोजन' वायु शरीर के लिए बेकार होती है। वह जैसे जाती है वैसे ही लौट भी आती है। ऑक्सीजन वायु लौटकर नहीं आती। वह जाते ही फुफ्फुसों में रक्त से मिलती है। गन्दे, नीले रक्त का शोधन कर स्वच्छ एवं लाल कर देती है तथा कार्बन-डाई-ऑक्साइड, वायु और वाष्पादि के साथ भीतर से बाहर निर्गत होती है।

वृक्षादि कार्बन डाई आक्साइड वायु का शोषण करके जीवित रहते हैं और उसके बदले में वे ऑक्सीजन छोड़ते हैं। इस इन्तजाम से कार्बन डाई आक्साइड वायु, वायुमण्डल में बढ़कर उसे गन्दा नहीं करने पाती और दूसरी तरफ वायुमंडल में ऑक्सीजन की कमी भी नहीं होने देती।

ऑक्सीजन से प्रकाश और ताप दोनों की उत्पत्ति होती है। प्राणियों के शरीर में जो ताप होता है, वह ऑक्सीजन की ही देन है। जीवन क्या है? शरीर के अवयवों का वायु (ऑक्सीजन) के संयोग से धीमे-धीमे मोमबत्ती की भांति जलना ही तो है। रक्त के लालकण, ऑक्सीजन को वायु से ग्रहण करके, शरीर के प्रत्येक सूक्ष्म कण के पास जिसको कोष या Cell कहते हैं, पहुंचाते हैं, इसी प्राकृतिक विधि का नाम Oxidation है जो जलने का केवल रूपान्तर है। इस विधि से ताप उत्पन्न होता है, जिससे शरीर का ताप यथावत रहता है और जीवन नष्ट नहीं होता, बल्कि कायम रहता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शुद्ध वायु में एक प्रकार की परमोपयोगी वायु मिली होती है, जिसको ऑजोन (Ozone) कहते हैं, जो केवल जंगल, उपवन, पहाड़ और समुद्र की हवा में ही पाया जाता है। ओजोन की गंध बड़ी तीव्र होती है। इसी से वह पहचानी जाती है। क्षय रोगियों की पहाड़ पर इसी ओजोन से रक्षा होती है।

वायु की शुद्धि केवल अग्निहोत्र से होती है। इसीलिए हमारे पूर्वजों ने उसका विधान रखा था। वायु को 'प्राण' भी बताया गया है। इसीलिए प्राण को पवन-सुत भी कहते हैं। आयुर्वेद में वायु का एक नाम 'विष्णु-पदा-मृत' भी है। तभी कहा गया है कि—सौ दवा, एक हवा।

## 18.2.1 पवन-स्नान या वायु सेवन

पवन-स्नान और वायु-सेवन एक ही चीज के दो नाम हैं। इसी को अंग्रेजी में Air-Bath या Morning Walk कहते हैं, और साधारण बोलचाल में टहलना या हवा खाना। यह एक ऐसा स्नान है, जिससे शरीर की बाहरी और भीतरी दोनों सफाई साथ-साथ होती है। यह स्नान नंगे बदन अधिक उपयोगी होता है।

यदि हम इस बात को भलीभांति समझ जायें कि जिस प्रकार हम नाक से प्रतिक्षण श्वास लिया करते हैं, उसी प्रकार हमारी अपनी त्वचा के असंख्य छिद्रों द्वारा भी श्वास लेना अनिवार्य है तो हम पवन-स्नान की महत्ता एवं आवश्यकता से कभी भी इन्कार नहीं कर पाएँगे। जिस प्रकार घर को स्वच्छ रखने के लिए घर की खिड़कियां और झरोखे खोलकर अन्दर ताजी हवा का प्रवेश होने देना आवश्यक है, उसी प्रकार इस शरीर रूपी घर में त्वचा छिद्र रूपी झरोखों से होकर ताजी वायु का प्रवेश नित्य होते रहना परमावश्यक है। कपड़ों से शरीर को सदैव लपेटे रहने से शरीर पीला पड़ जाता है और रोम-कूप अकर्मण्य होकर शिथिल पड़ जाते हैं और बहुत से तो एकदम बंद ही हो जाते हैं, जिसका फल यह होता है कि आए दिन कब्जियत, हृदय-रोग तथा मधुमेहादि भयानक रोग सताया करते हैं।

जब पवन-स्नान करने वाला विशुद्ध वायुमण्डल में नंगे बदन उचित रीति से अवगहन करने लगता है तो वह जैसे संसार के समस्त आनन्द को पीता हो, आकाश से मूक वार्तालाप करता हो, फेफड़ों को ओषजन से जो प्रकृति माता के स्तन का अमृत ही है भरता हो ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

जो लोग अन्य प्रकार की कोई कसरत नहीं कर सकते, उनके लिए टहलने की कसरत बहुत जरूरी है। इससे सिर-पांव तक की 200 मांसपेशियों की हल्की-हल्की स्वाभाविक कसरत हो जाती है। टहलते समय दिल की गति एक मिनट में 72 बार से बढ़कर 82 बार हो जाती है। टहलते समय हमारी श्वास भी तेजी से चलने लगती है और अधिक ओषजन खून में पहुंचकर खून को साफ करता है। पर कसरत की अन्य पद्धतियों से दिल पर टहलने की अपेक्षा अधिक जोर पड़ता है। इसीलिए टहलना, कसरत की सर्वोत्तम पद्धति मानी गई है।

टहलने या पवन-स्नान में एक बात मार्के की यह है कि यह स्नान केवल प्राकृतिक शुद्ध वायु में करने से ही लाभकारी सिद्ध होती है। बिजली के पंखों आदि के कृत्रिम वायु में यह स्नान कदापि न करना चाहिए। कारण, पवन-स्नान के लिए किसी भी प्रकार की कृत्रिम हवा का इस्तेमाल करना अहितकर है। पंखे की हवा घूमती हुई और तीव्र होती है। ऐसी वायु, उदान वायु को खराब कर देती है तथा व्यान को रोक देती है, जिससे सिर में चक्कर आने लगता है और शरीर के जोड़ों को आक्रान्त करने वाले गठिया आदि रोग हो जाते हैं।

भारतवर्ष में शुद्ध वायु के अभाव में 5 प्रतिशत मौतें होती हैं। प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति अपनी नासिका से 21 इंच की दूरी तक की वायु ग्रहण करता और फेंकता है। अत: इस बात को खाते, पीते, सोते, उठते, बैठते तथा चलते समय सदैव ध्यान में रखनी चाहिए।

वायु पर दिशाओं का भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। पूर्व दिशा की वायु भारी, गरम, स्निग्ध, रक्तपित्तदूषक, दाहकारक तथा वात व्याधिकारक होती है। दक्षिण दिशा की वायु स्वादिष्ट, रक्तपित्तनाशक, हल्का, शीतवीर्य, बलकारक तथा नेत्र के लिए हितकारी होती है। पश्चिम दिशा की वायु तीक्ष्ण, शोषक, बल नाशक, हल्की, चरबी,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कफ तथा पित्तनाशक होती है। उत्तर दिशा की वायु शीतल, स्निग्ध दोषों को कुपित करने वाली, ग्लानिकारक, मधुर तथा कोमल होती है। पर स्मरण रहे स्वर्गबेला अर्थात् सूर्योदय के कुछ पहले सभी दिशाओं की वायु सब प्रकार के दोषों से मुक्त होती है। इसीलिए प्रात:बेला में वायु सेवन हितकर होता है।

वायु की शुद्धि सूर्य की किरणों, जल, वृक्ष, ऋतु परिवर्तन तथा प्रभात के कारण होती है। धूल मिश्रित वायु से आर्द्र वायु अधिक शुद्ध होती है। क्योंकि आर्द्र वायु में तीन आवश्यक पदार्थ—ऑक्सीजन (Oxygen)] नाइट्रोजन (Nitrogen) तथा कार्बनिक एसिड गैस (Carbonic Acid Gas) मुख्यत: अधिक मात्रा में मिश्रित रहते हैं।

टहलने के लिए बस्ती से दूर कोई ऐसा साफ-सुथरा पथ चुनना चाहिए जो प्रकृति के साम्राज्य से होकर गुजरता हो। अर्थात् जिसके दोनों ओर पेड़-पौधे अथवा हरे-भरे खेत-लहलहाते हों, चिड़ियां चहचहाती हों तथा ब्रह्मबेला में जलाशयों में तरंग-मालाएं उमड़-उमड़ कर उषादेवी के स्वागत में विहल हो रही हों, ऐसे ही पथ पर टहल कर टहलने वाला नूतन उत्साह एवं नूतन स्वास्थ्य लेकर घर वापस आता है।

अब प्रश्न स्वत: उपस्थित होता है कि रोज कितना टहलना चाहिए, जिसके लिए कोई खास नियम निर्धारित करना तो मुश्किल ही है। हां, एक साधारण स्वास्थ्य के मनुष्य को रोज कम-से-कम 6-7 किलोमीटर जरूर टहलना चाहिए। अधिक स्वस्थ मनुष्य 9-10 किलोमीटर तक आसानी से टहल सकते हैं। 6-7 किलोमीटर तक प्रतिदिन टहलना औसत स्वास्थ्य वाले व्यक्तियों के लिए ठीक होता है। मगर नौसिखिए पहले दिन ही दूर तक टहलने न चले जायें, बल्कि उन्हें तेजी और दूरी दोनों धीरे-धीरे बढ़ानी चाहिए। टहलने की चाल 10 मिनट में एक किलोमीटर काफी है। कमजोर और रोगी व्यक्तियों को आरम्भ में आधा या एक किलोमीटर से अधिक कभी नहीं टहलना चाहिए। परन्तु जैसे-जैसे जीवनी शक्ति बढ़ती जाए और ताकत आती जाए, यह दूरी धीरे-धीरे बढ़ाते जाना चाहिए।

टहलते समय गहरी श्वास लेने का अभ्यास करना जरूरी है। एक श्वास में सात कदम चलना चाहिए उसके बाद चार कदम तक श्वास रोक कर रखना चाहिए। फिर सात कदम तक श्वास बाहर निकालना चाहिए। यों टहलते समय गहरी श्वास लेने की विधि है। मगर आरम्भ में श्वास की इस कसरत के संबंध में बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए। गहरी श्वास लेने का यह अभ्यास थका देने वाला कभी नहीं होना चाहिए। उचित ढंग से टहलते हुए जब हम उपर्युक्त प्रकार से गहरी श्वास लेने की क्रिया का अभ्यास करते हैं तो श्वासों के जरिये अपने शरीर में उस संजीवनी प्राण शक्ति को ग्रहण करते हैं जो शरीर के पुनर्निर्माण, विकास एवं जीवन धारण के लिए नितांत आवश्यक है।

टहलने की क्रिया पर टहलने वाले की मानसिक अवस्था का भी प्रभाव पड़ता है। इसलिए यदि टहलने का पूरा-पूरा लाभ उठाना है तो टहलते समय अपनी मानसिक अवस्था टीक रखनी चाहिए। टहलना एक ड्यूटी न होकर आनन्द का एक साधन होना चाहिए। टहलते समय वास्तविक आनन्द का अनुभव होना चाहिए। उस वक्त सिवा आनन्द के मस्तिष्क में कुछ और होना ही नहीं चाहिए। टहलने में पूरा आनन्द आए इसके लिए मार्ग के तरु, तृण एवं जलाशय आदि तथा सौन्दर्य का अवलोकन करना चाहिए। उस वक्त टहलने वाले के मन में ऐसे सुन्दर और उत्तम विचार उत्पन्न होने चाहिए जिनसे शरीर के स्नायुओं को आराम और आनन्द प्राप्त हो और उनका शिथिलीकरण हो जाये। ऐसा होने से शरीर की रग-रग को नवजीवन प्राप्त होता है और रोग-व्याधियों से स्थायी रूप से मुक्ति मिल जाती है।

नंगे पैर और नंगे बदन टहलने पर जो अधिक जोर दिया जाता है, उसका बहुत बड़ा वैज्ञानिक कारण है, जिस पर थोड़ा-सा प्रकाश ऊपर डाला जा चुका है। जाड़ों में जब ठंडक बर्दाश्त के बाहर हो उस वक्त कमीज या कुर्ता और निकर पहन कर टहला जाए तो ठीक है पर अन्य समयों पर तो नंगे पैर और नंगे बदन ही टहलना अधिक लाभदायक होगा। क्योंकि शुद्ध, शीतल, मंद, सुगन्ध पवन का सीधा शरीर पर लगना ही स्फूर्ति दायक एवं रोगनाशक होता है, जो कपड़ो से ढके बदन के लिए संभव नहीं है। पेड़ू पर जंगल की ठंडी हवा के थपेड़े लगना कितने ही रोगों का अचूक इलाज है। यदि प्रात:काल खुली जगह पर नंगे बदन दौड़ा जाए, कोई हल्का व्यायाम भी नित्य किया जाए तो परम आरोग्य प्राप्त होता है। कहा भी गया है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

''आरोग्यं चापि परमं व्यायामादुपजायते।''

प्रसिद्ध पाश्चात्य प्राकृतिक चिकित्सक ए. जुस्ट के प्रधान भारतीय शिष्य महात्मा गांधी जब तक जीवित रहे, प्रतिदिन नंगे बदन ही वायु सेवन करते रहे।

टहलने का लाभ और भी अधिक उस समय होता है जब नंगे पैर ओस से भीगी घास पर टहला जाए। यह सुविधा जाड़े के दिनों में विशेष रूप से होती है। ओस के अभाव में वर्षा से भीगी घास पर भी चलकर लाभ उठाया जा सकता है। इससे सिर दर्द, गले की पीड़ा, पसली, सर्दी, पैर और सिर का ठंडा रहना आदि रोग आसानी से दूर हो जाते हैं।

### 18.2.1.1 पवन-स्नान करने वाले का भोजनादि कैसा हो?

पवन-स्नान करने वाला यदि संतुलित प्राकृतिक भोजन पर रहकर, नियमित जीवन व्यतीत करते हुए, उचित विश्राम और मनोरंजन के साथ पवन-स्नान की आदत डालता है तो सोने में सुगन्ध ही समझिये। संतुलित प्राकृतिक भोजन से मतलब है आसानी से पचने वाला पुष्टिकारक भोजन। फल, दूध, दही, साग, सब्जी समेत गेहूं की आटे की मोटी रोटी, कन सहित हाथ कुटा चावल, छिलका सहित खाई जाने वाली गाढी दालें पौष्टिक खाद्य पदार्थ हैं। एक बार के भोजन में अधिक प्रकार के खाद्य पदार्थ नहीं होने चाहिए। इसी प्रकार दो भोजनों के बीच काफी अन्तर का भी होना अनिवार्य है। जो खाया जाए खूब चबाकर खाया जाए और ठूंस-ठूंस कर न खाया जाए। मिर्च-मसालों और तली-भूनी चीजों से परहेज अच्छा है।

लौटने पर यदि पसीना निकला हो तो सारे बदन को गीले कपड़े से पोंछ दें, इच्छा हो तो नहा भी सकते हैं। नहाने से देह की आवश्यक गर्मी दूर होकर शीतलता आती है। पर कमजोर रोगी यदि टहलने के बाद तुरन्त स्नान न करें तो अच्छा है।

टहलने वाले को टहलने से उचित लाभ के लिए अपने आंतों की सफाई पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। प्रात:काल शौच आदि से निपट कर ही टहलने निकलना चाहिए और लौटने पर पुन: आवश्यकता जान पड़े तो शौच जरूर जावें। शौच के बाद यदि जरूरत जान पड़े तो कभी-कभी एनिमा द्वारा भी पेट साफ कर लेना चाहिए।

### 18.2.2 स्वर-साधन

वायु के बाह्य उपयोग के अतिरिक्त उसका आन्तरिक सूक्ष्म उपयोग भी है, जिसके विषय में जानकर कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक तथा सांसारिक सुख एवं आरोग्य प्राप्त करता है। प्राणायाम की तरह स्वर-विज्ञान भी वायु तत्त्व के सूक्ष्म उपयोग का विज्ञान है, जिसके द्वारा हम अनेक व्याधियों से अपना बचाव कर सकते हैं और रोगी होने पर स्वर-साधना की सहायता से उन व्याधियों का उन्मूलन भी कर सकते हैं।

स्वर साधना या स्वरोदय-विज्ञान को योग का ही एक अंग मानना चाहिए। यह मनुष्य को पग-पग पर प्रत्यक्ष फल देने वाला है। पर यह स्वर शास्त्र जितना दुर्लभ है, स्वरज्ञ गुरु का मिलना भी उतना ही दुर्लभ है।

स्वर-साधना का आधार श्वास-प्रश्वास की गति अर्थात् स्वरोदय-विज्ञान का आधार हमारे नथुनों से चलते हुए श्वास-प्रश्वास की गति पर ही है। हमारी प्रत्येक चेष्टाएं तथा तज्जन्य लाभ-हानि, दु:ख-सुख आदि तमाम शारीरिक और मानसिक सुख तथा विपत्तियां आश्चर्यमयी श्वास-प्रश्वास की गति से ही प्रभावित हैं जिसकी सहायता से दु:ख दूर किये जा सकते हैं और मनोवांछित सुख की उपलब्धि हो सकती है।

जैसा कि प्राकृतिक नियम है, हमारे शरीर में रात-दिन अव्याहत गति से चलने वाला श्वास-प्रश्वास एक ही समय में नाक के दोनों नथुनों से साधारणत: नहीं चला करता। अपितु वह बारी-बारी से एक निश्चित समय तक अलग-अलग दोनों नथुनों से चला करता है। एक नथुने का निश्चित समय पूरा हो जाने पर उससे श्वास-प्रश्वास का चलना बन्द हो जाता है और दूसरे नथूने से चलना आरम्भ हो जाता है। स्वर का आना-जाना जब एक नथुने से बंद होता है और दूसरे में उदय होता है तो उसको स्वरोदय कहते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रत्येक नथुने में स्वरोदय होने के बाद वह साधारणतया ढाई घड़ी तक विद्यमान रहता है। उसके बाद दूसरे नथुने में स्वरोदय होता है और वह भी ढाई घड़ी तक रहता है। यही क्रम रात-दिन चलता है।

बायें नथुने से जब श्वास चलता है तब उसे इड़ा में चलना या चन्द्रस्वर का चलना कहते हैं और दायें वाले से चलने पर पिंगला में चलना या सूर्य स्वर का चलना कहते हैं। और दोनों नथुनों से एक समय पर समान श्वास चलने पर उसे सुषुम्ना में चलना कहते हैं।

**वामस्वर**—जिस समय बायां स्वर चलता हो उस समय स्थिर, सौम्य एवं शांति वाला कर्म करने से वह कार्य सिद्ध होता है। जैसे मित्रता करना, भगवद्जन, श्रृंगार करना, चिकित्सा आरम्भ करना, विवाह, दान, यज्ञ, मकानादि बनवाना, यात्रा आरम्भ करना, खरीद-फरोख्त, सेवा, बीज बोना, विद्यारम्भ आदि।

**दक्षिण स्वर**—जिस समय दायां स्वर चलता हो उस समय कठिन, क्रूर और रुद्र कर्मों को करना चाहिए। इन कर्मों में सूर्य-नाड़ी उत्तम सिद्धि दायिनी बताई गई है। जैसे सवारी करना, सफर में जाना, व्यायाम, पहाड़ पर चढ़ना, विषय-भोग, स्नान-भोजन आदि।

**सुषुम्ना**—जिस समय दोनों नथुनों से समान स्वर चलता हो उस वक्त मुक्त फल के देने वाले कार्यों को करने से शीघ्र सिद्धि मिलती है। जैसे भगवान का ध्यान और चिन्तन तथा योगाभ्यास आदि। जो कार्य चन्द्र और सूर्य नाड़ी में करने चाहिए, उन्हें सुषुम्ना की उपस्थिति में कदापि न करें, अन्यथा विपरीत फल होगा।

कौन-सा स्वर चल रहा है कैसे जानें? कौनसा स्वर चल रहा है यह जानना बहुत आसान है। नाक के एक पुरवे को बंद करके दूसरे से जरा जोर से दो-चार बार श्वास लीजिए। फिर इसको बंद करके उसी प्रकार दूसरे पुरवे से दो-चार बार श्वास लीजिए। जिस पुरवे से श्वास लेने और छोड़ने से सरलता प्रतीत होती हो उसे खुला हुआ तथा जिससे रुकावट सी प्रतीत हो उसे बंद समझना चाहिए।

इच्छानुसार श्वास की गति बदलना, इसकी निम्नलिखित तीन विधियां हैं—

(1) जिस नासिका छिद्र से श्वास चलता हो, उसके विपरीत दूसरे नासिकाछिद्र को अंगूठे से दबाकर रखना चाहिए और जिससे श्वास चलता हो उसके द्वारा वायु खींचना चाहिए। फिर उसको दबाकर दूसरे नासिका छिद्र से वायु को निकालना चाहिए। कुछ देर तक इसी प्रकार एक से श्वास लेकर दूसरे से निकालने से श्वास की गति अवश्य बदल जायेगी।

(2) जिस नासिका छिद्र से श्वास चलता हो उसी करवट सोकर उपर्युक्त क्रिया करने से श्वास की गति अति शीघ्र बदल जाती है।

(3) जिस नासिका छिद्र से श्वास चलता हो केवल उस करवट कुछ समय तक लेटे रहने से भी श्वास की गति पलट जाती है।

यह तो हुई वाम को दक्षिण स्वर में तथा दक्षिण को वाम स्वर में बदलने की विधियां। अब प्राण वायु को सुषुम्ना में संचारित करने की विधि नीचे लिखी जाती है—

किसी एक नथुने को बंदकर के जरा जोर से दूसरे नथुने से श्वास लीजिए और फिर तुरन्त बंद नथुने से उसे निकाल दीजिए। अब जिस नथुने से श्वास निकाला है उसी से श्वास लेकर दूसरे नथुने से जिसे अंगुली से बंद कर दिया था, श्वास निकालिए। इस प्रकार एक नथुने से श्वास लेकर और दूसरे से निकालने और फिर दूसरे से श्वास लेकर पहले से छोड़ने से लगभग 50 बार में प्राण वायु संचार सुषुम्ना में अवश्य हो जायेगा।

स्वर साधन का पंचतत्त्वों से संबंध—स्वरोदय विज्ञान के जानकार यह जानते हैं कि स्वर के साथ-साथ हर समय पंचतत्त्वों में से कोई न कोई तत्त्व विद्यमान रहता है और जब तक स्वर नाक के एक नथुने से चलता रहता है, तब तक पांचों तत्त्व (आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी) क्रमशः एक-एक बार उदय होकर अपनी-अपनी अवधि तक विद्यमान रहने के बाद अस्त हो जाते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

स्वर के साथ कौनसा तत्त्व विद्यमान है, कैसे जानें? पंचतत्त्वों का स्वरोदय के साथ कैसे उदय होता है और उन्हें कैसे जाना जा सकता है, इसके अनेक तरीके हैं। मगर वे तरीके इतने सूक्ष्म और कठिन हैं कि बिना अभ्यास के साधारण व्यक्ति उन्हें जान नहीं सकता।

जैसे —

(1) नथुने से चलते हुए श्वास की ऊपर, नीचे, तिरछे, बीच में घूम-घूम कर बदलती हुई गति से तत्त्व विशेष की विद्यमानता का पता लगाया जाता है।

(2) प्रत्येक तत्त्व की अपनी एक विशेष आकृति होती है अत: निर्मल दर्पण पर श्वास के छोड़ने से जो विशेष आकृति बनती है, उस आकृति को देखकर उस वक्त जो तत्त्व विद्यमान होता है उसका पता लग जाता है।

(3) शरीर स्थित भिन्न-भिन्न चक्रों द्वारा।

(4) प्रत्येक तत्त्व का अपना एक विशेष रंग होता है उसके द्वारा।

(5) प्रत्येक तत्त्व का अपना एक स्वाद होता है उसके द्वारा।

(6) तत्त्वों के उदय काल क्रम द्वारा जैसे जिस नथुने से श्वास का प्रवाह होता है उसमें साधारणतया पहले वायु, फिर अग्नि, फिर पृथ्वी, तत्पश्चात् जल और अन्त में आकाश तत्त्व का क्रमश: 8,12,20,16 और 4 मिनट तक क्रमवार उदय होता है।

(7) तत्त्वों के परिणाम द्वारा भी किसी तत्त्व की स्वर के साथ विद्यमानता का पता लगाया जा सकता है। विधि इस प्रकार है—

बारीक हल्की रूई लेकर उसे जिस नथुने से श्वास चल रही हो उसके पास धीरे-धीरे ले जाइये। जहाँ पर पहले-पहल रूई हवा के वेग से हिलने लगे, वहाँ ठहर जाइये और उस दूरी को नाप लीजिए। यदि वह दूरी 12 अंगुल है तो पृथ्वी तत्त्व, 16 अंगुल है तो जल तत्त्व, 4 अंगुल है तो अग्नि तत्त्व, 8 अंगुल है तो वायु तत्त्व तथा 20 अंगुल है तो आकाश तत्त्व की उपस्थिति समझनी चाहिए।

## 18.2.2.1 स्वर साधना के चमत्कार और उससे स्वास्थ्य प्राप्ति

वास्तव में स्वर साधना की महिमा अपूर्व और अपरम्पार है। इसके साधक चमत्कारों से भलीभांति परिचित होते हैं और वे इसका उपयोग अपने तथा दूसरों के ऊपर स्वास्थ्य प्राप्ति के लिए सफलतापूर्वक करते हैं। पाठकों के लाभार्थ नीचे कुछ प्रयोग दिये जाते हैं।

(1) सवेरे उठने के समय बिस्तर पर आंख खुलते ही जो स्वर चल रहा हो उस ओर के हाथ की हथेली का दर्शन करे और उसे चेहरे पर फेरते हुए ईश-स्मरण करें। तत्पश्चात् जिस ओर का स्वर प्रवाहित हो रहा हो उसी ओर का पैर पहले बिस्तर से नीचे जमीन पर रखे। ऐसा करने से वह दिन सुख और चैन से बीतेगा।

(2) कोई रोग हो जाए, लक्षण ज्ञात होते ही जो स्वर चलता हो उसको तुरन्त बंद कर दें, और जितनी देर अथवा जितने दिनों तक शरीर स्वस्थ न हो जाए उतनी देर अथवा उतने दिनों तक उस स्वर को बन्द ही रखना चाहिए। इससे शरीर शीघ्र स्वस्थ हो जाएगा और दु:ख अधिक न भुगतना पड़ेगा।

(3) किसी प्रकार शारीरिक थकावट हो, दाहिने करवट सो जाइये, जिससे चन्द्र स्वर चालू हो जाएगा और थोड़े ही समय में शरीर की सारी थकावट कपूर की भांति उड़ जाएगी।

(4) स्नायु विकार के कारण शरीर के किसी भाग मे यदि किसी प्रकार की वेदना हो तो वेदना के आरम्भ होते ही जो स्वर चलता हो उसे बन्द कर देना चाहिए। दो-चार मिनट में ही वह वेदना बन्द हो जाएगी।

(5) जब दमे का दौरा हो तो जो स्वर चलता हो उसे बन्द करके दूसरा स्वर चला देना चाहिए। 10-15 मिनट में जोर कम हो जाएगा। प्रतिदिन इस प्रकार करने से महीने भर में पीड़ा शान्त हो जाएगी। दिन में जितनी ही अधिक यह क्रिया की जायेगी उतना ही शीघ्र यह रोग दूर होगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

(6) जिस व्यक्ति का दिन में बायां स्वर और रात में दायां स्वर चला करता है उसके शरीर में कोई पीड़ा नहीं व्यापती। वह सदा आनन्द से विचरण करता रहता है। 10-15 दिन में इसी क्रम से स्वरों को चलाने का अभ्यास करने से अपने आप ही उपर्युक्त नियम से चलने लगता है।

(7) भोजनादि उस समय करें जब दायां स्वर चलता हो। उसके बाद भी दस-बारह मिनट तक दायां स्वर ही चलना चाहिए। इसीलिए खाने के बाद बायें करवट सोने का विधान है ताकि दायां स्वर चालू रहे। ऐसा करने से भोजन शीघ्र पचेगा और कब्ज कभी न होगा यदि हो तो वह शीघ्र दूर हो जाएगा।

## 18.2.3 प्राणायाम

प्राणायाम दो शब्दों से मिलकर बना है। प्राण और आयाम। प्राण का अर्थ मोटे तौर पर जीवन तथा आयु लगाया जाता है, और आयाम का लम्बाई। अत: जिस क्रिया द्वारा आयु की लम्बाई बढ़ाई जा सके, जीवन काल में वृद्धि की जा सके उसे प्राणायाम कहेंगे। प्राणायाम की यौगिक परिभाषा या अर्थ प्राणों को वश में करना है। अत: प्राणायाम के विषय में जानने से पहले, शरीर में प्राण क्या वस्तु है, यह जानना बहुत जरूरी है।

प्राण क्या है? जो ज्योति या चेतन शक्ति इस विशाल ब्रह्माण्ड में ही क्यों अपितु सर्वत्र विद्यमान है, वह इस लघुपिण्ड शरीर में भी विराजमान है। उसी को प्राण कहते हैं इस प्राण के द्वारा ही मन और इन्द्रियां अपना-अपना काम करती रहती हैं। यह प्राण का सूक्ष्म रूप है।

### 18.2.3.1 प्रत्येक प्राणायाम के तीन क्रम

1. रेचक : श्वास को बाहर निकालना।
2. पूरक : श्वास को अन्दर लेना।
3. कुम्भक : श्वास को रोकना।

कुंभक भी तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है—

1. अन्त:कुम्भक : श्वास को अंदर लेकर रोकना।
2. बाह्य कुम्भक : श्वास को बाहर निकालकर रोकना।
3. कैवल्य कुम्भक : श्वास जहाँ हो वहीं रोकना।

### 18.2.3.2 पूरक, कुम्भक रेचक का अनुपात

1:4:2 लेकिन नये अभ्यासी के लिए 1:2:2 का अनुपात रखना अच्छा होता है।

### 18.2.3.3 प्राणायाम से लाभ

प्राणायाम द्वारा मनुष्य की लगभग सभी शारीरिक तथा मानसिक व्यथाएं नष्ट हो जाती हैं और साधक को सच्चा आनन्द प्राप्त होता है। यदि कहना चाहें तो कह सकते हैं कि प्राणायाम से सब रोगों का होना ही बन्द हो जाता है। प्राणायाम से रक्त विशुद्ध हो जाता है। फलत: साधक का शरीर तपाए हुए स्वर्ण जैसा कांतियुक्त हो जाता है। उसका शरीर हल्का, सुडौल, मलविहीन, सुन्दर, रोगहीन तथा ओज एवं तेजयुक्त हो जाता है। उसे बुढ़ापा और मृत्यु नहीं सताती अपितु वह जीवन पर्यन्त शांत और प्रसन्न बदन रहकर इच्छा मृत्यु प्राप्त करता है।

प्राणायाम द्वारा रोगियों को सदैव लाभ पहुंचाया जा सकता है। दमा और क्षय रोगों में इससे निश्चय ही लाभ पहुंचता है।

### 18.2.3.4 अपानायाम

जिस प्रकार प्राणायाम द्वारा प्राण वायु को सिद्ध करके उससे स्वास्थ्य को उन्नत बनाया जाता है, उसी प्रकार अपानायाम द्वारा अपान वायु को भी वश में करके उससे स्वास्थोन्नति में मदद ली जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

कंठ से लेकर हृदय तक प्राण वायु का नियंत्रण रहता है और नाभि से लेकर नीचे गुदा तक अपान वायु का। अपान वायु के कुपित होने से अनगिनत रोग सत्वर उठ खड़े होते हैं और कभी-कभी तो जान पर भी आ बनती है। उस वक्त जिस व्यक्ति को अपान वायु के शोधन की विधि मालूम होती है, वह उससे लाभ उठाता है।

मल, मूत्र और गन्दी वायु के रूप में शरीर के निरूपयोगी निस्सार भाग को अपान वायु ही शरीर के बाहर करके उसे स्वच्छ, निर्मल और निरोगी बनाती है। जब यही अपान वायु शरीर के भीतर अपनी ठीक गति नहीं करती तो शरीर के भीतर मल जमा हो जाता है जो विविध रोगों का कारण बनता है। कब्ज, सिरोवेदना, पेट की सारी गड़बड़ियां आदि विकृत अपान के ही कार्य होते हैं।

शरीर की अपान वायु को शुद्ध करने की क्रिया का नाम अपानायाम है। ऐसी कुछ क्रियाएं नीचे दी जाती हैं, जिनको विधिपूर्वक करके लाभ उठाया जा सकता है—

(1) प्रथम पेट को सामने की ओर जितना फूला सकें फुलावें, फिर सिकोड़ें। नाभि को रीढ़ की हड्डी के साथ लगाने का प्रयत्न करें। इससे जहाँ अपान का अनुलोमन होता है, वहीं वीर्य रक्षा भी होती है। अब दोनों हाथों को पेट पर रखें। अंगूठा पीछे रहे और अंगुलियां सामने की ओर हों। अब पेट को पूर्ववत् फुलावें और बाएं हाथ से दबाव डालें, दाईं ओर। और दाएं हाथ से दबाव डालें, पीछे की ओर। अब पेट को पीछे से बाएं-दाएं फुलावें। इसी प्रकार कई दिन तक अभ्यास करने से पेट स्वयं बाएं से दाईं ओर होकर फिर पीछे से होकर बाईं ओर आयेगा। इसी प्रकार दाईं ओर से चक्कर लगाने का अभ्यास करें। तत्पश्चात् पेट को ऊपर से नीचे गतियां देनी चाहिए और फिर नीचे से ऊपर को। इससे पेट की सफाई हो जाती है और अपान वायु वश में हो जाती है।

(2) खड़े होकर श्वास को बिल्कुल बाहर फेंक कर कोंख के दोनों पार्श्वों को भीतर खींचने का खूब यत्न करें। मध्य प्रदेश नाभि स्थल पर रहे। इसका अभ्यास करने के लिए सामने कोई मेज हो या अन्य वस्तु जिसे खूब अच्छी तरह पकड़ा और उठाया जा सके। अब हाथों के बल सीधा ऊपर उठा जाये और वही क्रिया की जाये। मल स्वयं बाहर निकलेगा। अब बिना मेज के दोनों हाथों को घुटनों पर रखकर श्वास बाहर फेंककर कुक्षि प्रदेश अन्दर खींचे जब मल निकलने लग जाए तब श्वास चाहे अन्दर हो या बाहर श्वास को बाहर रोक कर मल निकाला जा सकता है और उसे आगे-पीछे खूब अच्छी तरह हिलाया जा सकता है। इस क्रिया से अपान वायु वश में होता है व पेट की बहुत सी बीमारियाँ दूर हो जाती हैं।

(3) आपने बहुत बार कुत्ते या बिल्ली को अंगड़ाई लेते देखा होगा ठीक उसी प्रकार की स्थिति में हो जाइए। हाथों को सीधा आगे पसारिये। जमीन पर ठोडी या गाल लगे और घुटने अलग करके रखें। कमर को जितना हो सके उतना झुकायें। अब अपान को बाहर निकालने का प्रयत्न करें। उसके बाद स्वयं ही अपान अन्दर आने की कोशिश करेगा। इससे अफारा, सिर दर्द दूर होते हैं। अपानायाम में सिर्फ पूरक व रेचन ही करना चाहिए कुम्भक नहीं। पेट को बिल्कुल ढीला छोड़ देने से वायु बाहर हो जाती है।

**बोध प्रश्न 1:**

*1. आकाश तत्त्व में संयम का महत्त्व समझायें।*

*2. उपवास की विस्तृत व्याख्या करें।*

*3. एक हवा सौ दवा कैसे है?*

*4. स्वर साधना का महत्त्व बताएं।*

## 18.3 अग्नि चिकित्सा

अग्नि, सृष्टि के उपादान पंच तत्त्वों में तीसरा उपयोगी तत्त्व है। परन्तु दृष्ट तत्त्वों (अग्नि, जल तथा पृथ्वी) में प्रमुख दृश्य तत्त्व अग्नि ही है। आकाश और वायु तो महातत्त्व (सबका आदि कारण ईश्वर) की तरह ही अदृश्य तत्त्व हैं। अग्नि को अग्निदेव मानकर उसकी पूजा-अर्चना का विधान शास्त्रकारों ने बताया है। ऋग्वेद के प्रथम मंत्र 'अग्नि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मीडे पुरोहितम्' आदि में ईश्वर के प्रत्यक्ष रूप अग्नि की ही प्रार्थना की गई है। गायत्री मंत्र में भी जो भगवद् रूप महामंत्र (मूलमंत्र) है इस तत्त्व के अधिष्ठाता सूर्य की ही उपासना है। धार्मिक रुचि के हिन्दू और पारसी आज भी सूर्य को देवता मानते हैं और नियमपूर्वक उनकी पूजा करते हैं।

सूर्य केवल प्रकाश और गर्मी ही नहीं देता बल्कि वह बुद्धि और दीर्घायुष्य भी देता है। यथा—

**सवितानः सुवतु सर्वातीतं सिवतानो रासतांदीर्घमायुः।**

अर्थात् यह श्रेष्ठ प्रकाश जो विश्व को प्रकाशित कर रहा है, हमें सुबुद्धि और दीर्घायुष्य प्रदान करे।

यह सत्य है कि जो व्यक्ति सूर्य प्रकाश का जितना अधिक सेवन करेगा उसकी दिमागी शक्ति उतनी ही विकसित होगी। सूर्य प्रकाश के सेवन से मस्तिष्क में एक प्रकार की चुम्बकीय शक्ति आती है जो मनुष्य को बुद्धिमान् बना देती है। हमारे पूर्वज ऋषि-मुनि इसी सूर्योपासना की बदौलत बुद्धिमान बने जिनकी जोड़ के बुद्धिमान व्यक्ति का भविष्य में पैदा होना संदिग्ध ही है।

अग्नि तत्त्व से हमें धन-जन की प्राप्ति एवं रक्षा होती है। यथा—

**''सूर्यो नो दिवस्पातु''**
**''अग्निः पार्थिवेभ्यः।''**

—ऋग्वेद

अर्थात् सूर्य हमारे दिन की रक्षा करे और अग्नि हमारे धन-जन की रक्षा करे। और भी—

**''नमः सूर्याय शांताय सर्व रोग विनाशिने।**
**आयुरारोग्यमैश्वर्यादेहिदेव नमोऽस्तुते।''**

—आ. ह.

अर्थात् शांति प्रदान करने वाले, सर्व रोग नाश करने वाले सूर्य भगवान को नमस्कार करते हैं। हे सूर्यदेव! आयु, आरोग्य और ऐश्वर्य हमें दो। आपको नमस्कार है।

विश्व के अन्य भागों के निवासी भले ही सूर्य के महत्त्व को भली प्रकार न समझे हों, पर भारतवर्ष में तो आदिकाल से ही सूर्य को समस्त जड़, चेतन तथा सुर आदि को उत्पन्न करने वाला माना गया है। भारतीयों की दृष्टि में सूर्य ईश्वर का प्रमुख अंग नेत्र है क्योंकि वह प्रत्यक्ष रूप से दर्शन देता है और प्रत्येक प्राणी उसको देख सकता है, जबकि अन्य देवताओं के सम्बन्ध में यह बात नहीं है।

तैत्तरीय ब्राह्मण में लिखा है कि उदय तथा अस्त होते हुए सूर्य को ध्यान करता हुआ ब्राह्मण सभी सुखों को प्राप्त करता है।

यजुर्वेद में आया है—'चक्षोः सूयरिजायत' अर्थात् सूर्य भगवान का नेत्र है। परन्तु वास्तव में सूर्य हम सबों का ही नेत्र है क्योंकि सूर्य के ही प्रकाश से हम अपने नेत्रों का प्रयोग कर पाते हैं और उस प्रकाश के अभाव में हम लगभग अंधे ही रहते हैं।

इस तरह देखते हैं कि हमारे ग्रन्थ वेदों में सूर्य उपासना संबंधी अनेक ऋचाएं विद्यमान हैं जो इस बात का प्रमाण हैं कि हम भारतवासी अनादि काल से सूर्य की उपयोगिता मानते आ रहे हैं। हम आरम्भकाल से ही सूर्य एवं अग्नि को देवता के रूप में पूजते आ रहे हैं। क्योंकि सूर्य के बिना जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। भारतवर्ष ही क्यों? रोम, यूनान, मिश्र सभी जगह सूर्य को देवता माना गया है। जापान में सूर्य के अनेक मन्दिर हैं। दक्षिण अमेरिका में भी एक विशाल सूर्य मन्दिर है।

वैज्ञानिक 'सूर्य नमस्कार' जो हमारी प्रातः पूजा का अंग है, पूजा के साथ-साथ एक उत्तम प्रकार का व्यायाम भी है। इसमें सूर्य नमस्कारासन से सूर्य के सामने जल गिराना होता है। यह एक अत्यन्त उपयोगी एवं सर्वांगपूर्ण और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

वैज्ञानिक स्वास्थ्य वर्धक क्रिया है, जिसके करने से बड़े लाभ होते हैं। वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि प्रात:कालीन सूर्य रश्मियों में नीलोत्तर किरणें (Ultra-violet rays) प्रचुर मात्रा में पाई जाती हैं जो स्वास्थ्य के लिए लाभकारी होती हैं। किन्तु सूर्य की सभी रश्मियां तो 'नीलोत्तर रश्मियां' होती नहीं। इसलिए कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जिनमें से छनकर केवल 'नीलोत्तर किरणें' ही बहिर्गत होती हैं। उन पदार्थों में से एक पदार्थ 'जल सीकर पुंज' है अर्थात् जिस समय प्रात:काल सूर्य के सामने हम खड़े होकर ऊंचे से अपने ठीक सामने जल गिराना आरम्भ करते हैं तो सूर्य की किरणें जल कणों द्वारा इन्द्रधनुष के सात रंगों में विभाजीत होकर उनमें से नीलोत्तर किरणें हमारे शरीर पर पड़कर हमें लाभ पहुंचाती हैं। यही कारण है कि सर्व साधारण के हित के लिए हमारे पूर्वजों ने इस कृत्य को अनादि काल से धर्म का रूप दे रखा है।

एक प्रकार से देखा जाए तो सूर्य ही जगत् का प्रसविता है क्योंकि सृष्टि के सभी पदार्थों का मूलबीज सूर्य रश्मि माला के विभिन्न प्रकार के संयोग से ही उत्पन्न होता है। रश्मि-भेद और विभिन्न रश्मियों के मिश्रण भेद से जगत् के नाना प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। कहा गया है कि सतरंगी किरणों में सूर्य अपना वीर्य और चन्द्रमा अपना रज डालकर संसार को उत्पन्न कर देता है। संसार की सभी वस्तुओं—सोना, चांदी, तांबा, जस्ता, लोहा आदि धातुओं; हीरा, माणिका, नीलम आदि जवाहरात आदि-आदि का पैदा होना इन्हीं रंगीन सूर्य रश्मियों के करिश्मे हैं। प्राणधारियों एवं वनस्पति के जीवन का भी मात्र आधार सूर्य रश्मियां ही हैं। अत: प्रकाश और गर्मी की हमें भोजन से अधिक आवश्यकता है, क्योंकि प्रकाश का अभाव हुआ नहीं कि हमें डॉक्टर की आवश्यकता पड़ी नहीं। एक जर्मन प्राकृतिक चिकित्सक आर्नल्ड रिकली ने लिखा है कि जल जरूरी है वायु उससे भी जरूरी और प्रकाश इन दोनों से भी जरूरी है।

अग्नि तत्त्व से शेष चारों तत्त्व (आकाश, वायु, जल एवं पृथ्वी) तृप्त होते हैं। इसी से संसार में सौन्दर्य है, जीवन है। इसी से फूल पकते हैं, फल पकते हैं, औषधियों में पृथक्-पृथक् गुण उत्पन्न होते हैं। इसी से समुद्र का जल बादल बनकर पृथ्वी का सिंचन करता है। इसी से हमारे सारे कल-कारखाने चलते हैं। इसी से हमारा भोजन सीजता है और पचता है।

सुख, दु:ख, पाप, पुण्य, काम, क्रोध, लोभ, मोह, प्रीति, भक्ति आदि सभी वृत्तियां और संस्कार भी सूर्य रश्मियों के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं। सूर्य की राशि अथवा वर्णमाला का पंडित सहज ही में पदार्थों का संगठन या विघटन कर सकता है। वस्तु परिवर्तन कर सकता है। उसका निर्माण कर सकता है और संहार भी कर सकता है। लोहे का सोना बनाना तथा मुर्दों को जिलाया जाना तक, सूर्य विज्ञान से ही संभव है। इस विज्ञान के जानकार हिमालय और तिब्बत में आज भी गुप्त रूप से विद्यमान हैं। पाश्चात्य देशों ने इसी विज्ञान के आधार पर मृत्यु किरण और एटमबम के आविष्कार किए हैं। मगर सूर्यरश्मियों के अनन्त शक्तियों एवं गुणों के मुकाबले ये आविष्कार कुछ भी नहीं हैं।

वेद या शब्द ब्रह्म की सीमा सूर्य मण्डल तक मानी गयी है। उसके बाद सत्य या ब्रह्म लोक है। सूर्य से ही 'सर्वदर्शित्वम्' संभव है। सूर्य या अग्नितत्त्व से ही अन्य सभी तत्त्वों के चैतन्य का उन्मेष और निमेष होता है। अग्नितत्त्व स्वयं सूर्य है। सोम भी वही है। प्रणव या ओंकार भी सूर्य ही है। सूर्य साक्षात् नाद ब्रह्म है। निरन्तर रव करने के कारण सूर्य की संज्ञा 'रवि' भी है स्वयं ईश्वर का तेज प्रज्वलित होकर सूर्य बना है।

अग्नितत्त्व के अभाव के कारण शरीर निर्जीव हो जाता है और कमी की वजह से शरीर में सुस्ती, सिकुड़न, सर्दी की सूजन, वायु जनित पीड़ाएं, पक्षाघात, गठिया, बुढ़ापे की कमजोरी, मन्दाग्नि, निद्रा की अधिकता, कोष्ठबद्धता तथा ठंड आदि उपद्रव आरम्भ हो जाते हैं। आंख, नख, जिह्वा, विष्टा तथा पेशाब लाल-पीले या लाल रंग के हो जाते हैं। मुंह का जायका खट्टा-कड़ुवा हो जाता है, मिजाज तेज और क्रोधी हो जाता है तथा दुबलापन, अंग-अंग में खुश्की और प्यास की अधिकता आदि रोग आ घेरते हैं।

प्राणी का सम्पूर्ण शरीर रंगीन है। बाहर से देखने वाले सभी अंगों का रंग भिन्न है और भीतर के अवयव अलग-अलग रंग लिए हुए हैं। मनुष्य की वाणी एवं विचारों के प्रकम्पन भी रंगीन है। मनुष्य का पूरा का पूरा शरीर रंगों का पिण्ड है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शारीरिक विकास का मुख्यत: सूर्य की शक्ति, किरणों, रोशनी, रंगों और ताप पर निर्भर होना, यह प्राकृतिक विज्ञान का सर्वोत्तम तथ्य है। जब प्राणी के जीवन और स्वास्थ्य का आधार सूर्य है तो सूर्य किरणों से उत्पन्न रंगों से सही चिकित्सा होने में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं होनी चाहिए। प्राकृतिक नियम है जो चिकित्सा जितनी स्वाभाविक होगी उतनी ही प्रभावशाली होगी।

## 18.3.1 सूर्य प्रकाश द्वारा रोगों का उपचार

सूर्य प्रकाश अद्‌भुत रोगनाशक शक्ति पर हम ऊपर थोड़ा विचार कर चुके हैं। यहां पर उसके द्वारा रोगों की चिकित्सा पर कुछ लिखा जायेगा।

जिस सूर्य प्रकाश से संसार का तम क्षणमात्र में नाश को प्राप्त हो जाता है, जिस सूर्य प्रकाश से सृष्टि के कण-कण में जीवन का, शक्ति का, सौन्दर्य का और ऐश्वर्य का संचार एवं प्राकाट्य होता है तथा जिस सूर्य प्रकाश की सुनहरी किरणें सागर से ढेर का ढेर वारि-बिन्दु खींचकर अमृत वर्षा करके ग्रीष्मताप से झुलसी हुई वसुन्धरा पर अपनी रंगीनियों की माया बिखेर सकती हैं, उस सूर्य प्रकाश अथवा उसकी जीवनदायिनी स्वर्णिम रश्मियों के प्रति यदि यह कहा जाए कि वे सब कुछ नहीं कर सकतीं है, पृथ्वी पर के रोगी जीवों को रोगमुक्त नहीं कर सकती तो यह कितनी अटपटी और गलत बात होगी। यह बात दूसरी है कि हम सृष्टि में शक्ति के सबसे बड़े पुंज सूर्य की प्रबल रोगनाशक शक्ति को रोग निवारणार्थ प्रयोग करके उससे लाभ उठाना न जानें, पर इससे यह तो सिद्ध नहीं होता है कि सूर्य, सूर्य-प्रकाश या सूर्य-किरणों में रोगों को दूर करने की शक्ति ही नहीं है अथवा इससे इस सत्य पर पर्दा तो नहीं पड़ जाता कि सूर्य-प्रकाश संसार में जहाँ अनेकानेक आश्चर्यजनक कार्य करने की क्षमता रखता है वहीं उसके लिए दु:साध्य से दु:साध्य रोगों को दूर कर देना कोई बड़ी बात नहीं है। हमारे इस कथन की पुष्टि अथर्ववेद काण्ड 1 सूक्त 22 मंत्र 1,2,3 से भी होती है जहाँ सूर्य किरण चिकित्सा का अच्छा विवरण दिया हुआ है।

अत: मानव की रोग निवृत्ति के लिए सूर्य प्रकाश को भगवान का एक वरदान भी समझना चाहिए। प्रसिद्ध डॉक्टर रिकली के अनुसार मानव जलचर न होकर वायु और प्रकाश का प्राणी है। इसलिए वायु और प्रकाश के ऊपर जहाँ हमारा विकास और जीवन अवलम्बित है, वहीं उनमें हमारे रोगों को दूर करने के गुण भी विद्यमान होने ही चाहिए। मानव-कल्याण के लिए तो उपर्युक्त डॉक्टर ने प्रकाश को सर्वोपरि बतलाया है। वह कहता है—

"Water is good, but air is better and light is best of all."

भूगोल का ज्ञान रखने वाले जानते हैं कि बोर्नियो अण्डमानद्वीप तथा बेंक्वर द्वीप के आदि निवासी और दक्षिण अमेरिका के फ्युजियन आदि मानव जातियां जिनके शरीर को काफी धूप मिलती रहती है। रोग क्या होता है, नहीं जानते और शक्ति में भी उनकी बराबरी की अन्य मानव जाति संसार में शायद ही कहीं की हो। इसके विपरीत संसार की जिन मानव जातियों को यथेष्ट धूप नहीं मिलती, वे त्वचा संबंधी, रक्त संबंधी तथा अस्थि संबंधी अनेक रोगों की शिकार हमेशा बनी रहती हैं क्योंकि सूर्य-प्रकाश विहीन स्थानों में पेड़-पौधे, घास-फूस तक नहीं उगते-पनपते, फिर मनुष्य कैसे स्वस्थ रह सकते हैं। उदाहरणार्थ, आल्प्स पहाड़ की बहुत सी गहरी कन्दराओं में सूर्य-प्रकाश का बड़ा अभाव रहता है, जिसका परिणाम यह होता है कि उन कन्दराओं में जो मनुष्य रहते हैं वे अनेक रोगों से पीड़ित रहते हैं और उनमें अधिकांश तो विक्षिप्त और पागल होते हैं। पर जब वे लोग उन अंधेरी कन्दराओं से निकल कर ऊपर के प्रकाशित स्थानों पर चले जाते हैं तब उनके रोग दूर हो जाते हैं और उनका स्वास्थ्य सुधर जाता है। इससे सूर्य-प्रकाश की रोगनाशक शक्ति का प्रमाण सहज ही में मिल जाता है। एक कहावत भी है—''धूप को अन्दर आने दो और डॉक्टर को बाहर ही रोके रखो।'' जो बिल्कुल सही है।

आजकल रोग निवारण के लिए विविध उपाय प्रचलित हैं। किन्तु इस कार्य के लिए सबसे उपयोगी साधन प्राकृतिक शक्तियां भी हैं, जिनमें जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, सूर्य-प्रकाश का प्रमुख स्थान है।

कहना न होगा कि जिस प्रकार जल चिकित्सा प्राकृतिक चिकित्सा का एक मुख्य अंग है, उसी प्रकार सौर जल चिकित्सा, सूर्य किरण चिकित्सा या सूर्य प्रकाश चिकित्सा भी उसका एक प्रमुख अंग है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सूर्य-प्रकाश चिकित्सा में धूप के प्रयोग में लाने की कई वैज्ञानिक विधियां हैं, जिन्हें खूब समझकर विधिपूर्वक ही काम में लानी चाहिए अन्यथा लाभ के बदले हानि हो सकती है।

## 18.3.2 सप्त किरण स्नान या धूप-स्नान (पूर्ण)

सूर्य को 'सप्त-किरण' या 'सप्त-रश्मि' भी कहते हैं। पुराण में सप्त-रश्मियों को जो क्रमश: लाल, नारंगी, पीली, हरी, आसमानी, नीली एवं बैंगनी होती है, सप्तमुखी घोड़ा बताया गया है। चूंकि उपर्युक्त सात रंगों के एकत्र होने से ही श्वेत रंग की उत्पत्ति होती है और सातों रंग की सूर्य किरणों में रोगनाशक गुणों का समावेश रहता है जिनकी प्राप्ति हमें धूप-स्नान, सूर्य-स्नान, सप्त-किरण स्नान या अंग्रेजी के Sun-Bath से, रोगावस्था में विशेष रूप से और स्वस्थावस्था में सामान्य रूप से होती है।

जाड़े के दिनों में यों तो सभी नंगे बदन धूप में बैठकर धूप-स्नान का थोड़ा-बहुत आनन्द और लाभ प्राप्त करते हैं। किन्तु रोगावस्था में इस स्नान का सेवन वैज्ञानिक ढंग से करके ही रोगमुक्त हुआ जा सकता है जैसे-तैसे धूप में घूमने या बैठने मात्र से धूप-स्नान का वास्तविक लाभ कदापि नहीं उठाया जा सकता है।

धूप-स्नान करते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए—

(1) सूर्य-स्नान करते समय सिर को धूप से बचाये रखना चाहिए। इसके लिए सिर को साये में रखना चाहिए या भीगे रूमाल या हरे पत्तों (केले का पत्ता ठीक रहेगा) से ढके रखना चाहिए। धूप स्नान लेने जाने के पहले सिर, मुंह, गर्दन को अच्छी तरह धो लेना भी जरूरी है।

(2) कड़ी धूप में सूर्य-स्नान न लें। इसके लिए प्रात:काल और सायंकाल की हल्की किरणें ही उत्तम होती हैं।

(3) धूप स्नान का समय रोज-रोज धीरे-धीरे बढ़ावें। एकबारगी ही अधिक देर तक धूप स्नान न लें। एक घंटा से अधिक देर तक धूप स्नान कभी भी न लें। क्योंकि जैसे अधिक भोजन चाहे वह कितना ही अच्छा एवं लाभकारी क्यों न हो, शरीर को हानि पहुंचाता है, वैसे ही सूर्यताप को भी समझना चाहिए। उचित समय तक धूप स्नान लेने से शरीर को अनेकों प्रकार के लाभ होते हैं—

शारीरिक जीवन शक्ति बढ़ती है, हड्डियां दृढ होती हैं, शरीर को विटामिन 'डी' मिलता है तथा बहुत से रोग अच्छे होते हैं किन्तु जब आवश्यकता से अधिक देर तक धूप-स्नान लिया जाएगा तो शरीर झुलस सकता है, वह काला पड़ सकता है, भूख मर सकती है तथा शरीर की हड्डियों में आवश्यकता से अधिक विटामिन डी की वृद्धि हो सकती है, आदि। कमजोरी की दशा में सूर्य स्नान जाड़ों में 7 मिनट तथा गर्मियों में 3 मिनट से ही शुरू करना चाहिए।

(4) धूप-स्नान लेते समय जितनी देर स्नान करना हो उसके चार भाग करके पीठ के बल, पेट के बल, दाहिनी करवट और बाईं करवट लेट कर धूप का सेवन करें जिससे शरीर का कोई भी अंग धूप-स्नान से वंचित न रह जाये।

(5) धूप-स्नान लेते समय शरीर निर्वस्त्र हो तो सर्वोत्तम अन्यथा केवल एक लंगोटी धारण करें। स्त्रियां पतले कपड़े का पेटिकोट या जांघिया तथा चोली पहनकर धूप-स्नान कर सकती हैं।

(6) खुले स्थान में जहाँ जोर की हवा न आती हो सूर्य स्नान करें।

(7) भोजन के डेढ़-दो घंटे बाद सूर्य स्नान करना चाहिए। इसी तरह सूर्य-स्नान के तुरन्त बाद खाना भी ठीक नहीं।

(8) सूर्य-स्नान के बाद अच्छी तरह ठंडे जल से नहाकर या भीगी तौलिया से शरीर के प्रत्येक अंग को अच्छी तरह पोंछ कर थोड़ी देर तेजी से टहलना चाहिए।

(9) सूर्य-स्नान के बाद यदि शरीर में फुर्ती, उत्साह आता जान पड़े तो स्नान को सफल समझें। परन्तु यदि सिर में दर्द या अन्य किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव हो तो धूप-स्नान का समय दूसरे दिन कुछ कम कर दें।

(10) सूर्य-स्नान रोज नियमित रूप से लें। इसमें कमी करना ठीक नहीं। ऐसा करने से लाभ होता है।

(11) जाड़ों में सूर्य-स्नान के लिए भारत में 12 और 2 बजे के बीच तथा गर्मियों में 8 से 10 बजे तक सुबह और फिर 3 से 5 बजे तक शाम का समय ही श्रेयस्कर है। किन्तु लू चलते समय यह स्नान कदापि नहीं लेना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

(12) दिल की बीमारी और ज्वर वाले रोगियों को सूर्य स्नान नहीं करना चाहिए। थोड़ी मात्रा में ज्वर रहता है तो फुफ्फुस के रोग में धूप-स्नान किया जा सकता है। पर नियम यही है कि ज्वर रहने की हालत में यह स्नान नहीं करना चाहिए।

### 18.3.3 रोग निवारण के लिए गरम वायु, गरम जल तथा गरम पृथ्वी के प्रयोग

रोग निवारण के लिए अग्नि तत्त्व का सफल प्रयोग शेष चारों तत्त्वों—आकाश, वायु, जल तथा पृथ्वी के माध्यम से ही कर सकते हैं। आकाश तत्त्व के माध्यम से सूर्य प्रकाश का प्रयोग जिन-जिन विधियों से रोग निवारणार्थ करते हैं उन पर थोड़ा प्रकाश डाला जा चुका है। अब वायु, जल तथा पृथ्वी तत्त्वों के माध्यम से अग्नि तत्त्व का प्रयोग किस प्रकार होता है। उस पर विचार किया जाता है।

प्राकृतिक चिकित्सा विज्ञान के अन्तर्गत रोगों को दूर करने के लिए गरम बोतलों, गरम बालू के थैलों, गरम ईंटों, गरम पत्थर तथा गरम पृथ्वी आदि के प्रयोग और गरम भाप, गरम जल, गरम गीली मिट्टी तथा गीले कपड़े की पट्टी आदि के प्रयोग को गीली गर्मी के प्रयोग कहते हैं।

चिकित्सा के लिए 120° से अधिक तापमान के जल का प्रयोग नहीं होना चाहिए पर 140° तापमान की भाप और 300° तापमान के वायु को हमारा शरीर सहन कर सकता है। चिकित्सा में गीली गर्मी के प्रयोग के लिए निम्नलिखित फारनहाइट तापमान के जल व्यवहार में लाए जाते हैं—

| | |
|---|---|
| गुनगुना (Tepid) | 82° से 92° |
| सुसम (Neutral) | 91° से 94° |
| हल्का गरम (Warm) | 94° से 98° |
| गरम (Hot) | 98° से 104° |
| अधिक गरम (Very hot) | 104° से 120° |

रोग निवारणार्थ अग्नि ताप के प्रयोग अन्य तत्त्वों के प्रयोग की भांति ही खूब समझ-बूझकर और विधिवत् करने चाहिए। सही ढंग से किए गए प्रयोग निश्चय ही लाभ करते हैं और बेढंगे तरीके से किये गए प्रयोगों से हानि होना भी स्वाभाविक है। प्रारम्भ में तो ये रोगी की दशा के अनुसार हल्के और अल्पकालीन ही होने चाहिए।

## 18.4 जल तत्त्व चिकित्सा

प्रलयकाल में सृष्टि जल में निमग्न होती है। सर्गकाल में फिर जल से ही उसका उदय होता है। अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में भगवान की चेतना शक्ति की प्रेरणा से क्रमशः आकाश, वायु तथा तेज (अग्नि) के प्रादुर्भाव होने के बाद रूप तन्मात्रमय तेज के विकृत होने पर उससे रस तन्मात्र होता है जिसमें जल तत्त्व की उत्पत्ति होती है। रस व जल तत्त्व अपने शुद्ध स्वरूप में एक ही है, किन्तु अन्य भौतिक पदार्थों के संयोग से वह कसैला, मीठा, तीखा, कड़ुवा, खट्टा, नमकीन तथा गंदला आदि हो जाता है।

वस्तुओं को गीला करना मिट्टी आदि को पिण्डाकार बना देना, तृप्त करना, प्राणियों को जीवित रखना, प्यास बुझाना, पदार्थों को मृदु कर देना, ताप की निवृत्ति करना, सब प्रकार की स्वच्छता प्रदान करना और कूपादि में से निकाल लिए जाने पर उन्हें पुनः भर देना; ये जल की वृत्तियां हैं।

भ्रम, क्लान्ति, मूर्च्छा, पिपासा, तंद्रा, वमन, विबंध और निद्रा को दूर करना, शरीर को बल देना, उसे तृप्त करना, हृदय प्रफुल्लित रखना, शरीर के दोषों को दूर करना, छः प्रकार के रसों का कारण बनना तथा प्राणियों के लिए सर्वदा अमृत तुल्य सिद्ध होना आदि जल के साधारण कार्य हैं तथा शीतलता, सरलता, हल्कापन, स्वच्छता, व्यापकता, मेट्यता (Permeatability) अस्थिरता (Mobility) तथा निर्गुणता इसके प्राकृत गुण हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जल प्राण रक्षा के लिए प्रसिद्ध पंच तत्त्वों में चौथा तत्त्व है। यह जीवन के लिए उतना ही आवश्यक है जितना श्वास लेने के लिए वायु। हमारे शरीर के वजन के 100 भागों में 70 भाग केवल जल है, अर्थात् हमारी आंखों में 98. 7%, फेफड़ों में 79%, हृदय में 79.5%, रक्त में 80%, हड्डियों में 25% और मस्तिष्क में 90% जल होता है।

सांसारिक जीवन का तो आरम्भ ही जल से हुआ है जो वैज्ञानिक विकासवाद, पौराणिक अवतारवाद तथा औपनिषादिक सृष्टिवाद, तीनों से सिद्ध हैं अत: इसी जल से हमारा पालन-पोषण भी संभव है बिना जल के हम जी नहीं सकते। अत: जल ही विष्णु है, हमारा पालनहार और रक्षक है। वायुमंडल वास्तव में वाष्पमंडल है थोड़ी देर के लिए भी यदि जल का अंश वायु से खींच जाये, वायु जलशून्य हो जाए तो यह भूमंडल भी जीवशून्य हो जायेगा। जल में सभी कुछ घुल जाता है। नितांत विशुद्ध जल में कांच तक घुल जाता है और तेल भी। लगभग 2000 अंश पर तो जल प्राय: सभी धातुओं को इस तरह घुला देता है जैसे हल्का गंधक का तेजाब। यदि लोहा लाल करके जल में छोंक दिया जाये तो जल में औषधि का विशेष गुण आ जाता है। इस संबंध में महर्षि सायणचार्य का एक सूक्त याद आ गया, अर्थात् लोहे के कुठार को अग्नि में गरम करके पानी में बुझावें और उससे शीत ज्वर के रोगी का सिंचन करें। यथा—

यदग्निरापो अदहत् प्रविश्ययत्रक्रादन धर्मधृतो नमांसि।
तत्र त आहु:परमं जनित्रे समसविद्वान्परिवृड्यिध तवमन्।।

—(1/5/25/1)

अर्थात् जो अग्नि जल में प्रवेश करके उसे जलाता है। धर्मात्मा जिसमें हवन करता हुआ नमस्कार करता है। हे ज्वर उस अग्नि को तेरा उत्पन्न करने वाला कहते हैं। इसे जानकर तू हमारे शरीर से दूर हो जा।

जल में अग्नि को ग्रहण कर लेने की शक्ति है जिससे रोगोपचार में बड़ी मदद मिलती है। जल अधिक गरमी पाकर भाप बन सकता है और आकाश में विलीन हो सकता है तथा पुन: वर्षा के रूप में पृथ्वी पर गिरकर प्राणियों की जीवन रक्षा का कारण बन सकता है। जल शीतलता के अधिक होने पर पत्थर सा हिम बन जाता है। जल में आग बुझाने की विशेष शक्ति होती है, इसलिए जल का प्रयोग ज्वर में सफल होता है। मिट्टी भी आग को बुझा देती है यही कारण है जो जल और मिट्टी का संयुक्त प्रयोग, गीली मिट्टी की पट्टी के रूप में शरीर की बढ़ी हुई गर्मी (ज्वर, फोड़ा आदि रोगों में) को शांत करने में जादू का काम करता है।

## 18.4.1 ठण्डे जल के बाह्य प्रयोग

प्रथम इसके कि ठंडे जल के बाह्य या आन्तरिक प्रयोगों पर कुछ प्रकाश डाला जाये, ठंडे जल का हमारे शरीर पर क्या प्रभाव होता है, यह जान लेना अति आवश्यक है।

किसी व्यक्ति के शरीर पर यदि एक बाल्टी ठंडा पानी उंडेल दिया जाये तो सर्वप्रथम उसको अपने भीतर एक तरह का धक्का सा लगता प्रतीत होगा, जिससे वह विचलित होता दिखाई देगा। यह स्थिति शरीर के रक्त को अन्दर की तरफ भेजने वाले रक्तकोषों में संकुचन के कारण उत्पन्न होती है। धक्का-सा लगता प्रतीत होने के साथ ही उस व्यक्ति को ठंडक मालूम होने लगेगी क्योंकि त्वचा पर जल के प्रयोग के कारण पहले ऊपरी भाग के ठंडा होते ही, तथा रक्त के भी भीतर दूर चले जाने की वजह से वहाँ की गर्मी घट जाती है। फलत: शारीरिक विद्युत की क्रिया मंद पड़ जाती है और ठंड लगने लगती है। मगर ये सब लक्षण क्षणिक, तात्कालिक एवं अस्थाई ही होते हैं क्योंकि इन लक्षणों के प्रकट होने के दूसरे ही क्षण इस क्रिया की प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। अर्थात् नीचे गया हुआ रक्त पुन: तेजी से या धीरे-धीरे त्वचा की सतह की ओर वापस होता है। ऊपरी ठंडी जगह को गरम करने के लिए, संकुचित शिराएं और कोष फैल जाते हैं, विद्युत स्फूर्ति बढ़ जाती है, नीले रक्तहीन चमड़े पर ललाई छा जाती है तथा पसीना बहने लगता है जिसके जरिये शरीर का विष उखड़कर बाहर निकलने लगता है। ठंडे जल प्रयोग के प्रतिक्रिया वाले ये लक्षण सुदृढ़, अधिक टिकाऊ और स्थायी होते हैं। शरीर पर ठंडे जल का प्रयोग प्रथम के कुछ क्षणों में ठंडक पैदा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

करने वाला, बुरा एवं असुविधाजनक प्रतीत होता है परन्तु बाद को वह सदा ही शरीर को गर्म करने वाला, सुखदाई एवं अत्यन्त लाभदायक होता है। डॉक्टर दिलकश ने अपनी पुस्तक 'प्राकृतिक चिकित्सा' में लिखा है कि रोग निवारण में जल चिकित्सा का व्यवहार ठंडे जल के स्थायी अथवा प्रतिक्रियात्मक प्रभाव के लिए ही किया जाता है। इस सम्बन्ध में यह बात याद रखने की है कि जल तथा शरीर के तापमान में जितना ही अधिक अन्तर होगा उतनी ही अधिक प्रतिक्रिया भी होगी जिसके परिणामस्वरूप प्रभाव स्थायी होगा।

**ठंडे पानी का शरीर पर अल्पकालीन प्रयोग—**

1. शारीरिक तापमान को बढ़ाता है।
2. त्वचा की कार्यशीलता में वृद्धि करता है।
3. रक्तचाप को बढ़ाता है।
4. शरीर की नाड़ियों को उत्तेजित करता है।
5. हृदय की क्रियाशीलता को तीव्र एवं दृढ़ करता है।
6. मांसपेशियों को संकुचित करता है।
7. त्वचा के पास के रक्त कोषों को अल्प समय के लिए संकुचित करता है।
8. पोषण शक्ति को बढ़ाता है।
9. श्वास क्रिया को मंद करता है।

**ठंडे पानी का शरीर पर दीर्घकालीन प्रयोग—**

1. शारीरिक तापमान को घटाता है।
2. त्वचा की कार्यशीलता में ह्रास उत्पन्न करता है।
3. रक्तचाप को घटाता है।
4. शरीर की नाड़ियों पर मृदु प्रभाव डालता है।
5. हृदय की गति को कमजोर करता है।
6. त्वचा के पास के रक्तकोषों को संकुचित करता है।
7. पोषण शक्ति को बहुत कम प्रभावित करता है।
8. श्वास क्रिया को मंद करता है।
9. मांसपेशियों को संकुचित करता है।

इस तरह हम देखते हैं कि ठंडे जल का असर जो शरीर की त्वचा पर होता है वह वहीं तक सीमित नहीं होता, अपितु उसका असर शरीर के अन्दर की मांसपेशियों, नाड़ियों एवं रक्तशिराओं पर भी पड़ता है। क्योंकि शरीर का ऊपरी भाग अपने नाड़ीमंडल एवं रक्तशिराओं के विचित्र सहयोग द्वारा शरीर के भीतरी भाग से जुड़ा होता है। यही कारण है जो ठंडे पानी के बाहर प्रयोग से पाचन-संस्थान आदि के रोग दूर हो जाते हैं और भूख बढ़ जाती है। यहां तक कि ठंडे पानी के साधारण दैनिक स्नान के बाद भूख तेजी से लगने का अनुभव सबको प्रतिदिन होता है।

अधिक ठंडे जल या बर्फ का शरीर की त्वचा पर प्रयोग बड़ा अनिष्टकारी होता है। अत: रोगी के शरीर पर बर्फ की थैली या बर्फ के पानी का प्रयोग खतरे से खाली नहीं होता। अत्यन्त ठंडक शरीर के लिए उतनी ही हानिकारक है जितनी विषैली औषधियां। अत्यन्त ठंडा जल या बर्फ का प्रयोग रोग के उभार को दबा देता है। उससे रोग बजाय अच्छा होने के और जीर्ण हो जाता है। बूढ़े, कमजोर, रोगी तथा छोटे बच्चों को तो भूले से भी कभी बहुत अधिक ठंडे जल से स्नान करना ही नहीं चाहिए। ऐसा करने से उनका जीवन खतरे में पड़ सकता है।

ठंडे जल का प्रयोग कब और कितनी देर तक करना चाहिए, यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। सिद्धान्त की बात तो यह है कि जब शरीर गर्म हो तभी स्नान करना उत्तम और लाभदायक है। जैसे यदि इतनी कसरत कर ली जाये कि शरीर गर्म हो जाये तो उसके तुरन्त बाद किये गये जल के प्रयोग लाभकारी सिद्ध होंगे। कारण, तब जल प्रयोग की प्रतिक्रिया शरीर के गर्म होने के कारण शीघ्रता से होगा। पर यदि शरीर थका हुआ हो तो उस पर जल प्रयोग की प्रतिक्रिया धीमी होती है। फलत: लाभ के बदले हानि होती है। इसीलिए बहुत थकान की हालत में ठंडे जल का कोई प्रयोग नहीं करना चाहिए। बहुत परिश्रम करने के बाद अगर थकावट मालूम दे तो पूरा विश्राम करके थकावट मिटा लेने के बाद ही स्नान करना ठीक है, पहले नहीं। और अगर किसी वजह से स्नान करना ही पड़े तो पहले गर्म जल से स्नान करके तब ठंडे जल से स्नान करें तो हानि न होकर लाभ ही होगा। थकावट की दशा में ही नहीं, अन्य दशाओं में भी यदि शरीर की त्वचा गर्म नहीं है और ठंडे जल का प्रयोग करना है तो उसके पहले गर्म जल का प्रयोग करना अत्यावश्यक है ताकि रक्त त्वचा के निकट आ जाये। जल चिकित्सा में शीघ्र और अच्छे लाभ के लिए ठंडे पानी का प्रयोग करने के पहले पैरों को भी इसीलिए गर्म कर लेते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ठंडे जल का प्रयोग कितनी देर तक करना चाहिए, यह तो उम्र, जीवनी शक्ति, रोग कितना पुराना है, मौसम कैसा है? आदि कितनी ही बातों पर विचार कर लेने के बाद ही निश्चय किया जा सकता है, पर साधारणत: ठंडे जल का प्रयोग उतनी ही देर तक करना चाहिए जितनी देर तक उससे आराम मालूम हो। बहुत अधिक देर तक ठंडे जल के प्रयोग से स्फूर्ति की प्राप्ति तो होती है, पर उसके बाद आलस्य, अवसाद एवं ग्लानि का अनुभव होने लगता है जो बुरा है। इसलिए सिद्धान्तत: ठंडे जल का प्रयोग बहुत अधिक देर तक नही करना चाहिए। जल चिकित्सा मे इसी कारण उदर या महन स्नान आधा घंटा से अधिक देर तक न दिये जाने का विधान है इसी सिद्धान्तानुसार निर्बल रोगियों, बूढ़ों एवं छोटे बच्चों, जिनकी प्रतिक्रियात्मक शक्ति क्षीण होती है, पर ठंडे जल का प्रयोग अधिक देर तक करना खतरे से खाली नहीं है।

## 18.5 पृथ्वी तत्त्व चिकित्सा

### 18.5.1 पृथ्वी (मिट्टी) की शक्ति एवं गुण

मिट्टी, जितनी सुलभ एवं नगण्य समझी जाती है, उसकी गुण गरिमा उतनी ही महान् है। नीचे मिट्टी के कुछ गुण दिये जाते हैं—

(1) सब प्रकार की दुर्गन्धि को मिटाने के लिए मिट्टी से बढ़कर संसार में और कोई वस्तु नहीं है। यही कारण है जो जनता मिट्टी से अपने घरों को लीपती है, उनके घरों में दुर्गंध नहीं आती। सड़ी चीजों पर मिट्टी डालने से ही उसकी दुर्गन्धि जाती है। अपवित्र हाथों को मिट्टी से ही धोकर हम उन्हें पवित्र करते हैं। गुदा भाग की अपवित्रता भी मिट्टी के योग से ही मिटाई जा सकती है। मुर्दे सड़कर दुर्गन्धि न फैलावें इसलिए उन्हे मिट्टी मे गाड़ देने की प्रथा है। लोग मैदान में पृथ्वी पर मल त्याग कर देते हैं पृथ्वी कुछ ही घंटों में उसका रंग-रूप बदल कर सुन्दर, साफ और गन्धहीन मिट्टी में उस मल को परिणित करके रख देती है।

(2) मिट्टी में सर्दी और गर्मी रोकने की शक्ति होती है यही कारण है कि योगी लोग अपने शरीर पर मिट्टी लगाये रहते हैं जिससे कड़ी से कड़ी धुप और कड़ाके की सर्दी दोनों से उनके नंगे बदन की रक्षा स्वत: होती रहे।

(3) जल को निर्मल कर देने की अद्‌भुत शक्ति मिट्टी में होती है। कूपों, सरिताओं और स्रोतों का जल इसी कारण सदैव निर्मल रहता है। वैसे भी गंदे पानी को साफ करने के लिए बालू या मिट्टी में से उसे छानते हैं।

(4) मिट्टी में विलक्षण (Dissolving) शक्ति होती है। बड़े-से-बड़े फोड़े पर मिट्टी की पट्टी चढ़ाने से अपनी विद्रावण शक्ति से ही वह उसे पका देती है और घाव को भर भी देती है।

(5) मिट्टी में विषादि को शोषण करने की विचित्र शक्ति होती है। सांप, बिच्छू आदि के काटने पर मिट्टी का युक्तिपूर्वक लेप आश्चर्यजनक रूप से काम करता है। कार्बकल जैसे भयंकर फोड़े का विष चूसकर मिट्टी उसे कुछ ही दिनों में ठीक कर देती है जो उसकी विष शोषण शक्ति का प्रभाव होता है।

(6) मिट्टी में जल तथा सब प्रकार की धातुएं अर्थात् खनिज पदार्थों को धारण करने की शक्ति है। समुद्र, नदियां, तड़ागादि पृथ्वी पर ही तो टिके हुए हैं।

(7) मिट्टी में ही सभी प्राणियों के जीवन-निर्वाह के लिए खाद्य-पदार्थों को उनमें भिन्न-भिन्न रसों की प्रधानता के साथ उत्पन्न करने की शक्ति होती है।

(8) मिट्टी जल के वेग को रोक सकती है। इसी से मिट्टी का बांध बांधकर बाढ़ का पानी रोका जाता है।

(9) मिट्टी अग्नि की उष्णता का शोषण करके उसे शांत कर सकती है इसी से आग लगने पर मिट्टी डालकर उसे बुझाते हैं।

(10) मिट्टी वायु के वेग को भी रोकने की क्षमता रखती है। यही कारण है जो मजबूत मकान आंधी में नहीं गिरते और सुरक्षित रहते हैं।

(11) मिट्टी जल के योग से तरह-तरह के आकार धारण कर सकती है। मिट्टी के मकान, खेल के सामान तथा बर्तन इसके उदाहरण हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

(12) मिट्टी, वायु के योग से आकाश मे उड़ सकती है। वातावरण मे असंख्य धूल के कण हरदम विद्यमान रहते ही हैं।

(13) जिस प्रकार सारी सृष्टि की रचना मिट्टी से हुई है उसी प्रकार अंत में सबको आत्मसात कर लेने की शक्ति भी पृथ्वी में निहित है, कहा भी है—

"Dust thou art to dust shalt return."

(14) मिट्टी में रोगों को दूर करने की अपूर्व शक्ति होती है क्योंकि मिट्टी में जगत् की सभी वस्तुओं का एक साथ रासायनिक सम्मिश्रण सर्वाधिक विद्यमान होता है जबकि किसी एक दवा या कई दवाओं के मिक्श्चर में उतना रासायनिक सम्मिश्रण कदापि संभव नहीं हो सकता।

## 18.5.2 मृत्तिका चिकित्सा

वैसे जल से भीगी कपड़े की पट्टी और गीली मिट्टी की पट्टी दोनों का प्रभाव रोग-निवृत्ति के लिए समान होता है, परन्तु अनुभव से जाना गया है कि चिकित्सालय में जब किसी समय गीली वस्त्र-पट्टी द्वारा पूरा-पूरा लाभ नहीं होता है, उस वक्त गीली मिट्टी की पट्टी अधिक उपकारी सिद्ध होती है। कारण, शरीर में रोगजनित बढ़ी हुई गर्मी और विष को खींचकर अपने में जज्ब कर लेने की असाधारण शक्ति और अद्‌भुत क्षमता मिट्टी में सर्वाधिक होती है। यही वजह है जो मिट्टी के विभिन्न प्रकार के प्रयोगों द्वारा शरीर के लगभग सभी रोगों को अच्छा करना संभव ही नहीं, अति सरल भी है।

मिट्टी एक ऐसी घरेलू दवाई है जो सर्वत्र सुलभ है या सुरक्षित रखकर सुलभ की जा सकती है। जिसके सड़ने, बिगड़ने या खराब होने का सवाल ही नहीं उठ सकता। रोग निवारणार्थ इसके प्रयोग में कोई खटराग भी नहीं होता। मिट्टी को पानी में छाना और रोग की जगह या पेड़ू पर ढंग से रख दिया बस। सिर्फ इतना ही करने से सदा ही और हर हालत में वह अच्छा और आश्चर्यजनक प्रभाव दिखावेगी। अर्थात् रोग को अच्छा कर देगी। मिट्टी के प्रयोग से तो हानि कभी होती ही नहीं, पर लाभ सौ प्रतिशत होता है, जबकि अन्य दवाओं से हानि और लाभ दोनों की संभावनाएं बराबर बनी रहती हैं।

शरीर की बहुत सी पीड़ाएं तो मिट्टी के प्रयोग के कुछ ही क्षणों बाद 'छूमंतर' हो जाती हैं जिसे देखकर आश्चर्य होता है। कठिन रोग भी धैर्य धारण कर मिट्टी के प्रयोग करने से निश्चय ही चले जाते हैं। रोगोपचार में संसार की सभी दामी दवाइयां बे पैसे की मिट्टी की बराबरी हरगिज नहीं कर सकती।

चाहे रोग शरीर के भीतर हो या बाहर या कहीं भी मिट्टी उसके विष और गर्मी को धीरे-धीरे चूसकर उसे जड़-मूल से नष्ट करके ही दम लेगी, यह मिट्टी की खासियत है।

रोगों में मिट्टी का सफल प्रयोग आज का आविष्कार नहीं है जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, अपितु भारत में यह प्रयोग अति प्राचीन काल से होता चला आ रहा है। कितने ही वैद्य और जर्राह आज भी बड़े-से-बड़े घाव को जिसे आधुनिक डाक्टर असाध्य बनाकर छोड़ देते हैं, गीली मिट्टी के प्रयोग से ही अच्छा कर देते हैं।

## 18.5.3 रोगों में मिट्टी के प्रयोग

रोग होने पर आवश्यकतानुसार मिट्टी के निम्नलिखित छः प्रयोग उपचार रूप से किये जाते हैं—

(1) मिट्टी की गरम पट्टी। (2) मिट्टी की ठंडी पट्टी। (3) गरम मिट्टी की पट्टी।
(4) रज-स्नान। (5) पंक-स्नान। (6) बालू भक्षण।

### 18.5.3.1 मिट्टी की गरम पट्टी और उसकी प्रयोग विधि

मिट्टी की पट्टियां बनाने के लिए जिस प्रदेश में और जहाँ जैसी मिट्टी मिले वैसी ही काम में लायी जा सकती है, पर शर्त यह है कि वह शुद्ध, साफ और कंकड़-पत्थर से हीन हो। बलुई मिट्टी इस काम के लिए अच्छी समझी जाती है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और नदी के कछार की ताजी गीली मिट्टी बहुत ही अच्छी। पट्टी के लिए आधी चिकनी मिट्टी का सफूफ (चूर्ण) और आधा महीन समुद्री बालू का मिश्रण सर्वोत्तम समझा जाता है। कच्ची ईंट को पानी में घुलाकर उसकी गीली मिट्टी से भी पट्टियां बनायी जा सकती है। खेत की मिट्टी लेनी हो तो एक फुट नीचे की मिट्टी लें और ध्यान रखें कि उसमें खाद आदि सड़ी-गली चीजें बिल्कुल न मिली हों। घावों पर पट्टी देने के लिए विशेष रूप से और अन्य स्थानों के लिए सामान्य रूप से चूल्हे की जली मिट्टी सर्वोत्कृष्ट होती है। कारण, अग्नि के प्रभाव से उसमें जो कुछ दोष होते हैं, वे नष्ट हुए रहते हैं और वह सम्यक् रूप से विशुद्ध होती है। यदि उपचार के लिए मिट्टी को कहीं से लाकर जमा करके कुछ दिनों के लिए रख छोड़ना हो तो धूप में खूब सुखाकर तब काम में लाना चाहिए, वरन् एक बार की लाई हुई मिट्टी सात दिनों से अधिक पुरानी बिना धूप में सुखाये अच्छा प्रभाव नहीं कर सकती। कुछ प्राकृतिक चिकित्सक पीली और लाल रंग की मिट्टी को अन्य किस्मों और रंगों की मिट्टी पर तरजीह देते हैं।

शुद्ध सूखी मिट्टी को कूट-पीस कर कपड़े या चलनी से छान लें। फिर किसी लकड़ी के टुकड़े या छोटे चम्मच से चलाते हुए उसे ठंडा पानी डाल-डाल कर गीली करें (गीली मिट्टी में हाथ लगाना या मिट्टी में बर्फ का पानी डालकर उसे गीली करना ठीक नहीं) गीली मिट्टी न बहुत कड़ी हो और न बहुत पतली ही बल्कि रोटी के लिए गूंथे आटे से थोड़ी ढीली हो। अब गीली मिट्टी को चम्मच से ही एक मोटे कपड़े या बारीक टाट के टुकड़े (मिट्टी की पट्टी लगाने की जगह की नाप से थोड़ा बड़ा) पर दो अंगुल या आधा इंच की मोटाई में फैलावें। (इससे मोटी मिट्टी की तह से भी कोई हानि न होगी) तत्पश्चात् उसको मिट्टी की ओर से मय कपड़े के जिस पर मिट्टी फैलाई गयी है कोई ऊनी कपड़ा रखकर किसी अन्य कपड़े से सबको इस प्रकार बांध देना, अटका देना, सी देना या सेफ्टीपिन से टांक देना चाहिए कि मिट्टी की पट्टी अपने स्थान पर टिकी रहे और खिसके नहीं। पेडू पर मिट्टी की पट्टी देने के बाद उस पर फलालैन या ऊनी कपड़ा रखकर उन सबको किसी अंगोछे या अन्य लम्बे बड़े कपड़े के टुकड़े से कमर के चारों तरफ से बांध देना चाहिए। उसके बाद रोगी को आराम से लेटने देना चाहिए। 10 से 30 मिनट या इससे भी अधिक देर तक और कभी-कभी रात भर भी जैसी आवश्यकता हो यह पट्टी लगाई जा सकती है। समय हो जाने पर या उस स्थान की त्वचा में खुजली मालूम होने पर पट्टी को अलग कर उस जगह को भीगे कपड़े से पोंछ देना चाहिए और उसके बाद उस स्थान को दो-तीन मिनट तक सूखी मालिश कर देनी चाहिए। ताकि उसमें थोड़ी गर्माहट आ जाए। इसी को रोगों में मिट्टी की गरम पट्टी देना कहते हैं। कारण, मिट्टी की पट्टी को फलालैन या ऊनी कपड़े से ढक देने से वह शरीर की भीतरी गर्मी से गर्म हो जाती है और उसके जल का अंश भाप बनकर कपड़े के सूराखों द्वारा धीरे-धीरे उड़ जाता है। इस पट्टी का असर सर्द नहीं अपितु गर्म होता है। इससे शरीर के भीतर अंगों की गीली सेंक होती है।

अन्य जगहों पर तो नहीं परन्तु पेड़ पर भोजन करने के दो घंटे बाद ही इस पट्टी को बांधना चाहिए और प्रयोग के एक-दो घंटे बाद खाना चाहिए। कभी-कभी ऐसा होता है कि मिट्टी की पट्टी लगाने के बाद उस स्थान पर सूजन आ जाती है और खुजली आदि रोग कुछ बढ़े हुए प्रतीत होते हैं, जिनका कारण है कि मिट्टी शरीर की भीतरी खराबियों को बाहर सतह पर खींच लाती है। जिससे सूजन या खुजली पैदा होती है। अत: इन उपद्रवों से घबराना नहीं चाहिए ओर प्रयोग जारी रखना चाहिए। विशेष कष्ट होने पर उस स्थान पर थोड़ा भाप स्नान देकर तब मिट्टी का प्रयोग करना चाहिए।

जो मिट्टी एक बार प्रयोग में आ चुकी हो उसे दोबारा काम में भूल से भी नहीं लाना चाहिए, क्योंकि उसमें रोग के जहरीले पदार्थ व्याप्त हो जाते हैं। यदि पट्टी वाले कपड़े पर पीव आदि न लगा हो तो उसे साफ करके और सूखाकर फिर-फिर काम में लाया जा सकता है।

यह पट्टी सभी प्रकार के खतरनाक और बेखतरनाक तथा पुराने और नए रोगों में बड़ी ही उपयोगी सिद्ध होती है। विशेषकर पुराने कोष्ठबद्धता, अपच, दस्त तथा अन्य पेट के रोगों में और ज्वरादि में भी यह पट्टी जादू का असर दिखाती है। रोग के कारण शरीर की बढ़ी हुई अनावश्यक उष्णता को दूर करने के लिए मिट्टी की यह पट्टी जल-स्नानों की अपेक्षा अधिक उपकारी सिद्ध होती है। कारण, मिट्टी की गीली पट्टी में उष्णता के दो-दो शत्रु—मिट्टी और पानी मौजूद होते हैं, जबकि जल स्नानों में केवल जल की ही शक्ति काम करती है। मिट्टी की यह पट्टी रोग की जलन और दर्द दोनों को एक साथ शीघ्र दूर करने में अपनी मिसाल नहीं रखती।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पुरानी बीमारियों में कई दिनों तक दिन में दो बार इस पट्टी को देना चाहिए। ऐसी बीमारियों में पट्टी के बाद उदर स्नान लेना अच्छा है, पर यदि एनिमा और उदर स्नान, पट्टी के बाद दोनों लेना हो तो एनिमा के करीब आधे घंटे बाद उदर-स्नान लेना उचित है।

अधिकतर रोग पेट की खराबी से ही होते हैं, इसलिए तकलीफ के स्थान पर मिट्टी की पट्टी देने के साथ-साथ दिन में दो बार यदि आधे-आधे घंटे के लिए पेडू पर भी पट्टी लगाई जाए तो पेट साफ होकर रोग जल्दी दूर हो जाएँगे। बहुत से रोग तो केवल पेडू पर मिट्टी की पट्टी देने से ही मिट जाते हैं। रोगावस्था में मिट्टी की पट्टियों के प्रयोग के साथ-साथ यदि उपवास का भी सहारा लिया जाए, या फल-रस, फल अथवा फल और दूध पर रहा जाए तो क्या कहना? यदि उपवास का सहारा लिया जाए तो उपवास-काल में एनिमा लेना नहीं भूलना चाहिए।

जब किसी रोग का ठीक-ठीक पता न चलता हो अथवा रोगी की हालत ऐसी हो कि वह अपनी तकलीफों को बता न सकता हो तो आंख मूंदकर सुबह-शाम उसके पेडू पर आधे-आधे घंटे के लिए मिट्टी की गर्म पट्टी बांधिए और आवश्यकता पड़ने पर तीसरी बार भी। साथ में हर पट्टी के बाद या एक ही पट्टी के बाद एनिमा दीजिए, रोग निश्चय ही काबू में आ जाएगा और आश्चर्य नहीं कि इसी चिकित्सा से रोगी का रोग जड़-मूल से ही चला जाए। उसकी वजह यह है कि शरीर पर मिट्टी के प्रयोग का प्रभाव ही ऐसा पड़ता है मिट्टी की पट्टियों से रोग उखड़ जाता है और उखड़कर एकदम चला जाता है, क्योंकि मिट्टी की पट्टी जब किसी रोगग्रस्त स्थान पर लगाई जाती है तो सर्वप्रथम वह उस रोग के कारण स्वरूप शरीर स्थित संचित मल को उखाड़ती है, फिर उसे घुलाती है, तत्पश्चात् बाहर की तरफ खींचकर निकाल फेंकती है। साथ ही उस आक्रान्त स्थान की सूजन, जलन और दर्द को भी मिटाती है और सबसे अन्त में शरीर के भीतर आवश्यक ठंडक और शांति पहुंचाकर रोग का नामोनिशान तक मिटा देती है।

शरीर के किसी भी अंग के रोगी होने पर उस स्थान पर मिट्टी की पट्टी लाभ के साथ लगाई जा सकती है। जैसे गले की खराबी में गले पर, छाती के रोगों में छाती पर, स्नायुविक रोगों में रीढ़ की हड्डी पर, जोड़ों के दर्द में जोड़ों पर, आंख के रोगों में आंख के चारों किनारों पर, जननेन्द्रिय रोगों में जननेन्द्रिय पर तथा सारे शरीर में विष व्याप्त हो जाने पर सारे शरीर पर मिट्टी का लेप चढ़ाया जाना चाहिए।

---

**बोध प्रश्न 2:**

---

*1. अग्नि तत्त्व का सबसे बड़ा स्रोत क्या है?*

*2. सप्त किरण चिकित्सा क्या है?*

*3. ठण्डे जल का प्रयोग बताएं।*

*4. मिट्टी की उपयोगिता लिखें।*

## 18.5.3.2 मिट्टी की ठंडी पट्टी

जब मिट्टी की पट्टी को रोगाक्रान्त स्थान पर रखने के बाद उसको गर्म करने के हेतु उसके ऊपर फलालैन या ऊनी कपड़ा फैलाकर नहीं बांधते बल्कि उसे खुला ही रखते हैं तो उसे मिट्टी की ठंडी पट्टी कहते हैं क्योंकि तब वह ठंडी पट्टी का काम करती है। बिच्छू, भिड़ तथा सांप आदि के काटने पर इसी पट्टी का प्रयोग किया जाता है।

## 18.5.3.3 गरम मिट्टी की पट्टी

जब मिट्टी को गीली करने के बाद उसे आग पर गर्म कर गर्म-गर्म घावों पर चढ़ाते हैं तो वह गरम मिट्टी की पट्टी कहलाती है। बेंत जैसी वस्तुओं के घावों तथा मोचादि में इसी पट्टी का व्यवहार होता है। स्त्रियों के गर्भाशय संबंधी अनेक रोगों में पेडू पर गरम मिट्टी की पट्टी से बड़ा लाभ होता है। परन्तु गर्भ गिरने की आशंका के समय गर्म पट्टी का इस्तेमाल कभी भी नहीं करना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मिट्टी की गर्म पट्टी की भांति इस गरम मिट्टी की पट्टी को लगाने के बाद ऊपर से फलालैन या ऊनी कपड़ा बांधना जरूरी है।

### 18.5.3.4 रज स्नान

इसके बारे में ऊपर 'पृथ्वी तत्त्व' प्रकरण में विस्तार से लिखा जा चुका है। इस स्नान से त्वचा के रोगों में बड़ा लाभ होता है।

### 18.5.3.5 पंक स्नान

जैसा कि 'पृथ्वीतत्त्व' प्रकरण में लिखा जा चुका है कि शुद्ध, साफ और कंकड़-पत्थर विहीन पिसी मिट्टी और ठंडे जल को एक रस करने पर जो ढीली-ढीली कीचड़ तैयार होती है, उसी को आवश्यकतानुसार सारे शरीर में या उसके किसी भाग विशेष पर लेप या मालिश करना पंक-स्नान कहलाता है। इसे अंग्रेजी में प्रसिद्ध Mud Bath कहा जाता है। जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा डाक्टर ए. जुस्ट तथा डाक्टर फेल्के ने की है। किसी दरिया या अन्य जलाशय के किनारे की साफ कीचड़ जो पानी घट जाने पर दृष्टिगोचर होती है, पंक-स्नान के लिए अधिक उपयोगी होती है। ऐसी कीचड़ में यदि बालू भी मिली हो तो और भी अच्छा रहता है। बालूदार चिकनी मिट्टी या दो फसल मिट्टी का पंक भी इस स्नान के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है। पंक में रोग की गर्मी को शांत करके उसे मिटाने की अद्‌भुत शक्ति होती है। क्योंकि मिट्टी में स्थित रेडियमतत्त्व जब जल से मिलता है तो उसकी रोगनाशक शक्ति बढ़ जाती है।

पंक-स्नान के लिए पंक का सारे शरीर पर लेप करके धूप में बैठ जाना चाहिए। जब एक लेप सूख जावे तो दूसरा लेप चढ़ा लेना चाहिए। ऐसा 15 से 60 मिनट तक करते रहना चाहिए। तत्पश्चात् मिट्टी का शरीर पर सूख जाने पर ठंडे पानी से मल-मल कर स्नान कर लेना चाहिए। खाज, खुजली, कोढ़, दाग, सभी चर्म रोगों तथा खून की खराबी के रोगों में इस स्नान से बड़ा लाभ होता है।

पंक-स्नान लेने का एक दूसरा भी तरीका है। आदम कद बराबर या केवल छाती तक एक गहरा गड्‌ढा खोदा जाता है और उसको कीचड़ से भर दिया जाता है। तत्पश्चात् रोगी को नंगा करके उसमें धंसाकर खड़ा कर दिया जाता है। मजबूत रोगियों को आधा से एक घंटा तक तथा कमजोर रोगियों को 5 से 15 मिनट तक रोज उस गड्‌ढे में रखा जाता है। एक मास तक ऐसा स्नान कर लेने से गठिया, चर्मरोग, कमर दर्द, सिरदर्द, पेटदर्द, सूजन, कब्ज तथा नस-नाड़ियों के दर्द निश्चय ही दूर हो जाते हैं। विषैले सर्प का विष इसी प्रकार के अंग स्नान द्वारा दूर किया जाता है।

## 18.6 अभ्यासार्थ नमूने प्रश्न

1. जल चिकित्सा के विभिन्न अवयवों का वर्णन कीजिए।
2. पृथ्वी चिकित्सा के लाभ बताइये।
3. आकाश तत्त्व चिकित्सा में किन-किन तत्त्वों की सहायता से उपचार करते हैं?
4. अग्नि चिकित्सा की प्रमुख विधियां लिखिए।
5. भाप स्नान किस-किस रूप में किया जा सकता है।

## 18.7 संदर्भ ग्रंथ

(**विशेष आभार**—इस पाठ के लेखन में ''प्राकृतिक आयुर्विज्ञान''—डॉ. राकेश जिन्दल, पुस्तक को ही आधार बनाया गया है। प्राकृतिक चिकित्सा विषय पर पुस्तक के विद्वान् लेखक एवं प्रकाशकों का हार्दिक आभार)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

# इकाई 19 : संयमित जीवनशैली एवं प्राकृतिक शक्तियों से अनुरूपता

**संरचना**


19.0 प्रस्तावना

19.1 उद्देश्य

19.2 संयमित जीवनशैली

19.2.1 आहार में संयम और संतुलन

19.2.2 शारीरिक परिवर्तन और नशा

19.2.3 धूम्रपान और शराब से छुटकारा आवश्यक

19.3 प्राकृतिक शक्तियों से अनुरूपता

19.3.1 आवेग के दो प्रकार

19.3.1.1 अदमनीय आवेग

19.3.1.2 दमनीय आवेग

19.3.2 आयु के साथ शारीरिक परिवर्तनों से तालमेल

19.4 अभ्यासार्थ प्रश्न

19.5 संदर्भ ग्रंथ


## 19.0 प्रस्तावना

जीवनशैली के महत्त्वपूर्ण तीन भाग होते हैं—

**1. आहार**—भोजन जो हम ग्रहण करते हैं जिससे हमें सभी प्रकार की शारीरिक क्रियाओं के लिए शक्ति मिलती है।

**2. विहार**—हमारा पर्यावरण जिसके सम्पर्क में हम अनवरत रहते हैं। उसके साथ हमारा व्यवहार कैसा होता है? यह जीवनशैली का दूसरा विचारणीय बिन्दु है।

**3. व्यवहार**—हम अपने स्वयं के साथ (अर्थात् अपने शरीर और अपने मन के साथ) और दूसरे अन्य प्राणियों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करते हैं, यह जीवनशैली का तीसरा महत्त्वपूर्ण बिन्दु है।

सामान्य रूप से जब हम जीवनशैली की बात करते हैं तो उसका अर्थ होता है कि हम क्या खाते हैं? कब खाते हैं? किस प्रकार खाते हैं? क्या, कितना और किस प्रकार बोलते हैं? कब सोते हैं तथा कब जागते हैं? अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्वों का निर्वहन किस प्रकार करते हैं? अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के बीच किस प्रकार एवं कितना संतुलन रख पाते हैं? आदि-आदि। स्वस्थ वैयक्तिक जीवन के लिए तथा स्वस्थ समाज संरचना के दृष्टिकोण से उपरोक्त सभी विषयों पर हमारा दृष्टिकोण तथा आचरण सम्यक् होना चाहिए। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार असंयमित और गैर अनुशासित जीवनशैली अनेकानेक स्वास्थ्य सम्बंधी एवं सामाजिक कठिनाइयों का कारण है। तथाकथित आधुनिकता की नकल करते-करते हम अपनी सांस्कृतिक विरासत को भुला बैठे हैं जिसके परिणाम स्वरूप नित नये शारीरिक तथा मानसिक रोग एवं सामाजिक विकृतियां सामने आती हैं। आयुर्वेद के सिद्धान्तों में भी यह बात स्पष्ट की गई है कि यदि हम जीवनशैली को संयमित कर सकें तथा उन प्राकृतिक शक्तियों के साथ सामंजस्य बिठा सकें जिनके संयोग से हमारा सृजन हुआ है तो तमाम कठिनाइयों से मुक्ति पाने का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 19.1 उद्देश्य

1. जीवनशैली की विवेचना करना।
2. प्राकृतिक शक्तियों का सामान्य ज्ञान प्राप्त करना।
3. जीवनशैली एवं परिवर्तनशील प्रकृति की विभिन्न परिस्थितियों में संतुलन स्थापित करने की दक्षता प्राप्त करना

## 19.2 संयमित जीवनशैली

### 19.2.1 आहार में संयम और संतुलन

आहार का विषय बहुत विस्तृत है। कोई भी वस्तु किसी भी रूप में ली जाए, जैसे खाना, पीना, चाटना, निगलना आदि आहार कहलाता है। शरीर के अंदर किसी भी रूप में, किसी भी तरह से जो वस्तु या द्रव्य पहुंचते हैं वे सब हम पर प्रभाव डालते हैं। आयुर्वेदिक दृष्टि से वे त्रिदोषों को बदलते हैं।

50 वर्ष पहले लोग जिन बीमारियों से पीड़ित हो जाते थे, अब वे कम देखने में आती है, पहले से स्थिति में बड़ा परिवर्तन आया है। उस समय बहिर्जात रोग अधिक हुआ करते थे जिसका कारण था स्वास्थ्य-विज्ञान की कम जानकारी। परन्तु वर्तमान समय में मानसिक और अन्तर्जात रोग इस समय प्राय: संसार के निर्धन समुदायों में पाये जाते हैं। गंदी बस्तियों में रहने वाले मजदूर वर्ग के लोगों को प्राय: हैजा, दस्त, मलेरिया, टाइफाइड आदि रोग होते हैं। इनमें से कोई भी कमर-दर्द, गर्दन-दर्द, पेट में व्रण, अल्सर, आंत्रशोथ, मधुमेह, अनिद्रा, अवसाद आदि रोगों से पीड़ित नहीं पाया जाता। कुछ लोग गरीबी के कारण कुपोषण से पीड़ित अवश्य पाये जाते हैं। ऐसे परिवार जहाँ बच्चों की संख्या अधिक है तथा कमाने वाले कम हैं, संतुलित आहार नहीं ले पाते। अत: उनके बच्चे विटामिन, खनिज तथा प्रोटीन की कमी के कारण उत्पन्न रोगों से पीड़ित हो जाते हैं। भारत में अमीर वर्ग के रोग पश्चिमी देशों के सम्पन्न लोगों से भिन्न नहीं हैं। निर्धन व्यक्ति का कुपोषण, विश्व के किसी भी कोने में रहने वाले अमीर व्यक्ति के कुपोषण से बिलकुल अलग तरह का है। अमीरों की बीमारियां प्राय: महंगे और असमय भोजन, अधिक शराब पीने, तम्बाकू अथवा अन्य नशीले पदार्थों के सेवन से उत्पन्न होती हैं। पश्चिमी देशों के सम्पन्न वर्ग के खानपान में बड़ा परिवर्तन आया है। भोजन-तकनीक का विकास और उद्योगीकरण भी इस परिवर्तन के लिए जिम्मेदार है। आधुनिक सभ्यता वातमूलक है। हाल में स्थापित हुए जल्दी-जल्दी खाने, बना-बनाया खाना, डिब्बाबंद भोजन का चलन तथा भोजन बनाने संबंधी कुछ विधियां प्राकृतिक जीवन-पद्धति में स्वीकार्य नहीं हैं। उनमें तुरन्त बदलाव की आवश्यकता है।

आयुर्वेद में संतुलित आहार का यह अर्थ नहीं है कि आप बेस्वाद भोजन करें। आयुर्वेद समय, स्थान और अपनी प्रकृति के अनुरूप भोजन की मात्रा और गुणों के बीच संतुलन पर जोर देता है। याद रखिए, यदि भोजन बहुत स्वादिष्ट हो तो खाते ही मत चले जाइए। स्वाद-स्वाद में अधिक खा जाने से अंतत: आपके पेट में दर्द हो जायेगा। अच्छे भोजन को देखकर यदि अधिक खाने की इच्छा उत्पन्न हो तो अपने-आपको इस प्रकार समझाइए—"मैं अच्छे भोजन के आनंद को आनंद के रूप में ही बनाये रखना चाहता हूं। मैं नहीं चाहता कि इसे अत्यधिक खा जाने का सुख लेकर मुझे मोटापा, पेट-दर्द, यकृत रोग हो, अत: मुझे उतना ही खाना चाहिए जितना आवश्यक हो तथा जितनी मेरे शरीर की आवश्यकता हो।"

कुछ लोग अपने भोजन से मिलने वाली ऊर्जा को नाप-तोल करते हैं और कैलोरी गिनते हैं। आप कोई मशीन नहीं हैं कि आपको तेल, पानी, पैट्रोल आदि की एक निश्चित मात्रा अवश्य चाहिए। आपको उतना ही भोजन लेना चाहिए जितना 'आंतरिक' तथा 'बाह्य' पर्यावरण के अनुरूप आवश्यक हो। मनुष्य में स्वाद, गंध आदि की इच्छाएं, भावनाएं और अहसास होते हैं तथा भोजन करने की विधि सामाजिक कार्य और आनंद से संबंधित है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जब आप अपनी पूरी ऊर्जा नाप-तोल और गणना में ही खर्च कर देते हैं तो फिर भोजन का आनंद क्या रह जाता है। इसके स्थान पर आपको ऐसी आदत डालनी चाहिए कि आप अपनी आवश्यकता के अनुसार भोजन की उचित मात्रा लें। जब भी आपको लगे कि आपकी संतुष्टि हो गई है, खाना बंद कर दीजिए। भूख को भोजन करने का मानदण्ड नहीं बनाया जा सकता। भूख कभी-कभी अधिक खा लेने के बावजूद बढ़ जाती है और बहुत कम खाने से घट जाती है। कुछ बच्चों को बहुत कम खाने का रोग हो जाता है और परिणामत: उनकी भूख ही मर जाती है।

आरंभ में वे कई कारणों से कम खाते हैं, जैसे साधारण-सा कोई रोग, भावनात्मक कारण अथवा भोजन की एकरसता। धीरे-धीरे उनकी शारीरिक अग्नि कम होती जाती है। बचपन में कफ की प्रधानता के कारण शरीर की अग्नि आसानी से दब जाती है। फिर उन्हें भूख की कमी की शिकायत रहने लगती है। इस प्रकार कम खाना भी उतना ही खतरनाक है जितना अधिक खाना। कुछ लोग वजन घटाने के उद्देश्य से एकदम खाना कम कर देते हैं। इससे अग्नि विकृत हो जाती है। यदि कभी खुराक को घटाना अथवा बढ़ाना हो तो धीरे-धीरे ही ऐसा करिए। अधिक खाने की आदत तथा मोटापा दोनों पर नजर रखिए अन्यथा जटिलताएं बढ़ जायेंगी और फिर उनसे निकलना कठिन हो जायेगा। इन स्थितियों का आरंभ तब हो जाता है जब लगभग दस दिन तक लोग दावतों में खूब जमकर खाते रहें। इससे उनकी भूख बढ़ जाती है और इस अवधि में उनका वजन भी बढ़ जाता है। यदि वे अपनी बढ़ी हुई भूख को संतुष्ट करने में लग जाते हैं तो वे आवश्यकता से अधिक खाते रहते हैं। इस पूरी व्याख्या का अर्थ यह है कि हमें अपनी शारीरिक अग्नि पर नियंत्रण रखना चाहिए और ऐसी स्थितियां नहीं आने देनी चाहिए कि यह अग्नि असंतुलित हो जाए और आप बहुत अधिक अथवा बहुत कम खाने लग जाएं।

दूसरा भोजन तब तक नहीं करना चाहिए जब तक पहले खाया हुआ पच न जाए। यदि आप पाचन क्रिया के दौरान एक बार और खा लेते हैं तो पहले लिया हुआ खाद्य पदार्थ बाद में लिए गये पदार्थ से मिल जायेगा और सभी दोष असंतुलित हो जाएंगे। अत: भोजन की गुणवत्ता के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि दो बार खाने के बीच समुचित अन्तराल रखा जाए। आयुर्वेदिक साहित्य में बताया गया है कि खाने के संदर्भ में हमें इस सत्य को ध्यान में रखकर चलना चाहिए कि पेट के तीन भाग होते हैं। पहला भाग ठोस के लिए है, दूसरा द्रव के लिए तथा तीसरा वहाँ त्रिदोषों के लिए। खाते समय यह ध्यान रखा जाए कि पेट का दो-तिहाई भाग भर जाए और शेष त्रिदोषों के लिए बचा रहे। चरक ने कहा है कि "भोजन की अनुपयुक्त मात्रा दो प्रकार की होती है—कम और अधिक। कम मात्रा में लिए गये भोजन के कारण शक्ति, रंग-रूप तथा विकास में कमी आ जाती है और वात ऊपर की ओर बढ़ने लगता है, यह स्थिति आयु, सहवास-शक्ति, रोग-प्रतिरोधक क्षमता को हानि पहुंचाती है तथा शरीर, मस्तिष्क, बुद्धि तथा इन्द्रियों का क्षरण करती है। अत्यधिक मात्रा में भोजन लिया जाए तो पेट में मौजूद वात, पित्त, कफ पर अत्यधिक दबाव पड़ता है और वे विकृत हो जाते हैं। वात विकृति से आंत का दर्द, पेट की सख्ती, शरीर में दर्द, मुंह की खुश्की, मूर्च्छा, चक्कर आना, पाचन में गड़बड़, पेट के पार्श्वों, कमर व कटिप्रदेश में कठोरता, कसाव तथा रक्त-केशिकाओं में ऐंठन आदि शिकायतें उत्पन्न हो जाती हैं। पित्त से ज्वर, सन्निपात, दस्त, अंदर की गर्मी, प्यास, अचेतना, चक्कर आना आदि रोग हो जाते हैं। कफ से मवन, अपच, ठंड के साथ ज्वर, क्लांति तथा शरीर में भारीपन की शिकायतें हो जाती हैं।

अनुपयुक्त मात्रा में भोजन लेने के बारे में कहा गया है कि भारी, रुक्ष, ठंडा, शुष्क, अप्रिय, पेट को फुलाने वाला, जलन पैदा करने वाला, गंदा, परस्पर विरोधी, गलत-समय पर लिया गया, मानसिक उत्तेजनाओं जैसे वासना, क्रोध, लालच, अनिश्चय, ईर्ष्या, दु:ख, संकोच, कल्पना, आवेश तथा भय आदि की दशा में लिया गया भोजन भी उपर्युक्त रोग पैदा करता है।

भोजन की सबसे पहली विशेषता त्रिदोष-संतुलन बनाने वाले खाद्य पदार्थों को एक साथ मिलाकर समुचित मात्रा में ग्रहण करना होता है। इसकी स्पष्ट जानकारी आयुर्वेद की सामान्य प्रामाणिक पुस्तकों से मिलती है। भोजन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

का दूसरा महत्त्वपूर्ण गुण यह है कि वह आपकी मूल आयुर्वेदिक प्रकृति के अनुकूल हो। जैसे, जिनकी पित्त प्रकृति हो, वे पित्तवर्धक भोजन को कम करें। परन्तु जब वे यह भोजन लें तो उसमें पित्त घटाने वाले यानी ठंडी प्रकृति के तत्त्व मिला लें जिससे पित्त का संतुलन बना रहे।

भोजन का तीसरा गुण यह है कि वह साधारण रोगों का त्रिदोष-संतुलन द्वारा आरंभिक अवस्था में ही उपचार कर दे। इस प्रकार का भोजन औषधि का काम भी करता है। जैसे यदि अत्यधिक गर्मी के समय आपका रक्तचाप अचानक गिर जाता है तो तुरन्त काफी मात्रा में ठंडा पानी लीजिए और उसमें कोई मीठा द्रव मिलाकर पी जाइए। इसी प्रकार अचानक अत्यधिक गर्मी लग जाने से यदि आपकी पिंडलियों में दर्द हो जाता है क्योंकि शरीर में से भारी मात्रा में नमक कम हो जाता है, तो नमक और नींबू मिलाकर ठंडा पानी पीजिए, यह शिकायत दूर हो जायेगी। इसी प्रकार पेट की अम्लता दूर करने के लिए हर रात सोने से पहले एक गिलास ठंडा दूध लीजिए।

अब हम देश और काल के अनुसार भोजन करने के विषय पर आते हैं। देश से यहां अभिप्राय स्थान-विशेष की जलवायु तथा भौगोलिक स्थितियों से है। रेगिस्तान अथवा समुद्र की तुलना में पहाड़ों पर रहने वालों को अलग प्रकार के भोजन की आवश्यकता होगी। इन स्थानों की त्रिदोषीय विशेषताएं एक-दूसरे से भिन्न होती हैं। जो लोग इन बातों का ध्यान रखकर नहीं चलते वे स्थान बदलने पर बीमार हो जाते हैं। जंगल का क्षेत्र वात-प्रधान होता है जबकि समुद्र के आस-पास का क्षेत्र कफ व पित्त-प्रधान होता है। रेगिस्तानी क्षेत्र वात-प्रिय-प्रधान होता है। पहाड़ी क्षेत्र वात-कफ तथा दलदली क्षेत्र कफ-प्रधान होता है। सावधानी से आप अपनी समस्या को समझ लिजिए, स्थान के संदर्भ में उन्हें परखिए और फिर अपनी खुराक में परिवर्तन लाकर उसकी चिकित्सा कीजिए।

जब लोग एक देश से दूसरे देश में जाते हैं तब जलवायु और खाने की आदतें दोनों ही बदलनी चाहिए। उन पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि आप एक ठंडे देश से गर्म देश में जायें तो भोजन की मात्रा घटा देनी चाहिए तथा गुणवत्ता बढ़ा देनी चाहिए। गर्म जलवायु वाले देशों में पित्त बढ़ाने वाला आहार नहीं लिया जाना चाहिए। तरल पदार्थ अधिक लेने चाहिए तथा ठंडा स्नान करना चाहिए। हल्का भोजन, पनीर कम तथा फल व सलाद, ठंडा दूध, दही तथा अधिक मात्रा में ठंडा पानी पीना चाहिए।

भोजन के अनेक पहलू हैं। पहला पहलू है आयु के अनुसार भोजन। प्रत्येक आयु में (बचपन, जवानी, बुढ़ापा) एक विशेष दोष प्रधान रहता है। अत: आपको अपने जीवन-काल के अनुरूप भोजन लेना चाहिए। दिन का समय, मौसम, ऋतुएं आदि अनेक कारक हैं जिन पर विचार किया जाना चाहिए।

## 19.2.2 शारीरिक परिवर्तन और नशा

तीन महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार करना आवश्यक है जो आर्थिक रूप से सम्पन्न लोगों में विभिन्न प्रकार से अंतत: रोगों के प्रमुख कारण बनते हैं। ये हैं— अत्यधिक भोजन, मदिरापान व तम्बाकू का सेवन। अत्यधिक मात्रा में भोजन अथवा पेय लेने से मोटापा हो जाता है। मोटापा आगे चलकर स्वास्थ्य के लिए अनेक समस्याएं खड़ी कर देता है। आयुर्वेद में मोटे व्यक्तियों में आठ दोष बताये हैं—"आयु कम हो जाना, मंद और अवरोधक गति, सहवास में परेशानी, कमजोरी, दुर्गंध आना, बहुत पसीना आना, अत्यधिक भूख तथा असाधारण प्यास।"

चरक ने यह भी कहा है कि मोटापा अधिक मात्रा में, भारी मीठे व ठंडे भोजन से, दिन में सोने, असंयमित मस्त रहने, शारीरिक व मानसिक कार्यों की कमी होने व आनुवंशिक दोषों के कारण होता है। मोटे व्यक्तियों में धातुओं के असंतुलन के कारण अत्यधिक चर्बी एकत्रित हो जाती है।

याद रखिए, यदि आपका वजन अत्यधिक बढ़ गया है तो यह वजन तो आपको ढोना ही पड़ेगा। पतले लोगों में वैसा ही हृदय, वैसा ही गुर्दा, वैसा ही यकृत तथा अन्य अंग भी वैसे ही होते हैं, जैसे कि मोटे व्यक्ति के शरीर में। अन्तर केवल यह होता है, मोटे व्यक्ति के अंगों को शरीर को पौष्टिक तत्त्व पहुंचाने तथा वजन को संभालने में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अधिक परिश्रम करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, यदि आपका वजन पहले 70 कि.ग्रा. था और धीरे-धीरे वजन बढ़ा और आप 85 कि.ग्रा. के हो गये। यह बिलकुल उसी तरह समझिए कि दूसरा व्यक्ति 15 किलो का सूटकेस लटकाये दिन-रात उसे ढोता रहता है। इतना भारी वजन सदैव अपने साथ लिए घूमना क्या किसी को अच्छा लगेगा? यह स्थिति अपने बढ़े हुए वजन के बराबर वजन का सूटकेस लटकाने से भी ज्यादा खराब है क्योंकि बढ़ा हुआ वजन आपका अपना ही एक हिस्सा है और आपको उसे पोषण भी देना होगा।

सही वजह वाले व्यक्ति की हड्डियां अच्छी तरह ढकी रहती हैं, त्वचा न कहीं लटकी होती है, न ढीली होती है और मांसपेशियां सुविकसित होती हैं। जांघों, उदर तथा नितम्बों पर अधिक मांस नहीं होना चाहिए। कुछ लोगों का कोई भाग विशेष मोटा होता है। इस मोटापे को दूर करने के लिए योग की क्रियाएं करनी चाहिए। भोजन पर नियंत्रण करना चाहिए। दिन में सोना नहीं चाहिए तथा चिकनाई-मुक्त वस्ति लेनी चाहिए। मोटापे से मुक्ति पाने के लिए इन्द्रियों पर कठोर नियंत्रण तथा अनुशासनबद्ध दिनचर्या अपनानी होगी। इसके लिए भारी साहस की आवश्यकता है। आप लालच के आगे झुकेंगे नहीं, सादा भोजन पर ही रहना होगा। अपने प्रयत्नों में आपको अत्यधिक सुदृढ़ होना होगा, तभी जाकर वजन कम होना सम्भव है। यदि आपने बीच में घुटने टेक दिए तो कम हुआ वजन फिर बढ़ जायेगा।

चरक ने कहा है कि मोटापा अधिक कफ व वात के कारण होता है। मोटापे से मुक्ति पाने के लिए ऐसे खाद्य व पेय पदार्थ लेने चाहिए जिनमें वात और कफ की मात्रा कम होती है। रुक्ष, गर्म और तीव्र वस्ति तथा लेप करने चाहिए। मोटे व्यक्ति को ठंडी प्रकृति का व वसायुक्त भोजन नहीं करना चाहिए। रात्रि-जागरण नहीं करना चाहिए और शारीरिक तथा मानसिक श्रम बढ़ा देना चाहिए।

मोटापे की समस्या के ठीक विपरीत, ऐसे अनेक लोग होते हैं जो पर्याप्त मात्रा में भोजन लेने के बावजूद अत्यधिक दुबले-पतले होते हैं। भोजन की अतिरिक्त मात्रा उनका वजन नहीं बढ़ा पाती। वजन बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि ये लोग अधिक चिंता न करें तथा व्यवसाय अथवा अन्य जिम्मेदारियों से परेशान न हों। ऐसे व्यक्तियों को मीठा, ठंडी प्रकृति का भोजन, घी, मालिश तथा पर्याप्त नींद लेनी चाहिए। ''नींद, विश्राम, आरामदायक बिस्तर, तनाव मुक्त मस्तिष्क, शांति, मानसिक चिंताओं से दूर रहना, शारीरिक व्यायाम, प्रसन्नता, नया अनाज, दही, घी, दूध, गन्ना, चावल, काला चना, गेहूं, गुड़ की बनी चीजें, सुगंधि और मालाएं, श्वेत वस्त्र, उचित समय पर विकृत त्रिदोषों का निदान तथा शक्तिवर्धक आदि पदार्थों का प्रयोग अत्यधिक पतलेपन को दूर करता है तथा इससे व्यक्ति का अच्छी तरह विकास होता है।''

आयुर्वेद और प्राकृतिक चिकित्सा में अपने जीवन को नीरस बनाने के लिए नहीं कहा गया, बल्कि जीवन के आनन्द को बढ़ाने के साधन बताये गये हैं। किंतु जीवन का आनंद लेने की धुन इतनी सीमाहीन नहीं होनी चाहिए कि व्यक्ति अपने-आपको ही नष्ट कर बैठे। सच्चा सुख किसी रूप में भी विनाशकारी नहीं होता। यदि आपको विश्वास है कि आप जिसे सुख कहते हैं वह विनाशकारी भी है तब तो सुख की अवधारणा पर ही पुनर्विचार करना पड़ेगा। यदि आप दिन-भर सिगरेट पीते रहते हैं या शराब की बोतलें खाली करते चले जाते हैं और कहते हैं कि बड़ा सुख मिल रहा है तो यह वास्तविक सुख नहीं है। सिगरेट पीने का सुख आपने शायद ही लिया हो, आपने तो मशीन की तरह सिगरेट सुलगाई और बार-बार कश लेते हुए पूरी सिगरेट को धुएं में बदल दिया। एक दिन में पचास सिगरेटों का स्वाद कोई कैसे ले सकता है? उसी प्रकार हर शाम गिलास में शराब डालना और पी जाना, फिर डालना और पी जाना, इसमें क्या सुख है? कुछ लोगों को उगता हुआ अथवा डूबता हुआ सूर्य देखने में आनंद आता है तो यदि उनके लिए पृथ्वी इतनी तेजी से घूमने लगे कि हर दस मिनट के बाद सूर्य निकले और छुपे तो क्या तब भी हम सूर्य पर इतना ही ध्यान देंगे? कल्पना कीजिए की कोई व्यक्ति सूर्यास्त देखने के लिए इतना अधीर है कि वह प्रतिदिन एक निश्चित स्थान तक जाता है। तो क्या आपको ऐसा नहीं लगेगा कि सूर्यास्त देखने की इस व्यक्ति की इच्छा यंत्रवत है? क्या यह आनंद है? यह सुख लेने की अपेक्षा इस आदत का गुलाम बन जाना है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मदिरापान से पेट में अल्सर, आंत्रशोथ जैसे रोग हो सकते हैं, इससे यकृत नष्ट होता है तथा अनेक प्रकार की स्वास्थ्य-समस्याएं पैदा हो सकती है। धीरे-धीरे यह स्मृति, विवेक शक्ति तथा बुद्धि को भी नष्ट कर देती है। अधिक धूम्रपान से उत्पन्न होने वाले रोगों की श्रृंखला बहुत बड़ी है। इससे श्वास-संस्थान की साधारण-सी बीमारी से लेकर दमा और फेफड़े का कैंसर भी हो सकता है। बंद स्थानों, प्रदूषित क्षेत्रों में धूम्रपान, खुली व ताजा हवा तथा स्वच्छ पर्यावरण में किए जाने वाले धूम्रपान से अधिक हानिकारक है। महानगरों में तो हम हर समय सांस के साथ पर्याप्त मात्रा में हानिकारक कण अंदर लेते रहते हैं। जिनसे अनेक प्रकार के रोग फैल सकते हैं। कहा जाता है कि मेक्सिको नगर में रहने का अर्थ है प्रतिदिन एक पैकेट सिगरेट पीना। नई दिल्ली की हालत इससे भी बदतर है। ऐसी स्थिति में यदि आप महानगर निवासी हैं और सिगरेट भी पीते हैं तो निश्चय ही जितने पैकेट आप खरीदकर पीते हैं उनमें एक और जोड़ लीजिए।

### 19.2.3 धूम्रपान और शराब से छुटकारा आवश्यक

यदि आप अत्यधिक धूम्रपान करते हैं तथा बहुत शराब पीते हैं (चाहे रोज या सप्ताह में एक बार) तो आप तम्बाकू व शराब दोनों की मात्रा कम कीजिए तथा गुणवत्ता एवं इनके घातक प्रभावों का विशेष ध्यान रखते हुए इनका इस्तेमाल कीजिए। सबसे पहले इन मशीनी आदतों से मुक्ति पाइए। कागज का एक टुकड़ा लीजिए। जब भी आप सिगरेट सुलगाएं या शराब का गिलास उठायें तभी कागज में चिह्न लगा लें। इस प्रकार निशान लगाते-लगाते शायद आपका हाथ रुक जायेगा, आप सोचेंगे और शायद और अधिक सिगरेट या शराब पीने से थोड़ा संकोच करेंगे। इससे एक यंत्रवत क्रम टूट जायेगा। हो सकता है, यहीं से आपकी चेतना जागृत हो जाए और आप जीवन को पहली प्राथमिकता देने की बात सोच लें, यही आपके जीवन के लिए सुरक्षा-कवच बन जायेगा।

आदतों के गुलाम कभी न बनें। आप स्वामी हैं, अपने-आपको निर्देश देने की क्षमता आपमें होनी चाहिए। मानसिक रूप से स्वस्थ हर व्यक्ति में अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण करने, आत्मनियंत्रण तथा आत्मसंयम का गुण होना ही चाहिए। याद रखिए, मस्तिष्क ही मस्तिष्क पर नियंत्रण करता है। मानसिक नियंत्रण के लिए प्राणायाम एवं अनुप्रेक्षा के प्रयोग अत्यधिक सहयोगी हैं। यदि आप अपने मस्तिष्क पर नियंत्रण रखना सीख लेते हैं और इस अभ्यास से उन बुरी आदतों से मुक्ति पा जाते हैं जो आपके स्वास्थ्य को तबाह कर रही हैं, तो आप इतने मजबूत हो जायेंगे कि जीवन की अन्य समस्याओं से बेहतर ढंग से निबट सकेंगे।

जीवनविज्ञान के विभिन्न प्रयोगों में नशामुक्ति के प्रयोग (जिनका अध्ययन आप इसी विषय में अन्यत्र कर चुके हैं।) शराब तथा धूम्रपान से मुक्ति के लिए अत्यंत कारगर होते हैं। इन्हें अपनाया जाना श्रेयस्कर है।

तम्बाकू और शराब दोनों शरीर में वात और पित्त को बढ़ाते हैं और अग्नि को दूषित करते हैं। इससे उच्च रक्तचाप का रोग हो सकता है। तम्बाकू से स्नायु-रोग हो जाता है। यह तंत्रिकातंत्र पर प्रभाव डालता है। इससे हाथों और पैरों की गति में ढीलापन आ जाता है तथा मूत्र में दुर्गंध आने लगती है। पित्त प्रकृति के व्यक्तियों पर यह कुप्रभाव अधिक होते हैं।

संक्षेप में, इस सबका तात्पर्य यह है कि हम जीवन संयम और नियम से व्यतीत करें तथा एक मध्य मार्ग पर चलें। कुपौष्टिक भोजन, धूम्रपान, मदिरापान आदि का अत्यधिक प्रयोग न करें। आदतों से मजबूर होकर और यंत्रवत हो यह सब करने से शरीर असंतुलित हो जाता है और कई रोग लग जाते हैं।

## 19.3 प्राकृतिक शक्तियों से अनुरूपता

प्रकृति में कुछ भी स्थिर नहीं है। हर वस्तु हर क्षण बदल रही है और यह परिवर्तन ही काल को प्रदर्शित करता है। एक स्थिति से दूसरी स्थिति में बदलने की श्रृंखलाओं का समुच्चय ही जीवन है। हमारे अंदर एक ही पुरुष या जीव है जो उस समय भी था जब हम गर्भ में थे, बाद में भी जब हम बच्चे, जवान या बूढ़े होते

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हैं—जीवन के अंतिम क्षणों तक यह 'जीव' हमारे अंदर निवास करता है। प्रेम, कमला, शुक्ला, शांता या रवि जीवनपर्यंत अपने 'स्व' बने रहते हैं। यह 'स्व' ही हम सबका जीवन-सार है। आयुर्वेद में इसे जीव कहते हैं, जो कभी बदलता नहीं है, न बूढ़ा होता है, न मरता है।

अपना बाह्य जगत, जो भौतिक पदार्थों का बना है तथा आंतरिक जगत् जो एक सूक्ष्म तत्त्व है, कभी भी बदलते नहीं हैं, दोनों में सामंजस्य स्थापित करना सीखना जीवन का अनिवार्य अंग है।

## 19.3.1 आवेग के दो प्रकार

प्राकृतिक आवेगों को दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है—दमनीय तथा अदमनीय।

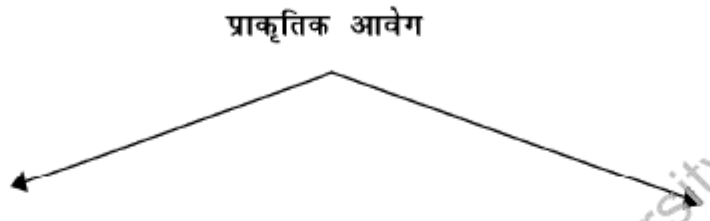


**अदमनीय आवेग**

मूत्र-त्याग, मल-त्याग, वीर्य स्खलन, पाद, वमन, छींक, डकार, जमहाई, भूख, प्यास, आंसू, नींद और श्रम के पश्चात् तेज सांस लेना।

**दमनीय आवेग**

बुरे विचार, भाषण और कार्य, लालच, दु:ख, भय, क्रोध, अभिमान, ईर्ष्या या स्पर्धा, अत्यधिक आसक्ति।

### 19.3.1.1 अदमनीय आवेग

यदि कोई व्यक्ति अदमनीय आवेगों को दबायेगा तो उसके स्वास्थ्य पर अनेक दुष्प्रभाव पड़ेंगे। कुछ लोग काम में व्यस्तता, लापरवाही अथवा आलस्य के कारण प्राकृतिक आवेगों को दबा देते हैं। कई घंटे चलने वाली बैठकों के बीच से प्राकृतिक आवेगों की निवृत्ति के लिए प्राय: लोग यह सोचकर नहीं उठते कि दूसरे क्या सोचेंगे। यदि ऐसे आवेगों को घंटों रोकना पड़ जाए तो उसके परिणाम बड़े घातक हो सकते हैं।

मूत्राशय तथा मूत्र-मार्ग में दर्द, मूत्र का अवरुद्ध होना, सिर-दर्द, कमर में जकड़न आदि रोग मूत्र-आवेग को बार-बार दबाने से पैदा हो जाते हैं। इन रोगों से मुक्ति पाने के लिए रोगी को गर्म पानी के टब में बैठना चाहिए और स्वेदीकरण तथा मालिश करनी चाहिए।

मल-त्याग की इच्छा को दबाने से आंत का दर्द, सिरदर्द, उदर-वायु में रुकावट तथा मल में रुकावट, पिंडलियों में ऐंठन तथा सूजन आदि शिकायतें हो जाती हैं। इनको दूर करने के लिए वस्ति लेनी चाहिए। तेल की बत्ती चढ़ाना, मालिश, स्वेदीकरण तथा पेट साफ करने वाली औषधियां भी उपचार के लिए ली जा सकती हैं।

वीर्य रोकने से शिश्न में दर्द, वृषणकोष (अंडग्रंथियों वाले थैले) में दर्द, शरीर में दर्द, हृदयक्षेत्र में दर्द तथा मूत्र में रुकावट आदि शिकायतें हो जाती हैं। इन शिकायतों को दूर करने में मालिश, स्नान, चावल, दूध और बिना चिकनाई की वस्ति आदि उपयोगी हैं।

उदर-वायु का निकास रोकने से मल, मूत्र, आंतों में वायु का रुकना (गैस), दर्द, थकावट तथा वात संबंधी उदर के अन्य रोग हो सकते हैं। इन रोगों से मुक्ति के लिए वस्ति व पूरे शरीर की तेल-मालिश की जानी चाहिए।

वमन के दबाव को रोकने से खुजली, चेहरे पर काले धब्बे, खून की कमी, ज्वर, मचली आदि रोग उभर आते हैं। वमन-क्रिया, व्रत अथवा हल्का खाना, व्यायाम तथा जुलाब आदि से इन शिकायतों से मुक्ति पा सकते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

छींक रोकने से गर्दन की मांसपेशियों में जकड़न, सिरदर्द, आंधासीसी तथा इन्द्रियों में कमजोरी आ जाती है। गर्दन की मालिश, नाक में डालने की दवा तथा भोजन के बाद कुछ घी का इस्तेमाल करने से ये शिकायतें दूर हो सकती हैं।

डकारें दबाने से हिचकियां, कंपकंपी, वक्ष तथा हृदय-क्षेत्र में भारीपन आदि की शिकायतें पैदा हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में वात कम करने की चिकित्सा की जानी चाहिए।

प्यास रोकने से गला और मुंह सूखना, सुनने में कठिनाई, थकान, अवसाद, छाती में दर्द, सिर में दर्द, रक्तचाप की गड़बड़ी आदि शिकायतें हो सकती हैं। ऐसे में शीतल पेय लेना चाहिए।

आंसू रोकने से आंखों में जलन, आंखों के रोग, हृदय-रोग तथा घुमेर (चक्कर आना) आदि की शुरुआत हो सकती है। इनसे मुक्ति के लिए गहरी नींद तथा आश्वासन लाभकारी है।

नींद को रोकने से जमहाई, शरीर में दर्द, ऊंघना, आंखों में भारीपन, घबराहट, विस्मृति आदि शिकायतें हो जाती हैं। नींद से शरीर व दिमाग को जीवनी शक्ती मिलती है। नींद पूरी न होने से थकान और बेचैनी पैदा होती है। इन सब शिकायतों से निजात पाने के लिए अच्छी नींद तथा मालिश की आवश्यकता है। योग निद्रा का अभ्यास अत्यंत लाभकारी होता है।

व्यायाम अथवा भारी काम से उत्पन्न तीव्र श्वास को रोकने से अन्दरूनी फोड़ा या रसौली (ट्यूमर), हृदय-रोग तथा मूर्च्छा आदि रोग हो सकते हैं। विश्राम तथा वात संतुलित करने वाली चिकित्सा इन रोगों से मुक्ति दिला सकती है।

### 19.3.1.2 दमनीय आवेग

अदमनीय आवेगों की जानकारी, उनकी उपेक्षा से उत्पन्न दुष्प्रभावों के बाद अब हम ऐसे आवेगों का वर्णन करेंगे जिन्हें दबाया जा सकता है और जिनको मानव-हित में दबाया भी जाना चाहिए। इन्द्रियों पर मस्तिष्क के नियंत्रण से यह संभव है। चरक के कथनानुसार ''कोई भी व्यक्ति जो इस लोक और परलोक में अपना भला चाहता हो, उसे बुराईमूलक विचार, भाषा और कार्यों को रोकना चाहिए। लालच, दु:ख, भय, क्रोध, अभिमान, बेशर्मी, आसक्ति, किसी की सम्पत्ति पर कब्जा करने जैसी इच्छाएं किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति को त्याग देनी चाहिए। वाणी जो कठोर, झुठलाने वाली, असत्य और असंयम हो, उसे रोका जाना चाहिए। किसी व्यक्ति को व्यभिचार, चोरी, हिंसा जैसी इच्छाएं जिनसे दूसरों को वह अत्यधिक कष्ट देता हो उनका दमन करना चाहिए। बुद्धिमान व्यक्तियों को अत्यधिक व्यायाम, हंसी, भाषण, पैदल चलना, संभोग तथा रात्रिजागरण से बचना चाहिए। वह व्यक्ति जो ऐसी क्रियाओं में सीमाएं तोड़ देता है, अचानक मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। जैसे हाथी को घसीटने वाला शेर। जो व्यक्ति अत्यधिक संभोग, वजन ढोने, पैदल चलने के कारण, अधिक वस्ति, जुलाब आदि के कारण कमजोर हो जाते हैं वे क्रोध, भय, दु:ख तथा अत्यधिक थकान के शिकार हो जाते हैं। बच्चे, बूढ़े तथा वात-प्रधान व्यक्ति अधिक तथा जोर से बोलने, भूख तथा प्यास से प्राय: पीड़ित होते हैं, उन्हें शारीरिक व्यायाम नहीं करना चाहिए। जो व्यक्ति अपने-आपको रोगों से मुक्त रखना चाहता है, उसे स्वस्थ व्यक्ति की जीवनशैली अपनानी चाहिए।''

चरक के उपर्युक्त कथन से हमें आधुनिक चिकित्सा-पद्धति और आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति में एक बड़ा अन्तर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। आधुनिक चिकित्सा-विधि में मस्तिष्क व हृदय को अलग-अलग करके देखा जाता है। यदि कोई व्यक्ति डॉक्टर के पास सिरदर्द की शिकायत लेकर जाता है। डॉक्टर उसका इलाज करता है परन्तु फिर भी उसका दर्द नहीं जाता, तब रोगी को स्नायु-विभाग (Neurology) में भेज दिया जायेगा। वहाँ उस व्यक्ति की जांच इस कोण से की जायेगी कि पहले उसे कोई चोट लगी थी जिसका दर्द अब उभर आया है। या फिर अंदर कोई संक्रमण है। यदि यहां स्नायु के डॉक्टर को दर्द का कारण पता नहीं चलता तो अंत में वह इस मामले को मनोवैज्ञानिक के पास इस टिप्पणी के साथ भेज देगा कि सिर में दर्द का कोई शारीरिक कारण नहीं मिल सका

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है, अवश्य ही कोई मनोवैज्ञानिक कारण होगा, उसकी जांच की जाए। आयुर्वेद में स्थिति इससे भिन्न है। जिस व्यक्ति के सिर में दर्द है उसके भोजन, पाचन, थकान, श्वास, व्यवसाय, व्यवसाय का स्थान, पारिवारिक स्थितियां, अन्य संबंध, सामाजिक स्थितियां, भावनात्मक व्यवहार, काम संबंध, अन्य विशिष्ट चिंताएं एवं तनाव आदि पर विचार किया जाता है। मस्तिष्क को आयुर्वेद में देह से अलग नहीं माना जाता। वे दोनों एक-दूसरे से जुड़े हुए, एक-दूसरे के पूरक हैं। जैसे अत्यधिक क्रोध से पेट खराब हो जाता है तथा सिर में दर्द भी होने लगता है। इसी प्रकार शरीर में वात संबंधी रोग भी बढ़ जाते हैं। इसी प्रकार अनुपयुक्त भोजन अथवा ठंड लग जाने से असंतुलित हुआ वात व्यक्ति में घबराहट तथा भय पैदा कर सकता है।

इस प्रकार आयुर्वेद का आधार देह की अनुरूपता है। परन्तु पश्चिम में जिस अर्थ में शब्द Psychosomatic का प्रयोग होता है, आयुर्वेद में उसका अर्थ वही नहीं है। पश्चिम में इस शब्द का प्रयोग शरीर के उन लक्षणों के लिए इस्तेमाल होता है जो मानसिक, भावुक अथवा मन, मूल के हैं और जिनका भौतिक रूप, बनावट और रासायनिक स्तर पर कोई संबंध नहीं होता। आयुर्वेद में शरीर व मस्तिष्क दो अलग-अलग वस्तुएं अलग दिशा में काम करती नहीं मानी जातीं, बल्कि उन्हें एक दूसरे का सम्पूरक माना जाता है। अत: यह नहीं सोचा जा सकता कि मस्तिष्क पूरी तरह स्वस्थ रहता है फिर भी शरीर में तरह-तरह के रोग हो जाते हैं। वे सदा एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं। बल्कि सच तो यह है कि शरीर और मस्तिष्क का संबंध अंतत: ब्रह्मांडीय वास्तविकता से है।

व्यक्ति के शरीर का ढांचा मजबूत अथवा कमजोर होना, उसमें बौद्धिक लिप्तता, उपलब्धियों के अंतर उसकी प्राकृतिक बनावट के कारण होते हैं। मूल प्रकृति हमारी भावनात्मक प्रतिक्रियाओं तथा त्रिदोषों के स्वभाव को दर्शाती है। हमें अपनी बुद्धि द्वारा इन्द्रियों पर इस प्रकार नियंत्रण रखना चाहिए कि वे उन्हीं कामों में लगें जो अच्छे स्वास्थ्य तथा स्वच्छा भविष्य का निर्णय कर सकते हैं। लोभ या लालच का अर्थ केवल दूसरों की चीजों को लेने की इच्छा करना ही नहीं है, अपितु सांसारिक वस्तुओं का अधिक-से-अधिक संग्रह करना भी है। हमारे युग में लोभी लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। हमारी आधुनिक सभ्यता जो तकनीकी रूप से विकसित है, इस आवेग को प्रतियोगिता में रखकर उसका पोषण कर रही है। यह आवेग उन्नति का प्रतीक माना जाता है। यही कारण है कि अब मनुष्यों में संतोष की भारी कमी आ गई है। अधिक उन्नति के लिए लोग व्यस्तता के हाथों बिक गये हैं। उन्हें अत्यधिक कार्य करना पड़ता है तथा मस्तिष्क में भारी बेचैनी रहती है। इस सबसे अंतत: वात वृद्धि हो जाती है तथा वात संबंधी रोग, जैसे—मानिसक रोग, अनिद्रा, तनाव, पेट की गड़बड़ी या रक्त संबंधी रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

जब लोग एक के बाद एक बैठकों में जाते हैं, संपर्क स्थापित करते हैं, इसी तरह के अनेक महत्त्वपूर्ण कामों के लिए दूसरे स्थानों पर जाते हैं, तो लोग प्राय: उन आवेगों को दबाने पर विवश होते हैं। वे दबाए नहीं जा सकते। इस प्रकार वे रोगों को आमंत्रित कर रहे हैं तथा अपनी आयु को छोटा करते जा रहे हैं। अपनी अति व्यस्तता-भरी दौड़ के बीच उनको चाहिए कि वे एक क्षण के लिए ठहरें और अपने-आपसे पूछें—"मैं यह सब क्यों कर रहा हूं? मैं ये सब जीवन-विरोधी कार्य क्यों कर रहा हूं?" उपलब्धियों, तरक्की आदि के पीछे दौड़ने का तब क्या अर्थ है जब जीवन खत्म हो (रोगों के कारण) तथा आयु ही कम हो रही हो। याद रखिए, जीवन की प्रथम प्राथमिकता जीवन ही होना चाहिए। जीवन समाप्त हो गया तो सब कुछ समाप्त हो गया। लोभ के बादलों में ढका मस्तिष्क यह भूल जाता है कि हम राम, मोहन, राधा, कमला, श्याम आदि नामधारी इस पृथ्वी पर हमेशा नहीं रहेंगे। हमारा यहां रहना स्थायी नहीं, अस्थायी है। अत: बड़े-बड़े सुखों के लिए संघर्ष करने के स्थान पर जीवन के छोटे-छोटे सुखों में ही अपनी खुशियां ढूंढ़ना बुद्धिमानी है। जीवन की यात्रा हमें अधिक दूर नहीं ले जा सकती, वह सीमित है। यह पहाड़ों मे एक पदयात्रा आने के समान है। यात्रा का उद्देश्य प्राकृतिक सौंदर्य का आनंद लेना है, न केवल लक्ष्य तक पहुंचना। यदि आप सर्वोच्च शिखर तक पहुंचने की धुन में जल्दी-जल्दी चढ़ाई करेंगे तो ऊंचे पहाड़ की हल्की हवा आपको हानि पहुंचायेगी और लक्ष्य तक पहुंचने में आप सिद्ध हो भी गये तो बहुत थकावट अनुभव कर सकते हैं या बीमार पड़ सकते हैं। अत: हड़बड़ी और व्यस्तता से आपको कोई लाभ होने वाला नहीं है। मैं सलाह देता हूं कि आपको

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

उन कामों के लिए भी समय निकालना चाहिए जो आप स्वयं के लिए करना चाहते हैं अपेक्षाकृत उन कामों के लिए जिनमें लगे रहने की आपसे अपेक्षा की जाती है।

दु:ख में अत्यधिक डूबे रहना स्वास्थ्य के लिए बहुत हानिकारक है। दु:ख की व्यथा रोग का रूप धारण कर लेती है। अवसाद या दु:ख से सदैव घिरे रहने से पेट का अल्सर, आंत्रशोथ, कैंसर, सभी तरह के शरीर-दर्द तथा अन्य वात-रोग हो सकते हैं। अपनी समस्याओं को अधिक करके नहीं देखना चाहिए और सोचना चाहिए कि केवल हम ही दु:खी नहीं हैं। ऐसे लोग सदैव आत्मदया में ही लीन रहते हैं। वे अपने को तथा अपनी समस्याओं को अधिक महत्त्व देते हैं। धन-सम्पत्ति, बच्चे, पति, पत्नी आदि के प्रति अधिक आसक्ति से दु:ख उपजता है। इनमें से किसी एक की हानि होने पर भी दु:ख होता है।

सबसे पहले यह जान लीजिए कि प्रसन्नता मन की एक स्थिति है। प्रसन्नता हम सबके अन्दर मौजूद है। प्रसन्नता की उत्पत्ति संतोष से होती है। त्रासदी का नायक या नायिका बनने का प्रयास मत कीजिए। जीवन में कोई वास्तविक त्रासदी होती ही नहीं है। जीवन अनेक घटनाओं के संयोग से बना है। बुरे समय का भी एक अच्छा पक्ष अवश्य होता है। आपके दु:ख के कारण इस दुनिया का अन्त नहीं हो जायेगा। अपने दु:ख के सागर में अपने को डूबने न दें। आशा का एक तिनका भी दिख जाए तो उसे पकड़ लें और फिर से तैरना आरंभ कर दें। योग, प्राकृतिक चिकित्सा एवं आयुर्वेदिक विवेक बताता है कि हमारे सुख और दु:ख हमारे प्रारब्ध और पुरुषकार के कारण हैं। हमारे पूर्व-कर्मों का परिणाम 'दैव' है। यदि आप बहुत दु:खी हैं और कराह रहे हैं तो स्थिति को और बिगाड़ रहे हैं। दैव के सहयोग से पुरुषकार को बेहतर बनाया जा सकता है, यही तो आपका वर्तमान कर्म है जो आपको इस समय करना है। जब स्थिति खराब हो जाए तो बेहतर यह है कि आप अपना साहस इकट्ठा करें तथा सबसे बुरी स्थिति को भी अच्छी स्थिति में बदल दें। सदैव याद रखिए कि दु:ख जीवन का एक अंग है। अपने पुरुषकार से इसके साथ ऐसी बुद्धिमानी से काम लेना है कि वर्तमान दु:ख के परिणामों के कारण हमें भविष्य में दु:ख न भोगना पड़े। हमें दु:ख की यह श्रृंखला तोड़नी है।

याद रखिए, हर व्यक्ति को अपने-अपने कर्मों को भुगतना पड़ता है। एक सीमा के आगे हम दूसरे के लिए कुछ नहीं कर सकते, भले ही वे हमारे पुत्र, पुत्रियां अथवा अन्य प्रियजन क्यों न हों। अपनी सीमाओं को पहचानिए तथा जो आपके नियंत्रण में नहीं है, उसके लिए दु:ख मत कीजिए।

अत्यधिक आसक्ति दु:ख की ओर ले जाती है। इससे बचने के लिए हमें अपने शरीर तथा संबंधियों की नश्वरता पर विचार करना चाहिए। संसार में सब कुछ निरन्तर बदलता रहता है। हमें निरन्तर प्रयत्नपूर्वक विरक्ति का अभ्यास करना चाहिए।

साहस, निर्भयता तथा सत्यपरायणता को अपने मन में बिठा लीजिए। भय की भावनाएं बड़ी विनाशकारी हैं, अत: पूरी शक्ति लगाकर भय का सामना कीजिए। यदि आप स्वयं निर्भय हैं तो दूसरों के मन में भी भय मत बिठाइए। यदि आप अभिभावक हैं, मालिक हैं अथवा ऐसी ही किसी स्थिति में हैं तो दूसरों को डराने का प्रयास मत कीजिए। मजबूत बनिए तथा अपनी आंतरिक शक्ति या प्रकाश पर भरोसा कीजिए। हमारी आंतरिक शक्ति या जीव ही जीवन का कारण है और इसे नष्ट नहीं किया जा सकता। जब कभी आपको भय का अहसास हो, अपनी अंत:शक्ति पर ध्यान केन्द्रित कीजिए।

प्राय: लोग लालच के कारण झूठ बोलते हैं (जैसे:-व्यापारी या बड़ी कम्पनियां अपना माल बेचने अथवा लाभ कमाने के लिए) या फिर भय के कारण। सत्य बोलने के लिए साहस और निर्भयता की आवश्यकता होती है। जब बच्चे से कोई ऐसी चीज खो अथवा टूट जाती है जो माता-पिता के लिए बहुत प्रिय होती है अथवा अधिक कीमती होती है, तो वह बहुत भयभीत हो जाता है। बच्चा माता-पिता के क्रोधित होने से डरता है क्योंकि वह कमजोर और छोटा है। अपने बच्चों को आश्वस्त कीजिए कि सत्य बोलने पर उन्हें पुरस्कृत किया जायेगा। बच्चे के सामने भय पैदा करने वाली स्थिति मत रखिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सदैव सत्य बोलने का साहस रखिए, चाहे इसके लिए आपको विपरीत परिस्थितियों का सामना क्यों न करना पड़े। झूठ बोलने वाले व्यक्ति को सदैव डर बना रहता है कि कहीं उसका झूठ पकड़ा न जाए। भय की अवस्था श्वसन-मार्ग, पाचन-संस्थान, स्नायु तथा हृदय को क्षति पहुंचाती है। जब आपको डर लगे तो उन बड़े-बड़े पर्वतों के बारे में सोचिए जो भीषण हवाओं के बीच तनकर खड़े रहते हैं। असीम आसमान के बारे में सोचिए। शक्ति-सम्पन्न सूर्य के बारे में सोचिए। अपनी अंदरूनी शक्ति को जगाइए और साहस एकत्रित कीजिए कि आप सत्य बोल सकें।

स्पर्धा और ईर्ष्या संतोष की कमी से पैदा होती हैं। हम भी वह सब कुछ चाहते हैं जो दूसरों के पास है। न मिल पाने पर हतोत्साहित हो जाते हैं और आप उनकी ही तरह सम्पन्नता पाने के लिए तड़प उठते हैं। जो आपके पास है, उसी में संतुष्ट होने का प्रयास कीजिए। कठोर परिस्थितियों में भी उन लोगों के बारे में सोचिए जो आपसे बुरी स्थितियों में जी रहे हैं। ऐसा कभी मत सोचिए कि दूसरों की स्थिति में पहुंचकर आप अवश्य सुखी हो जायेंगे। एक स्कूल-अध्यापक की कल्पना कीजिए जो दस गुना कमाने वाले अपने पड़ोसी, एक बड़ी कम्पनी के मैनेजर से ईर्ष्या रखता है। स्कूल-अध्यापक की दृष्टि मैनेजर की सम्पत्ति पर है न कि उन तनावों और व्यस्तताओं पर जिन्हें वह झेल रहा है। स्कूल-अध्यापक का आराम का काम जिसमें अनेक अवकाश के दिन होते हैं, धन से कहीं अधिक कीमती है। उस धन से क्या लाभ जो व्यक्ति को स्वास्थ्य-विरोधी स्थितियां सहने पर विवश करे तथा धीरे-धीरे उसे रोगों की ओर ले जाए और उसकी आयु ही कम कर दे। इस प्रकार की सोच नकारात्मक है। ऐसी सोच में अपना कीमती समय कभी नष्ट न कीजिए।

अधिक बोलना तथा अधिक जोर से बोलना स्वास्थ्य के लिए खतरनाक है। सामान्य से ऊंचा मत बोलिए। चीखिए नहीं। कुछ लोग भावना को चोट पहुंचने से भड़क उठते हैं और ऊंची आवाज में चीखते हैं। यह वात का असंतुलन दर्शाता है। कम बोलिए, धीमी आवाज में बोलिए, ऐसे शब्द बोलिए जो दूसरों को आहत न करें। याद रखिए, जब कभी हम दूसरों को चोट पहुंचाते हैं तो हानि हमें भी होती है।

भगवद्गीता में कहा गया है—"क्रोध स्मृतिनाशक है"। यदि आप आयुर्वेदिक जीवन-पद्धति का पालन करते हुए स्वस्थ और दीर्घायु होना चाहते हैं तथा आजीवन अपनी स्मृति को स्वस्थ रखना चाहते हैं तो क्रोध से बचकर रहिए। तर्क से अपने-आपको समझाकर इस विनाशकारी मनोभाव से बचिए तथा समस्या का समुचित समाधान ढूंढ़िए। कुछ लोग छोटी-छोटी बातों पर ही बिगड़ जाते हैं और मूर्खतापूर्ण स्थिति पैदा कर लेते हैं।

**बोध प्रश्न :**

1. *जीवनशैली से आप क्या समझते हैं?*
2. *दमनीय तथा अदमनीय आवेग कौन कौनसे हैं?*

## 19.3.2 आयु के साथ शारीरिक परिवर्तनों से तालमेल

आयुर्वेद के अनुसार व्यक्ति के पूरे जीवनकाल को तीन भागों में बांटा जा सकता है—बचपन, प्रौढ़ावस्था तथा साठ के बाद वृद्धावस्था। सोलह वर्ष की अवस्था तक धातुएं कच्ची होती हैं, काम से अनभिज्ञता रहती है, शरीर कोमल तथा असहाय होता है, शरीर में कफ की अधिकता रहती है। 30 वर्ष की आयु तक धातुएं विकासावस्था मे रहती हैं तथा मस्तिष्क अस्थिर रहता है। प्रौढ़ावस्था शक्ति, ऊर्जा, ओज, बहादुरी, परिग्रह-शक्ति, धारण-शक्ति, स्मृति, समझाने एवं समझने की शक्ति से पहचानी जाती है। इस अवधि में सभी धातुओं की शक्ति सामान्यत: विकास की सीमाओं तक पहुंच जाती है, शारीरिक व मानसिक शक्ति विकसित हो चुकी होती है और पित्त की प्रधानता रहती है। यह अवस्था 60 वर्ष तक रहती है। इसके बाद बुढ़ापे में शक्ति, ऊर्जा, ओजस्विता, बहादुरी, परिग्रह-शक्ति, धारण-शक्ति, स्मृति, समझाने एवं समझने की शक्ति का धीरे-धीरे ह्रास होता चला जाता है तथा वात का प्राधान्य रहता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हर आयु में परिवर्तन और बदलाव होते रहते हैं। हर क्षण हम बीते हुए क्षण की तुलना में आयु में बढ़ जाते हैं। एक नन्हे से बच्चे का बढ़ना और फिर किशोरावस्था से निकलते हुए पूर्ण युवा हो जाना बहुत अच्छा लगता है। लगभग चालीस वर्ष तक यह बदलाव सुन्दर और आकर्षक लगता है। इसके बाद यह अच्छा नहीं लगता। कोई भी बूढ़ा होना नहीं चाहता। इसीलिए इस आयु तक पहुंचकर लोग प्राय: यह सोचने लगते हैं जैसे उनकी आयु का बेहतर भाग समाप्त हो चुका हो। इसीलिए वे प्राय: बीते हुए समय की विशेषताओं को सकारात्मक मानने लगते हैं तथा भविष्य को नकारात्मक। अनेक व्यक्ति अतीत को बढ़ा-चढ़ाकर कहने लगते हैं। वे वर्तमान को अतीत की तुलना में अच्छा नहीं मानते तथा आने वाले समय के बारे में चिंतित हो उठते हैं। परन्तु सच यह है कि जीवन के सभी चरण अपने-आप में सुन्दर होते हैं। यह मत सोचिए कि आपका सबसे सुन्दर समय वह था जब आपकी मां आपकी देखभाल किया करती थी। बच्चा असहाय, कमजोर और पराश्रित होता है। नि:संदेह विद्यार्थी-जीवन बहुत सुन्दर होता है, परन्तु उस काल में भी और तरह की जिम्मेदारियां, चिंताएं, भविष्य की अनिश्चितताएं आदि होती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विद्यार्थी आर्थिक अभाव से जूझते हैं तथा उन्हें विश्राम तक नहीं मिल पाता।

प्राय: लोगों के लिए बढ़ती हुई आयु का एक और पक्ष है—रोग, विरूपता, असौन्दर्य तथा दूसरों पर निर्भरता। यह आवश्यक नहीं कि बुढ़ापा अनिवार्य रूप से इतना दु:खी हो जैसा कि लोग सोचते हैं या प्राय: हो जाता है। इस सबके लिए उत्तरदायी है युवावस्था में स्वास्थ्य के प्रति की गई लापरवाही। बुढ़ापे में हम अपने पूर्वकृत कर्मों की फसल ही काटते हैं। कुछ लोग तरह-तरह की बीमा योजनाओं तथा अन्य मदों में पैसा लगाने की बात करते हैं, परन्तु पंद्रह मिनट प्रतिदिन ध्यानयोग-क्रियाओं के लिए समय नहीं निकाल सकते। स्वस्थ बुढ़ापे की नींव हमें युवावस्था में ही रखनी चाहिए। हमारा शरीर और मस्तिष्क बीते समय के अनुभव को भुलाता नही है। बुढ़ापे में पुराने घाव टीसने लगते हैं तथा पुरानी दुर्घटनाएं समस्या पैदा करने लगती हैं। एक दिन में बीस सिगरेट पीना, जमकर मदिरापान करना, रात्रि में देर तक जागना, जोर-जोर से बोलना, क्रोध से आपे से बाहर हो जाना आदि बुराइयां तुरन्त असर नहीं दिखातीं, परन्तु हर क्रिया शरीर और मन पर अपने निशान छोड़ जाती है। अपने युवावस्था के प्रयासों द्वारा एक स्वस्थ, सुन्दर और तेजयुक्त बुढ़ापा पाने का प्रयत्न करो न कि अपनी लापरवाही या अनभिज्ञता से एक बीमारियों से पीड़ित बूढ़ऊ बनकर रह जाने का।

युवा बने रहने का प्रयास मत करें, सुन्दर ढंग से अगली अवस्था की ओर चलने का प्रयास करें। समय के अनुसार रहना सीखें, बीते समय की वास्तविकता को स्वीकार करें। बीते समय से डरें नहीं। प्रत्येक दिन को प्रकृति की ओर से दिये गये एक अनमोल उपहार के रूप में स्वीकार करें। हर दिन को फूल की तरह संजोयें। जीवन की हर स्थिति को ऐसे सुलझाये जैसे आप कोई सुन्दर चित्र बना रहे हो।

बुढ़ापे का अर्थ बीमारी तथा विरूपता नहीं है। अपनी प्रकृति तथा समय की गति के अनुरूप जीवनशैली धारण कर हम एक विरूपता से बच सकते हैं। भोजन, जीवनयापन की शैली, व्यायाम आदि सब आयु के अनुसार बदलते रहने चाहिए। यदि हम समय की गति और सही जीवन-शैली का पालन नहीं करते तो त्रिदोषों का संतुलन बिगड़ जाता है। यह संतुलन यदि लम्बे समय तक खराब रहे तो हम इतने कमजोर हो जाते हैं कि अन्य बीमारियां भी हमें घेर सकती हैं। अस्वस्थता के चक्र में फंस जाते हैं तथा धातुएं तेजी से क्षीण होने लगती हैं। ऐसी स्थितियों में बुढ़ापा समय से पहले ही आ जाता है तथा रंग-रूप बिगड़ने लगता है, शक्ति और सुन्दरता का ह्रास होने लगता है। हमारे वर्तमान कर्म तथा मानसिक दृष्टिकोण दोनों ही यौवनशक्ति बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

स्त्रियां और पुरुष दोनों ही चालीसवें वर्ष के आसपास बुढ़ापे के बारे में सोचकर बहुत दु:खी हो जाते हैं। कुछ बालों का सफेद हो जाना, दृष्टि में हल्की-सी गिरावट, शरीर के किसी भाग पर कोई झुर्री चेतावनी का काम करती है और उन्हें लगता है कि उनके शरीर में ह्रास की प्रक्रिया आरंभ हो गई है।

बुढ़ापे की ओर बढ़ना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि बचपन से युवावस्था की ओर बढ़ना। वास्तविकता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यह है कि जिस क्षण से हम मां के गर्भ में आते हैं, बुढ़ापे की ओर बढ़ने लगते हैं। इसका अर्थ यह है कि हमारे शरीर में होने वाले परिवर्तन हमें एक निश्चित लक्ष्य की ओर ले जा रहे हैं—यह लक्ष्य है भौतिक शरीर का क्षय, भौतिक शरीर की समाप्ति। आयुर्वेद, प्राकृतिक चिकित्सा तथा योगशास्त्र में अनेक ऐसी विधियों का उल्लेख है जिनसे हमारे जीवन की यात्रा सुन्दर, सुखद और विश्रांतिपूर्ण रह सकती है।

रजोनिवृत्ति, बालों का सफेद होना, शक्ति में शनैः शनैः ह्रास, सहवास-शक्ति में क्षीणता, झुर्रियां तथा अंततः मौत की ओर बढ़ना ये सब भौतिक परिवर्तन हैं जिन्हें हमारी चिंतन-प्रक्रिया का सहयोग एवं समर्थन मिलना चाहिए। आपको यह नही समझना चाहिए कि ये सब परिवर्तन हानिकारक ही हैं, इनसे डरने की आवश्यकता भी नहीं है, बल्कि आपको जीवन के इस आधारभूत सत्य को स्वीकार करने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए कि कुछ भी हमेशा रहने वाला नहीं है—न प्रसन्नता, न दुःख, न जवानी के दिन, न बुढ़ापा। हम सब एक सुनिश्चित अन्त की ओर बढ़ रहे हैं, जो वास्तव में अन्त न होकर अन्त का भ्रममात्र है। हमारे परदादा, उनके माता-पिता तथा वे सभी लोग जो हमसे पहले इस धरती पर रहते थे, अब यहां पर नहीं हैं, फिर भी जीवन उसी तरह चल रहा है। ऋतुएं बदलती हैं, पृथ्वी अपनी कीली पर सूर्य की परिक्रमा करती है। हम सूर्यास्त, सूर्योदय, पूर्णमासी और दूज का चांद देखते हैं। उसी प्रकार जब हम इस पृथ्वी से चले जायेंगे, संसार तब भी यूं ही चलता रहेगा। हमारा स्थान लेने के लिए सदैव नये-नये लोग आते रहेंगे। हमारा शरीर उन्हीं पांच तत्त्वो में समा जाता है जिनसे वह बना था और जीवन का सारांश अर्थात् जीवात्मा समय आने पर नया शरीर धारण करती है जिसे पुनर्जन्म कहते हैं।

इस चक्रबद्ध संसार में भौतिक परिवर्तन, ह्रास तथा मृत्यु जैसी स्थितियों पर दुःखी होने से कोई अर्थ नहीं है। बुद्धिमानी इसी में है कि हम इन परिवर्तनों को गरिमा और प्रसन्न चित्त से स्वीकार करें तथा अपनी ओर से यही प्रयास करें कि बुढ़ापे में स्वस्थ रह सकें। युवावस्था में अधिकतर लोग खूब मौज-मस्ती करते हैं जब धातुएं विकास की दशा में होती हैं। जैसे ही वे विकास के चरम बिन्दु पर पहुंचते हैं, उतार आरंभ हो जाता है। इससे उन्हें धक्का लगता है। बढ़ती आयु के लक्षणों को छुपाने के लिए बनावटी तरीके अपनाते हैं, जैसे—बालों को रंगना, झुर्रियां ठीक करवाना तथा अन्य वह सब करना जो भौतिक संसार में जवान दिखने के लिए किया जाता है। यौवन की शक्ति तथा ऊर्जा को लम्बे समय तक बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि धातुओं में क्षरण की स्थिति आरम्भ होने से पहले ही कुछ ठोस किया जाना चाहिए। प्यास लगने पर कुआं कोई नहीं खोद पाता।

महिलाओं को रजोनिवृत्ति की पीड़ा भी झेलनी पड़ती है। इसका एक हिस्सा ऊपर वर्णित शारीरिक परिवर्तनों से होने वाला दुःख भी है। शरीर पर मानसिक पीड़ा से शारीरिक कष्ट और बढ़ जाता है। कभी-कभी तो कई वर्षों तक इसका दुष्प्रभाव रहता है।

सबसे पहले तो आपको यह समझ लेना चाहिए कि मासिक धर्म का बंद होना उतना ही स्वाभाविक है जितना इसका आरम्भ होना। यह लगभग 13 वर्ष की आयु में आरम्भ होता है। मासिक धर्म का बंद होना आपके प्रजनन-काल की समाप्ति की घोषणा है न कि आपके कामजीवन की। यह बुढ़ापे के आगमन का प्रतीक भी नहीं है। इसका अर्थ केवल यह है कि आप प्रतिमाह मासिक स्राव नहीं करेंगी तथा सन्तान उत्पत्ति में असमर्थ हो जायेंगी।

मासिक धर्म के समापन-काल को सहज भाव से लेने के लिए पहले से ही अपने आपको मानसिक व शारीरिक रूप से तैयार रखिए। मासिक धर्म में थोड़ा-सा परिवर्तन मानसिक धर्म समाप्ति के निकट होने का संकेत देता है। ऐसे में प्रतिदिन योग-क्रियाएं करिए, वात कम करने वाला भोजन करिए तथा अन्य उपाय, जैसे—मालिश, वस्ति आदि। रजोनिवृत्ति की पृष्ठभूमि तैयार करने में ये सहयोगी होंगे। इसके अतिरिक्त एकाग्रता की क्रियाएं, प्राणायाम, स्वास्थ्य में सुधार लाने वाले टॉनिक भी स्वास्थ्य ठीक रखते हैं।

आंखें, कान, नाक, त्वचा आदि अन्य संवेदनात्मक क्षेत्र हैं जिन पर बढ़ती आयु के प्रभाव पड़ते हैं। यदि उनकी सही देखभाल न की जाए तो जल्दी ही बाल सफेद हो जाते हैं अथवा गिरने लगते हैं। दृष्टि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कमजोर हो जाती है तथा त्वचा में रूक्षता आ जाती है। शरीर के इन अंगों की देखभाल पूर्व वर्णित विधियों द्वारा की जानी चाहिए।

पित्त विकृत होने, जोर से तथा अधिक बोलने, अत्यधिक थकान, तनावपूर्ण जीवन-पद्धति, अत्यधिक चिंता करने से या अनुपयुक्त या तनावपूर्ण मुद्रा में रहने से शरीर और चेहरे पर झुर्रियां पड़ जाती हैं। झुर्रियां दूर करने के लिए उपयुक्त योग-आसन तथा यौगिक क्रियाएं की जानी चाहिए। उचित नींद और खुराक लीजिए तथा अपनी त्वचा की देखभाल कीजिए। त्वचा को वात-दोष से बचाइए। इससे त्वचा में खुश्की हो जाती है तथा आयु से पहले ही झुर्रियां दिखाई देने लगती हैं। त्वचा को चिकनी और चमकदार बनाये रखने का प्रयास कीजिए ताकि झुर्रियों से बचा जा सके। शरीर पर नियमित तेल-मालिश कीजिए तथा त्वचा की देखभाल के लिए सभी सुरक्षा-उपाय कीजिए।

## 19.4 प्रश्नावली

### I निबंधात्मक प्रश्न

1. प्राकृतिक शक्ति से अनुरूपता का वर्णन कीजिए।
2. जीवनशैली के संयम से क्या आशय है? स्पष्ट कीजिए।

### II लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. आहार के प्रमुख कार्य बताइये।
2. नशे का शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है?

### III वस्तुनिष्ठ प्रश्न (एक वाक्य में उत्तर लिखें)—

1. भोजन से अन्ततोगत्वा क्या मिलता है?
2. क्रोध से सर्वाधिक क्षय किस शक्ति का होता है?

## 19.5 संदर्भ पुस्तकें


1. दैनिक जीवन में आयुर्वेद — विनोद वर्मा
2. प्राकृतिक आयुर्विज्ञान — राकेश जिन्दल
3. रोगों की सही चिकित्सा — नागेन्द्र नीरज एवं मन्जू नीरज


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# इकाई 20 : अन्य वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियां— एक्यूप्रेशर, एक्यूपंक्चर, चुम्बक चिकित्सा : सामान्य परिचय

**संरचना**


20.0 उद्देश्य
20.1 एक्यूप्रेशर का इतिहास
20.2 भारतीय संस्कृति और एक्यूप्रेशर
20.3 एक्यूप्रेशर की परिभाषा
20.4 एक्यूप्रेशर का वर्गीकरण
- 20.4.1 जोनोलोजी
- 20.4.2 रिफ्लेक्सोलोजी
  - 20.4.2.1 फुट रिफ्लेक्सोलोजी
  - 20.4.2.2 हैण्ड रिफ्लेक्सोलोजी
  - 20.4.2.3 इयर रिफ्लेक्सोलोजी
- 20.4.3 संकेत सूची
- 20.4.4 एक्यूप्रेशर चिकित्सा हेतु आवश्यक निर्देश
- 20.4.5 एक्यूप्रेशर के लाभ

20.5 चुम्बक चिकित्सा
- 20.5.1 चुम्बक चिकित्सा का इतिहास
- 20.5.2 चुम्बक के भौतिक गुण
- 20.5.3 चुम्बक के प्रकार
- 20.5.4 चुम्बक चिकित्सा के चुम्बकों के आकार एवं प्रकार
- 20.5.5 चुम्बक चिकित्सा की वैज्ञानिकता
- 20.5.6 चुम्बक के चिकित्सात्मक गुण

20.6 एक्यूपंक्चर
- 20.6.1 एक्यूपंक्चर का इतिहास
- 20.6.2 समानता
  - 20.6.2.1 डायफ्राम रेखा के ऊपर और नीचे के हिस्से
  - 20.6.2.2 अंगूठा नीचे की तरफ क्यों झुका होता है?
- 20.6.3 यिन और यांग
- 20.6.4 प्रमुख प्रतिबिम्ब केन्द्र और सहायक प्रतिबिम्ब केन्द्र
- 20.6.5 सही प्रतिबिम्ब केन्द्र को खोजने का तरीका
- 20.6.6 पांव के प्रतिबिम्ब केन्द्र
  - 20.6.6.1 पांव के आधार पर इलाज
- 20.6.7 तीन बिन्दु प्रतिबिम्ब केन्द पद्धति
- 20.6.8 सांकेतिक दर्द बिन्दु
- 20.6.9 सहयोगी प्रतिबिम्ब केन्द्र बिन्दु को खोजना
- 20.6.10 चमड़ी और हड्डी के बिन्दु


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

20.6.11 फ्लैंक प्रतिबिम्ब केन्द्र
20.6.12 दांत के प्रतिबिम्ब केन्द्र
20.6.13 इनसेक्ट प्रतिबिम्ब केन्द्र ईलाज विधि
20.6.14 मिनी प्रतिबिम्ब केन्द्र ईलाज पद्धति
20.6.15 शक्ति बिन्दु
20.7 अभ्यासार्थ प्रश्न
20.8 संदर्भ ग्रंथ

## 20.0 उद्देश्य

1. वैकल्पिक चिकित्सा की विभिन्न पद्धतियों की परिचयात्मक जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
2. एक्यूप्रेशर, एक्यूपंक्चर तथा चुम्बक चिकित्सा का सैद्धान्तिक ज्ञान एवं प्रायोगिक अनुप्रयोग सीख सकेंगे।
3. वैकल्पिक चिकित्सा के द्वारा रोगों के निदान की दक्षता प्राप्त कर सकेंगे।

## 20.1 एक्यूप्रेशर का इतिहास

मानव शरीर एक मशीन है। यह सभी जानते हैं कि प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण मशीन के अवयव, कलपुर्जे किसी भी वक्त अपना काम बंद कर सकते हैं, एक भी अवयव यदि अपना कार्य बंद करता है या अपनी क्रिया मंद गति या तीव्र गति से करता है तो मशीन की कार्यप्रणाली में अन्तर आ जाता है। तब वैज्ञानिक इसका कारण खोजते हैं तथा उस अवयव का पता लगाते हैं, उसके कार्य को समझते हैं एवं उन कारणों की जांच करते हैं, जिनसे वह कार्यप्रणाली प्रभावित हुई है। शरीर विज्ञान में इसके अध्ययन को चिकित्सा पद्धति कहा जाता है। मनुष्य ने अपने शरीर की बीमारियों के उपचार के लिए निरंतर अध्ययन किया। हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि मनुष्य ने सबसे पहले यदि अपना उपचार किया है, तो एक्युप्रेशर पद्धति से ही अपना उपचार किया है, यह अलग बात है कि इस पद्धति का नामकरण बाद में हुआ। जब आपके शरीर के किसी भी भाग में दर्द होता है तो आप क्या करते हैं? आप सबसे पहले उस हिस्से को अपने ही हाथ से दबाते हैं। पेट में दर्द हो या सिर में दर्द हो, आंख में दर्द हो या पांव में दर्द हो तो हम अपने ही हाथ से उस स्थान को दबाते हैं। यह दबाने की बात हमें किसी ने नहीं बतलाई है। यह हम सहज ही करते हैं। प्रकृति ने हमें यह ज्ञान दिया है कि जिस जगह दर्द हो उसे दबाइये, दर्द में राहत मिलेगी। यह उपचार एक्युप्रेशर ही है। अत: यही पद्धति संसार की सबसे पुरानी चिकित्सा पद्धति है। इसका विधिवत् अध्ययन चाहे चीन में हुआ हो, किंतु इसका उद्भव भारतवर्ष में लगभग 6000 वर्ष पूर्व माना जाता है। भारत में महान् गंथ आयुर्वेद में इसका संदर्भ प्राप्त होता है। इसे मर्म चिकित्सा के नाम से जाना जाता था।

चीनी लोग एक्युप्रेशर तथा एक्युपंचर को अपना विज्ञान मानते हैं और 5000 वर्ष से भी अधिक पुराना बताते हैं। इनका चीन के प्राचीन ग्रंथों (अर्वाचीन एक्युपंचर) में उल्लेख मिलता है।

मौर्यकाल में बौद्ध भिक्षुओं ने यह विद्या अपनाई एवं इस विद्या का प्रचार किया। अमरीकी एक्युप्रेशर चिकित्सक डॉ. विलियम फ्रिटजजेराल्ड (Dr. William Fitzgerald) ने इस विद्या को आधुनिक गति दी। वर्तमान में चीन, अमेरीका, जापान, कोरिया आदि देशों में इसे अधिकृत चिकित्सा-पद्धति का दर्जा देकर अस्पतालों में उपचार करने के लिए उपयोग में लिया जा रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय आरोग्य संस्थान (World Health Organization) भी एक्युप्रेशर की ओर ध्यान दे रहा है। विश्व के अनेक देशों में इसकी शिक्षा एवं उपचार केन्द्र चलाए जा रहे हैं। हमारे यहां भी एक्युप्रेशर की लोकप्रियता एवं महत्ता बढ़ेगी यह निश्चित है।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Madhun

## 20.2 भारतीय संस्कृति और एक्यूप्रेशर

हमारे गांवों में गोदने की परम्परा है। आपने ग्रामीण महिलाओं के चेहरे पर कई स्थापनों पर गोदने के निशान देखे होंगे, ये एक्युपंक्चर के ही प्रमाण हैं। कान छेदना, नाक छेदना आदि एक्युपंक्चर के ही उदाहरण हैं। हमारे पूर्वजों ने इसकी आवश्यकताओं का ज्ञान नहीं कराया, मात्र इसे आवश्यक कहकर छोड़ दिया। धार्मिक कार्य समझकर हमारी पिछली पीढ़ियों ने इसे अपना लिया किंतु इसका अध्ययन उन्होंने नहीं किया।

आभूषणों का यदि वैज्ञानिक अध्ययन किया जाये तो आश्चर्य जनक तथ्य सामने आयेंगे। पांवों में पायजेब, सिर पर बोरला, भुजबंद, कमरबंद, बिछिया, नाक-कान की बालियां, गले में हार इन सबका शरीर पर दबाव शरीर को स्वस्थ रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जब हम प्रतिबिम्ब (Reflex) बिन्दुओं की जानकारी प्राप्त करेंगे तो स्वयं ही जान जायेंगे। जहाँ सिर पर बोरला लगाया जाता है वहाँ मासिक धर्म-विकार का बिन्दु है। जहाँ कान छेदा जाता है वह अनिद्रा एवं स्मृति, पक्षघात का रिफ्लेक्स बिन्दु है। जहाँ चूड़ियां पहनी जाती हैं वहाँ मूत्राशय, प्रोस्टेट के रिफ्लेक्स बिन्दु हैं। जहाँ पायजेब पहनी जाती है वहाँ लिम्फ ग्रंथियों एवं साइटिका नाड़ी के रिफ्लेक्स बिन्दु हैं। जहाँ बिछुआ पहनी जाती है वहाँ हृदय, नाक एवं गले के रिफ्लेक्स बिन्दु हैं। यहां नियमित प्रेशर पड़ते रहने से वे केन्द्र स्वस्थ एवं गतिमान रहते हैं तथा शरीर में चलने वाली ऋणात्मक एवं धनात्मक (यिन और यांग—Yin & Yang) प्राण ऊर्जा (Chi) का सही संचरण होता है। परिणामस्वरूप शरीर निरोगी बना रहता है। आज भी देहात में रहने वाली स्त्रियां सभी आभूषणों को धारण कर गौरव का अनुभव तो कर ही रही हैं, साथ ही स्वस्थ भी रह रही हैं। वहीं दूसरी ओर महानगरों में रहने वाली महिलाओं का आभूषणों से लगाव कम होता जा रहा है। फलस्वरूप हम सभी जानते हैं कि देहाती कर्मठ महिलाएं महानगरों की नाजुक महिलाओं की अपेक्षा अधिक स्वस्थ एवं निरोगी हैं।

भारतीय संस्कृति में पुरुष वेशभूषा, पहनावा, रीतिरिवाजों को भी स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जैसे सिर पर साफा, कमर में धागा, जनेऊ, कर्ण छेदन, हाथ में कड़ा, कलाई में धागा बन्धन आदि। सिर का साफा, टोपी, टोप, सूर्य की घातक किरणों (Sunstock) से बचाता है। जनेऊ-मूत्र सम्बंधि रोग नहीं होने देता, कमर में धागा हर्निया जैसे रोग से रक्षा करता है। कलाई में धागा या कड़ा पुरुष रोग के निवारण में महती भूमिका निभाता है।

## 20.3 एक्यूप्रेशर की परिभाषा

एक्युप्रेशर शब्द की उत्पत्ति एक्युपंचर से हुई है जिसका अर्थ है सुई द्वारा शरीर के विभिन्न बिन्दुओं पर छेद कर रोग को दूर करना। और जब इन्हीं बिन्दुओं पर दबाव देकर रोग दूर किया जाता है तो उसे एक्युप्रेशर कहते हैं।

एक्युप्रेशर दो शब्दों की संधि से बना है, एकस एवं प्रेशर। लेटिन में एकस (Acus) का अर्थ तीखी वस्तु है। प्रेशर (Pressure) का अर्थ दबाव होता है। अत: एक्युप्रेशर का अर्थ शरीर में स्थित निश्चित बिन्दुओं पर तीखी वस्तु द्वारा दबाव देकर चिकित्सा करना है।

## 20.4 एक्यूप्रेशर का वर्गीकरण

एक्युप्रेशर पद्धति की विस्तृत जानकारी के लिए इसे वर्गीकृत किया गया है।

### 20.4.1 जोनोलोजी (Zonology)

इस विधि में शरीर को लम्बाई में 10 समानान्तर (जोन) भागों में बांटा गया है। जिसे जोनथिरैपी (Zone Therapy) कहते हैं। 5 भाग दायीं तरफ तथा 5 भाग बायीं तरफ होते हैं। जो अंग जिस जोन में आता है उससे सम्बंधित प्रतिबिम्ब केन्द्र तलवों तथा हथेलियों में उसी जोन (क्षेत्र) में होंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

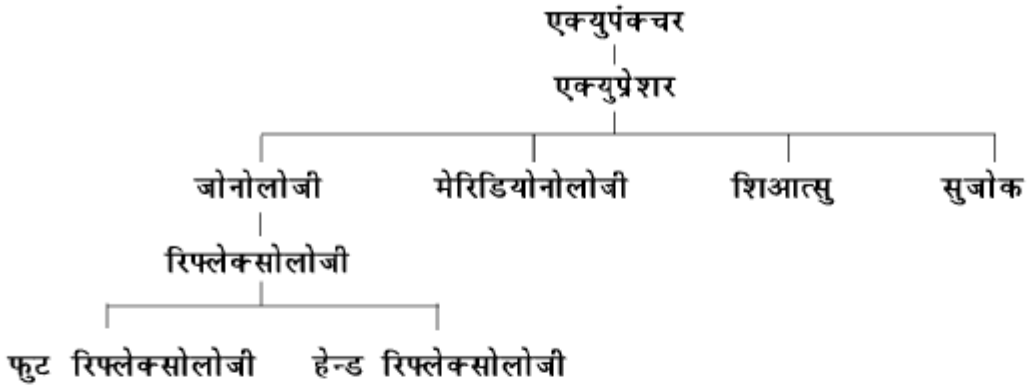


मानव शरीर को लम्बाई की भांति चौड़ाई के रूप में भी चार भागों में बांटा गया है। प्रतिबिम्ब केन्द्रों की पहचान करने के लिए शरीर के भागों के अनुरूप ही हाथों व पैरों को भी चार भागों में बांटा गया है। पहला भाग सिर (Head Area), दूसरा श्वसन तंत्र (Chest Area), तीसरा पाचन तंत्र (Digestive Area) और चौथा प्रजनन अंग व पांवों से सम्बंधित (Sex & Leg Area) है।

## 20.4.2 रिफ्लेक्सोलोजी (Reflexology)

शरीर के अंगों के प्रतिबिम्ब केन्द्र (Reflex Point), शरीर के कई भागों पर होते हैं। उपचार के लिए पहले यह मालूम करना होता है कि शरीर के किस हिस्से व अंग में रोग है। जिस अंग में रोग है उससे सम्बंधित प्रतिबिम्ब केन्द्र पर दबाव देकर रोग मिटाया जा सकता है। इसमें मुख्य रूप से फुट रिफ्लेक्सोलोजी अधिक प्रभावशाली व सुविधाजनक है। उपचार करते समय फुट रिफ्लेक्सोलोजी के अलावा अन्य रिफ्लेक्सोलोजी का भी उपयोग करेंगे तो अधिक सफलता मिलेगी।

रक्त वाहिनियों (Blood Vessels) तथा स्नायु-संस्थान (Nervous System) के आखिरी छोर हाथों व पैरों में होते हैं। शरीर के विभिन्न अंगों से सम्बंधित नाड़ियां हाथ व पैर में स्थित है। संलग्न चार्ट द्वारा यह सहज ही पता चल जाता है कि कौनसा अंग हाथ व पांव में कहां स्थित है।

### 20.4.2.1 फुट रिफ्लेक्सोलोजी (Foot Reflexology)

पांवों में तलवे व ऊपरी हिस्सों में प्रतिबिम्ब केन्द्रों पर प्रेशर देकर उपचार करना फुट रिफ्लेक्सोलोजी कहलाता है।

पांव का एक्युप्रेशर समूचे तंत्र में जीवन शक्ति के प्रवाह को प्रभावित करने व प्रतिबिम्ब क्षेत्र बड़ा होने के कारण प्रभावी समझा गया है।

### 20.4.2.2 हैण्ड रिफ्लेक्सोलोजी (Hand Reflexology)

हाथों में स्थित प्रतिबिम्ब केन्द्र पर प्रेशर देकर उपचार करने की कला को हस्त एक्युप्रेशर कहते हैं। किसी मरीज के पांव ठीक न हो या पांव में एक्युप्रेशर करने में कठिनाई हो तो उन्हें हस्त-एक्युप्रेशर करना चाहिये। सिरदर्द, साइनस, तनाव तथा यौन सम्बंधी रोगों में हस्त-एक्युप्रेशर अधिक प्रभावशाली होता है। चार्ट में Hand Reflex Point दर्शाए गये हैं।

### 20.4.2.3 इयर रिफ्लेक्सोलोजी (Ear Reflexology)

कान का आकार मां के पेट में बच्चे के उल्टे आकार के समान है और उसी आकार को आधार मानकर एक्युप्रेशर केन्द्रों की स्थिति जानी जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

**कानों पर एक्युप्रेशर केन्द्र**—कानों पर दिए विभिन्न बिन्दु शरीर के अंगों से सम्बंध रखते हैं। लीवर, पित्ताशय तथा एपेंडिक्स के एक्युप्रेशर बिन्दु केवल दायें कान पर हैं जबकि प्लीहा व हृदय का केन्द्र केवल बायें कान पर है।

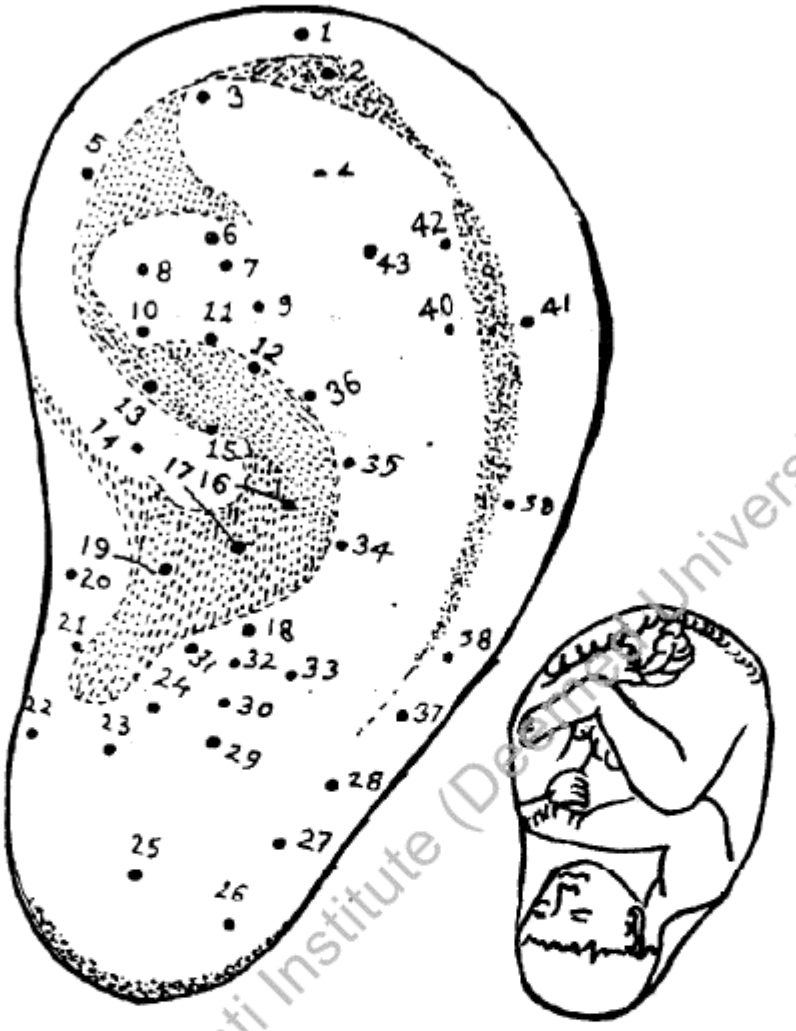


1. टॉन्सिल
2. एपेंडिक्स
3. एड़ी
4. घुटने का जोड़
5. उच्च रक्तचाप
6. दमा
7. नितम्ब
8. साइटिका वातनाड़ी
9. कूल्हा
10. मूत्राशय
11. मुत्रनलिका
12. गुर्दा
13. बड़ी आंत
14. मलाशय
15. छोटी आंत
16. आमाशय
17. श्वास नलिका
18. फेफड़ा
19. फेफड़ा
20. उच्च रक्तचाप
21. आंतरिक नाक
22. आंख
23. आंख
24. डिम्बग्रंथि
25. आंख
26. आंतरिक कान
27. ऊपरी जबड़ा
28. निचला जबड़ा
29. फेफड़ा
30. अण्डकोश
31. दमा
32. मस्तिष्क
33. दांत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

34. लीवर 35. प्लीहा 36. अग्नाशय/पित्ताशय
37. गर्दन 38. कन्धे का जोड़ 39. कन्धा
40. पेट 41. कुहनी 42. घुटना
43. नितम्ब का जोड़

## 20.4.3 संकेत सूची

एक्युप्रेशर की सरलता के लिए निम्न संकेतों का उपयोग किया जाता है—
G.P. (जी.पी.) जनरल पोइन्ट,
K.U.B. (के.यू.बी.) किडनी, यूरिनरी और ब्लेडर पोइन्ट,
M.O. (एम.ओ.) मेड्यूला ओब्लांगाटा,
X. Point (एक्स. पोइन्ट) सेक्स पोइन्ट,
C.N.S. (सी.एन.एस.) सेन्ट्रल नर्वस सिस्टम,
L. Point (एल. पोइन्ट) लोकल पोइन्ट,
10+3+8+3 (Ten+Three+Eight+Three)
10 Point जांघ के, 3 Point घुटने के, 8 Point पिंडली के, 3 Point टखने के,
Relax (रिलेक्स) रिलेक्सेशन तकनीक द्वारा रिलेक्स करना,
Solar (सोलर) डायफ्राम, सोलर पोइन्ट,
Head Area (हेड एरिया) मस्तक विभाग,
Chest Area (चेस्ट एरिया) छाती का विभाग,
Stomach Area (स्टोमक एरिया) पेट का विभाग,
Sex Area (सेक्स एरिया) प्रजनन विभाग,
Reflex Point (रिफ्लेक्स पोइन्ट) प्रतिबिम्ब केन्द्र (हाथ, पांव, कान पर पोइन्ट),
Ex. Point एक्स्ट्रा पोइन्ट, C1 to C7-सरवाईकल,
T1 to T12-थोरेसिक, L1 to L15-लम्बर,
S1 to S5-सेक्रल।

## 20.4.4 एक्युप्रेशर चिकित्सा हेतु आवश्यक निर्देश (Instruction for Acupressure Treatment)

- साफ, हवादार, शांत व अनुकूल वातावरण होना चाहिए।
- उपचार के समय रोगी को सही स्थिति में रखने के बाद प्रेशर दें।
- उपचार के समय रोगी व चिकित्सक दोनों आरामदायक स्थिति में तनावरहित हों।
- चिकित्सक को शान्तचित्त, लगन, सेवाभाव, सुविचार, रोगमुक्त व सात्विक आहार-विहार वाला होने चाहिए।
- एक्युप्रेशर पद्धति में साथ-साथ पौष्टिक भोजन व हल्का व्यायाम का भी ध्यान रखें।
- भोजन व चिकित्सा में कम से कम एक घंटे का अंतर रखें।
- एक दिन में दो बार उपचार आठ घंटे के अंतराल से किया जा सकता है।
- रोगी में जीवन के प्रति अच्छी भावना पैदा करें।
- रोगी को बिठाकर अथवा लिटाकर चिकित्सा करनी चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

- चिकित्सक को अपने हाथ के नाखून व्यवस्थित एवं कटे हुए रखने चाहिए।
- उपचार करने से पहले रोगी को तनाव मुक्त (**Relax**) करें। फिर पांव, चेहरे का निरीक्षण करें।
- गंभीर रोगी को पहले मेरिडियन बिन्दु (**Meridian point**) व फिर प्रतिबिम्ब (Reflex point) बिन्दुओं पर दबाव दें।
- रोगी की शारीरिक क्षमता, रोग एवं प्रेशर देने का अंग देखकर रोगी को सहन करने लायक दबाव देना चाहिये। प्रेशर देकर चेहरा देखें और अनुमान लगा लें। प्रेशर सुखद होना चाहिये दु:खद नहीं।
- एक पोइन्ट पर दबाव सात सैकण्ड से एक मिनट तक दिया जा सकता है। पूरा उपचार 20 मिनट से 30 मिनट तक करना चाहिये।
- दबाव (उपचार) क्रम से करें अर्थात् पहले अंगुलियों से शुरु करके एड़ी तक करना चाहिये। एक सप्ताह में उपचार परिणाम देखें एवं फिर परिणाम अनुसार बन्द करें या चालू रखें।
- बिन्दुओं पर दबाव देने के बाद थोड़ा झटका देकर छोड़ना चाहिए इससे खून का दौरा बढ़ता है।
- फ्रेक्चर, चोट अथवा ऑपरेशन वाले स्थान पर चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।
- चिकित्सा के दौरान रोगी अपने दोनों हाथ या पैर क्रास नहीं करें।
- एक ही रोगी में कई प्रकार के रोग होने की स्थिति में सबसे पहले गंभीर रोग का उपचार करना चाहिए।
- हड्डी पर प्रेशर न देवें।
- उचित अंग पर उचित उपकरण का प्रयोग करें।
- गर्भवती महिला को एक्यूप्रेशर चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।
- रोगी अन्य पद्धति से उपचार ले रहा हो तो उसका विरोध न करें।
- रोगी कोई दवा ले रहा हो तो दवा और एक्युप्रेशर चिकित्सा में कम से कम एक घंटे का अंतराल रखें।
- चिकित्सा और स्नान के बीच कम से कम आधे घंटे का अन्तर रखें।
- जिस पोइन्ट पर आप प्रेशर दे रहे हैं यदि उस स्थान का रंग पिंक (Pink) हो जाए तो वहाँ प्रेशर करें।
- एकदम भूखे पेट रोगी को चिकित्सा न दें।
- नशा किए हुए एवं बहुत थके व्यक्ति का एक्युप्रेशर न करें।
- रोगी के शरीर पर व डॉक्टर (थेरेपिस्ट) के हाथ में चिकना पदार्थ नहीं लगा होना चाहिये। उपचार के बाद चाहे तो क्रीम आदि लगाएं।
- दबाव क्रिया शुरु करने से पूर्व रोगी का मलमूत्र विसर्जन किया हुआ होना चाहिये।
- रोगी के दोनों पांव अच्छी तरह पानी से धुले साफ हों।
- शुरुआत में रोगी को शारीरिक दर्द, पीड़ा ज्यादा होती है, लेकिन धीरे-धीरे यह पीड़ा कम हो जाएगी, ऐसा रोगी को भी आश्वासन दें।

## 20.4.5 एक्युप्रेशर के लाभ (Benefits of Acupressure)

1. त्वचा में स्फूर्ति पैदा होती है।
2. शरीर में आवश्यक तत्त्वों का प्रसार होता है एवं मांसपेशी के तंतुओं में लचक पैदा करता है।
3. शरीर में रोग प्रतिरोधक शक्ति बनी रहती है।
4. सम्पूर्ण शरीर सक्रिय रहता है एवं सुचारू रूप से कार्य करता है।
5. यह चिकित्सा घर पर स्वयं भी कर सकते हैं।
6. कम खर्चीली, बिना दवाई की चिकित्सा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

7. प्रति प्रभाव (Side effect) से मुक्त, सरल चिकित्सा प्रणाली है।

8. पीड़ा रहित एवं सुरक्षित है।

9. बहुत सरल—यहां तक की बच्चे भी सीख सकते हैं।

10. स्वभाव में परिवर्तन संभव है।

11. इसे करने के लिए अधिक समय देने की जरूरत नहीं पड़ती तथा कहीं पर भी किसी भी समय की जा सकती है।

## 20.5 चुम्बक चिकित्सा

### 20.5.1 चुम्बक चिकित्सा का इतिहास

प्राचीनकाल के आर्य लोग चुम्बक को 'आशमा', 'अश्म' या 'सिक्तावली' कहते थे और इसके विशेष गुण 'लोहे को आकर्षित करने वाली शक्ति से' भली-भांति परिचित थे। उसके अतिरिक्त वे मानते थे कि अनेक प्रकार के रोगों को दूर करने की शक्ति भी इसमें है। तभी तो अथर्ववेद के भाग-1, खण्ड-1, सूक्त-17 के मंत्र 3 और 4 में उल्लेख है कि शरीर से रक्त बहने का इलाज किस प्रकार बालू से बनी वस्तु सिक्तावली की सहायता से किया जाता है।

अथर्ववेद के ही भाग-1, खण्ड-7, सूक्त 35 के मंत्र 2 और 3 में इस बात का उल्लेख है कि विशेष पत्थरों (अश्म) की सहायता से किस प्रकार स्त्रियों के रोगों का निदान सम्भव है। चिकित्सा शास्त्र के ही प्राचीनतम् ग्रंथ आयुर्वेद के साहित्य में चुम्बक के लिए 'लोहकांत' शब्द लिखा है।

आधुनिक युग में चुम्बक की खोज ईसा से कई वर्षों पहले हुई। इस विषय में अनेक कथन हैं। जैसे आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले मैग्नेज नामक एक गड़रिये ने माउंट ईडा पर घूमते हुए देखा कि उसकी लाठी जिसके सिर पर लोहे का छल्ला लगा था, एक पत्थर से चिपक गयी और उसके जूते के नीचे लगी कीलें भी पत्थर से चिपक गयीं फलस्वरूप उसका चलना मुश्किल हो गया। उस समय इस पत्थर को 'लोडस्टोन' के नाम से जानते थे, मैग्नेज द्वारा इसकी लौह आकर्षण शक्ति का पता लगाने के कारण इस पत्थर का नाम 'मैग्नेट' रख दिया गया। दूसरा कथन है कि बहुत समय पहले एशिया माइनर के क्षेत्र में मैगनीशिया में गहरे रंग का कच्चा लोहा मिलता था जिसमें मुख्य रूप से लोहा और ऑक्सीजन होता था। चूंकि गहरे रंग के लोहे में सामान्य लोहे को खींच लेने की या उसमें चिपकने की शक्ति थी फलस्वरूप उस प्रदेश के नाम पर इसका नाम 'मैग्नेटाइज' कर दिया गया।

800 वर्ष ईसा पूर्व यूनान के लोग मैग्नेट को 'चकमक पत्थर' के नाम से पुकराते थे। महान् दार्शनिक अरस्तु, अफलातून और होमर के ग्रंथ में भी इसकी चर्चा है। जब चीन के नाविकों को इस बात का पता चला कि प्रकृति में पाये जाने वाले इस पत्थर से 'दिशा-निर्देश' का भी काम ले सकते हैं तो उन्होंने अथक परिश्रम के पश्चात् एक 'दिशा सूचक' यंत्र बना डाला जिसकी सहायता से वे समुद्र में अपना रास्ता खोज लेते थे। इसीलिए इन्होंने इसका नाम 'दिशा निर्देशन' पत्थर रखा। स्विट्जरलैंड के प्रसिद्ध कोमियागर, डॉक्टर और रहस्यवादी फिलिप्स औरेयोलोस पैरासेल्स (1493-1541) ने चुम्बक के इतिहास में बड़ा नाम कमाया। उन्होंने चुम्बक की विशेष शक्तियों से 'रोग दूर करने की शक्ति' का पहली बार वर्णन किया। उन्होंने लिखा है कि चुम्बक विशेष रूप से सूजन एवं त्वचा के छिलने में अंतड़ियों एवं गर्भाशय के रोगों में और इसके अतिरिक्त शरीर की बाहरी और अन्दरूनी अनेक व्याधियों को दूर करने में सहायता देता है। आधुनिक चुम्बक चिकित्सकों ने कई शताब्दी पूर्व लिखी उनकी ये बातें अक्षरस: सही पायी।

अपने समय के प्रसिद्ध डॉक्टर विलियम गिल्बर्ट (1540-1603), जो महारानी एलिजा बेथ (प्रथम) के डॉक्टर भी थे। वे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने विद्युत और चुम्बकत्व का वैज्ञानिक अध्ययन किया। उन्होंने सबसे पहले बताया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कि पृथ्वी एक बहुत बड़े चुम्बक के समान है। जिसको प्रमाणित करने के लिए उन्होंने कई प्रयोग किये जैसे उन्होंने एक लोहे की छड़ भूमि में गाड़ दी, जिसका एक सिरा उत्तर की ओर एवं दूसरा सिरा दक्षिण की ओर था। और उस पर हथौड़े लगाए फलस्वरूप पृथ्वी के प्रभाव से उसमें चुम्बकत्व आ गया आदि।

वैसे तो डॉ. गिलबर्ट के बाद कई वैज्ञानिकों ने चुम्बक पर अनेक प्रयोग एवं अनुसंधान किये किन्तु प्रसिद्ध वैज्ञानिक माइकेल फैराडे (1867-1971) की उपलब्धियां महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी पहली उपलब्धि यह थी कि उन्होंने इस बात का प्रमाण दिया कि बिजली करेंट के आस-पास चुम्बकत्व होता है। उन्हानें विद्युत चुम्बकत्व, शक्ति की चुम्बकीय पंक्तियां, चुम्बक के घूमने से उत्पन्न शक्ति विषयों के अनुसंधान से चुम्बकत्व-विज्ञान को समृद्ध बनाया। शोध रिकॉर्ड के अनुसार उन्होंने चुम्बक-विज्ञान पर 16000 से अधिक प्रयोग किये। चुम्बक के विभिन्न भौतिक अनुसंधान के अतिरिक्त उन्हें जीव चुम्बकत्व (बायो- मैग्नेटिज्म) एवं चुम्बकत्व-रसायन शास्त्र (कैमिस्ट्री ऑफ मैग्नेटिज्म) का संस्थापक भी माना जाता है।

अपने देश भारत में चुम्बकत्व रसायन शास्त्र के सिद्धान्तों और उसके प्रयोग के बारे में सबसे पहला ग्रंथ 1935 में डॉ. शांति स्वरूप भटनागर एवं डॉ. के.एन. माथुर ने लिखा। उन्हें इस काम पर एक पुरस्कार भी दिया गया था।

जीव-चुम्बकत्व के सिद्धान्तानुसार खोजी गयी चुम्बक-चिकित्सा प्रणाली द्वारा विभिन्न रोगों पर अनेक सफल प्रयोग आज न केवल अमरीका, रूस एवं जापान जैसे देशों में बड़े पैमाने पर किये जा चुके हैं। बल्कि अब अपने देश में भी अनेक वैज्ञानिक, डॉक्टर, योगी एवं प्राकृतिक-चिकित्सक भी इसका उपयोग चिकित्सा हेतु करने लगे हैं।

## 20.5.2 चुम्बक के भौतिक गुण

भौतिक शास्त्र के वैज्ञानिकों ने चुम्बक में निम्नलिखित भौतिक गुणों की खोज की।

1. चुम्बक एक विशेष प्रकार की खनिज धातु है।

2. चुम्बक लोहे के टुकड़ों को सदा अपनी ओर खींचने की शक्ति रखता है यदि चुम्बक कम शक्ति का हो और लोहे का टुकड़ा अधिक भारी हो तो चुम्बक का उससे स्पर्श करा देने से वह उससे चिपक जाता है। इसके विपरीत यदि लोहा हल्का है और चुम्बक शक्तिशाली है तो वह लोहे को खींच लेता है।

3. चुम्बक को यदि धागे की सहायता से स्वतंत्र रूप से लटका दिया जाए तो उसका एक सिरा सदा उत्तर की ओर रहेगा, तो दूसरा दक्षिण की ओर रहेगा। लाख प्रयत्न करने पर भी जो सिरा उत्तर की ओर है वह बार-बार हटाने पर उत्तर की ओर ही रहेगा, और जो सिरा दक्षिण की ओर है वह दक्षिण की ओर ही रहेगा। इसी कारण चुम्बक-चिकित्सा के वैज्ञानिकों ने उत्तर की ओर रहने वाले सिरे को उत्तरी ध्रुव (नार्थ पोल=N) एवं दक्षिण की ओर रहने वाले सिर को दक्षिणी ध्रुव (साउथ पोल =S) नाम रख दिया।

4. चुम्बक के दो टुकड़े यदि एक दूसरे के सामने लाये जायें तो कभी वे एक दूसरे से चिपक जाते हैं और कभी एक दूसरे से दूर भागते हैं। जब दोनों चुम्बक के ध्रुव एक-दूसरे के विपरीत होते हैं तो आपस में आकर्षित होते हैं, जैसे एक चुम्बक का उत्तरी ध्रुव दूसरे चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव हो तो आमने-सामने आने पर आपस में चिपक जाते हैं और जब दोनों चुम्बक के ध्रुव समान होते हैं, जैसे उत्तरी ध्रुव और उत्तरी ध्रुव या दक्षिण ध्रुव और दक्षिण ध्रुव तो विकर्षित होते हैं या यों कहें कि ये एक दूसरे से दूर भागते हैं।

5. चुम्बक के कितने भी सूक्ष्मतर-सूक्ष्म टुकड़े कर दिये जायें किंतु उनके उत्तर और दक्षिण ध्रुव नष्ट नहीं किये जा सकते अर्थात् उसका एक सिरा उत्तरी ध्रुव तो दूसरा सिरा दक्षिणी ध्रुव स्वयं तुरन्त बन जाते हैं।

6. चुम्बक में यदि किसी लोहे के टुकड़ों को लगा दें, तो उसमें भी चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् वह भी चुम्बक हो जाता है। क्रियात्मक रूप से आप किसी चुम्बक में लोहे की पिनें कुछ देर चिपका कर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

देखें तो चुम्बक के हटाने के बाद वे पिनें अन्य सामान्य पिनों को अपनी ओर खींचने लगती हैं। अर्थात् चुम्बक के सम्पर्क में आने से वे चुम्बकीय गुणों से युक्त हो जाती हैं।

7. चुम्बक से निकलने वाली उत्तरी ध्रुव की तरंगें चन्द्रमा के समान शीत गुण वाली होती हैं और दक्षिणी ध्रुव की तरंगें सूर्य के समान उष्ण गुण वाली होती हैं। यही कारण है कि उत्तरी ध्रुव प्रतिक्रियात्मक परिणाम बतलाता है अर्थात् वह जंतु नाशक है और दक्षिणी ध्रुव जीवन शक्ति वर्धक होकर उसके क्रियात्मक परिणाम को प्रकट करता है। अर्थात् उत्तरी ध्रुव के प्रयोग से खुले घाव आदि का सड़ना रूक जाता है और दक्षिणी ध्रुव के प्रयोग से सूजन एवं दर्द नष्ट हो जाते हैं और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम यों कह सकते हैं कि उत्तरी ध्रुव कीटाणुओं तथा जीवाणुओं के विकास को रोकता है, फलस्वरूप फोड़े-फुन्सियों में पायी जाने वाली पीप आदि को नष्ट करके घावों को भरने में सहायता करता है और दक्षिणी ध्रुव रक्त संचार को तेज करके निर्जीव कोशिकाओं को पुनर्जीवित करता है। साथ ही उष्णता के कारण दर्द एवं सूजन को भी समाप्त करता है।

8. चुम्बकीय तरंगें लोहे को छोड़कर कपड़ा, शीशा, लकड़ी, प्लास्टिक, रबड़ आदि सभी पदार्थों एवं एल्यूमीनियम, पीतल, तांबा, स्टैनलेस, सोना, चांदी आदि सभी धातुओं में से पार हो जाती हैं। यही कारण है कि यदि हथेली के ऊपर चुम्बक रख लें और हथेली के नीचे लोहे की पिन रख लें तो हथेली को ऊपर उठाने पर वे लोहे की पिनें हथेली के नीचे चिपक जायेंगी। इससे सिद्ध होता है कि चुम्बक की तरंगें शरीर को भी भेद जाती हैं।

9. वैज्ञानिक के अनुसार चुम्बक के उत्तरी ध्रुव में प्रोटोन अणु शक्ति एवं दक्षिण ध्रुव में इलेक्ट्रॉन अणुशक्ति होती है। इसी कारण से उनकी प्रेरणा दिशाएं विरुद्ध होती हैं।

10. सामान्यत: चुम्बक का अर्थ है जो किसी को अपनी ओर आकर्षित कर ले या खींच ले। इसीलिए तो हम लोग कहते भी हैं कि अमुक व्यक्ति के अन्दर अद्‌भुत चुम्बक शक्ति है जो भी एक बार सम्पर्क में आ जाता है, उसका हो जाता है किंतु यहां पर चुम्बक का अर्थ 'लौह-चुम्बक' से है अर्थात् खनिज की वह धातु जो लोहे को अपनी ओर खींचे।

## 20.5.3 चुम्बक के प्रकार

चुम्बकों को मोटे तौर पर दो भागों में बांटा गया है—

1. प्राकृतिक चुम्बक (लोड स्टोन)
2. कृत्रिम चुम्बक (आर्टिफीशियल मैग्नेट)

प्राकृतिक चुम्बक प्रकृति में खनिज के रूप में मिलते हैं जिसकी प्राथमिक पहचान लोहे को आकर्षित करने की शक्ति से की जाती है। इन प्राकृतिक चुम्बकों की शक्ति क्योंकि एक समान रहती है अर्थात् उसे घटाया या बढ़ाया नहीं जा सकता है इस कारण चुम्बक चिकित्सा में प्राकृतिक चुम्बकों का प्रयोग युक्तियुक्त ढंग से करना सम्भव नहीं है किंतु कृत्रिम चुम्बक जिसे मानव ने इस प्रकार से तैयार किया हो कि वह चुम्बक विभिन्न शक्ति के और अनेक आकार-प्रकार के हों।चुम्बक चिकित्सा में इन्हीं कृत्रिम चुम्बकों का प्रयोग किया जाता है।

कृत्रिम चुम्बक को भी दो मुख्य वर्गों में बांटा गया है-

1. स्थायी चुम्बक (परमानेन्ट मैग्नेट)
2. बिजली के चुम्बक (टैम्परेरी चुम्बक)

स्थायी चुम्बक एक बार बन जायें तो उनकी शक्ति सदा बनी रहती है। इसी कारण इसका नाम स्थायी चुम्बक है यदि उन्हें संभाल कर रखा जाए तो वे सौ वर्ष या उससे अधिक भी चल सकते हैं। बिजली के चुम्बक उस समय काम करते हैं जब उनमें बिजली का प्रवेश किया जाता है। बिजली के चुम्बक बिना बिजली के नहीं चल सकते। बिजली के चुम्बकों का प्रयोग जहाजों में लोहे का सामान लादने या उतारने के लिए क्रेनों के माध्यम से किया जाता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

है। चुम्बक का प्रयोग गाड़ियों में चुम्बकीय ब्रेक के अतिरिक्त एम्प्लीफायरों, आर्मेचर, घंटियों, रेडियो, दूरसंचार, ट्रांसफार्मरों में भी होता है।

## 20.5.4 चुम्बक चिकित्सा के चुम्बकों के आकार एवं प्रकार

वैसे तो स्थाई चुम्बक (परमानेंट मैग्नेट) अनेक धातुओं से बनते हैं। किन्तु सबसे अधिक जिस मिश्रित धातु का प्रयोग होता है उसे एलनीको कहा जाता है। इस मिश्रित धातु में एल्यूमिनियम, निकिल, लोहा और कोबाल्ट मिले होते हैं। इसके अतिरिक्त फैरिक एवं बेरियम के ऑक्साइड से तैयार की गयी कृत्रिम सामग्री से भी चुम्बक बनाये जाते हैं। जिन्हें सिरोमिक, फैराइट या ग्रेफाइट चुम्बक कहते हैं। प्राय: हम लोग इन तीनों चुम्बकों को सिरेमिक चुम्बक ही कह देते हैं।

चुम्बकों के व्यावहारिक प्रयोग हेतु उपुर्यक्त सामग्रियों से विभिन्न आकारों के चुम्बक बनाये जाते हैं। जैसे—छड़ के आकार के चुम्बक, बेलन के आकार के ठोस चुम्बक, बेलन के आकार के छेद युक्त चुम्बक, अंगूठी के आकार के चुम्बक, छेद वाले चौकोर चुम्बक, ठोस चौकोर चुम्बक, दूज के चांद जैसी शक्ल वाले चुम्बक, अंग्रेजी के अक्षर यू की शक्ल वाले चुम्बक, अर्धचन्द्राकार चुम्बक, वर्गाकार चुम्बक आदि।

चुम्बक-चिकित्सा मे अधिकतर जिन चुम्बकों का प्रयोग होता है वे एलनीको धातु के बेलन के आकार के चुम्बक होते हैं या दूज के चांद की शक्ल वाले जिन्हें सिरेमिक चुम्बक कहते हैं। इन बेलनाकार चुम्बकों के आकार एवं शक्ति को निश्चित करके उनका योग (एसेम्बिलिंग) करते हैं। जिन्हें मुख्यत: निम्नलिखित पांच भागों में बांट लेते हैं—

1. विशेष उच्च शक्ति के चुम्बक (प्रेसीडेन्ट मैग्नेट),
2. उच्च शक्ति के चुम्बक (हाई मैग्नेट),
3. मध्य शक्ति के चुम्बक (मीडियम मैग्नेट),
4. निम्न शक्ति के चुम्बक (लो मेगनेट),
5. दर्द निवारक चुम्बक (एन्टी पेन मैग्नेट)।

इन पांचों चुम्बकों की सहायता से सभी रोगों की चिकित्सा की जा सकती है। किंतु सुविधा के लिए और कम शक्ति वाले विभिन्न आकारों वाले चुम्बकों की सहायता से निम्नलिखित चुम्बक पट्टियाँ (मैग्नेटिक-बेल्ट) भी बनायी गयी है। जैसे—

1. मैग्नेटिक हेड बेल्ट,
2. मैग्नेटिक थ्रोट बेल्ट,
3. मैग्नेटिक बैली बेल्ट (सिंगल),
4. मैग्नेटिक बैली बेल्ट (डबल),
5. मैग्नेटिक बैली बेल्ट (ट्रिपल),
6. मैग्नेटिक बी.पी. बेल्ट,
7. मैग्नेटिक नी बेल्ट,
8. मैग्नेटिक नी कैप,
9. मैग्नेटिक स्पांडलायसिस बेल्ट,
10. मैग्नेटिक लम्बर बेल्ट,
11. मैग्नेटिक आई बेल्ट,
12. मैग्नेटिक टांसिल बेल्ट,
13. मैग्नेटिक इयर बेल्ट,
14. मैग्नेटिक नेकलेस,
15. मैग्नेटिक एस. बेल्ट,
16. मैग्नेटिक गिलास,
17. इलेक्ट्रो मैग्नेट वायब्रेटर,
18. हेल्थ बैंड,
19. मैग्नेटिक हाइट इन्क्रीजिंग बेल्ट,
20. मैग्नेटिक स्पाइन बेल्ट,
21. एन्टी पेन मैग्नेट—
    (i) स्माल (ii) मीडियम (iii) हाई,
22. मैग्नेटिक हेड कैप।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 20.5.5 चुम्बक चिकित्सा की वैज्ञानिकता

प्रत्येक मानव शरीर लाखों कोशिकाओं से रचित है। वे कोशिकाएं नियमित रूप से कम्पित होती रहती हैं। जिससे एक 'गतिज जीवनी शक्ति' उत्पन्न होती है। यह जीवनी शक्ति रोग निवारक एवं शक्ति प्रदायक के रूप में जानी जाती है। इन कोशिकाओं के एकरूपता (होमोजीनियस) कंपन्न से एकरूप (यूनीफार्म) चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न होता है और प्राणी अपने को पूर्ण स्वस्थ एवं ताजगी से भरा हुआ अनुभव करता है। किंतु जब इन कोशिकाओं की तरंगों में किसी प्रकार की बाधा होती है, तो जो चुम्बकीय क्षेत्र होता है वह भी बाधित हो जाता है और जिसका प्रभाव यह होता है कि उससे सम्बंधित विभिन्न अंग दर्द, सूजन, कड़ापन, थक्का एवं रूकावट जैसे विकारों से भर जाता है आदि। यह सभी चिह्न विभिन्न प्रकार के रोगों के नाम से विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों में जाने जाते हैं। किंतु दैवीय प्रकृति (डिवाइन-नेचर) प्रत्येक मनुष्य को सुन्दर स्वास्थ्य देने की भावना रखती है। इस प्रकार किसी भी बीमारी अथवा चिह्न के लिए वह दैवीय शक्ति, उस अस्वस्थ अंग में समस्त जीवनी शक्ति को रोग निवारण में लगा देती है। वास्तव में प्रत्येक बीमारी एक प्रकार से शरीर से विकार और सड़न (टॉक्सीन) निकालने का एक प्रयास है। इस प्रकार की बीमारी के लक्षणों को, प्रकृति द्वारा सावधान करने की प्रेरणा समझना चाहिए। न कि उन्हें दमनात्मक औषधियों से दबावें। यह तो आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में शीघ्र स्वस्थ करने की परम्परा चली है, हमें कुछ समय के लिए राहत दे सकती है। किंतु साथ ही शरीर रचना को दुर्घटना ग्रस्त कर देती है। रोगों से लड़ने की अपेक्षा हमें उनके मूल कारणों को निर्धारित करके उसके अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए। जहाँ अनुकूल भोजन सुधार, विश्राम, युक्ति-युक्त उपवास आदि क्रियायें शीघ्र स्वस्थ होने में सहायक होंगी। वहीं चुम्बक का प्रयोग शरीर के जैविक विद्युत शक्ति को संतुलित करने में बड़ी मदद करता है। और यह चुम्बक चिकित्सा नाना प्रकार के विकार दूर करने में सहयोगी होता है।

चुम्बक चिकित्सा मनुष्य के लिए क्रांतिकारी उपहार है। संसार में अनेक समर्पित व्यक्ति असाध्य एवं जीर्ण रोगों की चुम्बक द्वारा चिकित्सा निदान में लगे हुए हैं। इसका आधार यह है कि शरीर की प्रत्येक कोशिका चुम्बकीय विद्युत से रचित एक इकाई है। उसका अपना व्यक्तिगत चुम्बकीय क्षेत्र है। रीढ़ की हड्डी के अन्दर एक सुषुम्ना नाड़ी है। जो 'इलेक्ट्रिक जनरेटर' है। इससे उत्पन्न विद्युत स्पन्दन शरीर में नाड़ियों के द्वारा ले जाया जाता है। हमारा सामान्य स्वास्थ्य इसी नाड़ी संस्थान पर आधारित है। चुम्बक चिकित्सा केन्द्रीय नाड़ी संस्थान को संतुलित करने में बहुत उपयोगी है। जिसके माध्यम से शरीर के विभिन्न भागों को ऊर्जा प्राप्त होती है। प्राकृतिक चिकित्सा की तरह यह चुम्बकीय-चिकित्सा भी बीमारी की जड़ पर कार्य करती है। वास्तव में यह एक औषधि विहीन चिकित्सा है जो प्रकृति ने हमें उपहार के रूप में दी है। इसके किसी प्रकार के बुरे प्रभाव नहीं देखे गये हैं। जबकि इसके परिणाम शरीर के रक्त संवहन में विभिन्न प्रकार से सहयोगी हैं।

## 20.5.6 चुम्बक के चिकित्सात्मक गुण

1. शरीर के जिस हिस्से पर चुम्बक रखते हैं वहाँ पर रक्त संचार की वृद्धि हो जाती है फलस्वरूप वहाँ का विजातीय द्रव्य (फारेन मैटर) घुलकर पसीना या पेशाब अथवा मल द्वारा निकल जाता है।

2. शरीर के जिस हिस्से पर चुम्बक रखते हैं वहाँ की नाड़ियों में प्राण का प्रवाह तेज हो जाता है फलस्वरूप उस हिस्से की नाड़ियों का कड़ापन या सकुंचन अथवा सूखापन नष्ट हो जाता है।

3. अनुभव के अनुसार चिकित्सा में प्रयोग होने वाले चुम्बक का उत्तरी ध्रुव (नार्थ पोल) ठंडा (चन्द्रमा) के समान होता है और दक्षिणी ध्रुव (साउथ पोल) गरम (सूर्य के समान) होता है फलस्वरूप चोट, सूजन या जहाँ पर गर्मी की आवश्यकता होती है वहाँ पर चुम्बक का दक्षिणी ध्रुव (साउथ-पोल) लगाने पर दर्द एवं सूजन में तुरन्त आराम मिलता है। किन्तु जहाँ पर घाव हो या बैक्ट्रीरिया (जीवाणु) हों अथवा ठंडक की आवश्यकता हो वहाँ पर उत्तरी ध्रुव (नार्थपोल) लगाने पर घाव भरेगा, बैक्टीरिया नष्ट होंगे एवं ठंडक मिलेगी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. किसी कष्ट स्थान (रोग-ग्रस्त) के क्षेत्र में उत्तरी ध्रुव (नार्थ-पोल) एवं दक्षिणी ध्रुव (साउथ-पोल) को परिपथ (सर्किट) बनाकर रखते हैं तो उस क्षेत्र के सभी रोग एवं कष्ट अतिशीघ्र नष्ट हो जाते हैं। परिपथ कैसे बनाया जाता है या चुम्बक चिकित्सा की प्रयोग विधि क्या है? इसे सीखना अनिवार्य है।

5. शरीर के किसी हिस्से पर जब रक्त नलिकाओं में रक्त संचार की वृद्धि होती है तो सूक्ष्म नलिकाओं में भी खून की वृद्धि होना स्वाभाविक है जो बीमारी में या बढ़ती उम्र में घटती है और जब नाड़ियों में प्राण ऊर्जा की वृद्धि होती है तो न्यूरॉन (स्नायु) में प्राण ऊर्जा की वृद्धि स्वाभाविक है जो बीमारी में या बढ़ती उम्र में घटती है। फलस्वरूप निष्क्रिय कोशिकाएं (सेल्स) सक्रिय हो जाती हैं, मुद्रा कोशिकाऐं घुलकर निष्कासक मार्ग से निकल जाती हैं एवं नयी कोशिकाओं का निर्माण होने लगता है और रोगी स्वस्थ होने लगता है।

**बोध प्रश्न 1:**

*1. रिफ्लेक्सोलोजी से आप क्या समझते हैं?*

*2. एक्युप्रेशर के लाभ बताएं।*

*3. चुम्बक चिकित्सा की वैज्ञानिकता बताएं।*

## 20.6 एक्युपंक्चर

सु-जोक एक कोरियन शब्द है। सु—हाथ, जोक—पांव। हाथ और पांव दोनों ही मनुष्य के शारीरिक और मानसिक बीमारियों को ठीक करने के लिए उपयुक्त हैं। यह सिद्धान्त आज से प्राय: 5000 सालों से भी पहले कई तरह की पद्धतियों द्वारा प्रमाणित होता रहा है। इन पद्धतियों में एक्युप्रेशर, रेकी तथा अन्य कई पद्धतियां समय-समय पर मनुष्य की बीमारियों को ठीक करने के लिए प्रयोग में लाई जाती रही हैं। एक्युपंचर में चाईनिज एक्युपंचर, इयर (कान) एक्युपंचर, कोरियन एक्युपंचर आदि कई तरह के प्रयोग समय-समय पर किए गये जो आज तक प्रचलित हैं। चाइनिज एक्युपंचर में आज से 5000 साल से भी पहले शरीर में मेरिडियन शक्ति किस रास्ते से चलती है इसका पता लगाया गया और उसी के अनुसार हाथ और पांव में तथा पूरे शरीर में दबाव देकर या सुई लगाकर इलाज किया जाता है।

नाखूनों की बनावट और उनमें भिन्नता तथा उनके रंगों के आधार पर भी मनुष्य के स्वभाव के बारे में जाना जाता है तथा बीमारियों को पहचान कर उनका इलाज किया जाता है। ज्योतिष शास्त्र में तो हाथ और पांव की बनावट, रेखाओं और चिह्नों के माध्यम से मनुष्य के भूत, वर्तमान और भविष्य के बारे में गणना की जाती है। हाथ और पांव की अंगुलियों में तरह-तरह के पत्थर विशिष्ट धातुओं में जड़कर पहनाए जाते हैं तथा उनसे कई तरह की बीमारियों का इलाज किया जाता है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि हाथ और पांव मनुष्य के शरीर के महत्त्वपूर्ण अंग हैं और उनके प्रतिबिम्ब केन्द्रों की सहायता से हम शारीरिक और मानसिक दोनों स्तर पर सभी तरह की बीमारियों का निदान और इलाज कर सकते हैं।

### 20.6.1 एक्युपंचर का इतिहास

सुजोक एक्युपंचर की खोज कोरियन डॉ. सर पार्क जे वु ने की थी। वे इस खोज में करीब पिछले 30 वर्ष से लगे हुए थे। डॉ. सर पार्क का मानना है कि ये खोज उन्होंने नहीं की बल्कि ईश्वर ने स्वयं यह चिकित्सा पद्धति मानव जाति के हित के लिए मनुष्य के हाथ और पांव में स्थापित की है। उन्होंने तो ईश्वर द्वारा प्रदत्त इस पद्धति को सारे विश्व में मानव जाति के कल्याण के लिए फैलाने का बीड़ा उठाया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

सुजोक एक्युपंचर में पूरे शरीर को हाथ की हथेलियों और पांवों के टखनों तक में सीमित किया गया है। इस पद्धति में तरह-तरह के Instruments जैसे प्रोब, सुई (Needle), छोटे-छोटे बटन के आकार के मैग्नेट आदि का प्रयोग कर तथा खास-खास बिन्दुओ (Points) पर दबाव देकर सभी तरह की बीमारियों का उपचार किया जाता है।

सुजोक एक्युपंचर में दो तरह से किसी भी बीमारी की चिकित्सा की जाती है। पहले तरीके में शारीरिक स्तर (Physical Level) पर विशेष बिन्दुओं पर विशेष उपकरणों द्वारा दबाव देकर या सुई (Needle) से एक्युपंक्चर करके इलाज किया जाता है।

दूसरे तरीके में मेरिडियन सिस्टम के द्वारा, जिसे सुजोक एक्युपंचर में हाथ और पांव की बड़ी अंगुली (Middle Finger) और तर्जनी (Index Finger) में सीमित किया गया है। उसमें सुई या छोटे-छोटे बटन के आकार के चुम्बक खास-खास पोइन्टस में लगाकर Metaphysical तरीके से ईलाज किया जाता है। ये दोनों ही पद्धतियां अपने आप में पूर्ण हैं किंतु जरूरत के अनुसार दोनों पद्धतियों को एक साथ मिलाकर ईलाज किया जाए तो बहुत अच्छे परिणाम सामने आते हैं।

## 20.6.2 समानता (Similarities)

समय-समय पर हाथ और पांव को कई तरह की चिकित्सा पद्धतियों के लिए प्रयोग में लाया गया है। एक्युप्रेशर, चाइनिज एक्युपंचर, कोरियन एक्युपंचर आदि पद्धतियां काफी प्रचलित हैं और प्रतिबिम्ब केन्द्रों से कई तरह से चिकित्सा की जाती है। कान (Ear) एक्युपंचर भी एक तरह की (Correspondence) प्रतिबिम्ब पद्धति है। कान का आकार मां के पेट में बच्चे के उल्टे आकार के समान है और उसी आकार को आधार (Base) मानकर चिकित्सा के लिए अंगों की स्थिति जानी जाती है।

इन सभी पद्धतियों में हाथ और पांव में प्रतिबिम्ब केन्द्र पूर्ण रूप से मनुष्य के शरीर के समान नहीं है। लेकिन सुजोक एक्युपंचर में मनुष्य के शरीर के अनुसार हाथ और पांव के प्रतिबिम्ब केन्द्रों में (उपयोग के अनुसार) पूर्ण समानता है।

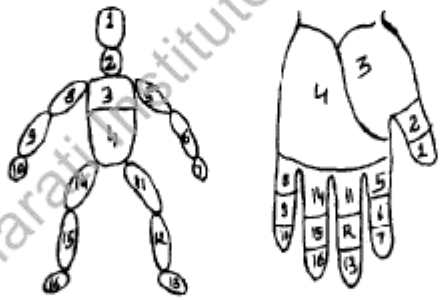

समानता

मनुष्य के शरीर को मुख्यत: 6 हिस्सों में बांटा जा सकता है। पहला हिस्सा सिर और गले तक का, दूसरा बीच का पूरा शरीर, तीसरा और चौथा हिस्सा दोनों हाथ, पांचवा और छठा हिस्सा दोनों तरफ के दोनों पांव हैं। सिर, हाथ और पांव से लम्बाई में छोटा होता है लेकिन ज्यादा मजबूत और मोटा होता है। हाथ, पांव की अपेक्षा कम मजबूत और छोटा होता है। अंगुठा चारों अंगुलियों की प्रत्येक काम में सहायता करता है और उनको नियंत्रित करता है।

सुजोक एक्युपंचर में अंगुठे को सिर और गला, बीच की दोनों अंगुलियों को (Ring & Middle) दोनों पांव तथा बगल की दोनों अंगुलियों को (Index & Small) दोनों हाथ माना गया है। बीच की पूरी हथेली को सारा शरीर माना गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

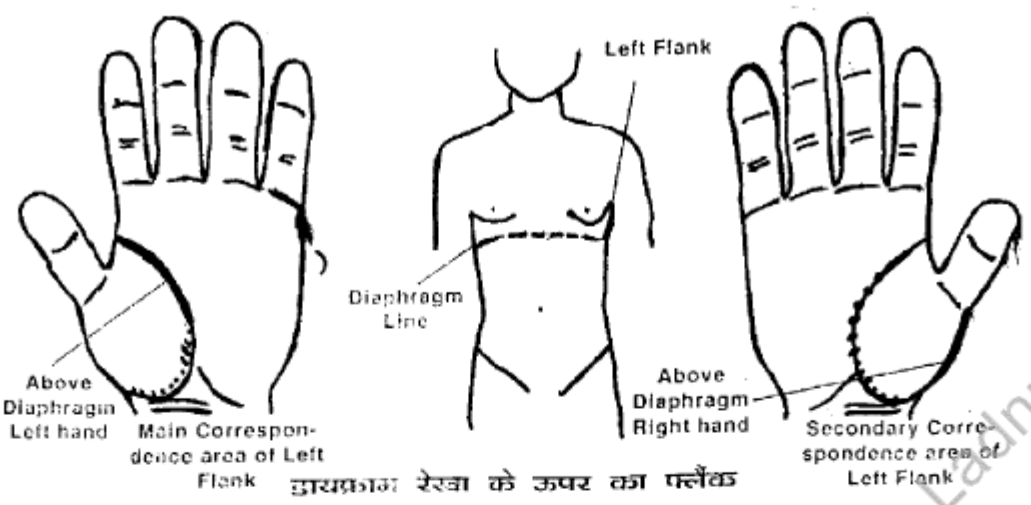


डायफ्राम रेखा के ऊपर का फ्लैंक

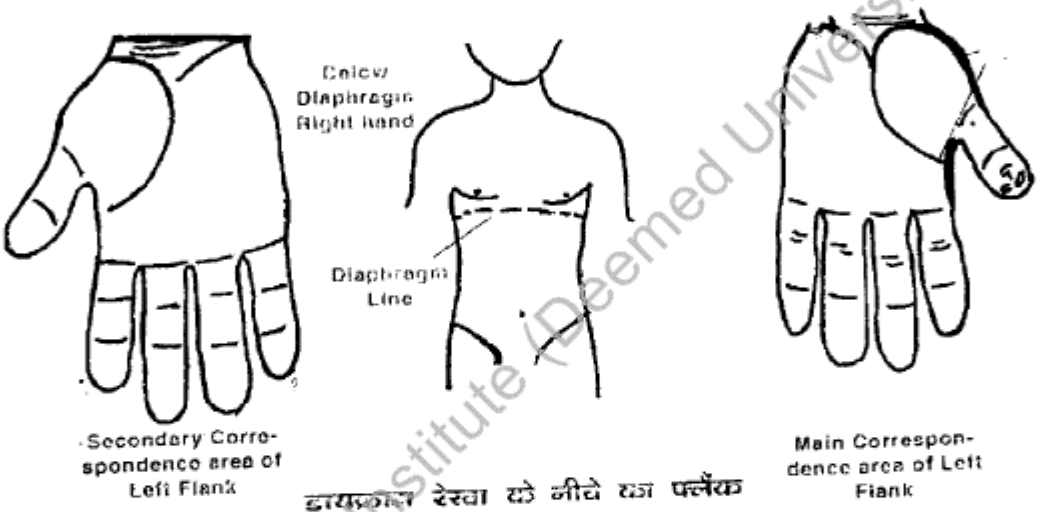


डायफ्राम रेखा के नीचे का फ्लैंक

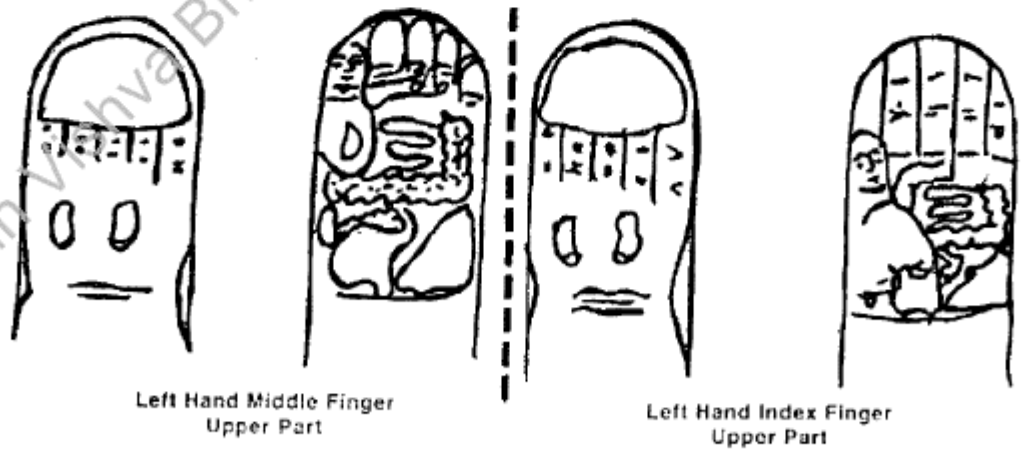


मिनी प्रतिबिम्ब केन्द्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अंगुठा दो भागों में बांटा हुआ है—सिर और गर्दन। बाकी अंगुलियां तीन-तीन भागों में बंटी हुई हैं। जो हाथ और पांव को प्रतिबिम्बित करती हैं। हाथ के तीन हिस्से—पहला हिस्सा अंगुलियों से कलाई तक, दूसरा कलाई से कुहनी (Elbow) तक, तीसरा कुहनी से कंधे (Shoulder) तक होते हैं। इसी तरह पांव के तीन हिस्से—पहला अंगुलियों से टखने (Ankle) तक, दूसरा टखने (Ankle) से घुटने तक और तीसरा घुटने से नितम्ब (Hips) तक होते हैं।

## 20.6.2.1 डायफ्राम रेखा के ऊपर और नीचे के हिस्से (Correspondence area of above & below Diaphragm)

बीच की हथेली को दो भागों में बांटा गया है। एक डायफ्राम रेखा से ऊपर का हिस्सा और दूसरा डायफ्राम रेखा से नीचे का हिस्सा। सुजोक एक्युपंचर में प्रतिबिम्ब केन्द्र चिकित्सा पद्धति (Correspondence Treatment) में डायफ्राम रेखा का बहुत महत्त्व है।

सुजोक एक्युपंचर में इस तरह मनुष्य के पूरे शरीर के प्रत्येक हिस्से को हाथ की हथेलियों और पांव के तलुओं में प्रतिबिम्बित किया गया है।

## 20.6.2.2 अंगुठा नीचे की तरफ क्यों झुका होता है?

पूरी समानता के लिए अंगुठे को हथेली के ऊपर कलाई की तरफ होना चाहिये। लेकिन अंगुठा एक तरफ 140 डिग्रीझुका हुआ होता है। इसका कारण यह है कि अंगुठा वास्तव में दो तरह से कार्य करता है। पहला यह प्रतिबिम्ब केन्द्र का सूचक है, दूसरा यह सभी अंगुलियों को कार्य करने में मदद करता है। इसलिए प्रतिबिम्ब केन्द्र की समानता में थोड़ा-सा बदलाव लेते हुए अंगुठा एक ओर झुका हुआ होता है। सही अर्थों में हाथ की रचना ईश्वर की रचनाओं में श्रेष्ठतम रचना का नमूना है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## 20.6.3 यिन और यांग (Yin or Yang)

संसार की प्रत्येक वस्तु यिन या यांग (Yin or Yang) के सिद्धांत पर आधारित है। शारीरिक या मानसिक सभी बीमारियां यिन या यांग पर आधारित होती हैं। यिन या यांग की जानकारी के बगैर किसी भी बीमारी का निदान अथवा इलाज सम्भव नहीं है। शरीर के जो हिस्से सामने से दिखाई देते हैं उनको यांग और जो हिस्से छिपे हुए होते हैं उनको यिन कहते हैं। यांग हिस्से की चमड़ी का रंग यिन हिस्से की अपेक्षा गहरा होता है। यांग हिस्से यिन हिस्सों की अपेक्षा अधिक मजबूत होते हैं। किसी भी बीमारी की शुरुआत यांग भागों से होती है। जब शरीर में यिन Energy Deficient होगी तो यांग Energy Excessive होगी और जब यांग Energy Deficient होगी तो यिन Energy Excessive होगी।

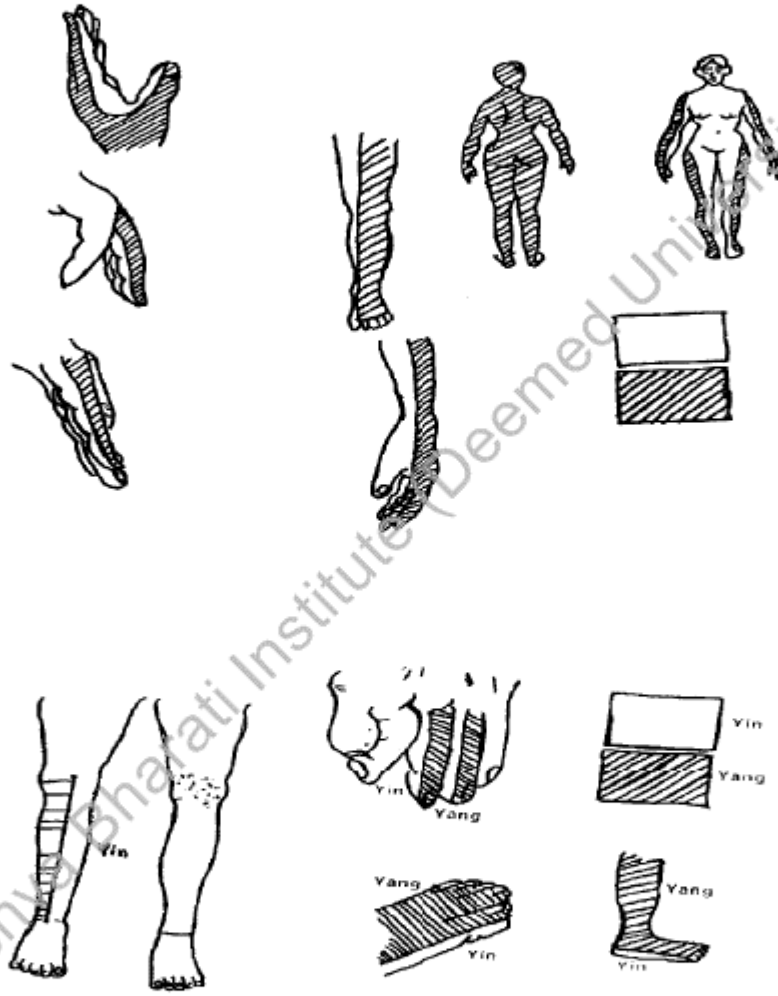


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

यिन और यांग को समझने के लिए नीचे का चार्ट बहुत महत्त्वपूर्ण है।

| **यिन Yin** | **यांग Yang** |
|---|---|
| कोमल Soft | कठोर Hard |
| स्त्री Woman | पुरुष Man |

| | |
|---|---|
| लगातार Continuous | अचानक Occasional but hard |
| धीरे Slow | तेज Fast |
| मृत्यु Death | जन्म Birth |
| कमजोरी Weakness | मजबूत Strong |
| अंधेरा Darkness | प्रकाश Bright |
| बड़ा Large | छोटा Small |
| साधारण बुखार Low fever but continue | तेज बुखार High Fever but for short mime |
| दायां हिस्सा पुरुष का Right side of male | बायां हिस्सा पुरुष का Left side of male |
| बायां हिस्सा स्त्री का Left side of female | दायां Right side of female |
| ठण्डा Cold | गरम Hot |
| लगातार गर्म All time hot | कभी-कभी गर्म Some time hot |
| दीर्घ, स्थायी, पुरानी Chronic | तेज Acute |

शरीर के 12 प्रमुख अंगों को यिन और यांग में बांटा गया है। प्रत्येक यिन अंग का एक पूरक यांग अंग होता है जो इस प्रकार है–

| अंग | पूरक अंग |
|---|---|
| 1. लीवर (Liver) | पित्ताशय (Gallbladder) |
| 2. हृदय (Heart) | छोटी आंत (Small Intestine) |
| 3. मस्तिष्क (Brain) | रीढ़ की हड्डी (Spinal Cord) |
| 4. प्लीहा (Spleen) | जठर (पेट) (Stomach) |
| 5. फेफड़े (Lungs) | बड़ी आंत (Large Intestine) |
| 6. गुर्दे (Kidney) | मुत्राशय (Urinary Bladder) |

## 20.6.4 प्रमुख प्रतिबिम्ब केन्द्र और सहायक प्रतिबिम्ब केन्द्र (Main correspondence and secondary correspondence)

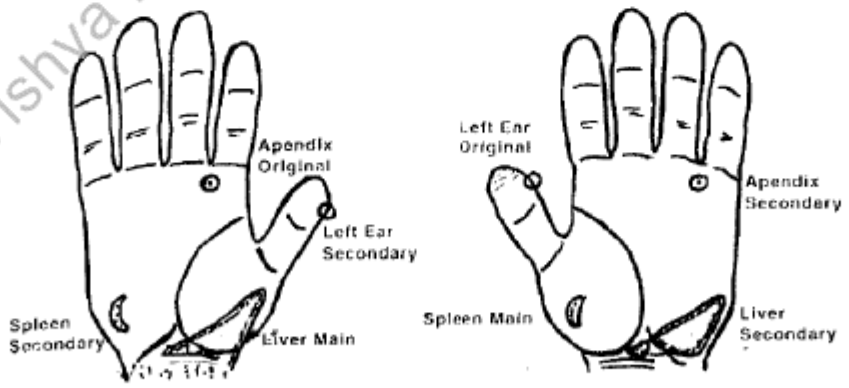


प्रमुख एवम् सहायक प्रतिबिम्ब केन्द्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रमुख प्रतिबिम्ब केन्द्र (Main correspondence) तरीके में सम्पूर्ण शरीर को हाथ की हथेलियों और पांव के टखनों तक में सीमित किया गया है। सुजोक एक्युपंचर को समझने के लिए प्रमुख प्रतिबिम्ब केन्द्र पद्धति आधार का काम करती है।

प्रमुख प्रतिबिम्ब केन्द्र पद्धति से सभी तरह की बीमारियों का इलाज सम्भव है। किंतु बहुत-सी पुरानी और जटिल बीमारियों में सुजोक एक्युपंचर में Metaphysical तरीकों को मिलाकर इलाज करने से बहुत शीघ्र आराम मिलता है। जैसे बियोल मेरिडियन सिस्टम, सिक्स की सिस्टम या टाइम एक्युपंचर।

## 20.6.5 सही प्रतिबिम्ब केन्द्र को खोजने का तरीका

सबसे पहले बीमारी का प्रतिबिम्ब केन्द्र विन दिशा में आयेगा या यांग में, यह निर्णय करना चाहिए। उसके बाद सही अंगुली या अंग का सही स्थान देखना चाहिये। जैसे यदि हाथ में दर्द हो तो हाथ की मुख्य अंगुली अथवा यदि पांव में दर्द हो तो पांव की मुख्य अंगुली देखनी चाहिए। इसके बाद जिस बिन्दु पर सबसे अधिक दर्द हो उसे खोजकर सही बिन्दु पर दबाव देकर इलाज करना चाहिए।

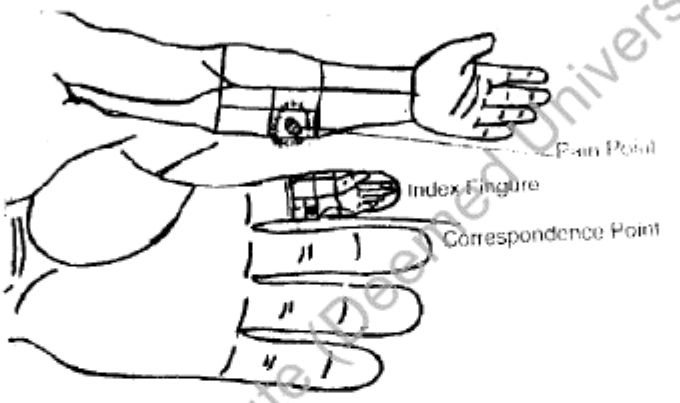


सही प्रतिबिम्ब केन्द्र को खोजने का तरीका

दबाव देते समय मरीज के चेहरे के भाव पर ध्यान रखना चाहिये और दबाव उतना ही देना चाहिए जितना मरीज सह सके। बच्चों और बूढ़े मरीजों को दबाव बहुत हल्का देना चाहिए।

कभी-कभी एक ही अंग का ईलाज करते समय कई दर्द बिन्दु मिलते हैं। ऐसी स्थिति में उन सभी बिन्दुओं पर दबाव देना चाहिए या सुई लगानी चाहिए।

सुजोक एक्युपंचर में प्रत्येक हाथ या पांव में पूरे शरीर के प्रतिबिम्ब केन्द्र हैं। मानव शरीर के कुछ अंग सिर्फ दायें हिस्से या बायें हिस्से में ही होते हैं। इस तरह जो हिस्से शरीर में दायें तरफ होते हैं उनके प्रमुख प्रतिबिम्ब केन्द्र दायें हाथ में होंगे तथा Secondary प्रतिबिम्ब केन्द्र बायें हाथ में होंगे। इसी तरह जो हिस्से शरीर में बायीं तरफ होते हैं उनके प्रमुख प्रतिबिम्ब केन्द्र बायें हाथ में होंगे तथा Secondary प्रतिबिम्ब केन्द्र दायें हाथ में होंगे।

मानव शरीर को यदि बीच से दो भागों में बांटा जाए तो बायें आधे शरीर के प्रमुख प्रतिबिम्ब बिन्दु बायें आधे हाथ या आधे पैर में होंगे और बाकी आधे हाथ या पैर में दायें शरीर के सहयोगी प्रतिबिम्ब बिन्दु (Secondory Correspondence) होंगे।

इसी तरह दाहिने आधे शरीर के मुख्य प्रतिबिम्ब बिन्दु दाहिने आधे हाथ या आधे पैर मे होंगे और बाकी आधे में बायें शरीर के सहयोगी प्रतिबिम्ब बिन्दु (Secondary Correspondence) होंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

बायें शरीर की बीमारियों का यदि बायें हाथ में प्रमुख दबाव बिन्दु पर ईलाज किया जाए, साथ ही उसके दायें हाथ के सहयोगी प्रतिबिम्ब केन्द्र पर भी दबाव दिया जाए तो उसके परिणाम और अच्छे आयेंगे।

## 20.6.6 पांव के प्रतिबिम्ब केन्द्र (Understanding of Leg Correspondence Structure)

पांव के प्रतिबिम्ब केन्द्रों को खोजने में कभी-कभी असुविधा होती है किंतु यदि यिन और यांग को ध्यान में रखकर पांव के प्रतिबिम्ब केन्द्रों (दर्द बिन्दुओं को) को खोजा जाए तो उन बिन्दुओं को खोजने में आसानी होती है।

पांव को सामने से देखा जाए तो भीतरी हिस्सा (छिपा हुआ हिस्सा) यिन और बाहरी हिस्सा (दिखाई देने वाला हिस्सा) यांग होता है। यिन और यांग को बांटने वाली मध्य रेखा टखने एवं घुटने के मध्य बिन्दु से गुजरती है।

### 20.6.6.1 पांव के आधार पर इलाज

प्रमुख प्रतिबिम्ब केन्द्र पद्धति में सभी अंगों का इलाज यिन या यांग हिस्से का निर्णय करने के बाद सही बिन्दु पर दबाव देकर करते हैं लेकिन पांव का ईलाज एक अन्य तरीके से भी कर सकते हैं जिसे समझना बहुत आसान है। इस पद्धति में पांव की आकृति के अनुसार पांव की प्रमुख प्रतिबिम्ब अंगुली को रखा जाता है तथा उसी के बिल्कुल अनुरूप दर्द बिन्दुओं पर दबाव देकर या सुई (Needle) लगाकर ईलाज किया जाता है। इसे पांव के आधार पर (Leg Based treatment) किया गया ईलाज कहते हैं।

## 20.6.7 तीन बिन्दु प्रतिबिम्ब केन्द्र पद्धति (Three point correspondence system)

रोगियों का ईलाज करते समय ऐसा देखा गया है कि जहाँ दर्द हो उसके प्रतिबिम्ब केन्द्र पर दबाव देने के अतिरिक्त उसके ठीक ऊपर और नीचे के जोड़ के दर्द बिन्दुओं पर दबाव देने से रोग में बहुत शीघ्र लाभ मिलता है। इस पद्धति में हम मुख्यत: तीन बिन्दुओं पर दबाव देते हैं। अत: इसे तीन बिन्दु प्रतिबिम्ब केन्द्र पद्धति कहते हैं। इस पद्धति से हम मुख्यत: हाथ के जोड़, पांव, छाती, कांख तथा कंधे के जोड़ का ईलाज बड़ी आसानी से कर सकते हैं।

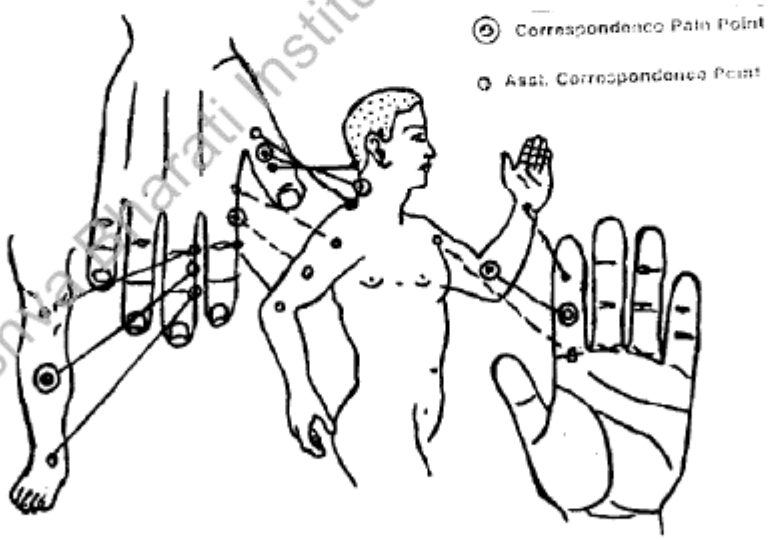


## 20.6.8 सांकेतिक दर्द बिन्दु (Referral point correspondence system)

तीन बिन्दु प्रतिबिम्ब केन्द्र पद्धति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रोगियों का ईलाज करते समय देखा गया है कि हाथ और पांव में यदि दर्द हो तो जहाँ दर्द हो उसके विपरीत अंग के उसी जगह के प्रतिबिम्ब केन्द्र पर दबाव दिया जाए तो रोग में बहुत शीघ्र आराम मिलता है। जैसे यदि बायें हाथ की कुहनी में दर्द हो तो यदि बायें पांव के ठीक उसी स्थान के घुटने के प्रतिबिम्ब बिन्दु तथा दायें हाथ के उसी स्थान की कुहनी के प्रतिबिम्ब बिन्दु पर दबाव दिया जाए तो रोग में बहुत शीघ्र आराम मिलता है।

## 20.6.9 सहयोगी प्रतिबिम्ब केन्द्र बिन्दु को खोजना (How to Search Secondary points)

प्रमुख प्रतिबिम्ब केन्द्रों के सहायक प्रतिबिम्ब केन्द्रों को खोजने का एक बहुत आसान तरीका है। बायें हाथ की हथेली के ठीक नीचे दाहिने हाथ की हथेली रखी जाए तो जहाँ बायें हाथ में प्रमुख प्रतिबिम्ब केन्द्र होंगे उसके ठीक नीचे दाहिने हाथ में उसके सहयोगी प्रतिबिम्ब केन्द्र होंगे। हाथ पर हाथ रखने का तरीका यह है कि बायें हाथ की तर्जनी पर दायें हाथ की सबसे छोटी अंगुली, मध्यमा पर अनामिका, अनामिका पर मध्यमा और सबसे छोटी अंगुली पर तर्जनी रखनी चाहिए तथा सीधी हथेली पर दायें हाथ की हथेली सीधी रखनी चाहिए।

---

**बोध प्रश्न 2:**

---

*1. एक्यूपंक्चर किसे कहते है?*

*2. यिन और यांग से आप क्या समझते है?*

*3. तीन बिन्दु प्रतिबिम्ब केन्द्र पद्धति क्या है?*

## 20.6.10 चमड़ी और हड्डी के बिन्दु (Skin & Anatomical correspondence points)

शरीर में दर्द अक्सर चमड़ी पर या उसके ठीक नीचे की तरफ होता है और उनके प्रतिबिम्ब बिन्दु उसी के अनुरूप होते हैं।

लेकिन बहुत बार शरीर के कुछ अंगों में दर्द चमड़ी के स्तर से बहुत नीचे की तरफ होता है। अंग या हड्डियों के अन्दर के दर्द बिन्दुओं को प्रतिबिम्ब केन्द्रों की समानता के अनुसार खोजें तो हमें ठीक दबाव बिन्दु नहीं मिलेंगे इसलिए इन प्रतिबिम्ब बिन्दुओं के बारे में जाने बिना उनका ईलाज करना सम्भव नहीं है। ये प्रतिबिम्ब केन्द्र मुख्यत: ग्रोइन (Groin), गर्भाशय (Uterus) और ओवरीज तथा कांख (Armpit) हैं।

फेफड़े (Lungs), यकृत (Liver), प्लीहा (Spleen) आदि के प्रतिबिम्ब केन्द्र बहुत नजदीक से एक दूसरे से मिले हुए होते हैं। ऐसी स्थिति में बहुत बार हम जिस अंग का ईलाज करना चाहते हैं उनके बदले में दूसरे प्रतिबिम्ब बिन्दु जहाँ दर्द मिलता है उस पर दबाव देते हैं। ऐसी स्थिति में रोग में पूर्णत: लाभ नहीं मिलता। इस स्थिति से बचने के लिए हमें प्रमुख प्रतिबिम्ब केन्द्रों के अतिरिक्त सहयोगी प्रतिबिम्ब केन्द्रों (Secendary correspondence points) पर भी दबाव देना चाहिए।

## 20.6.11 फ्लैंक प्रतिबिम्ब केन्द्र (Flank correspondence points)

फ्लैंक, शरीर में दोनों तरफ बगल (कांख) से लेकर Pelvic bone तक होता है। यह शरीर में यिन और यांग के मिलन स्थान पर स्थित है। फ्लैंक मनुष्य शरीर में दो भागों में बंटा हुआ है।

1. उदरपटल (Diaphragm) रेखा के ऊपर 2. उदरपटल (Diaphragm) रेखा के नीचे

फ्लैंक (Flank) के प्रमुख प्रतिबिम्ब केन्द्रों की स्थिति को समझने में कभी-कभी असुविधा होती है क्योंकि फ्लैंक शरीर में डायफ्राम (Diaphragm) रेखा के दोनों ओर होता है और डायफ्राम रेखा के ऊपर और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नीचे के हिस्सों को देखने के लिए अलग-अलग डायफ्राम रेखा को ध्यान में रखा जाता है। इसलिए फ्लैंक के प्रमुख प्रतिबिम्ब केन्द्रों की अपेक्षा सहायक प्रतिबिम्ब केन्द्रों पर दबाव देना या सुई लगाना अधिक सुविधाजनक तथा आसान होता है। इसके प्रमुख एवं सहायक प्रतिबिम्ब केन्द्र इस प्रकार हैं।

## 20.6.12 दांत के प्रतिबिम्ब केन्द्र (Teeth Correspondence Points)

दांतों का ईलाज दो तरह से किया जाता है। पहले तरीके में अंगुठे की यिन दिशा में मुंह के स्थान पर दबाव देकर ईलाज किया जाता है। दूसरे तरीके में अंगुठे के नाखुन के चारों तरफ दांतों की गिनती के अनुसार प्रत्येक दांत का ईलाज किया जा सकता है।

## 20.6.13 इनसेक्ट प्रतिबिम्ब केन्द्र ईलाज पद्धति (Insect Correspondence Treatment System)

आधुनिक युग की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक कार्य और वस्तुओं को सुविधाजनक छोटा रूप दिया जा रहा है। उसी तरफ सुजोक एक्चुपंचर में प्रमुख प्रतिबिम्ब केन्द्र पद्धति को हाथ और पांव की अंगुलियों में सीमित किया गया है।

इनसेक्ट ईलाज पद्धति को चींटी के शरीर के हिसाब से अपने हाथ और पांव की अंगुलियों में दिखाया गया है। ऊपर का पहला हिस्सा सिर, दूसरा हिस्सा छाती और तीसरा हिस्सा पेड़ू है। जिस तरह (चींटी के शरीर में) मनुष्य के शरीर में हाथ छाती के बाहरी ऊपर के हिस्से से प्रारंभ होते हैं और पांव पेड़ू के नीचे के हिस्से से आरंभ होते हैं उसी तरह इनसेक्ट पद्धति में हाथ दूसरे हिस्से में दोनों तरफ और पांव तीसरे हिस्से में दोनों तरफ होते हैं। शरीर के जो अंग पीछे की तरफ हैं (रीढ़ की हड्डी, किडनी) उनको इनसेक्ट प्रतिबिम्ब केन्द्र पद्धति में अंगुलियों के पीछे की तरफ दिखाया गया है।

इनसेक्ट प्रतिबिम्ब केन्द्रों पर दबाव देने का तरीका भी प्रमुख प्रतिबिम्ब केन्द्रों के समान ही है।

## 20.6.14 मिनी प्रतिबिम्ब केन्द्र ईलाज पद्धति (Mini Correspondence Treatment System)

मिनी प्रतिबिम्ब केन्द्र पद्धति में इनसैक्ट पद्धति की तरह मनुष्य के शरीर को हाथ और पांव की अंगुलियों के पहले पोरों में दिखाया गया है। जिस प्रकार प्रमुख प्रतिबिम्ब केन्द्र पद्धति में मनुष्य के शरीर को पूरी हथेली में दिखाया गया है और पूरी हथेली को तर्जनी (Index finger) के ऊपरी पोर में दिखाया गया है उसी प्रकार मिनी प्रतिबिम्ब केन्द्र पद्धति में मनुष्य के पूरे शरीर को तर्जनी के ऊपरी पोर में दिखाया गया है।

मिनी प्रतिबिम्ब केन्द्र पद्धति में पांव के प्रतिबिम्ब केन्द्र के हिसाब से ईलाज करना हो तो मध्यमा (Middle finger) के ऊपरी पोर पर किया जायेगा क्योंकि मध्यमा का ऊपरी पोर पैर के पूरे तलवे को दर्शाता है।

मिनी प्रतिबिम्ब केन्द्रों पर दबाव देने से पहले सही दर्द बिन्दु को बहुत सावधानी से खोजना चाहिए क्योंकि इस पद्धति में प्रत्येक अंगों के प्रतिबिम्ब केन्द्र बहुत ही छोटे होते हैं। मिनी प्रतिबिम्ब केन्द्रों पर दबाव देने का तरीका भी प्रमुख प्रतिबिम्ब केन्द्रों के समान ही है।

## 20.6.15 शक्ति बिन्दु (Energy Points)

हाथ या पांव में तेरह (13) मुख्य शक्ति बिन्दु हैं। जिनमें सात (7) यिन हिस्से में और (6) यांग हिस्से में है। इन बिन्दुओं पर दबाव देने से स्फुर्ति आती है। कमजोर रोगियों को इन बिन्दुओं पर अवश्य दबाव देना चाहिए या मोक्सा लगाना चाहिए। यिन हिस्से पर दबाव 1 नं. बिन्दु से 7 नं. बिन्दु तथा यांग हिस्से में दबाव 1 नं. से 6 नं. बिन्दु की तरफ किया जाता है। इन बिन्दुओं पर दबाव शरीर में गर्मी प्रदान करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

## 20.7 प्रश्नावली

### I निबंधात्मक प्रश्न

1.एक्युपंचर चिकित्सा के सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।

2. चुम्बक चिकित्सा के प्रमुख बिन्दुओं की व्याख्या कीजिए।

### II लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. एक्युप्रेशर चिकित्सा के लाभ लिखिये।

2. जोनोलोजी से क्या समझते हैं?

### III वस्तुनिष्ठ प्रश्न (एक वाक्य में उत्तर लिखें)—

1. प्लीहा का एक्युप्रेशर केन्द्र कान पर कहां होता है?

2. जी.पी. का अर्थ क्या है?

## 20.8 संदर्भ पुस्तकें


1. जी-जो एक्युप्रेशर—गरिमा संजय
2. आपका स्वास्थ्यदाता एक्युपंक्चर—एनटोन जयसूर्या
3. Practical Approach to Accupuncture—Dr. Prabha Borwankar
4. एक्युप्रेशर चिकित्सा—डॉ. संजीव कश्यप
5. चुम्बक चिकित्सा—डॉ. हीरालाल बंसल एवं डॉ. रघुनाथशरण बंसल
6. चुम्बक चिकित्सा क्यों और कैसे?—डॉ. ओमप्रकाश आनंद एवं पूनमरानी
7. चुम्बक चिकित्सा का सरल अध्ययन एच. डी. सांतावानी


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

**लाडनूँ-341306 (राजस्थान)**

## दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

**एम.ए./एम.एस-सी. (उत्तरार्द्ध)**

**विषय - योग एवं जीवन विज्ञान**

**सप्तम पत्र : जीवन विज्ञान और स्वास्थ्य**

संवर्ग

| | |
|---|---|
| संवर्ग 1 | स्वास्थ्य, स्वास्थ्य शिक्षा और जीवन विज्ञान |
| संवर्ग 2 | शारीरिक अनियमितताएं एवं रोग–सामान्य परिचय–I |
| संवर्ग 3 | शारीरिक अनियमितताएं एवं रोग–सामान्य परिचय–II |
| संवर्ग 4 | मन–मस्तिष्क संचार सम्बन्ध एवं आरोग्यता |
| संवर्ग 5 | प्राकृतिक उपचार एवं स्वास्थ्य |

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

## विशेषज्ञ समिति

1. **प्रो. संग्रामसिंह नाथावत**
   आचार्य, मनोविज्ञान विभाग
   एमिटी विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)

2. **प्रो. ए.के. मलिक**
   पूर्व आचार्य, मनोविज्ञान विभाग
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज.)

3. **प्रो. जे.पी.एन. मिश्रा**
   प्रो. एवं डीन, स्कूल ऑफ लाईफ साईंस,
   गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गांधीनगर

4. **डॉ. साधना दौनेरिया**
   सविभागाध्यक्ष, योग विभाग
   बरकत्तुल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल (म.प्र.)

5. **प्रो. समणी मल्लीप्रज्ञा**
   आचार्या, जीवन विज्ञान, प्रेक्षाध्यान एवं योग विभाग
   जैन विश्वभारती संस्थान लाडनूँ (राज.)

6. **डॉ. बी.पी. गौड़**
   पूर्व सहआचार्य जीवन विज्ञान, प्रेक्षाध्यान एवं योग विभाग
   जैन विश्वभारती संस्थान लाडनूँ (राज.)

7. **डॉ अशोक भास्कर**
   सहायक आचार्य, जीवन विज्ञान, प्रेक्षाध्यान एवं योग विभाग
   जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ (राज.)


लेखक

**प्रो. जे.पी.एन. मिश्रा**

संपादक

**प्रो. ए.के. मलिक, जोधपुर**

**कापीराइट**

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

नवीन संस्करण : 2017

मुद्रित प्रतियां : 900

**प्रकाशक**

*Printed at*

**M/s Nalanda Offset, Jaipur**


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

# अनुक्रमणिका


| क्र. सं. | अध्याय | पृष्ठ संख्या |
|---|---|---|
| **संवर्ग 1** | **स्वास्थ्य, स्वास्थ्य शिक्षा और जीवन विज्ञान** | |
| पाठ 1 | स्वास्थ्य की अवधारणा, स्वास्थ्य के अवयव–शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य | 1 |
| पाठ 2 | पर्यावरण और स्वास्थ्य | 19 |
| पाठ 3 | स्वास्थ्य शिक्षा एवं सामुदायिक स्वास्थ्य परिचर्याजीवन विज्ञान और स्वास्थ्य | 40 |
| पाठ 4 | जीवन विज्ञान और स्वास्थ्य संवर्द्धन | 54 |
| **संवर्ग 2** | **शारीरिक अनियमितताएं एवं रोग–सामान्य परिचय–I** | |
| पाठ 5 | शारीरिक दौर्बल्य, वायुविकार, उच्चरक्तचाप, अम्लता (एसिडिटी) | 69 |
| पाठ 6 व 7 | टान्सिलाइटिस, ज्वर, कमर दर्द, पाचन दौर्बल्य, नैत्र रोग, अनिद्रा, स्मृति दौर्बल्य, नाड़ी तंत्र दौर्बल्य | 88 |
| पाठ 8 | यकृत दोष, गर्दन का दर्द, हार्निया, साइटिका बवासीर | 108 |
| **संवर्ग 3** | **शारीरिक अनियमितताएं एवं रोग–सामान्य परिचय–II** | |
| पाठ 9 व 10 | कैंसर, हृदय रोग, गठिया, एड्स, मिर्गी, मधुमेह, एवं पेप्टिक अल्सर | 115 |
| पाठ 11 | रक्ताल्पता, दमा | 136 |
| पाठ 12 | शराब, धूम्रपान एवं नशीली दवाओं की लत | 143 |
| **संवर्ग 4** | **मन–मस्तिष्क संचार सम्बन्ध एवं आरोग्यता** | |
| पाठ 13 | मनोशरीर क्रिया विज्ञान की प्रकृति, अर्थ, क्षेत्र एवं महत्वपूर्ण कार्य | 156 |
| पाठ 14 | संवेगात्मक एवं अभिप्रेरणात्मक व्यवहार की दैहिकी | 165 |
| पाठ 15 | मन द्वारा स्वनियन्त्रित तंत्रिका तंत्र का नियोजन एवं दौर्बल्य प्रेक्षाध्यान का प्रभाव | 183 |
| पाठ 16 | रोग प्रतरोध क्षमता एवं प्रेक्षाध्यान द्वारा इसका संवर्द्धन | 190 |
| **संवर्ग 5** | **प्राकृतिक उपचार एवं स्वास्थ्य** | |
| पाठ 17 | प्राकृतिक उपचार की अवधारणा, सिद्धांत एवं प्रकार | 199 |
| पाठ 18 | आकाश, वायु, अग्नि, पृथ्वी एवं जल चिकित्सा | 212 |
| पाठ 19 | संयमित जीवन शैली एवं प्राकृतिक शक्तियों से अनुरुपता | 241 |
| पाठ 20 | अन्य वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियां–एक्युप्रेशर, एक्युपंक्चर, चुम्बक चिकित्सा : सामान्य परिचय | 255 |


Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun